KALYAN

FEB-JULY 1953 G.K.U.

11036

~~RF 015~~

110316

वर्ष २७

अङ्क २

कल्याण

तीय खण्ड]

बालक-अङ्क

[लेख-कविता

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

श्रीहरिः

बालगोविन्दका दूधके लिये मचलना

देखु 'पदमाकर' गोबिंदकी अमित छबि,
संकर समेत बिधि आनँदसों बाढ़ो है।
झिझकत झूसत मुदित मुसकात, गहि
अंचलको छोर दोऊ हाथनसों आढ़ो है॥
पटकत पाँव होत पैंजनी झुनुक रंच,
नेक-नेक नैननिसों नीर-कन काढ़ो है।
आगे नंदरानीके तनिक पय पीबे काज
तीन लोक ठाकुर सो ठुनकत ठाढ़ो है॥

'महाकवि पद्माकर'

वार्षिक मूल्य	जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥	साधारण प्रति
भारतमें ७॥)	जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥	भारतमें ।≡)
विदेशमें १०)	जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥	विदेशमें ॥–)
(१५ शिलिङ्ग)		(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

मन्थन-नृत्य

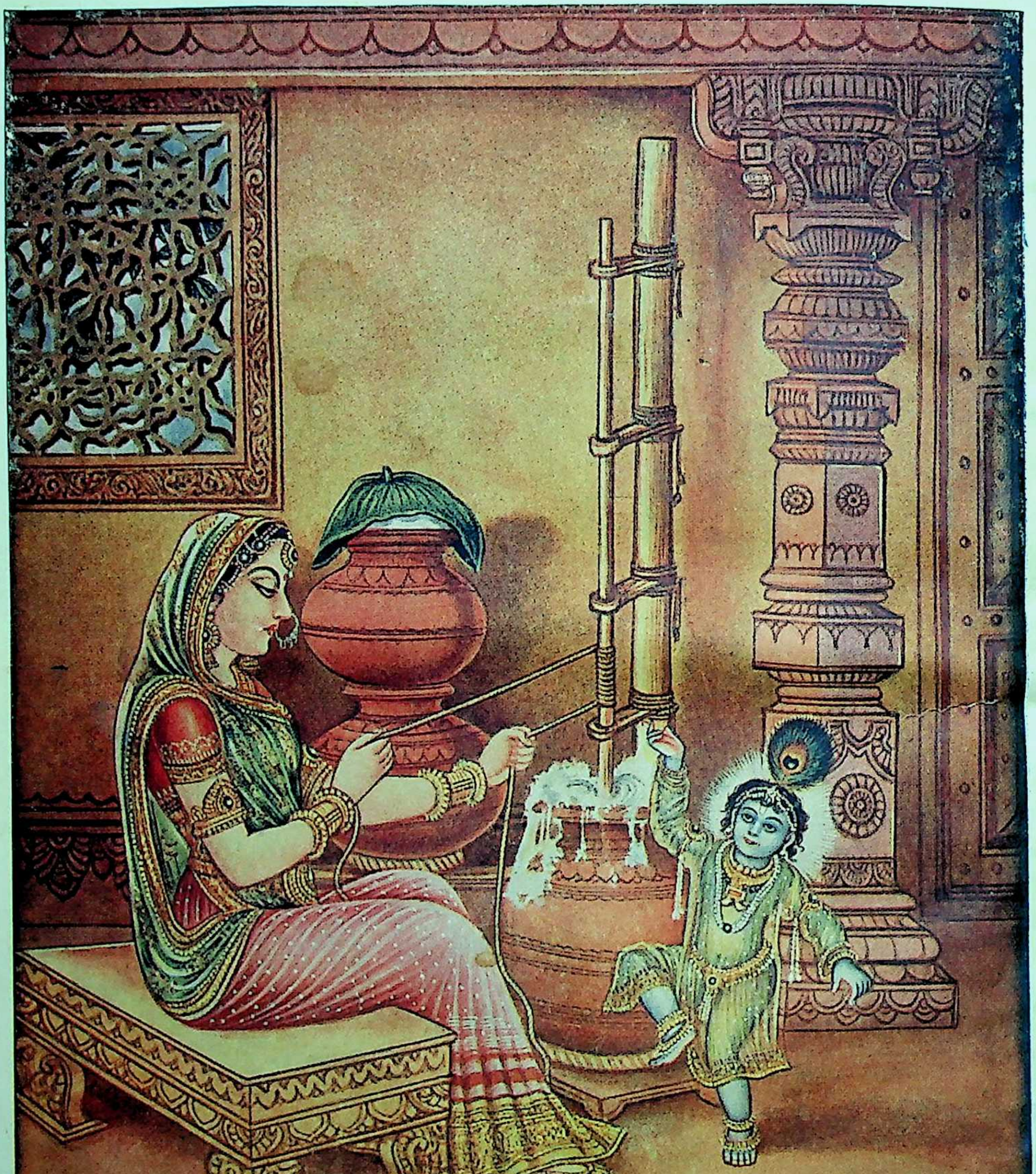

त्यों-त्यों मोहन नाचैं ज्यों-ज्यों रई घमरको होय री

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

110316

कल्याण

उपासतामात्मविदः पुराणाः परं पुमांसं निहितं गुहायाम् ।
वयं यशोदाशिशुबाललीलाकथासुधासिन्धुषु लीलयामः ॥

वर्ष २७ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन २००९, फरवरी १९५३ { संख्या २
पूर्ण संख्या ३१५

रई-घमरकेके साथ नाच

त्यौं-त्यौं मोहन नाचै ज्यौं-ज्यौं रई घमरकौ होइ री।
तैसियै किंकिनि-धुनि पग नूपुर, सहज मिले सुर दोइ री॥
कंचनको कठुला मनि-मोतिनि, बिच बघनहँ रह्यो पोइ री।
देखत बनै, कहत नहिं आवै, उपमा कौं नहिं कोइ री॥
निरखि-निरखि मुख नंदसुअनकौ, सुर-नर आनँद होइ री।
'सूर' भवनकौ तिमिर नसायौ, बलि गइ जननि जसोइ री॥

—सूरदासजी

कल्याण

याद रक्खो—मानव-जीवन बहुत बड़े उच्च कार्यकी सिद्धिके लिये है और वह काम सफल हो भी सकता है केवल मानव-जीवनमें ही । वह कार्य है—मुक्ति या भगवत्प्राप्ति । उसके लिये प्रयत्न न करके दूसरे-दूसरे कार्योंमें लगे रहना ही मानव-जीवनका प्रमाद है । इस प्रमादमें कभी नहीं पड़ना चाहिये ।

याद रक्खो—इसी 'मुक्ति' या भगवत्प्राप्तिके लिये ही यह जीवन मिला है । इसलिये 'बालक-अवस्था'से ही इसे लक्ष्य बनाकर जीवनका निर्माण करना है । यह मानना मूर्खता है कि यह काम 'वृद्धावस्था'का है । कौन जानता है वृद्धावस्था आयेगी या नहीं ? कौन कह सकता है बालकपनमें ही मृत्यु नहीं आ जायगी ? इसलिये घरवालोंको तथा समझदार बालकोंको शुरूसे ही ऐसा वातावरण बनाना तथा आचरण करना चाहिये जिससे शिशु-अवस्थामें ही इस मार्गके संस्कार बनें और बढ़ें।

याद रक्खो—मदालसा मैयाने लोरीमें ही अपने बच्चोंको ब्रह्मोपदेश किया था, प्रह्लादकी माता कयाधू-देवीने गर्भावस्थामें ही नारदजीके द्वारा अपने गर्भस्थ शिशु प्रह्लादको भगवद्भक्तिकी शिक्षा सुलभ कर दी थी । घर-घरमें कथा-पुराणके प्रसंग, माता-पिता तथा दादी-नानीके द्वारा रामायण-महाभारतकी कहानियाँ बालकोंको इसीलिये सुनायी जाती थीं । उठते, नहाते, खाते, जम्हाई लेते, छींकते, पढ़ाई आरम्भ करते, यात्रा आरम्भ करते, किसीसे मिलते, किसीको पत्र लिखते, सोते, मृत्युके समय तथा मरनेके बाद शवको श्मशान ले जाते समय विविध रूपोंमें इसीलिये भगवान्का नाम लेने, लिखने, उच्चारण करने आदिकी प्रथा थी, जिससे घरके वातावरणमें भगवान्के साथ सम्पर्क बना रहे और बालकपर उसका प्रभाव पड़े । और इसीलिये संस्कार, तीन काल भगवान्के स्मरण और नित्यकर्म आदिकी व्यवस्था थी ।

याद रक्खो—प्रह्लाद, ध्रुव बालक ही थे, जो बालकपनमें ही भगवान्की कृपाको पाकर धन्य हो गये थे । आज भी उनका नाम लेकर और उनके जीवनकी विश्वासभरी बातोंको पढ़-सुनकर सभी लोग पवित्र होते हैं ।

याद रक्खो—जीवनको भगवान्की ओर लगानेके लिये दुर्गुण, दुराचार, दुर्विचार, दुःसङ्गका त्याग करके सद्गुण, सदाचार, सद्विचार और सत्सङ्गका सेवन करनेकी नितान्त और अत्यन्त आवश्यकता है । श्रद्धा, विश्वास, आज्ञानुवर्तिता, अनुशासन, नियमित जीवन, संयम, सादगी, इन्द्रियनिग्रह आदि इस मार्गके प्रधान सहायक हैं । इनका सेवन श्रद्धापूर्वक बालक अवस्थासे ही करना शुरू कर दो ।

याद रक्खो—माता-पिताके चरणोंमें नमस्कार, उनकी सेवा तथा उन्हें सुख पहुँचानेका पूरा प्रयत्न, गुरुका सम्मान तथा उनकी आज्ञाका पालन, प्रतिदिन अपने अधिकारानुसार तथा भावानुसार नियमित भजन, प्रार्थना, संध्या, जप, नियमित स्वाध्याय, सेवा तथा दुःखपीड़ित नर-नारियोंकी सेवासे इस मार्गमें बड़ा लाभ होता है । इतना ही नहीं, इससे इस लोकमें भी सुख, ऐश्वर्य, आरोग्य, विद्या, यश, शक्ति और गौरवकी प्राप्ति होती है ।

याद रक्खो—भगवान्को पानेके लिये विषय-वैराग्य और ईश्वर-भजन अवश्य-अवश्य होना चाहिये । इसके लिये पूर्ण प्रयत्न करो । सदा सावधानीसे सचेष्ट रहो ।

याद रक्खो—धन, विद्या, बल, पौरुष, बुद्धिमत्ता और महत्ताकी सफलता इसीमें है कि इन सबका प्रयोग, उपयोग भगवत्प्राप्तिके लिये हो; नहीं तो, ये सभी व्यर्थ हैं, और हैं नरकाग्निमें ढकेलनेवाले ।

'शिव'

अद्भुत बालक श्रीकृष्ण

(रचयिता—पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(१)

भादोंकी थी असित अष्टमी निशा अँधेरी,
रसकी बूँदें बरस रहीं घिर घटा घनेरी।
मधु-निद्रामें मत्त प्रचुर प्रहरी थे सोये,
दो बंदी थे जगे हुए चिन्तामें खोये॥
सहसा चन्द्रोदय हुआ ध्वंस हेतु तमवंशके।
प्राचीके नभमें तथा कारागृहमें कंसके॥

(२)

प्रसव हुआ, पर नहीं पेटसे बालक निकला,
व्यक्त व्योममें विमल विश्वका पालक निकला।
वय किशोर, घनश्याम मनोहर आभा तनकी,
मोहक छवि थी अमित इन्दु शतकोटि मदनकी॥
चार भुजाओंमें गदा, शंख, चक्र थे, पद्म था।
मन्दिरकी ले मान्यता वन्दित बंदी-सद्म था॥

(३)

पिता हुए आश्चर्यचकित, थी विस्मित माता,
अद्भुत शिशु वह मंद-मंद हँसता मुसकाता।
सुनकर अपना स्तवन मुदित हो मुखसे बोला,
गूढ रहस्य अतीत जन्मका मानो खोला॥
'माँगा मुझ-सा पुत्र था तुमने कर आराधना।
सिद्ध हुई वह पूर्वकी आज तुम्हारी साधना॥

(४)

डर न कंसका करो मुझे गोकुल पहुँचाओ,
और यहाँ नव-जात नन्दतनयाको लाओ।'
यों कह लौकिक बाल-सदृश होकर वह रोया,
क्लेश असह वसुदेव-देवकीका सब खोया॥
सुर-सुन्दरियोंके सुभग हाथ सुमनसे सज उठे।
घन-गर्जनके साथ ही देव-नगाड़े बज उठे॥

(५)

एक-एक कर बाधाओंकी कड़ियाँ टूटीं,
पैरोंकी बेड़ी टूटी, हथकड़ियाँ टूटीं।
लौह अर्गला हटी, आप खुल गयीं किंवाड़ें,
द्वार हुआ उन्मुक्त सुप्त प्रहरी जो ठाढ़े॥
दोनों जननी-जनकके दूर हुए बन्धन वहाँ।
क्यों न मुक्त हों, मुक्तिके आये जीवनधन वहाँ॥

(६)

कुसुम वृष्टि हो रही, सृष्टि थी रसमें डूबी,
पुत्रवत्सला एक व्यथासे बैठी ऊबी।
सुतको उरसे लगा देवकी दुखसे रोई,
मेरे लल्लाको मत मुझसे छीने कोई॥
धीरज दे वसुदेव प्रिय शिशुको अपनी गोद ले।
प्रस्थित गोकुलको हुए, शेष छत्र बनकर चले॥

(७)

कालिन्दी बढ़ रही, न मिलती थाह कुछ कहीं,
चञ्चल तुंग तरंग भयानक भवँर उठ रहीं।
कण्ठ मग्न थे पिता, पुत्रने पाँव बढ़ाया,
ले पद-पद्म-पराग नदीने शीश चढ़ाया॥
कैसा जादू-सा हुआ बाढ़ कहाँको वह गयी।
वह अगाध जल-राशि थी घुटनोंतक ही रह गयी॥

(८)

सुप्त यशोदा-गोद मोदप्रद बालक देकर,
लौट गये वसुदेव नन्दतनयाको लेकर।
मिला अमित आनन्द नन्दको चौथेपनमें,
अतिशय भरा उछाह गोप-गोपीजन-मनमें॥
बजी बधाई नंद-घर, बंदी यश गाने लगे।
वसन विभूषण रत्न धन द्विज याचक पाने लगे॥

(९)

व्रजमें सिद्धि समृद्धि फैलने लगी अनूठी,
अमरोंका मन लुभा स्वर्गकी शोभा झूठी।
जसुदाके घर व्रजपुरके सब लोग लुगाई,
सजकर मंगल-थार आरती करने आई॥
दधि हल्दी नवनीत ले मीत परस्पर छोड़ते।
मंजुल मंगल गीत गा शिशुको अञ्जलि जोड़ते॥

(१०)

कमल-नयनके दर्शनको है वाणी आई,
या कि इन्दिरा उमा शची इन्द्राणी आई।
अनुपम रूप निहार चकित थीं व्रजकी वामा,
कौन सुन्दरी चली वधू किसकी अभिरामा॥
उठा लिया शिशुको स्वयं मानो उसकी हो सगी।
अपने स्तनका धाय-सी दूध पिलाने वह लगी॥

(११)

शिशु-वधका संकल्प लिये आयी थी मनमें,
हालाहल विष लगा हुआ था, उसके थनमें।
बालघातिनी क्रूर राक्षसी थी वह नारी,
मायापतिसे छिप न सकी थी माया सारी॥
अद्भुत बालक दूधके साथ प्राण भी पी गया।
चली मारने औरको जीवन उसका ही गया॥

(१२)

मृत्युकालमें प्रकट रूप विकराल हो गया,
कालकूट कुच-लग्न उसीका काल हो गया।
चिता दग्ध जब हुई गंध चन्दनकी आयी,
श्याम-कृपासे दिव्य देव-दुर्लभ गति पायी॥
जीवन उसका पूत ना, उसके कोई पूत ना।
पूत बना हरिको अहो! पूत हो गयी पूतना॥

(शेष फिर)

* * *

हिमालयके घोर तपस्वी सिद्धसंत ब्रह्मलीन अवधूत श्रीकेशवानन्दजी महाराजका महत्त्वपूर्ण सदुपदेश

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

परमपूज्यपाद प्रातःस्मरणीय कैलासवासी हिमालयके परम तपस्वी स्वामी अवधूत श्रीकेशवानन्दजी महाराज एक माने हुए योगिराज संत थे। आप गरमियोंमें निरन्तर श्रीगङ्गाजीके परम पवित्र तटपर जलती हुई बालूमें खड़े होकर घोर तपस्या किया करते थे और जाड़ोंमें बरफीले पहाड़ोंमें बर्फपर खड़े होकर तप करते थे। कैलासवास होनेसे पूर्व मैं ऋषिकेश आपके दर्शनार्थ गया था, उस समय मेरे साथ कितने ही बालक थे। पूज्यपाद महाराजजी श्रीगङ्गाकिनारे खड़े घोर तपमें संलग्न थे। आपने बालकोंके प्रश्न करनेपर निम्नलिखित उपदेश दिया था, जिसे मैंने डायरीमें लिख लिया था, वही यहाँ दिया जा रहा है। आशा है हिमालयके इन योगिराजके उपदेशके अनुसार चलकर बालक अपने जीवनको सफल करेंगे।

प्रश्न—बाबा! हम बालकोंको कुछ उपदेश दीजिये और हमारे कल्याणका मार्ग बताइये?

अवधूतजी—बालको! तुम बड़े भाग्यशाली हो, जो आज श्रीगङ्गाजी महारानीके परम पवित्र तटपर बैठे हो। अब उपदेशकी क्या आवश्यकता है? श्रीगङ्गाजी साक्षात् ब्रह्मद्रव हैं। श्रीगङ्गाजी ही कल्याण करनेवाली हमारी सच्ची माता हैं। हमारे बड़े पुण्य हैं, जो भारतमें हमारा जन्म हुआ और हमें श्रीगङ्गाजी महारानी मिलीं। इनमें बड़ी श्रद्धा रक्खो; श्रीगङ्गाजीका दर्शन, स्नान, पूजन यही कल्याणका मार्ग है। तुम हमारी तीन बातें याद रक्खो और इनके अनुसार करो—

१—श्रीगङ्गाजीमें खूब श्रद्धा रक्खो, इन्हें साक्षात् माता मानकर पूजन करो, स्नान करो और जब भी मौका मिले स्नानको दौड़ो और गङ्गापर आकर पाप करनेसे डरो। गङ्गा माता तुम्हारे सारे पिछले पापोंको काट देगी।

२—देववाणी संस्कृत-हिंदी पढ़ो, म्लेच्छ भाषा मत पढ़ो, ऋषियोंकी संतान होकर म्लेच्छ भाषासे क्या मतलब? संस्कृत पढ़कर अपने शास्त्रोंको देखो और शास्त्रानुसार चलो।

३—अपने सनातनधर्मको पकड़े रहो, सनातनधर्म ही सच्चा धर्म है; यह सदासे है, सदा रहेगा। सनातनधर्मको छोड़कर इधर-उधर जाओगे तो चौरासी लाख योनियोंमें चक्कर खाओगे। जब फिर इसकी शरणमें आओगे, तब सुख पाओगे, नहीं तो फिर मारे जाओगे। इसलिये कट्टर सनातनधर्मी हिंदू बनो और गुरु गोविन्दसिंहके बच्चोंकी तरह धर्मपर दृढ़ रहो, टससे मस मत हो।

यही हमारा हिंदू बालकोंको उपदेश है। तुम स्वयं याद रखना और जो भी मिलें उन्हें सुनाना। श्रीगङ्गा, संस्कृत, सनातनधर्मको कभी मत छोड़ना, बस, बेड़ा पार है।

* * *

बालहितोपदेश-वाक्य-माला

(लेखक—स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

१–सबको सूर्योदयसे पहले उठना चाहिये ।

२–उठते ही भगवान्‌का स्मरण करना तथा 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव । त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥' इस प्रकार स्तुति करनी चाहिये ।

३–अपने बड़ोंको प्रणाम करना चाहिये ।

४–शौच-स्नान करके दण्ड-बैठक, दौड़-कुश्ती आदि शारीरिक और आसन-प्राणायाम आदि यौगिक व्यायाम करना चाहिये ।

५–प्रातःकाल 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥'—इस मन्त्रकी कम-से-कम एक माला अवश्य जपनी चाहिये । और जिनका यज्ञोपवीत हो चुका है, उनको सूर्योदयसे पूर्व संध्या और कम-से-कम एक माला गायत्री-जप अवश्य करना चाहिये ।

६–श्रीमद्भगवद्गीताके कम-से-कम एक अध्यायका नित्य अर्थसहित पाठ करना चाहिये । इसके लिये ऐसा क्रम रक्खा जाय तो अच्छा है कि प्रतिपदा तिथिको पहले अध्यायका, द्वितीयाको दूसरेका, तृतीयाको तीसरेका—इस तरह एकादशी तिथिको ११वें अध्यायतक पाठ करके, द्वादशीको १२ वें और १३ वें अध्यायका, त्रयोदशीको १४वें और १५वेंका, चतुर्दशीको १६वें और १७वेंका तथा अमावस्या या पूर्णिमाको १८वें अध्यायका पाठ कर ले । इस प्रकार पंद्रह दिनोंमें अठारहों अध्यायोंका पाठ-क्रम रखकर एक महीनेमें सम्पूर्ण गीताके दो पाठ पूरे कर लेने चाहिये । तिथिक्षय हो तब ७वें और ८वें अध्यायका पाठ एक साथ कर लेना तथा तिथि-वृद्धि होनेपर १६वें और १७वें अध्यायका पाठ अलग-अलग दो दिनमें कर लेना चाहिये ।

७–विद्यालयमें ठीक समयपर पहुँच जाना और भगवत्स्मरण-पूर्वक मन लगाकर पढ़ना चाहिये । किसी प्रकारका ऊधम न करते हुए मौन रहकर भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपकी स्मृति रखते हुए प्रतिदिन जाना-आना चाहिये ।

८–विद्यालयकी स्तुति-प्रार्थना आदिमें अवश्य शामिल होना और उनको मन लगाकर प्रेमभावपूर्वक करना चाहिये ।

९–पिछले पाठको याद रखना और आगे पढ़ाये जानेवाले पाठको उसी दिन याद कर लेना उचित है, जिससे पढ़ाईके लिये सदा उत्साह बना रहे ।

१०–पढ़ाईको कभी कठिन नहीं मानना चाहिये ।

११–अपनी कक्षामें सबसे अच्छा बननेकी कोशिश करनी चाहिये ।

१२–किसी विद्यार्थीको पढ़ाईमें अग्रसर होते देखकर खूब प्रसन्न होना चाहिये और यह भाव रखना चाहिये कि यह अवश्य उन्नति करेगा तथा इसकी उन्नतिसे मुझे और भी बढ़कर उन्नति करनेका प्रोत्साहन एवं अवसर प्राप्त होगा ।

१३–अपने किसी सहपाठीसे डाह नहीं करनी चाहिये और न यही भाव रखना चाहिये कि वह पढ़ाईमें कमजोर रह जाय, जिससे उसकी अपेक्षा मुझे लोग अच्छा कहें ।

१४–किसी भी विद्या अथवा कलाको देखकर उसमें दिलचस्पीके साथ प्रविष्ट होकर समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि जानने और सीखनेकी उत्कण्ठा विद्यार्थियोंका गुण है ।

१५–अपनेको उच्च विद्वान् मानकर कभी अभिमान न करना चाहिये; क्योंकि इससे आगे बढ़नेमें बड़ी रुकावट होती है ।

१६–नित्यप्रति बड़ोंकी तथा दीन-दुखी प्राणियोंकी कुछ-न-कुछ सेवा अवश्य करनी चाहिये ।

१७–किसी भी अङ्गहीन, दुखी, बेसमझ, गलती करनेवालेको देखकर हँसना नहीं चाहिये ।

१८–मिठाई, फल आदि खानेकी चीजें प्राप्त हों तो उन्हें दूसरोंको बाँटकर खाना चाहिये ।

१९–न्यायसे प्राप्त हुई चीजको ही काममें लाना चाहिये ।

२०–दूसरेकी चीज उसके देनेपर भी न लेनेकी चेष्टा रखनी चाहिये ।

२१–हर-एक आदमीके द्वारा स्पर्श की हुई मिठाई आदि अन्नकी बनी खाद्य वस्तुएँ नहीं खानी चाहिये ।

२२–कोई भी अपवित्र चीज नहीं खानी चाहिये ।

२३–कोई भी खाने-पीनेकी चीज ईश्वरको अर्पण करके ही उपयोगमें लेनी चाहिये ।

२४–भूखसे कुछ कम खाना चाहिये ।

२५–सदा प्रसन्नतापूर्वक भोजन करना चाहिये ।

२६–भोजनके समय क्रोध, शोक, दीनता, द्वेष, हिंसा आदि भाव मनमें लाना उचित नहीं है; क्योंकि इनके रहनेसे भोजन ठीक नहीं पचता ।

२७–भोजन करनेके पहले दोनों हाथ, दोनों पैर और मुँह—इन पाँचोंको अवश्य धो लेना चाहिये ।

२८–भोजनके पहले और पीछे आचमन जरूर करना चाहिये ।

२९–भोजनके बाद कुल्ले करके मुँह साफ करना उचित है; क्योंकि दाँतोंमें अन्न रहनेसे पायरिया आदि रोग हो जाते हैं ।

३०–चलते-फिरते और दौड़ते समय एवं अशुद्ध अवस्थामें तथा अशुद्ध जगहमें खाना-पीना नहीं चाहिये; क्योंकि खाते-पीते समय सम्पूर्ण रोम-कूपोंसे शरीर आहार ग्रहण करता है ।

३१–स्नान और ईश्वरोपासना किये बिना भोजन नहीं करना चाहिये ।

३२–लहसुन, प्याज, अंडा, मांस, शराब, ताड़ी आदिका सेवन कभी नहीं करना चाहिये ।

३३–लैमनेड, सोडा और बर्फका सेवन नहीं करना चाहिये ।

३४–उत्तेजक पदार्थोंका सेवन कदापि न करे ।

३५–मिठाई, नमकीन, बिस्कुट, दूध, दही, मलाई, चाट आदि बाजारकी चीजें नहीं खाना चाहिये; क्योंकि दूकानदार लोभवश स्वास्थ्य और शुद्धिकी ओर ध्यान नहीं देते, जिससे बीमारियाँ होनेकी सम्भावना रहती है ।

३६–बीड़ी, सिगरेट, भाँग, चाय आदि नशीली चीजोंका सेवन कभी न करे ।

३७–अन्न और जलके सिवा, किसी और चीजकी आदत नहीं डालनी चाहिये ।

३८–दाँतोंसे नख नहीं काटना चाहिये ।

३९–दातुन, कुल्ले आदि करनेके समयको छोड़कर अन्य समय मुँहमें अँगुली नहीं देना चाहिये ।

४०–पुस्तकके पन्नेको अँगुलीमें थूक लगाकर नहीं उलटना चाहिये ।

४१–किसीका भी जूठन खाना और किसीको खिलाना निषिद्ध है ।

४२–रेल आदिके पाखानेके नलका अपवित्र जल मुँह धोने, कुल्ला करने या पीने आदिके काममें कदापि न लेना चाहिये ।

४३–कभी झूठ न बोले । सदा सत्य भाषण करे ।

४४–कभी किसीकी कोई भी चीज न चुरावे । परीक्षामें नकल करना भी चोरी ही है तथा नकल करनेमें मदद देना चोरी कराना है । इससे सदा बचना चाहिये ।

४५–माता, पिता, गुरु आदि बड़ोंकी आज्ञाका उत्साहपूर्वक तत्काल पालन करे । बड़ोंके आज्ञा-पालनसे उनका आशीर्वाद मिलता है, जिससे लौकिक और पारमार्थिक उन्नति होती है ।

४६–किसीसे लड़ाई न करे ।

४७–किसीको गाली न बके ।

४८–अश्लील गंदे शब्द उच्चारण न करे ।

४९–किसीसे भी मार-पीट न करे ।

५०–कभी रूठे नहीं और जिद्द भी न करे ।

५१–कभी क्रोध न करे ।

५२–दूसरोंकी बुराई और चुगली न करे ।

५३–अध्यापकों एवं अन्य गुरुजनोंकी कभी हँसी-दिल्लगी न उड़ावे, प्रत्युत उनका आदर-सत्कार करे तथा जब पढ़ानेके लिये अध्यापक आवें और जायँ, तब खड़े होकर और नमस्कार करके उनका सम्मान करे ।

५४–समान अवस्थावाले और छोटोंसे प्रेमपूर्वक बर्ताव करे ।

५५–नम्रतापूर्ण, हितकर, थोड़े और प्रिय वचन बोले ।

५६–सबके हितकी चेष्टा करे ।

५७–सभामें सभ्यतासे आज्ञा लेकर नम्रतापूर्वक चले । किसीको लाँघकर न जाय ।

५८–सभा या सत्सङ्गमें जाते समय अपने पैरका किसी दूसरेसे स्पर्श न हो जाय, इसका ध्यान रक्खे; अगर किसीको पैर लग जाय तो उससे हाथ जोड़कर क्षमा माँगे ।

५९–सभामें बैठे हुए मनुष्योंके बीचमें जूते पहनकर न चले ।

६०–सभामें भाषण या प्रश्नोत्तर सभ्यतापूर्वक करे तथा सभामें अथवा पढ़नेके समय बातचीत न करे ।

६१–सबको अपने प्रेमभरे व्यवहारसे संतुष्ट करनेकी कला सीखे ।

६२–आपसी कलहको पास न आने दे । दूसरोंके

कलहको भी अपने प्रेमभरे वर्ताव और समझानेकी कुशलतासे निवृत्त करनेका प्रयत्न करे।

६३—कभी प्रमाद और उद्दण्डता न करे।

६४—पैर, सिर और शरीरको बार-बार हिलाते रहने आदि आदतें बुरी हैं। इनसे बचे।

६५—कभी किसीका अपमान या तिरस्कार न करे।

६६—कभी किसीका जी न दुखाये।

६७—कभी किसीकी दिल्लगी न करे।

६८—शौचाचार, सदाचार और सादगीपर विशेष ध्यान रक्खे।

६९—अपनी वेश-भूषा अपने देश और समाजके अनुकूल तथा सादी रक्खे। भड़कीले, फैशनदार और शौकीनीके कपड़े न पहने।

७०—इत्र, फुलेल, पाउडर और चर्बीसे बना साबुन, वेसलिन आदि न लगावे।

७१—जीवन खर्चीला न बनाये अर्थात् अपने रहन-सहन, खान-पान, पोशाक-पहनाव आदिमें कम-से-कम खर्च करे।

७२—शरीरको और कपड़ोंको साफ तथा शुद्ध रक्खे।

७३—शारीरिक और बौद्धिक बल बढ़ानेवाले सात्त्विक खेल खेले।

७४—जूआ, ताश, चौपड़, शतरंज आदि प्रमादपूर्ण खेल न खेले।

७५—टोपी और घड़ीका फीता, मनीबेग, हैंडबेग, बिस्तरबन्ध, कमरबन्ध और जूता आदि चीजें यदि चमड़ेकी बनी हों तो उन्हें काममें न लावे।

७६—सिनेमा-नाटक आदि न देखे; क्योंकि इनसे जीवन खर्चीला तो बनता ही है, शौकीनी, अभक्ष्य-भक्षण, व्यभिचार आदि अनेक दोष आ जानेसे पापमय भी बन जाता है।

७७—बुरी पुस्तकों और गंदे साहित्यको न पढ़े।

७८—अच्छी पुस्तकोंको पढ़े और धार्मिक सम्मेलनोंमें जाय।

७९—गीता, रामायण आदि धार्मिक ग्रन्थोंका अभ्यास अवश्य करे।

८०—पाठ्य-ग्रन्थ अथवा धार्मिक पुस्तकोंको आदरपूर्वक ऊँचे आसनपर रक्खे; भूलसे भी पैर लगनेपर उन्हें नमस्कार करे।

८१—अपना ध्येय सदा उच्च रक्खे।

८२—अपने कर्तव्य-पालनमें सदा उत्साह तथा तत्परता रक्खे।

८३—किसी भी कामको कभी असम्भव न माने; क्योंकि उत्साही मनुष्यके लिये कठिन काम भी सुगम हो जाते हैं।

८४—किसी भी कामको करनेमें भगवान् श्रीरामको आदर्श माने।

८५—भगवान्‌को इष्ट मानकर और हर समय उनका आश्रय रखकर कभी चिन्ता न करे।

८६—अपना प्रत्येक कार्य स्वयं करे। यथासम्भव दूसरेसे अपनी सेवा न कराये।

८७—सदा अपनेसे बड़े और उत्तम आचरणवाले पुरुषोंके साथ रहनेकी चेष्टा करे तथा उनके सद्गुणोंका अनुकरण करे।

८८—प्रत्येक कार्य करते समय यह याद रक्खे कि भगवान् हमारे सम्पूर्ण कार्योंको देख रहे हैं और वे हमारे अच्छे और बुरे कार्योंका यथायोग्य फल देते हैं।

८९—सदा प्रसन्नचित्त रहे।

९०—धर्म-पालन करनेमें प्रसन्नतापूर्वक कष्ट सहे।

९१—न्याययुक्त कार्य करनेमें प्राप्त हुए कष्टको तप समझे।

९२—अपने-आप आकर प्राप्त हुए संकटको भगवान्‌का कृपापूर्वक दिया हुआ पुरस्कार समझे।

९३—मनके विपरीत होनेपर भी भगवान्‌के और बड़ोंके किये हुए विधानमें कभी घबराये नहीं, अपितु परम संतुष्ट रहे।

९४—अपनेमें बड़प्पनका अभिमान न करे।

९५—दूसरोंको छोटा मानकर उनका तिरस्कार न करे।

९६—किसीसे घृणा न करे।

९७—अपना बुरा करनेवालेके प्रति भी उसे दुःख पहुँचानेका भाव न रक्खे।

९८—कभी किसीके साथ कपट, छल, धोखाबाजी और विश्वासघात न करे।

९९—ब्रह्मचर्यका पूरी तरहसे पालन करे। ब्रह्मचारीके लिये शास्त्रोंमें बतलाये हुए नियमोंका यथाशक्ति पालन करे।

१००—इन्द्रियोंका संयम करे। मनमें भी किसी बुरे विचारको न आने दे।

१०१—अपनेसे छोटे बालकमें कोई दुर्व्यवहार या कुचेष्टा दीखे तो उसको समझावे अथवा उस बालकके हितके लिये अध्यापकको सूचित कर दे।

१०२—अपनेसे बड़ेमें कोई दुर्व्यवहार या कुचेष्टा दीखे तो उसके हितैषी बड़े पुरुषोंको नम्रतापूर्वक सूचित कर दे ।

१०३—अपनी दिनचर्या बनाकर तत्परतासे उसका पालन करे ।

१०४—सदा दृढ़प्रतिज्ञ बने ।

१०५—प्रत्येक वस्तुको नियत स्थानपर रक्खे और उनकी सम्हाल करे ।

१०६—सायंकाल संध्याके समय भगवान्‌के 'हरे राम' मन्त्रकी कम-से-कम एक माला अवश्य जपे और जिसके यज्ञोपवीत हो गया है, उसको सूर्यास्तके पूर्व संध्या तथा कम-से-कम एक माला गायत्री-जप अवश्य करना चाहिये ।

१०७—अपनेमेंसे दुर्गुण-दुराचार हट जायँ और सद्गुण-सदाचार आवें, इसके लिये भगवान्‌से सच्चे हृदयसे प्रार्थना करे और भगवान्‌के बलपर सदा निर्भय रहे ।

१०८—अपने पाठको याद करके भगवान्‌का नाम लेते हुए सोवे ।

स्वाध्यायका महत्त्व

(लेखक—श्रीसीतारामजी सहगल)

प्राचीन कालसे भारतवर्ष साधनाप्रधान देश है । ईश्वर-प्रदत्त शक्तियोंके पूर्ण विकासके लिये ऋषियोंने वर्णव्यवस्था कायम की । जीवनमें उदात्त तत्त्वोंको क्रियान्वित करनेके लिये धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इस वर्गचतुष्टयका आयोजन किया । पुनः जीवनको चार आश्रमोंमें विभक्त किया, जिससे वह आरम्भिक कालको गुरुकुलोंमें जाकर सुन्दर ढंगसे ढाल सकता था । 'ब्रह्म या सत्य'को खोजनेकी धुन उसे ब्रह्मचर्याश्रमसे ही सवार हो जाती थी । इससे उसके जीवनमें शान्तिका वरद संचार होता था । इसी कालकी समाप्तिपर वह 'द्विज' कहलाता था। 'द्विज' शब्दका शब्दार्थ दो जन्मों-वाला होता है । माताके गर्भसे उसका पहला जन्म होता है और दूसरा जन्म गुरुके घरसे अर्थात् समावर्तन-संस्कारके अनन्तर होता है । इस 'द्विज' उपाधिसे मालूम पड़ता है कि भारतमें ज्ञानको क्या महत्त्व दिया जाता था । ऐसे उदात्त वातावरणमें पनपा हुआ ब्रह्मचारी स्वाध्यायको विशेष ऋण समझता था ।

प्राचीनकालमें जैसे आज देशसेवा और समाजसेवाकी प्रथाको महत्त्व दिया जाता है, वैसे ही यज्ञसम्बन्धी अनुष्ठानों-को धार्मिक रूप दिया जाता था । इसीलिये ग्रन्थोंमें 'स्वाध्याय' एक महान् यज्ञ है । इस अर्थके विधायक कई वाक्य मिलते हैं । बौद्धिक शक्तिको विकसित करनेके लिये वह आवश्यक था कि प्रतिदिन कुछ-न-कुछ नया ग्रन्थ पढ़ा जाय । जैसे शारीरिक पुष्टिके लिये भोजन आवश्यक है, वैसे मानसिक उन्नतिके लिये स्वाध्यायका अपूर्व महत्त्व है । इसके प्रभावको आजकलके दैनिक समाचारपत्रोंने नष्ट कर दिया है ! जिसे महीनों बाँचनेके बाद 'मृगतृष्णा'का आभास प्रतीत होता है । देशकी अन्तर्मुखी वृत्तिको इन्होंने अशान्त कर दिया है । इनके स्थानमें यदि कोई ज्ञानवर्धक पुस्तक नियमितरूपसे दैनिक एक घंटा पढ़ी जाय तो सम्भवतः एक महीनेमें प्रतिदिन २० पृष्ठोंके हिसाबसे ६०० पृष्ठकी एक पुस्तकका पारायण हो सकता है । इसे पढ़कर मनुष्यके विचारोंमें एक महान् क्रान्ति पैदा हो सकती है । जैसे किसी तालाब या नदीमें नया जल न आये तो उसका पानी गँदला हो जाता है और उसमें कीड़े भी पड़ने लग जाते हैं, वैसे ही नये सद्विचारोंके अभावमें हमारी वृत्ति भी कलुषित हो जाती है । इसलिये जीवनमें नया संचार करनेवाला स्वाध्याय आवश्यक है । आधुनिक विज्ञानके अनुसार मनुष्य-में वृद्धावस्था उदात्त विचारोंके ह्राससे शुरू होती है तो अथर्ववेदमें वर्णित देवताओंकी ब्रह्मचर्यद्वारा मृत्युपर विजय अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है । मूलकी श्रुति इस प्रकार है—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥
(११ । ५ । १९)

इस मृत्युञ्जय-स्वाध्यायका महत्त्व आज भी काशीके विद्वान् समझते हैं । उनमें एक अखण्डित परम्परा पायी गयी है । वे एक शास्त्रके समर्थ विद्वान् होते हुए भी सायंकाल शास्त्रान्तरके अध्ययनार्थ अपने ही शिष्यके पास जाते हैं । विदेशोंमें भी ऐसे कई विद्वान् हैं, जो आजीवन सरस्वतीकी उपासनामें यापन करते हैं । देशके प्रमुख राजनीतिज्ञ उनका हृदयसे सम्मान करते हैं ।

भारतमें इसका महत्त्व अतीत कालमें कैसा था, इसकी झाँकी ऋग्वेदीय कौषीतक गृह्यसूत्रके एक स्वतन्त्र खण्डमें

उपलब्ध हुई है, जिसे हिंदी-अनुवादके साथ यहाँ उद्धृत किया जाता है—

(१) षड्विंशतिभिः कारणैः खलु भो ब्राह्मणेनाध्येतव्यं भवत्यपरिमितैर्वा—

छब्बीस कारणोंसे अथवा अपरिमित कारणोंसे ब्राह्मणको स्वाध्यायके नियमका पालन करना चाहिये।

(२) यद्यथा कुले जातः—क्योंकि वह एक बड़े कुलमें पैदा हुआ है।

(३) शक्तिमान्—स्वाध्यायसे शक्ति बढ़ती है।

(४) पूर्वे चाभिरूपा आसन्—पूर्वज विद्वान् थे, इसलिये परम्पराकी प्रतिष्ठा कायम रखनी चाहिये।

(५) साध्वाचरितं चैतत्—ऐसा आचरण श्रेष्ठ है।

(६) ऋणं चैतद् ब्राह्मणस्य—यह ब्राह्मणका ऋण है।

(७) कर्मणामध्ययनं शुभतरम्—पूर्व आचार्योंके चरितोंका अध्ययन प्रेरणाप्रद होता है।

(८) अधीत्य च कार्याकार्ये ज्ञास्यामि—अध्ययनके बाद ही कार्य और अकार्यका भेद मालूम कर सकूँगा।

(९) विद्वांसश्च सर्वत्र पूज्यन्ते—विद्वानोंकी सब जगह पूजा होती है।

(१०) शिष्याश्च शुश्रूषन्ते—शिष्यलोग उनकी सेवा करते हैं।

(११) महयन्ति च सर्वत्र—सर्वत्र विद्वान्का यश फैलता है।

(१२) सर्वत्र गतिमान् भविष्यामि—सब जगह मेरी गति हो जायगी।

(१३) यक्ष्यामि—मैं भी यज्ञ कर सकूँगा।

(१४) याजयिष्यामि—यज्ञ भी करवा सकूँगा।

(१५) लक्षणीयो भविष्यामि—मैं विलक्षणता प्राप्त करूँगा।

(१६) हवींषि च सुसंस्कृतानि भोक्ष्यामि—सुसंस्कृत हविष्य पदार्थोंका भोजन करूँगा।

(१७) मया च स्वाध्यायवता मातापितरौ स्वर्गे लोके सुखमेधिष्येते—मेरे स्वाध्यायशील होनेसे माता और पिता स्वर्ग लोकमें सुख भोगेंगे।

(१८) ब्रह्मचर्येण चायुष्मान् वर्चस्वी भविष्यामि—ब्रह्मचर्य धारण कर सकनेसे दीर्घायुष्य और ब्रह्मवर्चस प्राप्त कर सकूँगा।

(१९) स्वाध्यायेन क्षिप्रं पाप्मानमात्मानमपहन्यामिति—स्वाध्यायसे जल्दी ही पापको दूर कर सकूँगा।

(२०) स्वाध्यायवतः सर्वे लोकाः—स्वाध्यायशील व्यक्ति सभी लोकोंमें जा सकता है।

(२१) नाप्राप्यं तस्य किंचित्—उसके लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं होता।

(२२) न तस्य पुनरावृत्तिः—वह जन्म-बन्धनके चक्रसे मुक्त हो जाता है।

(२३) मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदशब्दः—मन्त्र और ब्राह्मणका नाम ही वेद है।

(२४) वेदो हि धर्ममूलम्—वेद धर्मका मूल है।

(२५) अचोरहरणीयं च ब्रह्म—विद्याको चोर भी नहीं चुरा सकते।

(२६) एकैका चर्क् सम्यगधीता कामधुग् भवति—एक-एक ऋचा ठीक ढंगसे अभ्यस्त की हुई कामधेनुके समान सद्यः फलदायिनी होती है।

(२७) यं यं क्रतुमधीते तेन तेन चेष्टं भविष्यतीति—जिस-जिस यज्ञका अध्ययन करता है, उस-उससे इष्ट वस्तुकी ही प्राप्ति होगी।

(२८) तदपि श्लोकाः—

केतुमाल्लँघिमान् दक्षो मित्रवान् धृतिमाञ्शुचिः।
शीलवाञ्श्रुतवान् दान्तो भवेद् वै पङ्क्तिपावनः ॥२९॥
चोरराजाग्न्युदकेभ्यः सदा संचयिनां भयम्।
निर्भयास्तु सुखं वैद्याश्चरन्त्यक्षय्यवृत्तयः ॥३०॥
तदेतत् पुष्कलं वाक्यं वेदज्ञानप्रयोजनम्।
कुर्यादध्ययने यत्नं सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥३१॥

इस विषयके श्लोक इस प्रकार हैं—

यशस्वी, अन्नवान्, दक्ष, मित्रोंवाला, धैर्यवान्, बाहर-भीतरसे पवित्र, सुशील, शास्त्रज्ञानसम्पन्न, जितेन्द्रिय और पंक्तिपावन हो जाता है। (२९) संचय करनेवालेको चोर, राजा, अग्नि और पानीसे हमेशा डर रहता है। विद्वान् लोगोंकी वृत्ति अक्षय और निर्भय होती है। वे जगत्में सुखी होकर विचरते हैं। (३०) वेद-ज्ञानके प्रयोजनको बतलानेके लिये यह वाक्य पूर्ण है। सत्यवादी और जितेन्द्रिय होकर स्वाध्यायके लिये यत्न करना चाहिये। (३१)

(३२) तदप्येतदृषिराह । ३२ । इसे ऋषिने भी कहा है—

(३३) यो जागार तमृचः कामयन्ते
यो जागार तमु सामानि यन्ति ।
यो जागार तमयं सोम आह
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ।
(ऋग्वेद ५ । ४४ । १४)

'जो जागता है, उसे ऋचाएँ भी चाहती हैं । जो जागता है, साम भी उसके पास चावसे जाता है । जो जागता है, उसे सोम कहता है कि मैं तुम्हारे साथ मित्रता करूँगा और आश्रय दूँगा ।'

उपर्युक्त वैदिक सन्दर्भ आधुनिक पाठकको प्राचीनतासे भरा हुआ मालूम पड़ेगा; परंतु ध्यानसे देखा जाय तो यह ध्रुव सत्यसे पुष्ट है । यह अपने ढंगका बेजोड़ प्रवचन है । एक सूत्रके आधारपर न जाने उत्तरकालीन शास्त्रकारों और कवियोंने कितने सूत्र एवं काव्योंका निर्माण किया है । सबसे महत्त्वपूर्ण सूत्र छठा है जिसमें स्वाध्यायको ऋषि-ऋण कहा गया है । आजकी भाषामें इसे 'राष्ट्रिय ऋण' कह सकते हैं । यह ऋण सर्वप्रथम है, जिसे हमें शोधना ही है ।

स्वाध्यायके बिना हमारी चिन्तन और मनन-शक्ति नहीं बढ़ सकती । बड़े-बड़े कार्यालयोंमें महापुरुषोंके वाक्योंको सुन्दर अक्षरोंमें लिखवाकर लगाया जाता है । उसका क्या प्रयोजन होता है ? हम प्रमादसे भी उन भूलोंको न करें, इसलिये यह परिपाटी चलायी गयी है । आजके युगमें दैनन्दिनी तथा कैलेण्डरोंपर भी नोट करनेकी प्रथा है, जिसका अभिप्राय प्रमाद न करना है । 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः' आदि श्रुतियोंका भी यही निष्कर्ष है ।

जैसा कि ऊपर लिखा गया है कि भारतमें जीवनका लक्ष्य मोक्ष ही रहा है, वैसे ही युग-युगमें मनीषियोंने इस मन्तव्यको उस समयकी भाषामें प्रतिपादन किया है । अज्ञानके आवरणको दूर करनेके लिये दैनिक स्वाध्याय ही एक सफल कुंजी है । चिन्तन-मननके बाद प्रज्ञामें स्थिरता और बादमें कर्म-चक्रसे मुक्ति मिल सकती है । इसीलिये गीतामें कहा गया है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

बालको ! महान् बनो

(लेखक—श्रीरामनन्दनप्रसादसिंहजी एम्० ए०)

(१)

बालको ! बढ़े चलो । जीवन-संग्राममें थककर बैठ जाना कायरता है; क्योंकि प्रगति जीवन है और अगति मृत्यु । इतिहास इस बातका साक्षी है कि जो कर्मवीर अपने कर्तव्य-पथपर बढ़ता गया है, जिसने विपदाओंका सामना किया है, संकटकी ऊँची घाटियोंको लाँघनेका प्रयास किया है, उसे ऊँचा-से-ऊँचा यश और सम्मान मिला है । तुम्हारी मंजिलमें निर्धनता पहली रुकावट है जिसके नीचे सारा भारत कराह रहा है; किंतु क्या यह निर्धनता तुम्हारा मार्ग अवरुद्ध कर सकेगी ? कदापि नहीं । अगर तुम्हारा मनोबल दृढ़ है, अगर तुम्हारा साहस प्रबल है, तो कोई भी बाधा तुम्हारे सामने टिक नहीं सकती । तुम्हें राह बतानेके लिये अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं, जिनकी राहपर चलकर तुम भी महान् बन सकते हो । अंग्रेजी साहित्यका प्रसिद्ध साहित्यकार गोल्डस्मिथ कभी पैसे-पैसेका मुहताज था और भिक्षाटनद्वारा ही अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति किया करता था, किंतु उसका मनोबल और मस्तिष्क भिक्षुक नहीं था । अपनी साधनामें वह लगा रहा और एक दिन गरीबी उसके मार्गको रोक नहीं सकी । 'डेजर्टेड विलेज' और 'विकार ऑफ वेकफील्ड' लिख चुकनेके बाद साहित्यकारके रूपमें वह विख्यात हुआ । मृत्युके उपरान्त उसका शव वहाँ दफनाया गया, जहाँ राजा-महाराजाओंके शव दफनाये जाते हैं । उन्नतिके साधनोंसे वञ्चित फर्गुसन गड़ेरियेका पुत्र था और बड़ी गरीबीके साथ जीवन-यापन करता था, आर्कराइट हजामत बनाकर अपना निर्वाह करता था और गारफील्ड तो पायजामेमें पिन लगाकर पढ़ने जाया करता था; किंतु आगे चलकर वही फर्गुसन आकाशमें तारोंकी दूरी नाप सकनेमें सफल निकला, आर्क-राइट ही रेलका आविष्कर्ता सिद्ध हुआ और गारफील्डने अमेरिकाका प्रेसीडेंट बनकर अपने दुर्भाग्यको सौभाग्यमें बदल दिया । वही महान् शेक्सपियर, जिसपर अंग्रेजी साहित्यको नाज है, कभी दर-दर मारा फिरता था, किं अपनी लगन और कर्तव्यनिष्ठाके कारण यही बालक विलिय शेक्सपियरके रूपमें संसारके सामने आया, उसकी गण यूरोपके सर्वश्रेष्ठ कवि और नाटककारके रूपमें हुई । इसलि बालको ! स्मरण रक्खो, निर्धनता तुम्हारा रास्ता रोक न सकती, किंतु तुममें महान् बननेकी उत्कट लालसा तो हो ही चाहिये ।

(२)

इस महान् बननेके उपक्रममें सर्वप्रथम तुम्हें अपना मार्ग चुन लेना चाहिये। लक्ष्यरहित व्यक्ति तो विना पतवारकी नावकी तरह है जिसकी सफलतामें पूर्णतः संदेह है। लक्ष्यकी स्थिरता ही कुशल सेनानायककी सफलताका कारण है। तुमने डिमॉस्थनीजका नाम सुना होगा, जो सुप्रसिद्ध वक्ता होनेकी आकाङ्क्षा रखता था; किंतु प्रकृतिने उसकी लक्ष्य-प्राप्तिके मार्गमें रुकावटें उत्पन्न की थीं। वह बालक तुतलाकर बोलता था, उसके साथी उसके संकल्पपर हँसते थे। कौन जानता था कि मुखमें कंकड़ियाँ भरकर बोलनेवाला डिमॉस्थनीज विश्वका प्रख्यात वक्ता होकर रहेगा?

बालक गैलीलियो आरम्भसे ही गणितका प्रेमी था, किंतु उसके पिता उसे डाक्टर बनाना चाहते थे। बालक गैलीलियो पिताकी आँखोंसे बचकर गणित-शास्त्रके अध्ययनमें लगा रहा और अठारह वर्षकी आयुमें ही उसने गिर्जाघरमें पेण्डुलमके सिद्धान्तका आविष्कार किया। आगे चलकर दुर्बीनकी रचनाद्वारा उसने विज्ञान-जगत्को एक नयी दिशाकी ओर आगे बढ़ाया। यदि वह अपने निर्धारित लक्ष्यपर नहीं चलता, तो क्या आज वह प्रसिद्ध वैज्ञानिक हो पाता? माइकेल एंजिलोकी कहानी भी ऐसी ही है। बचपनसे ही उसके हृदयमें चित्रकलाके लिये जगह थी; किंतु गैलीलियोके पिताकी भाँति ही उसके पिता उसे चित्रकलासे दूर रखना चाहते थे। आगे चलकर वही माइकेल एंजिलो महान् चित्रकारके रूपमें विख्यात हुआ और चित्रकलाने अपने प्रणयीको अमरता प्रदान की।

अलेक्ज़ैण्डर पोप अंग्रेजी-साहित्यका महान् कवि है, किंतु काव्य-कलाको अपनानेके कारण बचपनमें ही उसे अपने पिताकी झिड़कियाँ सहनी पड़ती थीं। एक बार जब उसका पिता इसी अपराधमें उसे पीट रहा था, तब पोप उस स्थितिमें भी पद्यमें ही रो रहा था। बालक पोपका जीवन तो तबतक काव्यमय हो चुका था, इसलिये उसके हँसने और रोनेमें भी अनायास ही कविता फूट चलती थी। पिताके द्वारा छूट पाकर यही बालक पोप अंग्रेजी साहित्यका प्रसिद्ध कलाकार हुआ, जिसपर आज भी अंग्रेजी-साहित्यको नाज है। यह ध्रुव सत्य है कि प्रत्येक व्यक्तिमें विद्वान् व्याख्यानदाता, पहलवान, धनवान्, सेनानायक और राष्ट्र-निर्माता होनेकी शक्ति छिपी है। मनुष्य अपना निर्माता आप है, किंतु उसकी सफलता उसके लक्ष्य-निर्धारणमें छिपी है। लक्ष्यकी स्थिरताने ही हमें बुद्ध-जैसा महात्मा, दयानन्द-जैसा ऋषि, मुहम्मद-जैसा प्रचारक, ईसा-जैसी दिव्यात्मा और बापू-जैसा राष्ट्रनिर्माता दिया है।

(३)

लक्ष्यकी स्थिरताके साथ-साथ आत्मविश्वास और साहस भी तुम्हारा सहायक है। आत्मविश्वासी कभी पराजित नहीं होता। महाराणा प्रतापको तुम जानते हो। इसी आत्मविश्वासने उन्हें अकबरसे जूझनेकी शक्ति दी थी, और इसी आत्मविश्वासके सहारे वीर शिवाजीने मुगल-साम्राज्यकी सुदृढ़ नींवको हिला दिया था। इसी आत्मविश्वासने नेल्सनको महान् सेनापति बनाया था। नैपोलियनको आल्प्स लाँघनेमें सहायता की थी, और इतिहासप्रसिद्ध पोरसका आत्मविश्वास ही कभी सिकन्दरपर जादूकी तरह छा गया था। आत्मविश्वास निर्धनोंका धन, दुर्बलोंका बल, महापुरुषोंका तेज और असहायोंका सामर्थ्य है। हमारे राष्ट्रनायक पं० जवाहरलाल नेहरूने कहा है—'विजय उसीको प्राप्त होती है, जो विजयी होनेका साहस करता है।' सचमुच साहसमें ही वह शक्ति है, जो संकटोंको चूर-चूर कर सकती है और विपत्तिके पहाड़ोंको रौंदकर विफलताको सफलतामें, पराजयको विजयमें बदल सकती है। साहसी वीर चूँड़ावतने अपनी थोड़ी-सी फौजके सहारे औरंगजेबकी विशाल वाहिनीको पराजित किया था। उसने लड़ते-लड़ते वीरगति पायी, फिर भी वह अमर है और उसकी वीरता हमारे लिये दीपशिखाका कार्य करेगी तबतक, जबतक कि हम वीरताका सम्मान करना भूल नहीं जाते। जो योद्धा संग्रामभूमिमें विजय प्राप्त करता है संसार उसकी अभ्यर्थना करता है, किंतु जो योद्धा एक बार पराजित होकर पुनः अपनी शक्तियोंको बटोरकर उत्साहके साथ अपनी विरोधी शक्तिको पराजित करनेकी चेष्टा करता है, वह भी अभ्यर्थनाका पात्र है। और मरते-मरते भी जिसने देशका झंडा नहीं झुकाया, गिरते-गिरते भी जिसने आत्मसमर्पण नहीं किया—क्या वह अभ्यर्थनाका पात्र नहीं है? विश्व-इतिहासमें ऐसे उदाहरणोंकी कमी नहीं है जिसे लोग जीवन-संग्राममें विफल और पराजित समझ रहे थे, वही उत्साहके योगसे सफलताकी उच्चतम चढ़ाइयोंतक पहुँच गया है। साहसी डिज़रेलीका उदाहरण तुम्हारे सामने है। वह था तो एक साधनहीन युवक, किंतु उसके सामने एक निर्धन यहूदी 'जॉज़फ' का अम्लान आदर्श था, जो परिश्रमके बलपर मिस्रका प्रधान मन्त्री बन चुका था। बालक डिज़रेलीका कहना था कि जो बातें एक बार हो चुकी हैं, वे

फिर दुहरायी जा सकती हैं । कहना नहीं होगा कि यही डिज़रेली अपने कर्तव्य-पथपर बढ़ता गया और एक दिन प्रधान मन्त्रीका आसन तो उसे मिल ही गया । पचीस वर्षों-तक वह ब्रिटेनका भाग्यविधाता बना रहा । उत्साही तैमूर-लंगकी कहानी तो इतिहासका प्रत्येक विद्यार्थी जानता ही है, जो बार-बार विफल होनेपर भी अपने उद्देश्यकी प्राप्तिमें लगा रहा और अन्तमें सफलता उसकी चेरी बनी ।

(४)

व्यक्तिको महान् बनानेवाली शक्तियोंमें एकाग्रताको भी भुलाया नहीं जा सकता । एकाग्रताके एक हाथमें तो वह तलवार है, जिससे वह विफलताका शिरश्छेद करती है और दूसरे हाथ-में है सफलताका मुकुट, जो एकाग्र व्यक्तिके सिरपर रखती है ! चार्ल्स किंग्सलेने अपनी सफलताका कारण बताते हुए कहा था—'किसी कार्यको करते समय उस कार्यके अतिरिक्त संसार-की अन्य कोई बात मेरे सामने नहीं रहती ।' हेनरीने कहा था—'अपने विषयकी तल्लीनतामें मुझे समय और स्थानका भी ज्ञान नहीं रहता ।' इसीके अभावमें महान् प्रतिभाशालीका चरित्र वह नहीं हो सका, जो उसे होना चाहिये था । उसके लिखे हुए चालीस हजार निबन्ध उसकी मृत्युके बाद मिले, परंतु सभी निबन्ध अधूरे थे । चित्तकी चञ्चलताने ही उसे सदैव विफल और अपूर्ण रक्खा, जिससे संसार उसके ज्ञान, विवेक, पाण्डित्य और परिश्रमसे वञ्चित रह गया । महा-पुरुष महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, चर्चिल, ट्रूमैन और स्टालिन—सबोंकी महत्ताका कारण है एकाग्रता, जिसके अभावमें व्यक्तिकी प्रतिभा विकसित नहीं होती, बल्कि कुछ खिलकर असमयमें ही मुरझाकर शेष हो जाती है ।

(५)

और फिर समय-परिपालन ; वह तो बालको ! सफलता-की कुंजी है, जिसके अभावमें प्रतिभाका द्वार बंद ही रह जाता है । नैपोलियनके नामसे संसारका प्रत्येक व्यक्ति परिचित है । उसकी महानताका कारण जानते हो ? उसने स्वयं बताया है कि 'केवल पाँच मिनटोंके महत्त्वको न समझ सकनेके कारण आस्ट्रियनोंकी पराजय हुई थी ।' कहा जाता है कि नैपोलियन ठीक समयका उतनी ही सतर्कतासे ध्यान रखता था जितनी सावधानीसे युद्धस्थलके चित्रका । इसी नियममें गलती हो जानेके कारण नैपोलियनको वाटरलूकी लड़ाईमें हार खानी पड़ी । वीर नेल्सनने कहा था—'मेरी सफलताका मुख्य कारण यही है कि 'मैं निश्चित समयसे पंद्रह मिनट पूर्व ही तैयार हो जाता हूँ ।' चौदहवें लुईका कहन था—'समय-परिपालन ही सम्राटोंका शिष्टाचार है ।' राष्ट्रप वाशिंगटन भी समयका बहुत ध्यान रखते थे और महात्म गाँधी तो अपने निश्चित समयमें एक मिनटका भी हेर-फे करना नहीं चाहते थे ।

(६)

समय-परिपालनके साथ-साथ अनवरत परिश्रम औ अध्यवसाय भी वह महामन्त्र है, जिसकी उपेक्षा नहीं की ज सकती । भर्तृहरिने जो कहा था वह आज भी कितना स है—'हम तो कर्मको ही नमस्कार करते हैं, जिसपर विधाता-का भी वश नहीं चलता ।' रस्किन-जैसे प्रसिद्ध विचारक भी कहना है—'यदि तुम्हें ज्ञानकी पिपासा है तो परिश्र करो, यदि तुम्हें भोजनकी आकाङ्क्षा है तो परिश्रम करो और यदि तुम आनन्दके अभिलाषी हो तो परिश्रम करो पुरुषार्थ ही प्रकृतिका नियम है ।' इंग्लैंडके भूतपूर्व प्रधा मन्त्री ग्लैडस्टन प्रतिदिन सोलह घंटे कार्य किया करते थे लार्ड वेलेस्ली अस्सी वर्षकी अवस्थामें भी कठिन परिश्र किया करते थे, और महात्मा गाँधीका तो एक क्षण भ व्यर्थ नष्ट नहीं होता था । दीनबन्धु एण्ड्रूज तो वृद्धावस्था तक दस घंटे प्रतिदिन कार्य किया करते थे । मिस्रका न भाग्यविधाता जेनरल नजीब भी अठारह घंटे प्रतिदि कार्य सम्पन्नकर आधी रातको विश्राम करता है । स्वा विवेकानन्दने कहा था—'शरीर तो एक दिन जानेको ही तो फिर आलसियोंकी तरह क्यों जाय ? जंग लगकर न होनेकी अपेक्षा घिस-घिसकर, कुछ करके मरना कहीं अच है ।' जिसने समयके मूल्यको पहचाना है, वह अमर हो मरा है । खोयी हुई सम्पत्ति, भूला हुआ ज्ञान, नष्ट स्वा पुनः प्राप्त हो सकता है, किंतु खोया समय लौटाया नहीं सकता । ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने पालकीपर बैठकर ज समय एक पुस्तककी रचना की थी । फ्रैंकलिन अपने भो तथा शयनसे समय बचाकर अध्ययनमें लगाया करता चान्सलर डी० एग्यूस्यूने प्रतिदिनके पंद्रह मिनटोंका सदुपय करके जिसे उसकी भाभी भोजनके समय नष्ट किया कर थी, ग्रीकभाषाका अहदनामा अनुवाद कर डाला । कॉ उबलनेमें जो समय नष्ट होता है, उतने ही समयका सदुपय करके 'लांगफेलो' ने 'इनफरनो' का सुन्दर अनुवाद वि था । नैपोलियन बोनापार्ट और जॉन हन्टर चार घंटे

सोया करते थे; टॉमस ऐडीसन तो केवल तीन घंटे सोया करता था ।

(७)

इन महान् आत्माओंसे शिक्षा ग्रहण करते हुए बालको! उदासी और खीझको छोड़ अपने जीवनको महानताके पथपर ले चलो, अपने जीवनको उज्ज्वल बनाओ, जीवन-संग्राममें आगे आनेवाली बाधाओंसे लड़कर उन्हें परास्त करो । तुम्हारा भारत बहुत नीचे गिर चुका है, उसे पुरानी प्रतिष्ठा दिलानेके लिये अभी करोड़ों कर्मवीरोंकी आवश्यकता है । इस मूलमन्त्रको याद करो—

Life is an uphill journey
And at the top rests glory.

अर्थात् जीवन उस उत्तुङ्ग पर्वतमालाके सदृश है और उसकी उच्चतम चोटीपर विजयका निवास है, जहाँ पहुँचना तुम्हारा लक्ष्य होना चाहिये ।

विश्वकल्याण बालककी शिक्षापर निर्भर है

(लेखक—श्रीरुलियारामजी कालिया)

प्रभुकी सजीव रचनामें मनुष्य-योनि सबसे उत्तम मानी जाती है । यद्यपि शारीरिक इन्द्रियोंके बलमें मनुष्य पशु-पक्षियोंसे निर्बल देखा जाता है, परंतु बुद्धिके बलसे वह उन सबपर काबू पा लेता है । अपने बनाये हुए यन्त्रों—दूरबीन, खुर्दबीनकी सहायतासे वह तीक्ष्ण दृष्टिवाले; रेलगाड़ी, मोटर, साइकल आदिसे शीघ्र गतिवाले; जहाजसे तैरनेवाले और वायुयानोंद्वारा उड़नेवाले पशु-पक्षियोंको भी मात कर रहा है । टेलीफोन, टेलीवीजन आदि अनेक आविष्कारकर अब ऐटमबम आदि तैयार करके वह यह सिद्ध करना चाहता है कि प्रकृति भी उसके अनुकूल हो जाय; परंतु जिस ढंगसे वह प्रकृतिको अपने अधीन करना चाहता है, वह मार्ग परमानन्दकी प्राप्तिका नहीं है । कहनेका भाव यह है कि मनुष्य सभी कुछ करता है तो शान्तिके लिये, परंतु 'मनुष्य' शब्दका अर्थ न समझनेके कारण वह बटोर रहा है अशान्तिको ही ।

सोच-समझकर काम करनेवालेको 'मनुष्य' कहते हैं; परंतु आज भारतवासी भी पश्चिमीय सभ्यताका अंधानुकरणकर अमर्यादित भोगविलासवादकी ओर झुक रहे हैं । अमेरिका आदि पश्चिमीय देशोंमें धन और अन्नकी कमी नहीं, जात-पातका बन्धन नहीं, कलाकौशलका अभाव नहीं, वैज्ञानिकोंकी कमी नहीं । स्त्री-पुरुषोंके एक-जैसे अधिकार हैं, तलाकका आम रिवाज है । छुआछूतका नाम नहीं और खान-पानका भेदभाव और कोई प्रतिबन्ध नहीं—यह सब होनेपर भी वहाँ अशान्तिका ही राज्य है । ऐसा न होता तो उन देशोंके शान्ति-अभिलाषी पुरुष न तो स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थको सिरपर उठाते और न महात्मा गांधी, महर्षि रमण और श्रीअरविन्दकी शान्तिदायिनी शिक्षा और संगतिके लिये भारतको दौड़े आते । भारतवासियो ! तनिक सोचो तो सही कि जो सभ्यता पश्चिमीय देशोंमें शान्तिस्थापना नहीं कर पायी, वह भारतमें हमारे जीवनको कैसे सुखमय बना सकती है ? याद रखना चाहिये—विषय-सुख कदापि दुःखसे रहित नहीं हो सकता ।

दुःखसे छूटने और सुखको प्राप्त करनेके लिये यत्न करना मनुष्यका स्वभाव है । मनुष्यमात्र अमर, सर्वज्ञता, आनन्द और स्वतन्त्रता—इन चार कामनाओंमें स्वाभाविक जकड़ा हुआ है और इनकी पूर्णताका अभिलाषी है । आधि-व्याधि, शारीरिक रोग और काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार तथा ईर्ष्या आदि मानसिक रोग हैं । जैसे कफ, वात, पित्तकी विषमता शारीरिक रोगका हेतु है, वैसे ही सत, रज, तमकी असमता मानसिक रोगोंका मूल है । प्राकृत औषध शारीरिक धातुओंकी समता कर रोग-निवृत्ति करती है, वैसे ही आध्यात्मिक शिक्षाके बिना न मानसिक रोग मिट सकते हैं, न हम सुखी हो सकते हैं और न विश्वमें ही शान्ति हो सकती है । मनुष्य धन, भूमि और अधिकारको ही सारे सुखोंकी सामग्री मानकर उन्हींकी प्राप्तिके लिये पशुओंसे भी घृणित, हिंसापूर्ण क्रूर कर्म करता देखा जाता है । वह यह नहीं समझता कि आजतक सारे संसारकी सामग्री किसी एकने न तो एकत्रित की और न भविष्यमें कोई कर ही सकता है; फिर भी वह इसी धुनमें लगा हुआ यहाँसे कूच कर जाता है । मनुष्य चाहता तो यही है कि कोई उसे रोकने-टोकनेवाला न हो, परंतु उसकी ऐसी अनर्गल स्वतन्त्रताको उसीके भाई-बन्धु कैसे सह सकते हैं । उपर्युक्त चार कामनाएँ मनुष्यमात्रमें एक समान हैं । इसलिये परस्पर संघर्ष अनिवार्य है और

यही अशान्तिका कारण है। इसीको मिटानेके लिये अबतक भिन्न-भिन्न मत-मतान्तर और राजनीतिक सभाएँ प्रकट हुईं और आगे भी होती रहेंगी।

वर्तमान स्वतन्त्र भारतमें देशको उन्नतिके शिखरपर पहुँचाने और प्रजाका जीवन सुखमय बनाने तथा विश्वमें शान्तिस्थापनाके लिये मुख्यतया दो विरोधी विचारधाराएँ प्रचलित हैं। एक समूह पश्चिमीय सभ्यता और दूसरा भारतीय सभ्यताका प्रचारक और पक्षपाती है। पक्षपात उस घुप अँधेरेका नाम है, जहाँ सत्यको भी तिलाञ्जलि देनेमें भय नहीं माना जाता। विचारोंकी भिन्नता कोई बुरी बात नहीं, यह अनादिकालसे चली आ रही है; परंतु जब इनके परस्पर संघर्षसे चिनगारियाँ निकलने लगती हैं, तब इसके फलस्वरूप फूट उस देशवासियोंको परतन्त्रताकी बेड़ियोंमें जकड़ देती है, जिसके लिये भारतका गत ग्यारह-बारह सौ वर्षका इतिहास साक्षी है। बहुत-से मनुष्य अपनी धार्मिक और राजनीतिक संस्थाओंके दोषोंको जानते हुए भी उनसे चिपटे रहते हैं। भेदभावको मिटानेवाले महापुरुषोंके अनुयायी भी धर्म और नीतिके नामपर फूटकी एक और नयी दीवाल खड़ी कर देते हैं। महात्माके अनुयायी सभी महात्मा नहीं होते। साधारण मनुष्यपर संगतिका प्रभाव पड़ता है और वह जिस विचारधाराके मनुष्योंकी संगति करता और उनके लेख पढ़ता है, उसी ओरका हो रहता है। सन्मार्गकी प्राप्ति तो निष्पक्ष महात्मा ही करवाया करते हैं। पक्षपात और स्वार्थमें जकड़े हुए नाममात्रके विद्वान् तो प्रायः साम्प्रदायिक फूटका बीज बोते रहते हैं; परंतु जिस व्यक्तिको उसके परम हितैषी मिल जायँ, वह बिगड़ा हुआ भी सुधर जाया करता है। माता-पिता-जैसा हितकारी और कौन हो सकता है, किंतु वे स्वयं सदाचारी हों तो, नहीं तो बालकपनके बिगड़े हुओंका सुधरना बहुत कठिन ही होता है। मिट्टीके नये बर्तनमें प्रथम घृत भरनेसे जैसे चिकनाहट नहीं छूटती, वैसे ही बालकके कोमल हृदयपर जो बात जम गयी, वह अमिट ही सिद्ध हुई है। मुझे यह देखकर शोक होता है कि माता-पिता अपने छोटे-छोटे बालकोंको सिनेमामें साथ ले जाते हैं और बालक वहाँके सुने हुए फिल्मी गाने जब अपनी तोतली वाणीसे गाते और देखी हुई गंदी चेष्टाएँ दोहराते हैं तो माता-पिता अति प्रसन्न होते हैं। वे यह नहीं जानते कि वे अपने ही हाथों अपनी संतानको दुराचारकी घुट्टी पिला रहे हैं, जिसके लिये उन्हें किसी दिन निश्चय रोना पड़ेगा। वे नहीं समझते कि देखी, सुनी और पढ़ी हुई घटनाएँ ही मानव-चरित्र-निर्माणकी मूल भित्ति हैं।

यह बात भी हमसे ओझल नहीं कि माता-पिताके खाये हुए अन्नसे बना हुआ अन्न-रस संतान-उत्पत्तिका हेतु बनता है। इसलिये शुद्ध तथा शुभ कमाईके सात्त्विक अन्नको ही शुभ-संततिका मुख्य कारण समझना चाहिये। माता-पिताके स्वास्थ्यका भी संततिपर प्रभाव पड़ता है, जैसे अच्छे बीजको उसके अनुकूल पृथ्वीपर बोनेसे अच्छे पौधेकी उपज होती है। जालन्धरकी भूमि अच्छी होनेपर भी वह अखरोट, सरदा और पिश्ता आदिकी उपजके अयोग्य है। यदि बनावटी साधनोंसे पृथिवीको हर प्रकारके फलके योग्य बनाया जा सकता तो इंग्लैंड आजतक आमोंके लिये भारतका मुँह कभी न ताकता रहता। जालन्धरमें भी काबुली, कंधारी और काश्मीरी बीज बोनेसे उन देशों-जैसे अंगूर, अनार और सेव पैदा होने लग जाते, परंतु अनेक यत्नोंसे भी प्राकृतिक आदर्शका फल मिलना आज भी कठिन है। रज, वीर्य और रक्तकी पवित्रताका मर्म चर्म-चक्षुओंसे दृष्टिगोचर होनेसे रहा, इसके लिये तो ऋषि-वचनोंपर विश्वास करना होगा। पितृ-ऋण चुकानेके लिये दमड़ी-चमड़ीके लोभसे ऊपर उठकर सवर्ण विवाह ही उत्तम संततिका हेतु है।

गर्भाधानसे लेकर पाँच वर्षकी आयुतक संतानपर माताके डाले हुए संस्कार अमिट होते हैं। माता बालकको जैसा चाहे बना सकती है। रानी मदालसाका दृष्टान्त पर्याप्त है। अभिमन्युको गर्भमें ही चक्रव्यूहमें प्रवेश करनेका ज्ञान माताके श्रवणसे हुआ था। पाँच वर्षके पश्चात् बालककी शिक्षा और रक्षाके लिये योग्यतम गुरुकी आवश्यकता है। वह गुरु, जो भलीभाँति संसारके सफल न्यायकी आत्मा—क्या, कहाँ, कब, क्यों, कैसे और कौन—इन छः प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर नहीं जानता, बालककी प्रारम्भिक शिक्षा ठीक तौरपर कर ही नहीं सकता। उच्च शिक्षाकी अभिमानी और देशको उन्नत करनेकी अभिलाषा रखनेवाली देवियाँ यदि अपने घरोंमें रहकर बालकोंकी प्रारम्भिक शिक्षा भली प्रकार कर पायें तो समझना चाहिये कि वे वह कार्य कर रही हैं जो वे सरकारी नौकरी लेकर तथा प्रधान मन्त्रिणीतक बनकर भी कदापि नहीं कर सकतीं। वे अपनी शिक्षासे चाणक्य-जैसे त्यागी मन्त्री और अशोक

तथा विक्रमादित्य-जैसे राजाके योग्य महापुरुषोंसे देशकी शोभापर चार चाँद लगा सकती और अपनी कीर्तिको अमर बना सकती हैं । प्रथम माता, दूसरे पिता, तीसरे गुरु यथार्थरूपमें जिनको प्राप्त हुए, वे इस संसारसे कृतकृत्य होकर गये ।

लीडर, फ़ीडर, इंजीनियर आदिक आजीविकाके लिये जो चाहो बनाओ, यदि भावी संतान 'मनुष्य' न बनी तो समझो कि हमने अपना और उनका जन्म ही व्यर्थ खो दिया । मनुष्य बने बिना हमें सुख और शान्ति स्वप्नतुल्य है । मनुष्य बननेके लिये जिसने बैठना और बोलना सीख लिया और बालकोंको सिखा दिया, मान लो कि उसने 'मनुर्भव' वेदके इस आदेशका सन्मार्ग दिखा दिया । आज स्कूल-कालेजोंमें तो धर्मशिक्षा होती नहीं, और न प्राचीन शिक्षा-प्रणालीको ही जनता अपना रही है, इसलिये यह काम भी हमें स्वयं अपने घरोंमें अथवा मन्दिरोंमें करना चाहिये । शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे भारतीय सभ्यता और संस्कृतिका विस्तार हो, जिसके फलस्वरूप विश्व-शान्तिकी स्थापना हो और अन्य देश भी हमारा अनुकरण करें ।

निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक् ॥

(अथर्व० १६ । २ । १)

शक्तिशाली, मीठी वाणी दुष्टभावसे युक्त न हो अर्थात् वाणीमें बड़ी शक्ति है, इसलिये उस वाणीका प्रयोग कदापि वैरभावके साथ नहीं करना चाहिये । कई लोग मीठे शब्द तो बोलते हैं, परंतु उनका भाव सरलतासे शून्य होता है । Statesman's lips always differ from his heart यह है पश्चिमीय सभ्यता कि जो कहती है कि दिलकी बात वाणीसे न निकाले वही नीतिमान् है । तुलना कीजिये—हमारा और उनका कितना अन्तर है । हमारी तो प्रार्थना है—

मधुमती स्थ मधुमती वाचयुदेयम् ॥

(अथर्व० १६ । २ । २)

मीठे स्वभावसे युक्त हो मैं मीठी बात बोलूँ ।

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताऽघ्नता जानता संगमेमहि ॥

(ऋग्वेद ५ । ५१ । १५)

सूर्य और चन्द्रके समान हम सब स्वयं कल्याण-मार्गका आक्रमण करेंगे और पश्चात् हम दोनों घात-पात न करनेवाले और ज्ञानी सज्जनोंके साथ चलेंगे । अर्थात् सूर्य और चन्द्र जिस प्रकार जनताको प्रकाशका मार्ग बताते हैं, उसी प्रकार हमें भी ज्ञान प्राप्तकर पक्षपातरहित हो, जनताको अपने आचरणसे कल्याण-पथ दिखलाना चाहिये । परोपकार, अहिंसा और ज्ञानमय कर्म करनेवालोंके हम संघ बनावें । यदि हमने इस शिक्षाको अपना लिया तो मनुष्य-जन्म भी सफल हो जायगा और हम फिरसे संसारके कल्याणके लिये सम्मिलित पारिवारिक जीवनद्वारा साम्यवाद आदि सभी नवीन वादोंको समाप्त कर सकते हैं । ऐसे जीवनमें यही बात नहीं कि थोड़े कमानेवाले व्यक्ति और उसके परिवारका भोजन-छाजन-शिक्षा आदिका प्रबन्ध घरमें बड़े-से-बड़े धन कमानेवालेके तुल्य न हो । ऐसी स्थितिमें पारिवारिक इकाइयाँ (Family units) मिलकर अपनी-अपनी जातिमें फिर एकाई (Units) बन अन्ततोगत्वा सारा देश एक परस्पर सहायक सभाका रूप धारण कर लेता है, यही हमारा प्राचीन जीवन है । जिस देशमें पहलेसे ही लोहार, तरखान, मोची, धोबी आदि बिरादरियाँ बनी हुई हैं, वहाँ तो बना-बनाया समाजवाद विद्यमान ही है ।

यह कहना अनुचित न होगा कि मनुष्य उपर्युक्त अनादि चार कामनाओंकी पूर्तिके लिये ही नाना प्रकारके यत्न करता है, परंतु उसके सफल न होनेका कारण यही है कि वह वासनारूपी अनादि रोगकी शान्तिके लिये अनादि औषधको छोड़ मनमाने दारुओंकी परीक्षा कर रहा है । सनातन-धर्मपरायण होना ही इस रोगकी अनुभूत औषध करना है । सनातनके अर्थ है—न बदलनेवाला और धर्मके कोषमें दिये अनेक अर्थोंमेंसे एक अर्थ—'किसी वस्तु या व्यक्तिकी वह वृत्ति जो उसमें सदा रहे और उससे कभी पृथक् न हो ।' इन दोनों अर्थोंको ध्यानमें रखते हुए यही कहना बनता है कि मनुष्य नाना रुचि होनेसे अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार भिन्न-भिन्न साधनोंद्वारा एक ही साध्यको लक्ष्यमें रक्खे हुए हैं । वह लक्ष्य है—कामनाओंकी पूर्णतया शान्ति, जो आत्म-स्थिति बिना होनेसे रही । विवेक और वैराग्य इसके अचूक साधन हैं और प्रभुभक्ति इन दोनोंकी जननी है । यदि आप संसारमें रामराज्य देखना चाहते हैं तो प्रथम स्वयं शान्ति प्राप्त करें । इससे शान्तिके भङ्ग करनेवाले दुष्टोंमेंसे एककी कमी हो जायगी । उस समय आपके कथनका दूसरोंपर भी प्रभाव पड़ेगा । इससे भावी संतान शुभ संस्कार पड़नेपर मानव-धर्मका अनुकरण करेगी ।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(गीता ४। ३२)

'हे अर्जुन ! जितेन्द्रिय तत्पर हुआ श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है, ज्ञानको प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्-प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।' ज्ञानी मोह-शोकसे परे होता है। वह आत्म-उपमेन-वृत्तिसे व्यवहार करता है। कर्म करना कर्तव्य मानता हुआ फलकी आकाङ्क्षा नहीं करता। वह जानता है कि प्रारब्ध-भोग वैसे ही उसके पीछे-पीछे फिरेंगे, जैसे सूर्यकी ओर मुँह करके चलनेवालेके पीछे उसकी अपनी परछाईं भागती है। परछाईंको पकड़नेवालोंको निराशा होती है, वह उसके पीछे दौड़नेसे उसे पकड़ नहीं सकते।

ज्यों-ज्यों ज्ञानियोंकी संख्या बढ़ेगी, संसारसे छल-कपट आदि अपने-आप दूर होंगे तथा शान्तिका राज्य होगा। अपने-अपने कर्तव्यके पालनार्थ बालकको विद्वान्, परिश्रम करनेपर यथालाभ संतुष्ट और सदाचारी बनाओ। इसीमें प्राणिमात्रका हित है। विश्वकल्याणार्थ सदाचारसे बढ़कर कोई बल नहीं और इसके लिये 'निर्बलके बल राम' इस वचनपर अटल विश्वास करना होगा और महात्माका वचन भी है—

जबतक मनकी कुटिलता न जायगी।
सर्वदा शान्ति कभी मुँह न दिखलायगी॥

मनुष्य अपनी संतानको अपनेसे बढ़िया देखना चाहता है और उसको सुखी बनानेके लिये भले-बुरे अनेक कार्य करता है। यदि वह उसको सदाचारी नहीं बनाता तो उसकी छोड़ी हुई कितनी भी सम्पत्ति क्यों न हो, संतान शान्तिका मुँह नहीं देख सकती, जिसकी प्राप्तिके अर्थ सभी कुछ किया जाता है। बुद्धिपूर्वक काम करनेसे ही मनुष्यमें पशुओंसे विशेषता है। मनुष्य बनानेके लिये सांसारिक विद्याके साथ-साथ बालकको आत्मज्ञान भी सिखाओ और सन्मार्गपर चलाओ।

जनताको ऐसी शिक्षा तुम तभी प्रदान कर सकते हो जब तुम्हारे सदाचारकी सुगन्ध दूर-दूरतक महक रही हो, नहीं तो, केवल कथन तो काफी नहीं हो सकता, क्योंकि कहना नाम मकड़ीके जालेका भी है, जो वह मक्खियोंके फँसानेके लिये स्वार्थार्थ तनती है। नवजात बालक सिरके बल मुट्ठी बाँधे संसारमें प्रवेश करते ही रोता है, जो इस बातका सूचक है कि वह भयङ्कर कष्टसे छूटा है। शिशु कुमारका मानसिक रोगोंसे मुक्त, सात्त्विक भोजी, जागते समयतक परिश्रम करनेवाला, माता-पिताके किये-दियेपर संतुष्ट रहना हमें शिक्षा देता है कि हमारे अन्धकारको मिटानेके लिये वह गुरुका पार्ट अदा कर रहा है। हम अपने जीवन-चरित्रसे यदि उसके सरल जीवनको न बिगाड़ें और उसका दृष्टिकोण परमार्थकी ओर फेरते रहें तो मानो कि हमने उसको 'पुत्र' शब्दके अर्थको सार्थक करनेवाला बना दिया। ऐसे पुत्र ही माता-पिता, क्या संसारको दुःखसे छुड़ानेवाले होते हैं। माता, पिता, गुरु, देश और जातिके नामको उज्ज्वल करनेवाले ऐसे पुत्र ही रोते आते और हँसते जानेवालोंमें होते हैं। जैसे—

कबीरा जब तू आया, जग हँसा तू रो।
ऐसी करनी कर चले, कि तू हँसे जग रो॥

तभी तो माताओंको शिक्षा है—

जननी जने तो भक्तजन या दाता या सूर॥
नहीं तो जननी बाँझ रह मती गँवावे नूर॥

ऐसी संतानपर ही विश्वकल्याण निर्भर है, जो सत्के लिये मरना और असत्से डरना सीख चुके, सीख रहे और सीखेंगे।

* * *

बड़े और छोटे

(रचयिता—श्रीधर्मपालजी शास्त्री बी० ए०, प्रभाकर)

बड़े बड़ोंने बंम बनाये,
तोपें और विमान।
एक किसीको जीत न पाये,
लेकर लाखों प्राण॥

हम छोटोंका छुटपन देखो,
जीता सकल जहान,
होठोंसे बिखराकर केवल,
हल्की-सी मुसकान।

बालकोंकी वास्तविक शिक्षा

(लेखक—श्रीरामशरण ब्रह्मचारी, बी०ए०, एल०टी०सी०)

मैं लगभग चालीस वर्षोंसे बालकोंको पढ़ा रहा हूँ और बालकोंको किस प्रकारकी शिक्षा देनी चाहिये, इस सम्बन्धमें आज यहाँ कुछ पंक्तियाँ लिपिबद्ध कर रहा हूँ। ऊपर उठनेको संस्कृतमें 'उन्नति' कहते हैं। 'उन्नति' शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—उत्+नम्+क्ति। उत्का अर्थ है परमेश्वर, नम्का अर्थ है नमस्कार करना। इसलिये उन्नति शब्दका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ यह हुआ कि जो भगवान्के सामने नमस्कार करता है, वही वास्तविक उन्नति करता है। अतएव यह स्पष्ट है कि बालककी वास्तविक उन्नति उसकी धार्मिक शिक्षापर ही निर्भर है।

बालक-बालिकाएँ ही कालान्तरमें बड़े होकर नर-नारीका रूप प्राप्त कर लेते हैं। इसलिये देशकी उन्नति, राष्ट्रके अणु-परमाणुरूप बालक-बालिकाओंको जिस प्रकारकी शिक्षा दी जाती है, बिल्कुल उसीपर निर्भर करती है। विश्वव्यापी दृष्टिकोणसे दी हुई धार्मिक शिक्षा ही बालकोंके लिये सर्वोत्कृष्ट शिक्षा है। यह अच्छे नागरिकोंको जन्म देकर देश और शासनको दृढ़ बनाती है। अधार्मिक शिक्षा राष्ट्रों, देशों एवं साम्राज्योंको भी धूलमें मिला देती है। भगवान् एक हैं। यह स्वाभाविक ही है कि उनकी उपासनासे राष्ट्र, देश तथा साम्राज्यमें एकता स्थापित होती है। भगवान् ही हम सबके ऊपर परमात्मरूपसे विराजमान हैं। प्रत्येक जीव उसी दिव्य सत्ताका अंश है। इसीलिये भगवान्को भजनेवाला किसी मनुष्यसे घृणा नहीं कर सकता। अतएव बालकोंको भगवत्प्रेमकी शिक्षा देनेका अर्थ है—उन्हें राष्ट्र, देश तथा साम्राज्यके प्रति प्रेमकी शिक्षा देना।

एक सच्चे हिंदू, सच्चे मुसल्मान और सच्चे ईसाईमें वैर नहीं हो सकता; किंतु जब हिंदू हिंदुत्वको छोड़ देता है, मुसल्मान मुसल्मानियतको लात मार देता है और ईसाई अपने धर्मका परित्याग कर देता है, तभी वे स्वार्थसिद्धिके लिये आपसमें लड़ने लगते हैं। दुर्भाग्यसे इस समय सच्चे हिंदुओं, सच्चे मुसल्मानों और सच्चे ईसाइयोंकी संख्या बहुत थोड़ी रह गयी है। इसीलिये प्रत्येक देशमें अराजकता, अव्यवस्था और शान्तिका अभाव व्याप्त हो रहा है। जो भगवान्से प्रेम नहीं करते, वे कभी देशप्रेमी भी नहीं बन सकते। और जिन्हें भगवान्का भय नहीं होता, उन्हें किसीका डर नहीं रह जाता। वे समाजके लिये एक भयानक वस्तु बन जाते हैं तथा बिना भयके प्रत्येक प्रकारका दुराचरण किया करते हैं! इसलिये जब एक बालकके मनकी भाँति मस्तिष्क अपरिपक्व और अबोध हो, तभी उसमें भगवत्प्रेमकी भावना भर देनी चाहिये। वह धार्मिक शिक्षा, जो हमें भगवान्से प्रेम करनेके योग्य बनाती है, सभी बालकोंको देनी चाहिये। यही शिक्षा उनके लिये सबसे अच्छी है भी। बालकके शरीर, मन और भावनाओंके विकासके लिये साथ-साथ शारीरिक, बौद्धिक एवं नैतिक शिक्षाकी भी आवश्यकता तो है ही; किंतु धार्मिक शिक्षारूपी पथप्रदर्शकके अभावमें ये भाँति-भाँतिकी शिक्षाएँ बिल्कुल व्यर्थ हैं।

अन्तमें मैं सभी स्कूलों तथा विद्यालयोंके प्रधानाध्यापकों एवं अध्यापकाध्यक्षोंसे प्रार्थना करता हूँ कि वे बालकोंकी धार्मिक शिक्षाकी ओर विशेष ध्यान दें। और मैं प्रत्येक हिंदू-बालकसे, जिन्हें मैं बहुत प्यार करता हूँ, विशेषरूपसे कहता हूँ कि वे नित्य अपना दैनिक कार्यक्रम आरम्भ करनेके पहले अपने भारत तथा विश्वके कल्याणके लिये निम्नलिखित प्रार्थना अवश्य करें—

राम राम जगन्नाथ वैदेहि जगदम्बिके।
मम सर्वाणि कर्माणि सन्तु त्वत्प्रीतये सदा॥
प्रसीद जानकीकान्त रमाकान्त प्रसीद मे।
युवयोः पादपद्मेषु देहि मे निर्मलां मतिम्॥

राम ! वहाँ बसिये

जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु। मुकताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियँ तासु॥

आपके यशरूपी निर्मल मान-सरोवरमें जिसकी जीभ हंसिनी बनी हुई आपके गुणसमूहरूपी मोतियोंको चुगती रहती है, हे रामजी! आप उसके हृदयमें बसिये।

परीक्षक और परीक्षा

(लेखक—श्रीजशवंतराय जैशंकर हाथी)

परितः पूर्णतया ईक्षणं यत्र सा परीक्षा।

परीक्षककी दृष्टि सार्वदेशिक होनी चाहिये। परीक्षार्थी सिखाया हुआ कितना जानता है—इस बातको लक्ष्यमें रखकर परीक्षक जाँच करे; अथवा वह क्या नहीं जानता, इसे दृष्टिमें रखकर परीक्षा करनेवाला स्वर्णकारकी भाँति, परीक्षणीय व्यक्ति स्वर्ण है या कतीर—यह स्पष्ट देख ले; तभी वह अपना प्रयत्न सफल समझे, नहीं तो नहीं। परीक्षकको ममत्व, दया, सहवासजनित कोमलता आदि भावनाओंसे परे होना चाहिये। उसकी कसौटीसे निकला हुआ छात्र स्वावलम्बी बनकर किसी भी क्षेत्रमें प्रवेश करनेका साहस कर सकेगा—ऐसा दृढ़ विश्वास परीक्षकको होना चाहिये। जीवन-क्षेत्रमें परीक्षितोंकी सफलता परीक्षककी प्रतिष्ठाका मुख्य आधार है। यही कारण है कि बहुतसे भारतीय अन्ताराष्ट्रिय परीक्षक संस्थाओंके प्रमाण-पत्रोंके लिये आकर्षित हो जाते हैं; क्योंकि वे संस्थाएँ निष्पक्ष और नीतिप्रपन्न बुद्धिसे सरोकार रखनेवाली हैं।

हमारे स्कूलोंमें जो परीक्षाका क्रम है, उसमें सत्य-परायणताका अंश है या नहीं—इस विषयमें लोगोंको संदेह है। युनिवर्सिटीकी परीक्षाके प्रबन्धमें पक्षपात चल रहा है, ऐसी चर्चा भी साधारणतः हो रही है। इस दशामें यदि बहुत-से डिप्लोमा और डिग्रीप्राप्त पुरुष जीवनयात्रामें कष्ट भोग रहे हों तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। जहाँ पढ़ानेवाले स्वार्थपरायण हों, वहाँ पढ़नेवाले सच्चे विद्या-व्यसनी कैसे हो सकते हैं!

प्राचीन कालके गुरुकुलोंमें पढ़ानेवाले और पढ़नेवाले इस प्रकार आश्रमजीवन व्यतीत करते थे कि जनता विद्याका सम्मान भगवती सरस्वतीकी पूजा मानकर करती थी। पढ़ाया हुआ विषय प्रतिक्षण मानो जाँचा जाता रहा हो! पढ़ाई पूर्ण होनेपर जब गुरु अन्तेवासी शिष्यको गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेकी अनुज्ञा देता, उस समय शिष्य अपनेमें कैसा और कितना विद्याबल है—इस बातसे अभिज्ञ होता था; क्योंकि अनध्यायके समय गुरुके सम्मुख शिष्य पढ़े हुए पाठपर विवेचन करते, एक दूसरेमें स्पर्धा होती और कौन किस कोटिका ज्ञान प्राप्त कर चुका है, इस सम्बन्धमें गुरु अपना निर्णय देते रहते थे। बस, यही परीक्षा थी। प्रखर प्रज्ञावाले शिष्य तत्स्थानीय अन्य आश्रमोंके विद्यार्थियोंसे अपने विद्याबलकी समता अथवा श्रेष्ठता ज्ञात करनेके लिये शास्त्रार्थ करनेको निकल पड़ते थे। जो विद्वान् और जनता-में प्रतिष्ठित पुरुष होते, वे ऐसे अवसरोंपर निर्णायक होते थे। अपने स्थानमें विजयी शिष्य भारतभरमें दिग्विजयके लिये प्रस्थान कर देते थे। दिग्विजयी आजकलके ग्रेज्युएटों-का भी ग्रेज्युएट था। वह अपना बल जानता था और उस बलपर जीवनयात्राको सफल बनाता था। दिग्विजयीकी परीक्षा लेनेवाले तत्स्थानीय पण्डित और राजाके प्रतिनिधि ही होते थे।

अर्वाचीन प्राचीन नहीं हो सकता; परंतु प्राचीनकी पद्धतिमें गुण हों तो उनको ग्रहण करना चाहिये। इसी प्रकार अर्वाचीन अपनी त्रुटियोंको देख सकता है और देशके हितके लिये उनको सुधार सकता है एवं पढ़ाईके क्रम एवं परीक्षाके प्रबन्धमें परिवर्तन कर सकता है। परीक्षाका प्रकार पाठ्य वस्तु और पढ़ानेके ढंगपर निर्भर रहता है। 'इतनी पाढ़ई करनेपर यह प्रमाणपत्र मिलेगा' 'अमुक प्रमाणपत्र होगा तो अमुक नौकरी मिलेगी'—ऐसे विचारमें पड़े हुए छात्र और 'इतना पाठ्यक्रम हो चुका तो हमारा कर्तव्य पूरा हो गया' ऐसे विचारोंसे परिपूर्ण शिक्षक जहाँ हों, वहाँ रटा पाठ प्रश्नपत्रके उत्तरमें लिख डालना और उसे बादमें भूल जाना—इन दो बातोंसे परीक्षाका स्वरूप सीमित बन जाता है। पढ़ी हुई विद्यासे व्यक्तित्वका कितना विकास हुआ है, इसका भान विद्यार्थीको नहीं होता और अपने पढ़ाये हुए छात्रोंमें वस्तुतः किसमें कितना बुद्धि-विकास हुआ है, उसका माप अध्यापक नहीं बता सकता। जिनका निश्चित आदर्श एवं लक्ष्य न हो, जो परिश्रमसे बचना चाहते हों, ऐसे शिक्षक और शिक्षित जहाँ हों, वहाँ परीक्षाका प्रकार भी अनिश्चित रहेगा। विद्याका सामर्थ्य न हो, वहाँ आत्मविश्वास कहाँ और आत्मविश्वास न हो वहाँ आत्मावलम्बन कहाँ। इन्हींके अभावके कारण ट्यूशनोंकी लिप्सा लोलुपता नैतिकताका ह्रास एवं निर्बलता उत्पन्न कर ही देगी और नीतिभ्रष्टके हाथसे क्या-क्या अनर्थ हो सकते हैं, यह आज अपने ही राज्यमें सभी अनुभव कर रहे हैं।

निःस्वार्थ, विद्याव्यासङ्गी, शिक्षणक्षेत्रमें ही जीवन व्यतीत हो जाय—ऐसी अभिलाषा रखनेवाले व्यक्ति छोटे-

से-छोटे स्कूलकी पढ़ाईका भार जबतक नहीं उठायेंगे, तबतक न तो पढ़ाईका ढंग सुधरेगा और न पढ़ाई एवं परीक्षाका प्रकार ही। या तो सरकार योग्य अध्यापक चुने और योग्यतानुसार भरपेट वेतन दे अथवा समाज उसी प्रकार शिक्षाका भार अपने कंधोंपर उठा ले, जैसे प्राचीन भारतमें था। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग ज्ञात नहीं होता। धर्म और नीति जिनका आदर्श हों, ऐसे ही परिश्रमी अध्यापक नीचेसे ऊपरतक तभी मिल सकेंगे।

उपर्युक्त प्रकारके अध्यापक दिन-प्रतिदिनकी पढ़ाईका माप करते रहेंगे। वे प्रत्येक पढ़ाये पाठकी विना नोटिस ही परीक्षा कर लिया करेंगे। ऐसी परीक्षाओंका फल लेखबद्ध होकर एकत्रित होता रहेगा। छात्रोंमें निश्चित विषयपर आपसी चर्चा और विवाद करनेके पाक्षिक, मासिक और त्रैमासिक प्रसंग उपस्थित किये जायँगे। विद्यार्थीकी प्रतिभा, प्रत्युत्पन्नमति (हाजिरजवाबी) और चपलताका प्रमाण इन प्रसंगोंपर ही प्रकट होगा। जहाँ आजकलके स्कूलोंमें विद्यार्थियोंका कक्षाबद्ध विभाग है, वहाँपर जिनके उत्तर आधे घंटेमें लिखे जा सकें—ऐसे ३० या ४० प्रश्नोंवाले पर्चे दिये जायँ, जिनके उत्तर इन्हीं पर्चोंपर ही लिखे जायँ। विषयवार लिखित पर्चे इस ढंगके रहें और सामान्य सांसारिक परिचय (जनरल नॉलेज) की कसौटी मौखिक हो। ग्रामीण लोग आजकलके पढ़े हुओंके लिये कहा करते हैं कि 'पढ़े हैं पर गुने नहीं'। इसका कारण यही है कि गाँवोंके लोग व्यवहार-कुशल होते हैं और वे अपना जीवन-मार्ग जीवनक्षेत्रमें कहीं-न-कहीं कर ही लेते हैं। उनकी परीक्षा आजकल जिसे 'Objective Test' कहते हैं, उस प्रकारकी हुआ करती है। उनकी पढ़ाई भी इसी प्रकारकी होती है, जिसका सम्बन्ध उनके जीवनसे ही होता है। वहाँ न कोई पर्चे हैं, न प्राप्त करनेको अङ्क ही हैं। परीक्षक निष्पक्ष है, उसकी जाँचमें तात्कालिक प्रश्नका तात्कालिक तथा तत्क्षण उत्तर होता है। जब पाश्चात्य देशोंके साथ स्पर्धामें उतरे विना संसारयात्रामें हमारा काम चल ही नहीं सकता, तब उनके यहाँ जैसे व्यक्तिगत बुद्धिविकासके लिये अवसर मिले, इस हेतु माण्टेसरी और डाल्टन योजनाका प्रचार हो रहा है, वैसा ही हमारे यहाँ भी होना आवश्यक है। व्यक्तिगत परिश्रम, सामूहिक चर्चा शिक्षणका माध्यम होना चाहिये। शिक्षक बहुधा मार्गदर्शक ही हों और प्राकृतिक प्रतिभावाले शिष्योंको स्वाश्रयी बननेका अवसर दें, परंतु कुण्ठित बुद्धिवाले छात्रोंको सहानुभूतिके द्वारा आगे पथपर बढ़ते रहनेमें सहायता दें। इससे यह अभिप्राय है कि शिक्षणके समस्त क्रममें क्रान्ति करनी पड़ेगी। शिक्षणकी क्रान्तिके साथ परीक्षाकी पद्धति भी स्वतः ही बदल जायगी।

व्याख्यानमुग्ध शिक्षक आजकल स्वयं ही सब कुछ कह डालता है। कहीं-कहीं प्रश्न करके और ऊपर-ऊपरसे बालकोंकी बुद्धिकी झाँकी करके संतुष्ट हो जाना—यह पढ़ाना नहीं है। ऐतिहासिक व्यक्ति अथवा भौगोलिक परिस्थितिकी स्मरणीय बातें जो पाठमें हैं, अध्यापक छाँट ले और उन बातोंको छात्रोंके सम्मुख रखकर उनसे कहे—'ये बातें जहाँ-जहाँ पाठमें हैं, उनपर चिह्न कर लाओ।' छात्र स्वयं काममें लग जायँ। विचारपूर्वक उन बातोंपर चिह्न लगाना आरम्भ करें। अध्यापक घूमते हुए देखता रहे कि छात्रोंने ठीक-ठीक चिह्न लगाये हैं या नहीं और भूले हुए छात्रोंको मार्गदर्शन कराता रहे। चिह्न लग गये। अध्यापकने जिन परिच्छेदोंमें चिह्न लगाये हैं, उन्हें छात्रोंसे पढ़ावे तथा ऊहापोहका प्रसङ्ग उपस्थित कर दे और अपना निर्णय देता रहे। इस प्रकारकी पढ़ाई विचारप्रधान होगी। छात्रका मस्तिष्क प्रवृत्तिपूर्ण रहेगा और बुद्धिकी कसौटीपर भी कस लिया जायगा। इसको हम 'परीक्षा'का नाम दे सकते हैं। इस उदाहरणसे पढ़ाईमें क्रान्ति कैसे हो सकती है और उसीके साथ परीक्षा कैसे ली जा सकती है, इसका संक्षिप्त दिग्दर्शन है। विचारप्रधान पढ़ाई करानेवाला अध्यापक बुद्धिविकास किस प्रकारका और किस मात्रामें हुआ, इसकी कसौटी हो जाय, ऐसी ही परीक्षाका प्रबन्ध करेगा।

* * *

अनुचित उचित विचारु तजि जे पालहिं पितु बैन। ते भाजन सुख सुजसु के बसहिं अमरपति ऐन॥

जो अनुचित और उचितका विचार छोड़कर पिताके वचनोंका पालन करते हैं, वे [यहाँ] सुख और सुयशके पात्र होकर अन्तमें इन्द्रपुरी (स्वर्ग) में निवास करते हैं।

अस्पृश्यता-निवारणके प्रति बालकोंका कर्तव्य

(लेखक—श्रीनोखेलालजी ठाकुर एम्०ए०, साहित्याचार्य, शास्त्री, काव्यतीर्थ)

संसारमें जितने भी मनुष्य हैं—सबमें प्रायः कुछ-न-कुछ आन्तरिक विभेद है। हरेक व्यक्तिका जो बाह्य दृश्यमान रूप है, वही वह नहीं है। उसके स्थूल पाञ्चभौतिक शरीरके भीतर सूक्ष्म-शरीर है, जिसके द्वारा वह हँसता, बोलता या बाह्य कर्मोंको सम्पादन करता है। मृत देह बाह्य सर्वावयव-सम्पन्न होनेपर भी इन कार्योंको कर सकनेमें सर्वथा असमर्थ है, इससे सिद्ध है कि शरीर और शरीरी—दो विभिन्न सत्ताएँ हैं। इसी शरीरीको चेतन आत्मा कहा जाता है। पाश्चात्त्य दर्शनमें यही विचार करनेवाला, प्रेम, क्रोध आदिके आवेशमें आनेवाला तथा कर्मोंको सम्पादन करनेवाला केन्द्र है। इसी आत्माके चारों ओर हमारे जीवनके सारे कार्य होते चलते हैं, जैसे खूँटेके चारों ओर बैल घूमता है। किसीका आत्मा उन्नत होता है और किसीका साधारण ही रह जाता है। देखनेमें आता है कि कोई एक अगुआ बनता है जब कि शेष मनुष्य उसके पीछे-पीछे चलते हैं। अगर सभी मनुष्य समान सत्तावाले होते तो ऐसा विभेद देखनेमें नहीं आता। इसलिये इस बातमें कोई विवाद नहीं हो सकता कि एक मनुष्यसे दूसरा प्रायः विभिन्न होता है और अस्पृश्यता इसी आधारपर अवलम्बित होती है।

अब दूसरा कदम आगे बढ़िये। एक व्यक्ति उच्च प्रवृत्तिका उन्नत आत्मावाला है और दूसरा अधम-प्रवृत्तिका नीचात्मा। पहला मनुष्य मदिरा आदि नहीं छूता; अपनेसे निर्बलपर दया दिखाता है तथा लेन-देनके विषयमें पक्का ईमानदार है। वह व्यक्ति दूसरेकी स्त्रियोंको बुरी दृष्टिसे नहीं देखता, अर्थात् उसे चरित्र-बल प्राप्त है। इस व्यक्तिका आत्मा पवित्र है अर्थात् उसे एक विशेष सीमातक शारीरिक पवित्रता ही नहीं, अपितु आत्मिक पवित्रता भी प्राप्त है। यहाँ 'पवित्रता' शब्दकी व्याख्या कर देना भी कुछ अप्रासङ्गिक न होगा। अगर कोई मनुष्य प्रतिदिन स्नान नहीं करता तो उसका शरीर अपवित्र रहेगा। इसी प्रकार रोग उत्पन्न करनेवाले कीटाणुओंके द्वारा हमारा रक्त अपवित्र हो जाता है। उदाहरणतः यदि किसी मनुष्यको कोष्ठबद्धता हो तो उसका रक्त दूषित होकर उसे नाना प्रकारके रोग जैसे पामा, व्रण, ज्वर, शिरोवेदना आदि पकड़ लेंगे। रक्तका दोष कभी-कभी रोगीतक ही सीमित न रहकर उसकी अग्रिम पीढ़ियोंतक भी चला जाता है। इस प्रकारके रोग—जैसे राजयक्ष्मा, श्वास, यौन रोग आदि पुत्र-पौत्रतक बढ़े चलते हैं। ऐसे रोगोंके रोगियोंकी संतान इन वंशागत रोगोंसे छुटकारा पाना कठिन और कभी-कभी असम्भवतक पाती है। इसलिये मनुष्योंका रक्त यद्यपि दीखता तो एक-सा ही है, पर व्यक्ति-विशेषके अनुसार उनमें महान् अन्तर भी पड़ जाता है। आयुर्वेदके अनुसार नीमके प्रयोगोंसे सब प्रकारके रक्त-दोष दूर हो जाते हैं और उसमें शुद्धता आ जाती है। गर्मी और सूजाकके रोगी समाजके लिये भयावह हैं, कारण उनके प्रश्वाससे ही वे रोग फैलते हैं। उनके पास बैठा हुआ व्यक्ति अनायास ही उन रोगोंसे आक्रान्त हो जा सकता है। कहाँतक गिनाया जाय—हैजा, प्लेग, चेचक, यक्ष्मा, संग्रहणी आदि रोग भी सहवाससे उत्पन्न हो सकते हैं। रोगीके पास बैठना, उसके द्वारा व्यवहृत वस्त्रादिका व्यवहार करना, उससे बातें करना, उसे छूना, उसके मूत्र-स्थानपर मूत्र-त्याग करना आदि और भी न जाने कितने कारणोंसे ये रोग दूसरे लोगोंमें फैल जाते हैं। इस सम्बन्धमें तो चिकित्सा-विज्ञोंकी सम्मति ही विशेष प्रामाणिक होगी। वे ही इसके महान् साक्षी हैं। इन बातोंसे शायद रक्तकी पवित्रताकी कुछ व्याख्या हो जायगी।

यहाँ एक कदम और भी आगे बढ़कर रक्तकी पवित्रताकी कुछ व्याख्या, जैसा कि हमारे विज्ञ पूर्वज समझते और मानते थे, करना अप्रासंगिक होते हुए भी अनुपादेय न होगा। प्राचीन आर्य आर्यातिरिक्त जातियोंसे मिश्रित होकर अपनपेको खो देना उचित नहीं मानते थे। आजकल भी अपनी विशिष्टता समझनेवाले राष्ट्र या व्यक्ति दूसरोंसे मिलनेमें अपनी हेठी समझते हैं, और कुछ अंशमें उनका सोचना उचित भी हो सकता है। अगर कोई बलवान् मनुष्य निर्बल जातिकी एक कन्यासे विवाह करके पुत्र उत्पन्न कर ले तो वह संतान पूर्ण बली न होगी। यह नियम पशुओं—गायोंमें भी देखा जाता है। संतानमें पितृवंश तथा मातृवंश दोनोंके गुण स्वभावतः आते हैं। अतएव यदि हम कहीं भी कोई विशिष्टता पाते हैं तो उसे योग्य (वैवाहिक) सम्बन्धपर ही हुई मानना चाहिये। अयोग्य वैवाहिक सम्बन्धोंमें उत्तमोत्तम गुणोंका विकास कैसे

110.31.6..

सकता है। इसी कारण आर्यलोग दूसरोंसे ऐसा सम्बन्ध स्थापित करना अनुचित समझते थे; क्योंकि इसमें उन्हें रक्त या वंश (नस्ल) बिगड़ जानेका डर था ।

यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राद् दारोपसंग्रहः ।
नैतन्मम मतं यस्मात् तत्रायं जायते स्वयम् ॥

(या० स्मृ० आचाराध्याय, ५६)

अर्थात् 'शूद्रवर्गसे द्विजातिका स्त्रीग्रहण करना मेरा मत नहीं; क्योंकि स्त्रीमें वह (पुरुष) स्वयं रूपान्तर ग्रहण करके उत्पन्न होता है ।' शूद्रागर्भसे उत्पन्न द्विजाति कहाँतक उज्ज्वल रह सकता है, यह विचारणीय बात है। अस्तु, निष्कर्ष यह कि दो अत्यन्त विभिन्न रक्तोंका मिश्रण भी शुभ फलप्रद हो सकता है, इसे वे नहीं मानते थे। एक प्रकारसे वे इसे रक्तका दोष समझते थे। यदि हम अपनेको औरोंसे विशिष्ट मानते हैं या ऐसा ही बने रहना चाहते हैं तो हमें भी अपना रक्त अदूषित रखनेके लिये सतत प्रयत्नशील रहना पड़ेगा। कम-से-कम इतना तो निश्चय है कि विजातीय रक्तमें मिलकर हम वह नहीं रहेंगे, जो अभी हैं, और अपना स्वत्व खो देनेपर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसके लिये हम गर्व कर सकते हैं। अस्तु,

'आत्माकी पवित्रता' से क्या अभिप्राय है ? शास्त्रोंके मतसे मनद्वारा भी किसीकी बुराई न करना (अहिंसा), सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्र रहना, लालच न करना (संतोष रखना), अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखना और दान आदि धार्मिक कार्य करना—इनसे आत्मा पवित्र बनी रहती है। इसके विपरीत गुण आत्माको अपवित्र करनेवाले हैं। एक मनुष्य आध्यात्मिकताकी दृष्टिसे उच्च है और दूसरा नीच। ऐसे दो व्यक्तियोंके समागमका क्या फल होगा, यह विचारणीय है । नीच व्यक्ति उच्चके संसर्गसे अवश्य ही लाभान्वित होगा, परंतु उच्च व्यक्ति नीचके संसर्गमें आकर कुछ गिर जायगा। उसकी आध्यात्मिक श्रेष्ठता नीचके संसर्गसे कलुषित हो सकती है। इसके अपवादमें हम यह कह सकते हैं कि अगर वह उच्च सत्ता पराकाष्ठातक पहुँच गयी हो तो उसमें दोष न घुस सकेगा, जिस प्रकार असंख्यक सहायक नदियोंका जल तथा सहस्रों पैखानोंके पनालोंका पानी मिलनेपर भी गङ्गाजीका जल कलुषित नहीं हो पाता। प्रतिदिन उसमें न जाने कितने मृतक बहाये जाते हैं; परंतु गङ्गाजीका जल सर्वथा पवित्र ही बना रहता है। भगवान् सूर्यकी किरणें कूड़े-कर्कट और मल-मूत्रोंपर भी चमकती हैं, पर उनमें विकार नहीं आता। यों ही जो व्यक्ति अत्यन्त उच्च श्रेणीमें पहुँच गया है, उसे नीचोंका संसर्ग-दोष भागी नहीं बना सकेगा। पर साधारण लोगोंमें यह क्षमता कहाँ ! वे तो छुई-मुईकी भाँति संसर्गज दोषसे अवश्य ही प्रभावान्वित हो जायँगे। इसलिये हमारे यहाँ पतितोंके साथ बात करना भी मना है। इसके विपरीत साधुओंका सङ्ग करना पुण्य समझा गया है। साधु-पुरुषकी साधुता दुष्टोंमें इसकी कमीको पूरा करनेके लिये ठीक उसी प्रकार फैलने लगती है, जिस प्रकार तालावमेंसे कुछ जल निकाल लेनेपर उस रिक्त स्थानको भरनेके लिये चारों ओरसे तालावका जल दौड़ पड़ता है। जिस प्रकार पूर्ण समानता रखना जलका धर्म है, उसी प्रकार गुण भी समानता रखनेके लिये चंचल हो उठता है। इस प्रकार सुसंगतिसे लाभ और कुसंगतिसे हानि मानी गयी है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो व्यक्ति अपनेको ऊँचा उठाये रखना चाहते हैं, वे यथासम्भव नीचोंसे अपनेको अलग रक्खें तथा ऊँचोंकी संगति करें।

परंतु आजकलके हमारे राजनीतिज्ञ इसका विपरीत अर्थ लगाते हैं। वे कहते हैं कि इस प्रकार हम नीच समझे जानेवालोंके प्रति घृणा परिदर्शित करते हैं जो कि जातीय एकसूत्रताके लिये विघातक है। वे यह नहीं सोचते कि इस प्रकार व्यक्तिगत पतन होगा, जिससे राष्ट्र भी पतित हो जायगा। उनके सामने यूरोप और अमरीकाका दृष्टान्त चमकता है, पर भारतवर्ष अमरीका या यूरोप नहीं। जो बात एक देश और कालके लिये लागू है, वही दूसरे देश और कालके लिये भी लागू हो—यह आवश्यक नहीं। भारत एक अध्यात्म-प्रधान देश है और इसकी उन्नति अकेले तभी हो सकती है, जब वह एकान्त आध्यात्मिक बन जाय। अभी भी दुनियामें अगर इसकी पूछ है तो इसकी आध्यात्मिकताके कारण । अगर हम किसी व्यक्तिसे अलग रहते हैं तो दूसरा इसका अर्थ भले ही यह समझ ले कि हम उससे घृणा करते हैं; परंतु हमारा तो अभिप्राय केवल यही है कि हम उसके संसर्गसे, जिसे हम हेय समझते हैं, बचे रहें। साफ शब्दोंमें इसे यों कहें कि हम अपनेको ही अस्पृश्य बनाये रखना चाहते हैं, दूसरोंको अस्पृश्य आदि कुछ नहीं कहते। अस्पृश्य हम हैं न कि वे, जिनसे हम स्वयं दूर हटते हैं; वे तो जहाँके वहीं रहते हैं। भला, इसमें कैसी घृणा ! अगर इसपर भी उन्हें संतोष न हो तो हम क्या करें। कोई भी कानून जो हमें पवित्र जीवन बितानेसे रोकता है, हमारे लिये फाँसीके तख्तेकी नाईं

परिहार्य है। हम भारतीयोंकी सभी आदतें गंदी हैं, हम गंदगी-पसंद राष्ट्र हैं। शहरोंकी गलियोंमें घूम-घूमकर, गृहस्थोंके घरोंमें पाँव रखकर, होटलोंमें आँखें दौड़ाकर तथा सार्वजनिक स्थानोंमें कुछ काल विलमकर भारतीय मनोवृत्तिका हम नग्न दर्शन कर ले सकते हैं। ऐसी दशामें जो कुछ व्यक्ति समाजमें उच्च आदर्शके परिपालक हैं, जो कुछ बातें भी सफाई, सदाचार, शुद्धता और पवित्रताके अनुकूल पड़ती हैं, उन्हें भी समाप्त कर देनेपर हमारी क्या दशा हो जायगी ? जिस प्रकार हम कपड़े-लत्तेकी सफाईपर ध्यान देते हैं, उसी प्रकार हमें खूनकी सफाईपर भी ध्यान देना पड़ेगा। प्रत्येक व्यक्तिके खूनमें उसके वंशपरम्परागत रोगोंके कीटाणु मौजूद हैं, उसके स्वयं उपार्जित रोगोंके कीटाणु भी उसमें वर्तमान हैं; उसके पसीनेमें भी वे दोष मौजूद हैं और उसके पेशाब और पाखानेमें भी। यहाँतक कि, उसके प्रश्वासके साथ भी वे कीटाणु इर्द-गिर्द हवामें फैलते हैं। ऐसी दशामें उसके वस्त्र, बिछावन, भोजन आदिसे संबद्ध होना, उसका छुआ हुआ या पकाया हुआ अन्न खाना या जल पीना खतरेसे खाली नहीं। अगर उसकी आत्मा उन्नत नहीं तो नीरोग रहनेपर भी उसके द्वारा पकाये हुए अन्नमें वह उत्तमता (उत्तम गुण) नहीं आ सकती, जो एक उन्नत आचरणवाले व्यक्तिके द्वारा पकाये हुए अन्नमें। रसोई जितनी ही पवित्रतासे बनायी जायगी, उसके भोजनमें उतना ही पवित्र गुण आयेगा। 'अन्नानुरूपाहरणी कृतश्रीः'—जैसा अन्न खाया जायगा, तदनुसार ही शरीरमें ओज, बल, स्फूर्ति और कान्ति आयेगी तथा आत्मामें ज्ञान, नैपुण्य, सुशीलता, सद्विचार आदि गुणोंका समावेश होगा। इसलिये आचारी लोग अपने हाथों रसोई पकाते हैं। भोजन किये हुए अन्नसे ही शरीरमें बल, बुद्धि आदि सब कुछ आते हैं। अतएव भोजनमें खूब विचार रखना चाहिये। ऐसी अवस्थामें 'सब धान बाईस पसेरी' वाला कानून बना डालना 'अंधेर नगरी चौपट्ट राजा ! टके सेर भाजी टके सेर खाजा'के समान ही अदूरदर्शिता और प्रमादका सूचक है।

स्पृश्यास्पृश्यका विचार सर्वथा छोड़ देनेपर राष्ट्र उन्नत होकर एकसूत्रमें बँध जायगा—ऐसा मान लेना भी गलतफहमी है, भ्रमात्मक है। यूरोपमें सभी देशोंके लोग एक दूसरेका छूआ खाते-पीते हैं; फिर भी उनमें सर्वथा मेल है; यह नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः इस बातकी चर्चा करना ही अराजनैतिकता है। इसका राजनीतिसे कोई सम्बन्ध नहीं। भोजनके लिये सब मनुष्य स्वतन्त्र रहें; जिस प्रकार जिसकी इच्छा हो; भोजन करे। हरेक व्यक्तिकी पवित्रताका अपना आदर्श स्वतन्त्र और भिन्न हो सकता है, अतः सबके लिये एक ही व्यवस्था कभी समुचित नहीं हो सकती। वास्तवमें इस विषयमें सरकारकी ओरसे कोई व्यवस्था करनेकी आवश्यकता है भी नहीं। कहावत है कि—'आप-रूप भोजन, पर-रूप शृङ्गार।' अर्थात् मनुष्य अपनी रुचिसे भोजन करता है और दूसरोंकी रुचिसे वस्त्र-आभूषण-शृङ्गार आदि धारण करता है।

अब हम देख चुके कि स्पर्शास्पर्श क्या वस्तु है। रक्तकी अपवित्रता रोगके रूपमें सहभोजन आदिके द्वारा या श्वास-प्रश्वासके द्वारा भी एकसे दूसरे व्यक्तिमें चली जाती है। इसलिये दूषित मनुष्योंसे बातें करनेकी भी मनाही है, उनसे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने या उनके साथ खाने-पीनेकी बात तो दूर रहे। आजकल स्वतन्त्रता और स्वेच्छाचारके जमानेमें दूषित मनुष्योंकी प्रचुरता होनेके कारण तथा लोगोंकी प्रवृत्ति भी नीचगामिनी होनेके कारण पतनकी पूरी सम्भावना हो गयी है। दूषित मनुष्योंके संसर्गसे स्वयं दूषित होकर हम भी पुनः उन दुर्गुणोंके केन्द्र बन जाते हैं तथा उन्हीं लोगोंके समान हम भी उन दुर्गुणोंका प्रचार और प्रसार करने लगते हैं। इस प्रकार गंदगी फैलने लगती है और बढ़ते-बढ़ते वह समूचे राष्ट्रको आक्रान्त कर लेती है। यदि हम प्रकृतिको देखें तो उससे भी हमें शिक्षा मिलेगी। पौधोंके बढ़नेमें कितने प्रयत्नकी आवश्यकता होती है, पर घास आप ही बढ़ चलते हैं। पौधोंको उनसे बचानेके लिये किसान या माली सतत प्रयत्नवान् रहता है, फिर भी पौधोंको घास दबाता ही रहता है। यों ही हमारे दोष भी आप ही बढ़ जाते हैं, पर गुणोंका विकास होनेमें बड़े यत्नकी आवश्यकता होती है। चोरी, ठगई आदि सीखनेके लिये कभी कोई विद्यालय नहीं खुलता, फिर भी ये कलाएँ स्वयं वृद्धिको प्राप्त होती रहती हैं। रोगोंका इतिहास भी ऐसा ही है। वे भी छुआछूत, अभक्ष्य-भक्षण आदिसे स्वतः ही बढ़ जाते हैं। इसीलिये प्राचीन आर्य विशुद्ध जीवन बितानेका आदेश देते थे, जैसा कि हमारे बीच कुछ मात्रामें अभीतक चला जा रहा है। हमारी संस्कृतिमें शुद्धिका एक मुख्य साधन जल माना गया है। बिना जलके कोई काम नहीं हो सकता। यदि हम 'अपना होंठ भी छूएँ तो हाथ जलसे धो लें। हाथ न जानें किन-किन वस्तुओंपर पड़ता है और होंठका जीभसे

संसर्ग बना रहता है; अतएव हाथके द्वारा होंठका छुआ जाना अच्छा नहीं। बाहरकी गंदगी हाथ और होंठसे होते हुए पेटमें चली जायगी, जिससे हानिकी संभावना हो जायगी।

इतना देख चुकनेके बाद अब हम निर्णय कर सकते हैं कि स्पृश्यता या अस्पृश्यताके विषयमें हमारा क्या कर्तव्य होना चाहिये। इसे आजकल अपने देशमें एक कलंकका टीका कहा जाता है। बड़े समझे जानेवाले लोग इसे हटानेके लिये पसीना बहा रहे हैं। कोई-कोई अस्पृश्य समझे जानेवाले लोगोंके हाथकी रसोई या भोजन खानेमें अपना तथा अपने देशका अहोभाग्य समझते हैं। उच्च आदर्शके लोग अपने चरित्रकी उत्कृष्टता स्थिर रखनेके लिये हेय मनुष्योंसे अपनेको अलग रखते थे। इस प्रकार अपने चरित्रबलकी रक्षा करके वे अपने आदर्शोंको उच्च-स्तरपर ले जाते थे और समाजके लिये आदरणीय नमूना बनते थे। उनका अनुकरण करके निम्न स्तरके व्यक्ति भी अपना ध्येय ऊँचा बनाते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे समाज उन्नतिके शिखरपर चढ़ जाता था। आज हम ठीक इसके विरुद्ध दिशामें चले जाना चाहते हैं; भगवान् जानें इसका क्या फल होगा। यदि उच्च अध्यात्मके लोग अपनी उच्चताकी रक्षा करनेके लिये अपनेको समाजमें अस्पृश्य बनाकर रक्खें तो समाजके लिये यह उत्तम आदर्शका काम होगा, इसमें संदेह नहीं। यूरोप आदि देशोंमें आध्यात्मिकताका अभाव है, इसलिये वहाँ ऐसा विभेद नहीं है। सब-के-सब संसाराभिमुख बहते जा रहे हैं; उनके लिये केवल उतनी ही बातें मान्य हैं, जो उनकी संसार-यात्रामें सहायक हो सकती हैं; पर हम भारतीय सांसारिक आवश्यकताओंको ठुकराकर—उन्हें कम-से-कम बनाकर ऊँचे उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये आगे बढ़ते हैं। आधिभौतिक जडवादकी उन्नतिको नश्वर मानकर अविनश्वर ज्ञानमय अध्यात्मवादके मार्गमें आगे बढ़ते हुए संसारके गुरु बनकर उन्हें भी सन्मार्गपर लानेका प्रयत्न करना ही भारतीय संस्कृतिकी परमोच्च आकाङ्क्षा रही है। अतएव भारत यदि अपनी मान्य पदवीको सुरक्षित रखना चाहता है तो उसे उचित है कि वह अपने ही मार्गपर चले, दूसरोंकी नकल करना छोड़ दे।

अगर हम समाजकी नीचगामिनी प्रवृत्तिको रोकनेके बजाय उसे बढ़ावा देना अपना कर्तव्य समझते हैं तो कहिये, हम कर्तव्यच्युत हो रहे हैं या नहीं? सरकार पहले विशुद्ध भोजनालयकी व्यवस्था करे, अशुद्ध खाद्य द्रव्योंपर कड़ी रोक लगा दे (क्योंकि राष्ट्रको बिगाड़नेवाले भोजनको बिक्री करना एक बड़ा अपराध है।) स्टेट प्रत्येक शहरमें सरकारी भोजनालय खोलकर विशुद्ध भोजनकी व्यवस्था करे, जो कि उसके मुख्य कर्तव्यके अन्तर्गत आता है। यूरोपियन लोग, जिनका अनुकरण करना हमने अपना कर्तव्य बनाया है, वे भी अपने हाथका छुआ अन्न नहीं खाते, पर उनका दृष्टिकोण स्वास्थ्यसम्बन्धी है। जो भी हो, पर छुआछूतके विरुद्ध वे भी हैं। केवल छू देनेसे कुछ न होगा, ऐसा बहुत से लोग कह डालते हैं। उनके प्रति हमारा उत्तर है—भला, आप अपना शरीर बिजलीसे तो छुआ दीजिये!* पुरुष और स्त्रीके अङ्गोंके परस्पर छू जानेसे कुछ विकार होता है या नहीं? मन्त्र पढ़कर छूनेसे बड़ी-बड़ी पीड़ाएँ दूर हो जाती हैं, इसका अनुभव इस छोटेसे लेखके लेखकने सहस्रों बार किया है और आन्तरिक आनन्द पाया है। इसलिये स्पर्शको तुच्छ समझकर उसे तिरस्कृत कर देना बुद्धिमानी नहीं है।

अन्तमें यह कह देना कि देशके बड़े-बड़े आदमी ऐसा कहते और करते हैं, इसलिये हमें भी ऐसा ही करना चाहिये—मूर्खताकी पराकाष्ठा है। यदि अग्नि उष्ण है तो धनी-दरिद्र, बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, रोगी-नीरोग—सबके लिये वह ऐसी ही होगी। दूसरे, वे लोग जिन्हें हमने बड़ा समझ रक्खा है, सभी बातोंमें हमारे अगुआ नहीं बन सकते। मनुष्य आखिर मनुष्य है, उसमें भूलें भी होती ही हैं, जिन्हें वह आगे चलकर समझ पाता है। आचार-विचार एक बार बिगड़ जानेपर फिर सुधर नहीं सकता—

नभ तें गिरि पर गिरत जल गिरिहू ते ढरि जात।

हम अपने जीवनके सिद्धान्तके लिये दूसरोंपर क्यों निर्भर करें। आशा है, विद्वन्मण्डली हमारी युक्तियोंकी मीमांसा करेगी तथा हमारे देशके भावी नागरिक भी एक बार हमारी बातोंपर गम्भीरतासे विचार करेंगे।

---

* मनुष्योंमें भी बिजली है; आँखोंसे, अँगुलियोंसे—यहाँतक कि उनके प्रत्येक रोमसे वह निकलती रहती है। इसीलिये 'हिप्नोटाइज' करते समय अँगुलियोंसे पास दिया जाता है।

संध्या और गायत्री-जपका महत्त्व

(लेखक—पं० श्रीअश्विनीकुमारजी दीक्षित)

शास्त्रोंमें नित्य, नैमित्तिक और काम्यरूप भेदसे तीन प्रकारके कर्मोंका उपदेश है। 'नैमित्तिक कर्म' किसी निमित्त-विशेषके आनेपर किया जाता है—जैसे 'ग्रहण-स्नान', 'संक्रान्ति-स्नान' आदि। इनके करनेसे उत्कर्षशाली अदृष्ट उत्पन्न होते हैं, जिससे मनुष्य ऐहलौकिक, पारलौकिक—उभयविध उन्नतिसे युक्त होता है तथा न करनेसे पापका भागी भी होता है।

इसी तरह काम्यकर्म तत्तत्कामनाविशेषकी प्राप्तिके लिये किया जाता है—जैसे पुत्रप्राप्त्यर्थ पुत्रेष्टि-याग, सुवृष्टिके लिये 'कारीरी' याग आदि तथा अनेक प्रकारके काम्य-व्रतादि। इनके करनेसे केवल तत्तत् कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। किंतु इन्हें यदि न किया जाय तो कोई पाप नहीं लगता। और 'नित्यकर्म' में यह वैलक्षण्य है कि करनेसे तो कोई अदृष्ट उत्पन्न नहीं होता, किंतु न करनेसे पापका भागी होना पड़ता है—'अकरणात्प्रत्यवायः', जिससे मनुष्य अपनी स्थितिसे ही गिर जाता है। इसीलिये 'नित्यकर्मों' का अनुष्ठान अत्यन्त आवश्यक है। इन्हीं नित्यकर्मोंमें 'संध्या' सर्वप्रमुख नित्यकर्म है, जो द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिये विहित है।

इसका विवरण करते हुए महर्षि व्यासने लिखा है कि रात्रि और दिनकी संधिमें उपासित होनेके कारण मनीषी लोग इस कर्मको 'संध्या' कहते हैं।

उपास्ते संधिवेलायां निशाया दिवसस्य च।
तामेव संध्यां तस्मात्तु प्रवदन्ति मनीषिणः॥

इसीलिये निबंधकारोंने इसका अर्थ 'संधौ भवा क्रिया संध्या' किया है। और भी 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'ध्यै चिन्तायाम्' धातुसे 'क' प्रत्यय करनेपर 'संध्या' शब्द बननेके कारण 'सम्यग् ध्यायते परमात्मानं अस्यां सा संध्या' अर्थात् जिसमें अच्छी तरह परमात्माका चिन्तन किया जाय, उस कर्मको 'संध्या' कहते हैं—ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है, और बुद्धिसंगत भी है। क्योंकि इसमें क्रमशः प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकी संध्यामें परमात्माकी शक्तिस्वरूपिणी सृष्टिकारिणी 'ब्राह्मी शक्ति', स्थितिकारिणी 'वैष्णवी शक्ति' तथा संहारकारिणी 'रौद्री शक्ति' की आराधना की जाती है; साथ ही इनके अतिरिक्त इन त्रितयशक्तिस्वरूपिणी 'गायत्री' के परम आकर सूर्यदेव एवं पृथ्वी, जल, अग्नि आदि सभीके अधिष्ठातृ-देवताओंकी आराधना की जाती है। इनकी आराधना साक्षात् परमात्माके चिन्तनके ही समान है, अतः इस कर्मके करनेसे अंशभूत अधिकारीगण अंशी सच्चित्स्वरूप निराकार परमात्मामें मिल जाते हैं। यह बात—

'संध्या उपासिता येन ब्रह्म तेन उपासितम्' इस वाक्यसे स्पष्टतः निकलती है। इसीलिये इसकी महत्ता बताते हुए याज्ञवल्क्यने लिखा है कि इस पृथ्वीपर जितने भी दुष्कर्म-परायण द्विज हैं, उनको पवित्र करनेके लिये ही ब्रह्माने संध्याकर्मका सर्जन किया है। अतः त्रिकालसंध्या करनेसे रात्रि और दिनमें किये गये जितने भी अज्ञानकृत पाप हैं, सब नष्ट हो जाते हैं।

यावन्तोऽस्यां पृथिव्यां वै विकर्मस्थास्तु वै द्विजाः।
तेषां वै पावनार्थाय संध्या सृष्टा स्वयम्भुवा॥

पापनाशके अनन्तर अन्तिम फल क्या होता है, इसको महर्षि अत्रिने स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि जो लोग संयमके साथ संध्योपासन करते हैं, वे पापरहित होकर अनामय ब्रह्मलोकको जाते हैं—

संध्यामुपासते ये तु सततं संयतव्रताः।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम्॥

इन्हीं सब बातोंको दृष्टिमें रखते हुए भगवती श्रुतिने सर्वप्रथम स्पष्ट आदेश दिया कि 'अहरहः संध्यामुपासीत'—प्रतिदिन संध्योपासन करना चाहिये।

इस पावनकर्मको न करनेसे क्या दोष होता है, इसके विषयमें महर्षि मरीचिने कहा है कि जिस त्रैवर्णिकने न संध्याकर्मको जाना और न उसकी उपासना की, वह जीता हुआ शूद्र है और मरनेपर श्वान होता है—

संध्या येन न विज्ञाता संध्या येनानुपासिता।
जीवमानो भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चाभिजायते॥

इसीलिये दक्षने यहाँतक लिखा है कि संध्याहीन द्विज सदा अपवित्र रहनेके कारण सभी कर्मोंके लिये अयोग्य हो जाता है। अन्य जो भी कर्म उसके द्वारा होता है, उसका उसे फल नहीं मिलता—

संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु।
यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलभाग् भवेत्॥

ठीक इसी बातका समर्थन कूर्मपुराणके एक वचनद्वारा किया गया है। वहाँ लिखा है कि 'जो संध्या-कर्मका परित्याग करके अन्य धार्मिक कार्योंके करनेका प्रयत्न करता है, वह दस सहस्र नरकोंमें जाता है—

योऽन्यत्र कुरुते यत्नं धर्मकार्ये द्विजोत्तमः ।
विहाय संध्याप्रणतिं स याति नरकायुतम् ॥

इस तरहके अनेकों वचन संध्याकी अवश्यकर्तव्यताके बोधक मिलते हैं, जिनका निर्देश विस्तारभयसे न करके संक्षेपमें ही इस कर्मकी परमोपयोगिता बतायी गयी। प्रातःसंध्यारूपी नित्यकर्मके विषयमें निम्नलिखित वचन मिलता है—

नत्वा तु पुण्डरीकाक्षं उपात्ताघप्रशान्तये ।
ब्रह्मवर्चसकामार्थं प्रातःसंध्यामुपास्महे ॥

इस श्लोकके द्वारा इस नित्यकर्मके दो उद्देश्य कहे गये हैं, एक नित्यकृत पापका नाश और दूसरा ब्रह्मतेजकी प्राप्ति। अतः त्रैकालिक संध्योपासनके द्वारा वे उपर्युक्त दो उद्देश्य अवश्य सिद्ध होते हैं, इसमें अणुमात्र भी संदेह नहीं है। अब नीचे संध्याके अन्तर्गत कुछ प्रधान क्रियाओंका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

१—संध्योपासनके अन्तर्गत प्रथम क्रियाका नाम मार्जन है। इसमें शास्त्रोक्त मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए कुशा अथवा इसके अभावमें कनिष्ठा, अनामिका और अङ्गुष्ठद्वारा मस्तक, भूमि और ऊपरकी ओर जलसिञ्चनकी विधि है। यह एक प्रकारका मन्त्रस्नान है, जिससे बहिःशुद्धि तथा अन्तःशुद्धि दोनों ही होती हैं। शुद्धिके बिना उपासना नहीं होती, इसीलिये संध्योपासनका प्रथम अङ्ग यह शुद्धि है। इस मार्जनके मन्त्रमें परमपावन ब्रह्म-विभूतिस्वरूप जलके समीप बाह्यमल तथा अन्तर्मल दूर करनेके लिये प्रार्थना की जाती है। सृष्टिकार्यमें जल ही प्रथम वस्तु है, वह परम शिवतम रसका प्रतिरूप है; इसलिये जलमें जिस प्रकार शारीरिक मलको दूर करनेकी शक्ति है, वैसे ही स्नेहमयी जननीकी तरह शरीर-पोषण करनेकी शक्ति तथा परमकल्याणमय सम्पूर्ण रसोंके मूलरूप ब्रह्ममें संयुक्त कर देनेकी शक्ति है। इसीलिये मार्जनके मन्त्रोंमें जलके निकट इस प्रकारसे प्रार्थना की गयी है, जिससे संध्योपासकको अवश्य ही अन्तर्बहिःशुद्धि तथा ब्रह्मतेजकी प्राप्ति होती है। अर्वाचीन पुरुषोंने जो मार्जनका उद्देश्य आलस्य दूर करना माना है, यह उनकी भूल है; क्योंकि प्रातःकाल, संध्याकाल आलस्यके समय नहीं होते हैं।

२—संध्योपासनकी द्वितीय प्रक्रियाका नाम प्राणायाम है। इसमें प्रणव, सप्त महाव्याहृति और शिरोभागके साथ गायत्री-मन्त्रका तीन-तीन बार मनसा उच्चारण करते हुए पूरकद्वारा वायु-आकर्षण, कुम्भकद्वारा वायु-धारण और रेचकद्वारा वायुरेचन किया जाता है, जैसा कि महर्षि याज्ञवल्क्यने लिखा है कि—

गायत्रीं शिरसा सार्द्धं जपेद्व्याहृतिपूर्विकाम् ।
प्रतिप्रणवसंयुक्तां त्रिरयं प्राणसंयमः ॥
(आचाराध्याय, ब्रह्मचारिप्रकरण, २३)

पूरकः कुम्भको रेच्यः प्राणायामस्त्रिलक्षणः ।
नासिकाकृष्ट उच्छ्वासो ध्मातः पूरक उच्यते ।
कुम्भको निश्चलः श्वासो रेच्यमानस्तु रेचकः ॥

इन प्रक्रियाओंके क्रमानुसार नाभिदेशमें सृष्टिकर्ता ब्रह्माका ध्यान, हृदयमें पालनकर्ता विष्णुका ध्यान और ललाटमें संहारकर्ता रुद्रका ध्यान किया जाता है। और साथ ही ऐसी भी धारणा की जाती है कि मैं सूर्यमण्डलान्तर्गत तेजःस्वरूप परब्रह्मका चिन्तन करता हूँ, जो संसार-दुःखनाशक तथा हमारी बुद्धिवृत्तिके प्रेरक हैं। समस्त विश्व उन्हींके तेजसे प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकारसे 'प्राणायाम' क्रियाद्वारा व्यापक सत्ता-स्वरूप ब्रह्मसे सम्बन्ध स्थापित होकर ब्रह्म-तेजकी प्राप्ति तथा पापका नाश होता है। इसीलिये शास्त्रमें लिखा है कि "जिस प्रकार अग्निके द्वारा पार्वत्य धातुओंका मल दूर होता है, उसी प्रकार 'प्राणायाम' के द्वारा अन्तःकरणस्थित पापका नाश होता है।"

यथा पार्वत्यधातूनां दोषान् दहति पावकः ।
एवमन्तर्गतं चैनः प्राणायामेन दह्यते ॥

३—संध्योपासनकी तीसरी प्रक्रियाका नाम आचमन है। इसमें क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको हृदय, कण्ठ और कण्ठके पहले केवल मुखतक जितना जल पहुँच सके, उतना जल अङ्गुष्ठमूलमें स्थित ब्राह्मतीर्थमें लेकर पीना चाहिये, जैसा कि मनुसंहितामें वचन है—

हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः ।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥
(मनु० २ । ६२)

(यहाँ शूद्रके लिये आचमन-विधान अन्य कर्मोंके लिये है, इस कर्मके लिये नहीं, क्योंकि शूद्रका इस कर्मको करनेका अधिकार ही नहीं है) आचमन करते समय पूर्वकृत

संध्योपासनके समयसे लेकर वर्तमान संध्योपासनके समय-पर्यन्त शरीर और मनके द्वारा यदि कोई पाप-कार्य हुआ हो तो उसके सम्पूर्ण विनाशके लिये मन्त्रद्वारा तीव्र इच्छा प्रकट की जाती है।

इसमें प्रातःकाल बाह्य जगत्के सूर्यरूपी हृदयस्थित अन्तर्ज्योतिमें, मध्याह्नके समय देह तथा देहीके अति घनिष्ठ सम्बन्धकी धारणा करके जलमें और सायंकालके समय परमात्माके सत्त्वज्योतिःस्वरूप अग्निमें पापकी आहुति दी जाती है। इस प्रकार आचमनक्रियासे अहोरात्रमें किये हुए पापोंको दग्ध करके सूर्यास्तमें जीवात्माके शुद्धि-सम्पादन-द्वारा ज्ञानशक्ति तथा ब्रह्मतेजका लाभ किया जाता है। आचमन-मन्त्रोंका निर्देश महर्षि भारद्वाजने इस प्रकार किया है कि सायंकाल 'अग्निश्च मा मन्युश्च' इत्यादि, प्रातः 'सूर्यश्च मा मन्युश्च' इत्यादि और मध्याह्नकालमें 'आपः पुनन्तु' आदि मन्त्रोंसे आचमन अर्थात् जल पीना चाहिये—

सायमग्निश्च मेत्युक्त्वा प्रातः सूर्येत्यपः पिबेत्।
आपः पुनन्तु मध्याह्ने ततश्चाचमनं चरेत्॥

अर्वाचीन पुरुषोंने जो आचमनमें जल लेनेका उद्देश्य कफ-पित्तकी निवृत्ति करना बताया है, यह उनका मिथ्या-प्रलाप है; क्योंकि जलसे कफ बढ़ता है, घटता नहीं और सायं-प्रातःकालमें पित्तवृद्धि नहीं होती। मध्याह्नमें पित्तवृद्धि और सायंकालमें वायुवृद्धि होती है।

४—संध्योपासनके अन्तर्गत चतुर्थ क्रियाका नाम पुनर्मार्जन है। यह क्रिया पूर्वकथित मार्जनक्रियाके अनुरूप ही है। केवल ऋष्यादि-स्मरणपूर्वक देह तथा जीवात्माको और भी विशेषरूपसे पवित्र करना ही इसका मुख्य उद्देश्य है।

५—संध्योपासनकी पञ्चम क्रियाका नाम अघमर्षण है। 'अघमर्षण' शब्दका अर्थ पापनाशन है। इसमें नासिकारन्ध्रके निकट एक चुल्लू जल रखकर मन्त्रोच्चारण करते हुए ऐसी भावना करनी होती है कि 'देह-स्थित पापराशि कृष्णवर्ण पाप-पुरुषके रूपमें इस जलमें मिल गया है और इसीलिये यह जल काला हो गया है।' इस प्रकार चिन्तन करनेके बाद उस जलको दक्षिण हस्तसे वाम पार्श्वमें इस भावनाके साथ बलपूर्वक फेंक देना चाहिये कि 'यह पाप-पुरुष विनष्ट हो गया।' यही बात शास्त्रमें लिखी है—

उद्धृत्य दक्षिणे हस्ते जलं गोकर्णवत्कृते।
निःश्वासं नासिकाग्रे तु पाप्मानं पुरुषं स्मरेत्॥
ऋतं चेति त्र्यृचं वापि द्रुपदां वा जपेदृचम्।
दक्षनासापुटेनैव पापात्मानमपोहयेत्॥
तज्जलं नावलोक्याथ वामभागे क्षितौ क्षिपेत्।

इस तरह मन्त्रपूर्वक इसकी विधि बतायी गयी है। यही अघमर्षणक्रिया है।

६—संध्योपासनकी षष्ठ क्रियाका नाम सूर्योपस्थान है। इससे परमात्माके साक्षाद्विभूतिस्वरूप सूर्यदेवके उपस्थान-द्वारा ब्रह्मतेजकी प्राप्ति तथा ज्ञानका उन्मेष होता है। संध्यामें सूर्यके उपस्थानकी जो ऋचाएँ हैं, उनमेंसे पहला मन्त्र उदय होनेवाले सूर्यके दर्शनसे जीवजगत्में आनन्दोच्छ्वासका अपूर्व प्रकाशक है। उसमें यह कहा गया है कि—'विश्वप्रकाशके लिये रश्मियाँ सूर्यको वहन किये आती हैं। सूर्यदेव अन्तरिक्ष और पृथिवीके नेत्रस्वरूप तथा चराचर जगत्के आत्मास्वरूप हैं।' सूर्योपस्थानके समय जिस प्रकारकी मुद्राका प्रयोग किया जाता है, उससे जान पड़ता है कि उपासक सूर्यके साथ मिलनेके लिये प्रस्तुत है। इससे उपासकको तेजोलाभ, ज्ञानलाभ तथा पवित्रता-लाभ होता है। साथ ही सूर्योपस्थानके चौथे मन्त्रद्वारा प्रार्थना की जाती है कि हम अनन्त वर्षोंतक देखते रहें अर्थात् आयुपर्यन्त अबाधित-रूपसे विद्यमान रहें। हमारी अनन्त आयु हो। अनन्त वर्षोंतक सुनें! अनन्त वर्षोंतक अस्खलित वाक्-इन्द्रियवाले हों और अनन्त वर्षोंतक दैन्ययुक्त न हों।

'पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः' इत्यादि।

इस मन्त्रका 'शतं' यह पद 'अनन्त वर्षों' के अर्थमें प्रयुक्त है, जिससे शतायुष्यादि जो सबके प्रिय हैं, वे भी प्राप्त होते हैं और इस क्रियाके करनेसे किसी भी प्रकारके हृद्रोग एवं मानसिक रोग नहीं होते, जैसा कि ऋग्वेदके निम्नलिखित मन्त्रसे स्पष्ट है—

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय॥
(ऋ० १।४।८)

अर्थात्—'बहुमित्रोंवाले हे सूर्यदेव! ऊँचे लोकोंको चढ़ते हुए आप मेरे हृद्रोगों एवं मानसिक रोगोंको दूरकर मेरे शरीरकी इस दुर्बलताको नष्ट कीजिये।'

इस प्रकारसे पूर्व-पूर्व क्रियाओंके द्वारा पापनाशके बाद सूर्योपस्थान-क्रियाके द्वारा ऐहलौकिक नीरोगताके साथ-

साथ शतायुष्यादि विविध कामनापूर्तिपूर्वक ब्रह्मतेजकी प्राप्ति तथा ज्ञानका विकास किया जाता है।

संध्याकी सप्तम प्रक्रियामें गायत्रीका आवाहन, ध्यान और जपकी विधि है। त्रिकालके भेदसे गायत्रीकी अधिष्ठात्री देवताएँ भी तीन हैं—ब्राह्मी, वैष्णवी और माहेश्वरी देवी। इनके पृथक्-पृथक् रूप तथा भावके अनुसार ध्यान भी पृथक्-पृथक् हैं। उनका अक्षरत्रयमयी, ब्रह्मवादिनी सनातनी वेदमातारूपसे आवाहन करके उनकी उपासना की जाती है तथा उनसे शक्ति माँगी जाती है, जिससे संध्योपासकको शक्ति-लाभ, ब्रह्मतेज-लाभ तथा ज्ञानलाभ होता है। यही संध्यान्तर्गत सप्तम प्रक्रिया है। इसका विशेष महत्त्व-वर्णन आगे किया जायगा।

संध्याकर्मके अवसानमें सूर्यार्घ्य दिया जाता है, जिससे सूर्यदेवताका अन्तिम अभिवादन हो जाता है।

इस तरह 'संध्योपासन'के अन्तर्गत आनेवाली प्रधान क्रियाओंके इस संक्षिप्त विवेचनसे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि इस पावन कर्मके करनेसे प्रत्येक त्रैवर्णिक नित्यकृत पापोंके प्रक्षालित हो जानेसे चित्तशुद्धि, संस्कारशुद्धिके साथ-साथ अपना-अपना अन्तःकरण पवित्र चिन्तनमय बना लेता है, जिससे ईश्वरके साथ सम्बन्ध होते ही उसे अनायास आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त हो जाती है, जो सदासे उसका चरम लक्ष्य ही रहा है। ऐसी स्थितिमें यह सुतरांसिद्ध है कि जब इस कर्मके करनेसे निखिल ऐश्वर्योंकी अधिष्ठात्री आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त हो जाती है, तब इसके कोट्यंशकी भी तुलनामें न आनेवाले अकिञ्चन ऐहलौकिक इष्ट तो अवश्य ही प्राप्त होते हैं।

गायत्री

'गायत्री' शब्दका अर्थ करते हुए श्रीनागदेवने लिखा है कि 'श्रद्धाके साथ उपासना करनेवाले द्विजकी रक्षा करनेवाली शक्तिको ही गायत्री कहते हैं।'

'गायन्तं त्रायते यस्माद्गायत्री तेन सोच्यते।'

शास्त्रोंमें बताया गया है कि 'गायत्री वेदजननी हैं, गायत्री पाप-नाशकारिणी हैं। गायत्री-जैसी पवित्र वस्तु इस लोकमें तथा द्युलोकमें कोई नहीं है।'

गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी।
गायत्र्यास्तु परं नास्ति दिवि चेह च पावनम्॥

भगवती गायत्री वेदमाता, पापनाश करनेवाली, इहलोक एवं द्युलोकमें परमपवित्र हैं और उपासकोंकी रक्षा करनेवाली हैं। अतः कल्याणकामी द्विजको उसका अवश्य ही जप करना चाहिये। इस प्रकार जपकी अवश्यकर्तव्यता होनेसे, उसे कब करना चाहिये—इस बातका स्पष्ट निर्देश मनुस्मृतिमें इस प्रकार किया गया है कि 'प्रातःकालिक संध्यामें सूर्यदर्शनतक और सायंकालिक संध्यामें अच्छी तरह नक्षत्रदर्शनतक सावित्री अर्थात् गायत्रीका जप करता हुआ बैठे।'

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमर्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात्॥
(मनु० २। १०१)

कुछ श्लोकोंके बाद आगे और भी लिखा है, कि आचमन करके पवित्रताके साथ सदा अनन्यमना होकर पवित्रस्थानपर गायत्री-जप करता हुआ दोनों संध्याओं अर्थात् प्रातःकालिक, सायङ्कालिक संध्याओंकी उपासना करे—

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि॥
(मनु० २। २२२)

मध्याह्नकालिक संध्याके अनन्तर भी प्राङ्मुख होकर गायत्री-जप करे—ऐसा वायुपुराणमें लिखा है—

तथा मध्याह्नसंध्यायामासीनः प्राङ्मुखो जपेत्।

इन सब वचनोंके द्वारा 'संध्या'के अनन्तर गायत्री-जपका विधान होनेसे इस जपकी संध्याङ्गता सुस्पष्ट हो जाती है।

'गायत्रीजप'के महत्त्ववर्णन-प्रसङ्गमें बृहद्यमने लिखा है कि गायत्री-जप करता हुआ द्विज जिस तरह पापोंको नष्ट कर देता है, उस तरह वेदपारायणके द्वारा भी उसको नष्ट नहीं कर सकता—

न तथा वेदजपतः पापं निर्दहति द्विजः।
यथा सावित्रीजपतः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

अर्थात् वेदोंकी अपेक्षा गायत्रीका महत्त्व अधिक है। इसीलिये योगियाज्ञवल्क्यने स्पष्ट कहा है कि 'चारों वेदोंका अङ्गोंसहित अध्ययन समाप्त करनेवाला भी द्विज यदि गायत्रीको नहीं जानता तो उसका परिश्रम व्यर्थ है।'

वेदाः साङ्गास्तु चत्वारोऽधीताः सर्वेऽथ वाङ्मयाः।
गायत्रीं यो न जानाति वृथा तस्य परिश्रमः॥

इस प्रकार गायत्री-जपकी महत्ता शास्त्रोंमें वर्णित है। समग्र मन्त्रका अन्वय तथा अर्थ निम्नलिखित रूपमें है—

ॐ भूर्भुवः स्वः तस्य सवितुः देवस्य (तद्) वरेण्यं भर्गः धीमहि यद् (भर्गः) नः धियः प्रचोदयात्॥

'सवितृमण्डलमध्यवर्ती दीप्तिमान् परमात्मा निमित्त-कारणरूपसे भूः-भुवः-स्वः नामक महाव्याहृतित्रयको (तथा उपलक्षणरूपसे सप्तलोकरूपी सप्तमहाव्याहृतियोंको) उत्पन्न तथा प्रकाशित करके उपादान-कारणरूपसे तद्रूप बना हुआ है । उसके उस वरणीय तेजका मैं चिन्तन करता हूँ, जो तेज हमारी बुद्धिको धर्म-अर्थ-काम-मोक्षमें नियोजित करता है ।' इस तरह भगवती गायत्रीके अधिष्ठातृदेव श्रीसूर्यसे धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षमें अपनी बुद्धिको नियोजित करनेकी प्रार्थना की जाती है । क्योंकि इन चार पुरुषार्थोंकी सुस्थितिसे ही केवल भारतकी ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्वकी सुस्थिति एवं उत्तरोत्तर उन्नति हो सकती है । आजकल तो धर्म और मोक्षको तिलाञ्जलि देकर केवल अर्थ-कामके द्वारा ही देशकी उन्नतिका स्वप्न देखा जा रहा है । और साथ ही इन दो पुरुषार्थोंमें स्वाभाविक प्रवृत्ति होनेके कारण प्रत्येक मानव बड़े वेगसे उनकी ओर बढ़ भी रहा है ! पर केवल इन दो पुरुषार्थोंके द्वारा देश उन्नतिकी ओर बढ़ रहा है या दिनों-दिन अवनतिकी ओर, यह किसी भी विचारशीलसे छिपा नहीं है । उन्नति तो दूर रही, अपनी साम्यावस्थामें भी देशका रहना कठिन हो रहा है ।

हमारे यहाँ धर्मनियन्त्रित अर्थ-कामका सेवन उतनी ही मात्रामें होता था, जितनेसे वह ऐहलौकिक समस्त सुखोंका साधक होता हुआ निरवधिरूपसे चरम पुरुषार्थ मोक्षका भी पूर्ण साधक हो सके । इसीलिये प्रत्येक आराधना प्रायः इसी उद्देश्यसे की जाती है । गायत्री-जप तो एतदर्थ ही है, यह अर्थसे भी स्पष्ट हो गया ।

मनुस्मृतिके द्वितीयाध्यायमें इसकी महिमा बताते हुए लिखा है कि—'जो वेदज्ञ विप्र दोनों संध्याओंमें प्रणव तथा व्याहृतिसहित गायत्रीका जप करते हैं, उनको समग्र वेद-पुण्य लाभ होता है । इस प्रकार संध्यातिरिक्त अन्य समयमें प्रतिदिन गायत्रीका सहस्रसंख्यक जप एक महीने-तक करनेपर कञ्चुकमुक्त सर्पकी तरह द्विज महान् पापसे मुक्त हो सकता है । प्रणवपूर्विका तीन महाव्याहृतियाँ और त्रिपदा गायत्री ब्रह्मप्राप्तिकी द्वारस्वरूपा तथा वेदकी मुखरूपा हैं । अनलस होकर तीन वर्षतक प्रतिदिन प्रणवव्याहृतिसहित गायत्रीका जप करनेसे परब्रह्म-लाभ, वायुकी तरह यथेच्छ गति तथा आकाशकी तरह निर्लिप्तता प्राप्त हो जाती है । एकाक्षर प्रणव ही 'परब्रह्म' और 'प्राणायाम' ही परम तप है । गायत्रीसे उत्तम कोई मन्त्र नहीं है और मौनसे सत्य ही विशिष्टतर है ।'

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
संध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥
सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत् त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥
ॐकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥
योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥
एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात् सत्यं विशिष्यते ॥
(मनु० २ । ७८-७९, ८१-८३)

इस तरह ऐहलौकिक-पारलौकिक उभयविध लाभ इसके द्वारा प्राप्त होता है ।

संध्या और गायत्रीका यह संक्षिप्त विवेचन हमने पाठकोंके समक्ष रक्खा । अब पाठक स्वयं इनकी उपयोगिता-को समझ सकते हैं । अपनी ओरसे हम इतना अवश्य कहेंगे कि भारतकी इस दयनीय दशाका सर्वप्रमुख कारण इन परम उदार एवं परम पावन कर्मोंका परित्याग ही है ।

यदि इस दुरवस्थाका समूलोन्मूलन करके भारतको ही नहीं, सम्पूर्ण विश्वको समुन्नतिशील बनाना है तो स्वाभिमानी भारतीयोंको इन कर्मोंके पुनरुद्धारके लिये भूमिका तैयार करनी पड़ेगी । पर आजके सुशिक्षित तथा अग्रगण्य कहलाने-वालोंमें प्रतिशत ९५ भारतीय वैदेशिक अधार्मिकतामय विषैले प्रचारसे इतने प्रभावित हो चुके हैं कि उनसे ऐसी आशा कथमपि नहीं की जा सकती । क्योंकि वे आजकी अपने ऊपर बीतती हुई भीषण दुर्दशाका पूर्णरूपमें अनुभव करते हुए भी स्वयं निष्प्रभ होनेसे कुछ भी क्रियात्मक उपाय करनेके लिये अग्रसर नहीं हो सकते ।

ऐसी स्थितिमें भारतीयोंका एकमात्र यही कर्तव्य है कि वे सारे प्रलोभनोंको त्यागकर कुछ दिनोंके लिये पूर्णत्यागी बन अपने बालकोंको वैदेशिक शिक्षाप्रणालीसे विरतकर शास्त्रविहित भारतीय शिक्षापद्धतिके अनुसार पूर्ण धार्मिक एवं सर्वतोमुखी उत्कर्षयुक्त बनायें, जिस प्रकार देवर्षि नारदने हिरण्यकशिपुकी दानवतासे त्रस्त देवता-मानवादि सभीकी रक्षाके लिये अपने आश्रममें ही रहती हुई उसकी गर्भवती पत्नीके व्याजसे गर्भस्थ बालक प्रह्लाद-को अपने उपदेशोंके द्वारा पूर्ण ईश्वरभक्त एवं धार्मिक बनाया था । फिर तो जैसे भक्त प्रह्लादके अपने 'सिद्धान्त-

पर अटल रहनेके फलस्वरूप स्वयं अशरणशरण अकारण-करुण करुणावरुणालय प्रभुको अवतीर्ण होकर सारी स्थिति सुधारकर पूर्ण शान्तिमय वातावरण बनाना पड़ा, वैसे आज भी इन पूर्ण धार्मिक बालकोंको अपनी सैद्धान्तिक लड़ाईके लिये अग्रसर होनेपर कोई कारण नहीं कि उन्हीं अनाथनाथ प्रभुको पुनः स्वयं अवतीर्ण होकर सब प्रकारकी इन सारी आपदाओंको सदाके लिये समाप्तकर सुख-शान्तिमय वातावरण न बनाना पड़े। किंतु यह होगा सिद्धान्तकी पूरी दृढ़ता होनेपर ही! हमारे इस मन्तव्यके द्वारा यदि भारतीयोंको उन्नति-पथके लिये कुछ भी प्रकाश मिला तो हम अपना परिश्रम सफल मानेंगे।

साथ ही 'कल्याण'के पाठकोंसे तो अवश्य हम यह विनम्र निवेदन करेंगे कि वे अपने बालकोंको भारतीय शिक्षा-पद्धतिके अनुसार ही अध्ययन कराना प्रारम्भकर और लोगोंके लिये आदर्श उपस्थित कर और द्विज बालक यज्ञोपवीत धारणकर संध्या-गायत्रीका नियमित सेवन करें—इसकी व्यवस्था करें।

* * *

आदर्श शिक्षा-विज्ञान

(लेखक—पं० श्रीराजमंगलनाथजी त्रिपाठी, एम्० ए०)

आधुनिक युगमें शिक्षितोंकी आचार-विचारसम्बन्धी उच्छृङ्खलता, बहिर्मुख-प्रवृत्ति, अर्थकामकी तृष्णा, धर्म और ईश्वरका उपहास, घोर निराशा और अशान्ति— सब दूषित शिक्षा-प्रणालीका परिणाम है। इस युगके शिक्षा-शास्त्री अर्थकामकी प्राप्तिद्वारा आधिभौतिक उन्नतिमें ही शिक्षाकी सफलता मानते हैं। निस्सन्देह अर्थकामकी सिद्धिमें पुरुषार्थ है, तथापि संसारमें सुख स्वप्न ही बना हुआ है। वस्तुतः आधुनिक संसारके पास वास्तविक सुखके साधन ही नहीं हैं। वह तो महामहिम प्राचीन ऋषियोंके मार्गके अनुकरणसे ही प्राप्त हो सकता है। उन्होंने पुरुषार्थचतुष्टय (धर्मार्थकाम-मोक्ष) के साधनद्वारा अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त किया था। अज्ञानजननी अविद्याको दूरकर ज्ञानप्रसविनी विद्याका श्रमपूर्वक प्रसार करना उनके जीवनका व्रत था। किंतु शिक्षाका उद्देश्य ज्ञान नहीं, ज्ञानसे भी ऊँचा आत्म-साक्षात्कार था। इस परम तत्त्वको जान लेनेपर सब कुछ प्रकाशमान हो जाता है। क्योंकि—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

यही शिक्षाका वास्तविक उद्देश्य है। इस उद्देश्यकी सिद्धि हो जानेपर सब संदेह दूर हो जाते हैं, आसक्ति मिट जाती है, कर्म शेष हो जाते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

इसी ज्ञानके द्वारा मर्त्य अमरत्वको प्राप्त करता है; यही अमरताका पुल है—'अमृतस्यैष सेतुः'। जिस मनुष्यको यह ज्ञान हो जाता है, उसकी शक्ति नष्ट नहीं होती, उसके शब्द व्यर्थ नहीं जाते। 'विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी।' परंतु इस तत्त्वज्ञानकी उपलब्धि तथा अनुगमके लिये एक ऐसी प्रयोग-शालामें अभ्यास करनेकी आवश्यकता होती है, जो आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगशालासे भिन्न है; उसकी सामग्रियाँ भिन्न हैं, उसके संचालक भिन्न हैं।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

सदाचार, सद्विचार और उपासनाद्वारा शुद्धान्तःकरण ब्रह्मनिष्ठ ऋषिगण ही तत्त्वज्ञान-प्रयोगशालाके चालक और निदर्शक हैं। वे ही उस प्रकाशको देनेमें समर्थ हैं, जिसके द्वारा सम्पूर्ण भ्रान्ति और ग्लानि दूर हो जाती है।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।

इसलिये—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

आचारवान् श्रद्धालु शिष्य ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें अमूल्य तत्त्वज्ञानकी शिक्षाके लिये जाता था। गुरु ऐसे ही शिष्यको अधिकारी समझकर शिक्षा भी देता था।

नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः।

गुरु-शिष्य-सम्बन्ध अमूल्य और पावन था। परम गुरु भगवान् श्रीकृष्ण अपने अमर संगीतमें कहते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

प्राचीन भारतकी शिक्षा-पद्धतिमें सत्य, धर्म, आचार, नित्य स्वाध्याय और भक्तिकी आवश्यकता केवल विद्यार्थि-जीवनमें ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण जीवनमें समझी जाती थी।

अतः वेद-शिक्षाकी पूर्णताके पश्चात् आचार्य स्नातकको शिक्षित करता था—

'वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ।'

(तैत्तिरीयोपनिषद्)

मनुष्यकी मौलिक शक्तियोंके विकासके लिये, भगवान् तथा भूतमात्रसे स्नेह उत्पन्न करनेके लिये, स्वावलम्बनके भावको जाग्रत् करनेके लिये, धर्म और समाजकी व्यवस्थाको सुदृढ़ रखनेके लिये कोमलमति बालकोंको उपर्युक्त शिक्षा, जीवनपर्यन्त प्रकाश-स्तम्भका कार्य करेगी। अतः शिक्षाके कर्णधारोंका यह कर्तव्य है कि देश-कालकी परिस्थितिके अनुसार प्राचीन महर्षियोंके शिक्षा-सिद्धान्तोंको ध्यानमें रखकर वर्तमान शिक्षाप्रणालीमें आवश्यक सुधार करें। तभी शिक्षा उभयलोक-कल्याणकारिणी सिद्ध होगी।

भारतकी कुछ बाल-विभूतियाँ

(लेखक—श्रीवैकुण्ठनाथजी मेहरोत्रा, एम्० ए०)

आदिकालसे ही भारतवर्षका इतिहास मेधावी, बुद्धिमान् और धर्मपरायण बालकोंके चरित्रोंसे भरा पड़ा है। ये उज्ज्वल जीवन चरित्र हमारी आर्य-संस्कृतिकी अमूल्य निधि हैं और इन्हींके आधारपर हमें आजके युगके बालकोंका चरित्रनिर्माण और उनका पथप्रदर्शन करना है। अतः यह आवश्यक है कि हमारे देशके बालक भारतवर्षके इन सपूतोंके विषयमें अधिक-से-अधिक जानकारी प्राप्त करें और इसी दृष्टिकोणको सामने रखते हुए इस लेखमें देशके कुछ विख्यात एवं अनुकरणीय बालकोंके जीवन-वृत्तान्तपर संक्षेपमें प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया गया है।

पहले हम भक्त ध्रुवकी कथाको लेते हैं। इनका तथा भक्त प्रह्लादका आविर्भाव प्रथम अर्थात् स्वायम्भुव मन्वन्तरमें हुआ था। अब सातवाँ वैवस्वत-मन्वन्तर चल रहा है। ध्रुवके पिता महाराज उत्तानपाद प्रथम मनुके पुत्रोंमेंसे एक थे। उनकी दो रानियाँ सुनीति तथा सुरुचि थीं। ध्रुव महारानी सुनीतिके पुत्र थे। जिस समय वे पाँच वर्षके थे, उन्होंने अपने पिताकी गोदमें बैठनेका प्रयत्न किया। पर अपनी विमाता सुरुचिके भर्त्सना करनेपर वे बिना गोदमें बैठे ही चुपचाप लौट आये और अपनी मातासे उन्होंने सब हाल कहा। माताने उस पाँच वर्षके बच्चेको तपस्या करनेका उपदेश दिया। ध्रुव तुरंत चल पड़े। मार्गमें उन्हें महर्षि नारद मिले और उनसे उन्होंने ध्यानकी विधि पूछी। महर्षि नारदने उन्हें भगवान्का द्वादशाक्षरी मन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) और मधुराके अरण्यमें तपस्या करनेका उपदेश दिया। बालक ध्रुवने एक पैरपर खड़े होकर वायुभक्षण करते हुए तप किया और वायुनिरोधके समय अपने हृदयमें भगवान्के दर्शन किये और समाधि टूटनेपर भगवान्की वही मूर्ति बाहर भी देखी। भगवान्की कृपासे ध्रुवने पिताका राज्य पाया। उनकी विमाताके लड़के उत्तम जंगलमें यक्षोंद्वारा मारे गये और विमाता सुरुचि भी उत्तमको खोजती हुई मृत्युको प्राप्त हुई। ध्रुवने छत्तीस हजार वर्षतक राज्यका उपभोग करके परमगति प्राप्त की।

पाठकोंको छत्तीस हजार वर्षके विषयमें कोई संदेह न होना चाहिये। उस आदिकालमें राजालोग तपस्वी, धर्मात्मा तथा बहुत लंबी आयुवाले होते थे। उस समयकी सात्त्विक प्रकृति, शारीरिक बल तथा अलौकिक कर्मोंकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। उपासना-प्रधान समय होनेके कारण उस समय देवलोक तथा अन्यान्य लोकों और मर्त्यलोकके प्राणियोंसे बराबर सम्बन्ध रहता था। इस सम्बन्धमें एक बात और ध्यान देने योग्य है कि ध्रुवको महर्षि नारदने भगवान्की उपासनाका मार्ग दिखाया था। ये महर्षि महान् भक्त, ज्ञानी, सब शास्त्रोंको जाननेवाले तथा अनेकानेक ग्रन्थोंके रचयिता हैं। भगवद्भक्तिका अङ्कुर भी हृदयमें उपजते ही महर्षि नारद कृपा करके प्राणीको सहारा देकर आगे बढ़ाते हैं। दुष्टोंको, उनके शीघ्र उद्धारकी भावनासे महर्षि नारद उनको घोरतम दुष्प्रवृत्तियोंमें लगाते हैं। एक दूसरी बात ध्यानमें रखने योग्य यह है कि एक बालकका भी दृढ़ विश्वास तथा प्रयास क्या नहीं कर सकता।

भागवतरत्न प्रह्लाद भी स्वायम्भुव मन्वन्तरमें हुए थे। जिस समय वे अपनी माता महारानी कयाधूके गर्भमें थे, उस समय भी महर्षि नारदने महारानीको भगवान्की भक्तिका उपदेश दिया था और इसीके कारण प्रह्लाद इतने बड़े भक्त

हुए। अपने यहाँ यह नियम है कि जिस समय गर्भस्थ बालककी चेतनाका विकास होता है तथा माता 'दोहदिनी' कही जाती है, उस समय उसकी रुचि तथा भगवत्-प्रेरणाके अनुसार उसकी कामनाएँ पूरी की जाती हैं। इससे बालकका मन विशिष्ट प्रकारका बनाया जा सकता है।

प्रह्लादके पिता हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको भगवान् विष्णुकी उपासना करनेके कारण अनेकानेक भीषण यन्त्रणाएँ दीं; पर उन्होंने सभी यातनाओंको शान्तिपूर्वक सहा तथा हृदयमें किंचिन्मात्र भी उद्वेग न आने दिया। अपनी ही प्रेरित कृत्याके कारण मरे हुए गुरुपुत्र षण्ड तथा अमर्कको भगवान्की कृपासे पुनः जीवित किया। अपने पितासे भी प्रह्लाद सदा सौम्य तथा विनीत व्यवहार करते थे। उस समयके वातावरणकी कल्पना करना भी कठिन है। प्रह्लादकी उत्तरोत्तर भक्तिसे चिढ़कर हिरण्यकशिपु नये-नये तथा भीषण अत्याचार कर रहा था। उस समय भगवान्का नाम लेना भी कठिन हो गया था। चारों ओर त्राहि-त्राहि मची थी। फिर भी लोग भगवान्की उपासना नहीं छोड़ रहे थे। कैसे छोड़ते। भगवान् ही तो प्रजाके प्राण थे। और जैसे प्राण बिना शरीर नहीं जीवित रह सकता, वैसे ही भगवान्के बिना प्रजा बिना जलकी मछलीकी भाँति तड़पने लगी थी। दयामय भगवान् कहीं दूर तो थे नहीं। केवल मनुष्योंके धैर्यकी परीक्षा ले रहे थे और यन्त्रणाओंके द्वारा उनके सञ्चित पापकर्मोंका भुगतान कर रहे थे। हिरण्यकशिपुके मारे जाते ही चारों ओर एकदम शान्ति विराजने लगी।* बड़े-बड़े आततायी दैत्य इधर-उधर भाग गये। प्रह्लादके समयका विचार करते हुए मनुष्योंको यह शिक्षा मिलती है कि विपत्तिके समय धैर्यके साथ भगवान्की उपासना करते रहना चाहिये। संसारके इतिहासको देखनेसे मालूम होता है कि मानव-हृदय एक सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी तथा करुणामय शक्तिके ध्यानके बिना नहीं रह सकता। भयंकर रोग तथा आत्मीय जनोंकी मृत्युके अवसरपर बड़े-बड़े नास्तिक लोग भी आस्तिक हो जाते हैं तथा भगवान्की शरणमें जाकर शान्ति लाभ करते हैं।

अब हम श्रीशुकदेवजीकी कथाको लेते हैं। वे महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यासके पुत्र थे और द्वापरयुगके अन्तमें प्रकट हुए थे। शुकदेवजीके जन्मके विषयमें कई कथाएँ प्रसिद्ध हैं और 'कल्याण'के पाठक उनसे परिचित ही होंगे। शुकदेवजीने बहुत छोटी ही अवस्थामें इस लोकको छोड़ दिया था। उनकी अनन्य भक्ति अनुकरणीय है। वे भगवान्के ध्यानमें सदा ही डूबे रहते थे और उनकी लीलाओंका स्मरण आते ही उनके नेत्रोंसे अविरल अश्रुधार बहने लगती थी। महर्षि व्यासको अपने पुत्रसे बहुत ही स्नेह था; पर शुकदेवजी बिल्कुल निःस्पृह थे। व्यासजी चाहते थे कि शुकदेवजीको अपना अन्तिम ग्रन्थ श्रीमद्भागवत पढ़ायें। ध्यान रखनेकी बात है कि महर्षि व्यासने श्रीमद्भागवत देवर्षि नारदकी ही प्रेरणासे लिखा था। व्यासजीने अपने शिष्योंको भगवान्की छविविषयक एक पद याद करा दिया था और जब वे जंगलमें लकड़ी बटोरने जाते थे तो लयके साथ श्रीमद्भागवतके उसी मन्त्रका गान करते थे। कहते थे—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥

(श्रीमद्भा० १०। २१। ५)

जो शुकदेवजी अपने पिताके बार-बार कहनेपर भी घरपर नहीं रुके थे, वे इस पदको सुनकर कुरङ्गकी तरह व्यासजीके पास आ गये और उन्होंने अपने पितासे सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत पढ़ा। वे दिगम्बर वेषमें रहते थे; फिर भी स्त्रियाँ स्नान करते समय उनसे परदा न कर उनके पिता व्यासजीसे परदा करती थीं। इसका कारण यह था कि शुकदेवजीके हृदयमें पुरुष और स्त्रीका भेद आता ही न था। वे परम रूपवान् थे और महाराज जनकके यहाँ उनकी जो परीक्षा हुई, उससे पाठक विदित ही होंगे। उन्होंने ही

---

* ऐसे समयका वर्णन मार्कण्डेयपुराणमें शुम्भ दैत्यके देवीद्वारा मारे जानेके अवसरपर यों मिलता है——

ततः प्रसन्नमखिलं हते तस्मिन् दुरात्मनि।
जगत् स्वास्थ्यमतीवाप निर्मलं चाभवन्नभः॥
उत्पातमेघाः सोल्का ये प्रागासंस्ते शमं ययुः।
सरितो मार्गवाहिन्यस्तथासंस्तत्र पातिते॥
ततो देवगणाः सर्वे हर्षनिर्भरमानसाः।
बभूवुर्निहते तस्मिन् गन्धर्वा ललितं जगुः॥
अवादयंस्तथैवान्ये ननृतुश्चाप्सरोगणाः।
ववुः पुण्यास्तथा वाताः सुप्रभोऽभूद् दिवाकरः॥
जज्वलुश्चाग्नयः शान्ताः शान्ता दिग्जनितस्वनाः ॐ॥

(१०। २८–३२)

प्रकृतिकी शान्तिका ऐसा सुन्दर वर्णन कदाचित् ही अन्यत्र मिलेगा।

महाराज परीक्षित्को अन्त समय एक सप्ताहमें श्रीमद्भागवत सुनाया था । शंकरजीके समान श्रीशुकदेवजीकी निरुद्वेग मूर्ति तथा अगाध भक्तिभाव संसारके साहित्यमें कहीं भी नहीं मिलेंगे ।

ऋषि आरुणि या उद्दालक तथा उनके सुपुत्र ब्रह्मज्ञानी नचिकेताके वृत्तान्त भी 'कल्याण' के पाठकोंको अच्छी तरह ज्ञात हैं । ऋषि आरुणि आयोदधौम्य ऋषिके शिष्य थे । उस समय शिष्यलोग गुरुके यहाँ रहकर विद्याध्ययन करते थे और उनके घरका सब काम-काज करते थे । विद्याकी प्राप्ति गुरु-कृपापर ही निर्भर करती थी । यदि गुरु शिष्यसे प्रसन्न होकर उसको यह आशीर्वाद देते थे कि 'जाओ बेटा ! तुमको सब शास्त्र उपस्थित हों' तो उन त्रिकालदर्शी महर्षियोंकी वाणी कभी निरर्थक नहीं होती थी । गुरुका पद साक्षात् ब्रह्मके तुल्य होता था और वैसी ही निष्ठा रखनेके कारण शिष्योंको वैसा ही फल देता था । एक समय गुरुजीने आरुणिसे कहा कि 'देखो, खेतमें अभी जल बरसा है । यदि वह बाहर न निकल गया तो अच्छी फसल होगी ।' आरुणि तुरंत ही खेतपर गये और उन्होंने देखा कि खेतमें लबालब पानी भरा हुआ है, पर एक जगह मेड़के कट जानेके कारण बाहर निकल रहा है । बेचारे बालकने बहुत प्रयत्न किया कि मेड़को ठीक कर दें पर ठीक न कर सका । अतः गुरुकी आज्ञा पालन करनेके निमित्त कटी हुई मेड़के स्थानपर वह स्वयं ही लेट गया और इसी तरह राततक पड़ा रहा—जबतक कि गुरुजीने आकर उसको बड़े प्रेमसे नहीं उठाया । गुरुजीने अत्यन्त गद्गद होकर शिष्यको छातीसे लगा लिया और आशीर्वाद दिया कि—'बेटा ! मैं तुम्हारी गुरुभक्तिसे बहुत प्रसन्न हूँ । तुम्हें बिना पढ़े ही सारी विद्या आ जायगी । आजसे तुम्हारा नाम उद्दालक हुआ ।' ऐसी ही कथा बौद्ध-साहित्यमें चौरासी सिद्धोंमें 'मारपा' और उनके शिष्य 'नारोपा' के विषयमें मिलती है । नारोपा ईसाकी दसवीं शताब्दीमें हुए थे । वे काश्मीरी ब्राह्मण थे । गुरुने उनको बार-बार बड़ी-बड़ी यन्त्रणाएँ देकर बारह परीक्षाएँ लीं । पर नारोपा बिल्कुल उद्विग्न न हुए और उन्होंने धैर्यपूर्वक सब कष्टोंको सहा । अन्तमें गुरुजीने अपना जूता उतारकर नारोपाको खूब पीटा । नारोपाको दिनमें तारे दिखलायी पड़ने लगे और उनको पूर्ण ब्रह्मज्ञान हो गया । यह कथा—"With Mystics and Magicians in Tibet" नामक पुस्तकमें मिलेगी । वास्तवमें मनुष्य केवल अपने विचारोंपर ही जीवित रहता है । अतः जैसी उसकी निष्ठा होती है, वैसा ही फल उसको मिलता है ।

इन्हीं ऋषि उद्दालककी कथाएँ उपनिषदोंमें मिलती हैं । कहा जाता है कि इन्हींके सुपुत्र ब्रह्मज्ञानी नचिकेता थे, जिनके विषयमें कठोपनिषद् देखना चाहिये । जब ऋषि उद्दालक विश्वजित् याग कर रहे थे और अपना सर्वस्व दान कर रहे थे, तब नचिकेताने तीन बार उनसे पूछा कि 'पिताजी ! मुझे आप किसको देंगे ।' पिताने झुँझलाकर कहा कि 'तुझे मृत्युको देंगे ।' अतः बालक नचिकेता शरीर त्यागकर यमराजके यहाँ उपस्थित हुआ । यमराज घरपर नहीं थे । अतः जबतक वे वापस नहीं आये, नचिकेताने अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं किया । तीन दिनतक उपवास करके वैसे ही उपस्थित रहा । इससे प्रसन्न होकर यमराजने उससे तीन वर माँगनेके लिये कहा । नचिकेताने पहला वर पितृ-परितोषका माँगा । दूसरा वर पारलौकिक साधनभूत अग्नि-विज्ञान माँगा और तीसरा वर ब्रह्मज्ञानविषयक माँगा । यमराजके बहुत समझानेपर भी नचिकेताने किसी भी ऐहिक सुखको ग्रहण करना अस्वीकार किया । उसने कहा—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥

इसपर यमराजने नचिकेताको मृत्युविज्ञानका उपदेश दिया । धन्य हैं हमारे पूर्वज, जिनको ब्रह्मज्ञानसे इस छोटी अवस्थामें भी इतना प्रेम था । क्षणिक सांसारिक सुखोंकी अयथार्थता समझना ही तो जीवनका मूल सिद्धान्त है ।

गङ्गानन्दन राजर्षि भीष्मके महान् त्यागको पाठक जानते ही होंगे । इसके कारण उनको पिताने इच्छामृत्युका वरदान दिया था । और इस महान् त्यागका विचार करके ही महर्षियोंने तर्पणमें राजर्षि भीष्मको जल देनेकी व्यवस्था की ।

वीरवर अभिमन्युके विषयमें पाठकगण जानते ही होंगे । जब वे माताके गर्भमें थे, उसी समय उनकी माता सुभद्राने वीर अर्जुनसे चक्रव्यूहकी स्थिति सुनी थी । पर माताको नींद आ जानेके कारण चक्रव्यूह तोड़कर बाहर आनेकी स्थिति वे न समझ सके । अपने यहाँ गर्भाधान इत्यादि जो संस्कार निश्चित किये गये हैं, वे बड़े ही महत्त्वके हैं । इन्हीं संस्कारोंकी अवहेलना करनेके कारण हम इतना गिर गये हैं कि हमें समझमें नहीं आता कि हमारा उद्धार कैसे होगा ।

मुसल्मानी शासनके कठिन समयमें भी कई उदाहरण वीर बालकोंके प्रादुर्भावके अपने देशमें मिलते हैं। बालक हक़ीकतराय सन् १७१९ ई० में स्यालकोटमें लाला बाघमल खत्रीके पुत्र-रूपमें जन्मे। वे स्यालकोटके प्रसिद्ध ग्राम बादलाके रहनेवाले थे। उनका विवाह भी हो गया था। उस समय हिंदूबालक भी मकतबोंमें पढ़ने जाया करते थे। मुसल्मान बालकोंने हिंदुओंके देवताओंके प्रति कुछ अपमान-सूचक शब्द कहे। इसपर हक़ीकतरायने पैगम्बर मोहम्मदकी लड़की फ़ातिमाको कुछ अपशब्द कहे। इसके कारण उस पंद्रह वर्षके बालकको प्राणदण्ड दिया गया। वसन्तपञ्चमीके दिन उस वीरके प्राण लिये गये और उसने हँसते-हँसते धर्मके लिये अपने प्राण न्योछावर कर दिये।

सिक्खोंके दसवें गुरु गोविन्दसिंहजीके पुत्र फतहसिंह और जोरावरसिंहके विषयमें भी ऐसी ही कथा मिलती है। फतहसिंह नौ वर्षके थे और जोरावरसिंह ग्यारह वर्षके। जब ये बालक मुसल्मानोंके हाथ पड़े, तब उन्होंने इनको भी मुसल्मान बनाना चाहा। बालकोंने इसको अस्वीकार किया। इसपर उनको भय दिखलाया गया कि वे जीवित ही दीवालमें चुन दिये जायँगे। इसपर इन वीर बालकोंने कहा कि 'तेगबहादुरके पौत्र और गोविन्दसिंहके पुत्र धर्मके लिये प्राण देनेसे नहीं डरते। हमारी प्रतिज्ञा अटल है।' इसपर दोनों बालक दीवालमें जीवित ही चुन दिये गये।

ब्रिटिश राज्यके समयकी बात है कि अनेक भारतीय नवयुवक क्रान्तिकारी कहे जाकर फाँसीपर लटका दिये गये। उनके अग्रणी एक सिपाही मंगल पाण्डेय नामक थे, जिनको कलकत्तेमें १८५७ ई० में गौकी चर्बीसे बने कारतूसोंको न सेवन करनेके कारण फाँसी दी गयी। सन् १९०५ से प्रायः आठ-दस वर्षके बीचमें सैकड़ों नवयुवक अपनी देशभक्ति तथा मातृभक्तिके कारण फाँसीपर लटका दिये गये। इनमेंसे कई नवयुवक फाँसीके तख्तेपर भी गीताका पाठ करते हुए हँसते-हँसते अपनी मातृभूमिके लिये बलिदान हो गये। बंकिम बाबूने, जो अपने समयमें एक डिप्टी कलेक्टर थे, 'आनन्दमठ' नामक एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है। उसमें संन्यासी-आन्दोलनका बहुत अच्छा वर्णन दिया है। ठीक इसी प्रकारका एक दूसरा ग्रन्थ 'जपाकुसुम' १९१३ में पण्डित लक्ष्मीदत्त जोशी डिप्टी कलेक्टरने लिखा था। भारतका राष्ट्रिय गीत 'वन्दे मातरम्' इसी 'आनन्दमठ'में दिया हुआ है। इन पुस्तकोंमें त्याग तथा धार्मिक वृत्ति विशेष रूपसे आती है और यही भारतीय संस्कृतिके प्राण हैं।

* * *

छात्र-छात्राओंके प्रति

(रचयिता—श्रीरघुनाथप्रसादजी 'साधक')

(१)

जीवनमें हैं काम अनेकों तुमको करने।
शुभ कर्मोंसे शुभ विचार इस जगमें भरने॥
दुःख विश्वका तुमको, अति हलका करना है।
ज्ञान-सूर्यसे जगका अंधकार हरना है॥
यह सब कुछ करनेकी, करनी है तैयारी।
तुमपर इसकी है पवित्रतम जिम्मेवारी॥
तुमपर लगी हुई हैं, आँखें भू-माताकी।
उठो, जगो, हो खड़े, बात मानो भ्राताकी॥
ईश्वरपर विश्वास करो, कर्तव्य विचारो।
सत्य-अर्थमें जीवनके संकल्प सुधारो॥
सुधर जायगा अखिल विश्व, जब तुम सुधरोगे।
उभर जायगा देश राष्ट्र, जब तुम उभरोगे॥

(२)

प्यारी बहनो! आज तुम्हें भी कुछ बतलाना।
है, तुम भी हो भूल गई निज ठीक-ठिकाना॥
तुमने भी कर्तव्य-मार्गसे है मुँह मोड़ा।
सदाचार संकल्प-सिद्धिका गुण है छोड़ा॥
तुम समाजका गौरव थीं, यह भूल गई हो!
उस गौरव-पदकी तुम कंटक-शूल हुई हो॥
सेवाएँ सब जीव मात्रकी तुमको करनी।
नव-परिवारोंमें जाकर, सब पीड़ा हरनी॥
भगिनी, माता, पत्नि, विविध रूपोंमें रहकर।
तुमको हैं कर्तव्य पालने सुख-दुख सहकर॥
शुभ मति, प्रभुविश्वास भरो तुम अपने मनमें।
संयमसे शुभ कार्य रहो करती जीवनमें॥

हिंदू-धर्मग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय

धर्मका एक लक्षण इस प्रकार है—'चोदनालक्षणो धर्मः।' अपने धर्मग्रन्थोंके आदेशोंका पालन धर्म है। संसारके सभी धर्मोंके सम्मान्य ग्रन्थ हैं। सनातनधर्म इतना व्यापक धर्म है कि इसका स्वरूप भगवान्‌के समान ही अनादि, अनन्त और नित्य है। हिंदूधर्मके ग्रन्थोंकी एक सूची भी देना हो तो बड़ा भारी ग्रन्थ बन जायगा। फिर यह सूची देना सम्भव भी नहीं है; क्योंकि बहुत-से धर्मग्रन्थ मिलते नहीं हैं। धर्मग्रन्थोंका एक बड़ा भाग समयके फेरसे और विदेशियोंके आक्रमणसे नष्ट हो गया। बहुत-से ग्रन्थ विदेशी ले गये और वे वहाँ उनके पुस्तकालयोंमें पड़े हैं। देशमें भी बहुत-से ग्रन्थ ऐसे स्थलोंमें पड़े हैं कि उनका सर्वसाधारणको पता नहीं है। जो ग्रन्थ छपे भी थे, उनमें भी बहुत-से अब बाजारमें मिलते नहीं। इतनेपर भी जो ग्रन्थ मिलते हैं या जिनका पता मिलता है, उतनोंका भी केवल नाम दिया जाय तो एक ग्रन्थ लिखना पड़ेगा। यहाँ केवल मुख्य ग्रन्थोंकी ही सूची मात्र दी जा रही है, जिसमें बालक अपने मुख्य धर्मग्रन्थोंका कम-से-कम नाम तो जान लें।

हिंदूधर्मके ग्रन्थोंके मुख्य विभाग ये हैं—१—वेद, २—वेदाङ्ग, ३—उपवेद, ४—इतिहास और पुराण, ५—स्मृति, ६—दर्शन, ७—निबन्ध, ८—आगम।

वेद

वेदोंके पाँच भाग हैं—१—मन्त्रसंहिता, २—ब्राह्मण, ३—आरण्यक, ४—सूत्र, ५—अनुक्रमणी। इन पाँचों भागों-सहित वेदको श्रुति कहते हैं।

वेद चार हैं—१—ऋग्वेद, २—यजुर्वेद, ३—सामवेद, ४—अथर्ववेद। वैसे तो वेद एक ही है; किंतु यज्ञमें चार भागोंमें उपयोग होनेके कारण चार वेद कहे जाते हैं। यज्ञमें होता जिन मन्त्रोंका उपयोग करता है, उन्हें ऋग्वेद कहते हैं। अध्वर्यु जिन मन्त्रोंको काममें लेता है, उन्हें यजुर्वेद कहते हैं। उद्गाता जिन मन्त्रोंका उपयोग करता है, वे सामवेद कहलाते हैं और ब्रह्माका काम जिस मन्त्रभागसे होता है, उसे अथर्ववेद कहते हैं। इस प्रकार एक ही वेद कार्यकी सुविधाके लिये चार भागोंमें संकलित होकर चार नामसे कहा जाता है। इस पूरे वेदमें कर्म, ज्ञान और उपासना—इन तीन विषयोंका वर्णन है।

वेदोंका कोई निर्माता नहीं है। वे अनादि ईश्वरीय ज्ञान हैं। सृष्टिके आदिमें ब्रह्माजीके हृदयमें भगवान् उन्हें प्रकट करते हैं। एकसे दूसरे सुनकर ही वैदिक मन्त्रोंको जानते हैं, इसीसे उन मन्त्रोंको श्रुति कहते हैं। वे मन्त्र इसलिये कहे जाते हैं कि मनन करते हुए समाधिमें—चित्तकी पूरी एकाग्रतामें ही उन श्रुतियोंका अर्थ दीखता है। व्याकरण या निरुक्तसे उनका पूरा अर्थ नहीं जाना जा सकता। प्रत्येक मन्त्रका देवता, छन्द और ऋषि होता है। छन्द तो उस मन्त्रके उच्चारणका स्वर बतलानेवाला होता है। मन्त्रका अर्थ-दर्शन करनेके लिये उसके देवताका ध्यान करना पड़ता है। देवताका ध्यान करते हुए जिन्होंने उस मन्त्रके अर्थको समाधिमें देखा, वे उस मन्त्रके द्रष्टा या ऋषि कहे जाते हैं। ऋषि मन्त्रके निर्माता नहीं हैं। उस मन्त्रका पूरा अर्थ ही उस ऋषिके ग्रन्थोंमें वर्णित है।

वेदोंको पढ़नेके अनेक प्रकार हैं। ये इसलिये हैं कि वेदमन्त्र शुद्धरूपमें रक्षित रहें। वेदोंको ऋषियोंने अनेक प्रकारसे सम्पादित किया है। जैसे किसी ऋषिने एक देवताके मन्त्र एक स्थानपर रक्खे तो दूसरे ऋषिने एक प्रकारके छन्द एक स्थानपर रक्खे। किसीने एक ऋषिके मन्त्रोंको एकत्र रक्खा और किसीने एक स्वरके मन्त्र एकत्र किये। इस प्रकार सम्पादन-भेदसे वेदोंकी अनेक शाखाएँ हो गयीं। एक शाखाके ग्रन्थसे दूसरी शाखाके ग्रन्थमें नाममात्रका ही अन्तर होता है; मन्त्र प्रायः वही होते हैं, केवल उनका क्रम दूसरा होता है। इसलिये किसी वेदकी एक भी शाखा मिलती है तो वह पूरा वेद मिलता है। शाखाग्रन्थोंके लोपसे वेद खण्डित नहीं हुआ; क्योंकि शाखा एक ग्रन्थका खण्ड नहीं है। वह उसी ग्रन्थका दूसरे ढंगसे, दूसरे क्रमसे सजाया हुआ रूपमात्र है।

ऋग्वेदकी २१ शाखाएँ कही जाती हैं, जिनमेंसे बाष्कल तथा शाकल शाखाएँ शुद्धरूपमें प्राप्त हैं। यजुर्वेदके दो प्रकारके पाठ हैं, एकको शुक्लयजुर्वेद कहते हैं और दूसरेको कृष्णयजुर्वेद। शुक्लयजुर्वेदकी १५ शाखाएँ हैं और कृष्णयजुर्वेदकी ८५। इनमेंसे शुक्लयजुर्वेदकी माध्यन्दिनीशाखा मिलती है। कृष्णयजुर्वेदका दूसरा नाम तैत्तिरीयसंहिता है। इसकी आठ शाखाएँ प्राप्त हैं। सामवेदकी एक सहस्र शाखाओंका वर्णन मिलता है; परंतु केवल तीन शाखाएँ उनमेंसे प्राप्त हैं और उनमें भी कौथुमी शाखा ही सर्वसम्मत शुद्धरूपमें है। अथर्ववेदकी नौ शाखाएँ कही गयी हैं। इनमेंसे शौनक-शाखा शुद्धरूपमें प्राप्त है।

यह विवरण वेदोंके मन्त्रसंहिताभागका है। कुछ लोग इसी भागको वेद मानते हैं; किंतु शेष चारों भागोंको मिलाकर ही पूरा वेद होता है। मन्त्रसंहिताओंमेंसे प्रत्येक शाखाके ब्राह्मण, आरण्यक आदि पृथक्-पृथक् होते हैं। इस प्रकार संहिताभागकी ११३० शाखाएँ होनेके कारण इतने ही ब्राह्मणग्रन्थ, इतने ही आरण्यक और उपनिषद् और श्रौतसूत्र, स्मार्तसूत्र, गृह्यसूत्र तथा अनुक्रमणी-ग्रन्थोंमेंसे भी प्रत्येककी संख्या इतनी ही होनी चाहिये। लेकिन मन्त्रसंहिताओंकी जैसे बहुत थोड़ी शाखाएँ मिलती हैं, वैसे ही ये ग्रन्थ भी बहुत थोड़े मिलते हैं। मन्त्रसंहिताओंके लोपसे तो कोई बड़ी हानि नहीं थी, पर संहिताओंके अङ्गरूप इन ग्रन्थोंके लोपसे ज्ञानका बहुत बड़ा भाग ही लुप्त हो गया। इन ग्रन्थोंमें मन्त्रसंहिताका उपयोग, उसका दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र, कुलाचार, आधिभौतिक विज्ञान तथा छन्द, ऋषि एवं देवताओंकी अनुक्रमणिकाएँ थीं।

ब्राह्मण

ब्राह्मणग्रन्थोंमें वेदमन्त्रोंका यज्ञमें कैसे उपयोग हो, यह बात कही गयी है। इस समय जो ब्राह्मणग्रन्थ मिलते हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—

ऋग्वेदके—१–ऐतरेय ब्राह्मण और २–शाङ्खायन ब्राह्मण।

यजुर्वेदका—तैत्तिरीय ब्राह्मण।

सामवेदके—१–ताण्ड्य महाब्राह्मण (पञ्चविंशब्राह्मण), २–षड्विंशब्राह्मण, ३–सामविधानब्राह्मण, ४–आर्षेयब्राह्मण, ५–देवताध्यायब्राह्मण, ६–मन्त्रब्राह्मण।

सामवेदके ब्राह्मणग्रन्थोंमें मन्त्रोंके गायनका भेदोपभेदसहित वर्णन है। इनमें श्रौत तथा गृह्य—दोनों प्रकारके विषय हैं।

अथर्ववेदका—गोपथ ब्राह्मण।

आरण्यक और उपनिषद्

यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि मन्त्रसंहिताका जो नाम है, प्रायः उसके ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् तथा सूत्रग्रन्थोंके भी वही नाम हैं। कहीं-कहीं इन ग्रन्थोंके संहितासे भिन्न नाम भी हैं। अतः एक ही नाम देखकर यह नहीं समझ लेना चाहिये कि ग्रन्थ भी एक ही है। ये नाम तो शाखाके हैं। ग्रन्थ तो ब्राह्मण, आरण्यक आदि विशेषणसे जाने जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थोंके जो भाग अरण्य या वनमें पढ़ने योग्य हैं, उन्हें आरण्यक कहा जाता है। तथा उन्हींके ब्रह्मविद्याप्रतिपादित भागोंको उपनिषद् कहते हैं।

कौन-सा उपनिषद् किस वेदका है, इस सम्बन्धमें विद्वानोंमें एक मत नहीं है। इस समय जो उपनिषद् प्राप्त हैं, उनकी संख्या लगभग २०२ है। 'कल्याण' के 'उपनिषद्-अङ्क' में प्राप्त होनेवाले उपनिषदोंकी सूची दी गयी है। इनमेंसे बारह उपनिषद् सर्वमान्य हैं और आचार्योंने उनपर भाष्य एवं टीकाएँ लिखी हैं। वे बारह ये हैं—

१–ईश, २–केन, ३–कठ, ४–मुण्डक, ५–माण्डूक्य, ६–प्रश्न, ७–ऐतरेय, ८–तैत्तिरीय, ९–छान्दोग्य, १०–बृहदारण्यक, ११–श्वेताश्वतर और १२–कौषीतकि-उपनिषद्। 'नृसिंहतापिनी'पर भी शाङ्करभाष्य है।

श्रौत-सूत्र

इन ग्रन्थोंमें मन्त्रसंहिताके कर्मकाण्डको स्पष्ट किया गया है। प्रत्येक शाखाके श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र आदि पृथक्-पृथक् होते हैं। निम्न श्रौतसूत्र उपलब्ध हैं—

ऋग्वेदके—१–आश्वलायन-श्रौतसूत्र, २–शाङ्खायन-श्रौतसूत्र, ३–ऋक्प्रातिशाख्य।

यजुर्वेदके—१–कठसूत्र, २–मानवसूत्र, ३–लौगाक्षिसूत्र, ४–कात्यसूत्र। इनके अतिरिक्त बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वाधूल और वैखानस सूत्रग्रन्थोंके नाम और मिलते हैं।

सामवेदके—१–माशकसूत्र, २–लाट्यायनसूत्र, ३–द्राह्यायणसूत्र, ४–अनुपदसूत्र, ५–पुष्पसूत्र, ६–सामतन्त्र, ७–पञ्चविधिसूत्र, ८–ताण्ड्यलक्षणसूत्र, ९–उपग्रन्थसूत्र, १०–कल्पानुपदसूत्र, ११–अनुस्तोत्रसूत्र, १२–क्षुद्रसूत्र।

अथर्ववेदके—१–कौशिकसूत्र, २–वैतानसूत्र, ३–नक्षत्रकल्पसूत्र, ४–आङ्गिरसकल्पसूत्र, ५–शान्तिकल्पसूत्र।

स्मार्तसूत्र

वेदोंके सूत्रभाग तीन प्रकारके हैं—१–श्रौतसूत्र, २–स्मार्तसूत्र, ३–शुल्वसूत्र। इनमेंसे स्मार्तसूत्रके दो भेद हैं—१–धर्मसूत्र, २–गृह्यसूत्र। इनमेंसे श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र तो सभी वेदोंके प्राप्त हैं, परंतु अब धर्मसूत्र और शुल्वसूत्र सबके प्राप्त नहीं हैं। केवल यजुर्वेदकी बोधायन तथा आपस्तम्बशाखाके ही चारों प्रकारके सूत्र मिलते हैं। अथर्ववेदके तो केवल श्रौतसूत्र ही मिलते हैं।

धर्मसूत्रोंमें धर्म-विधान होता है। ये ही धर्मसूत्र

स्मृतियोंके मूल आधार हैं । गृह्यसूत्रोंमें उस शाखाके कुलाचारका विधान होता है ।

ऋग्वेदके आश्वलायन-सूत्र तथा शाङ्खायन-सूत्र हैं । इन सूत्रोंमें श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र साथ-साथ हैं ।

यजुर्वेदके–१–मानव गृह्यसूत्र, २–काठक गृह्यसूत्र, ३–मैत्रायणी गृह्यसूत्र, ४–पारस्कर गृह्यसूत्र ।

सामवेदके–१–जैमिनीय गृह्यसूत्र, २–गोभिल-गृह्यसूत्र, ३–खादिर गृह्यसूत्र, ४–कौशिक-गृह्यसूत्र, ५–द्राह्यायण-गृह्यसूत्र ।

शुल्वसूत्र

शुल्वसूत्रोंमें ज्यामिति शास्त्रका विस्तार है। शुक्ल-यजुर्वेदका प्रातिशाख्यसूत्र व्याकरण शास्त्रका मूल है । कात्यायन-शुल्वसूत्र यजुर्वेदके शुल्वसूत्रोंमें प्रधान हैं ।

अनुक्रमणी

वेदोंकी रक्षा और वेदार्थका विवेचन इन ग्रन्थोंमें हुआ है ।

ऋग्वेदकी–१–आर्षानुक्रमणीमें ऋषियोंके नाम मन्त्र-क्रमसे हैं । २–छन्दोऽनुक्रमणी--इसमें छन्दोंका नाम है । ३–देवतानुक्रमणी–इसमें देवताओंका मन्त्र-क्रमसे वर्णन है । ४–अनुवाकानुक्रमणी, ५–सर्वानुक्रमणी, ६–बृहद्देवता, ७–ऋग्विधानादि, ८–वृद्धपरिशिष्ट, ९–शाङ्खायन-परिशिष्ट, १०–आश्वलायन-गृह्यपरिशिष्ट ।

कृष्ण यजुर्वेद–१–आत्रेय अनुक्रमणी, २–चारायणीय अनुक्रमणी ।

शुक्ल यजुर्वेद–१–प्रातिशाख्यसूत्र, २–कात्यायनानुक्रमणी ।

वेदाङ्ग

जैसे मनुष्यके नेत्र, कर्ण, नासिका, मुख, हाथ और पैर होते हैं, वैसे ही वेदोंके भी छः अङ्ग माने गये हैं । इन अङ्गोंके बिना वैदिक ज्ञान असफल रहता है । वैदिक ज्ञानके नेत्र ज्यौतिष, कर्ण निरुक्त, नासिका शिक्षा, मुख व्याकरण, हाथ कल्प और पैर छन्द हैं ।

जैसे प्रत्येक वैदिक शाखाके पृथक्-पृथक् ब्राह्मण, आरण्यक, सूत्र आदि होते हैं, वैसे ही प्रत्येक शाखाका एक प्रातिशाख्य ग्रन्थ भी होता है । प्रातिशाख्य ग्रन्थोंमें शिक्षा तथा व्याकरण पाये जाते हैं । अब इन प्रातिशाख्य ग्रन्थोंका भी दूसरे ग्रन्थोंके समान लोप हो गया है । निम्न प्रातिशाख्य मिलते हैं ।

ऋग्वेदका–ऋक्प्रातिशाख्य ।

यजुर्वेदके–तैत्तिरीय प्रातिशाख्य और वाजसनेय प्रातिशाख्य ।

सामवेदका–साम-प्रातिशाख्य ।

अथर्ववेदका–अथर्व-प्रातिशाख्य ।

शिक्षा

प्रातिशाख्य ग्रन्थोंमें शिक्षाका ही विषय प्रधान है। शिक्षामें मन्त्रोंके अक्षर, स्वर, मात्रा तथा उच्चारणका विवेचन है । प्रातिशाख्य ग्रन्थोंको छोड़कर केवल 'शौनकीय शिक्षा' नामका ग्रन्थ ही मिलता है ।

व्याकरण

व्याकरणका काम भाषाका नियम स्थिर करना है। शिक्षा-व्याकरण आदि श्रुतिके अङ्ग हैं, अतः अनादि हैं। व्याकरणके मूल चौदह सूत्र भगवान् शङ्करके डमरूसे प्रकट हुए हैं । गोपथ ब्राह्मणमें व्याकरणका मूल आ गया है । शाकटायन-व्याकरणके कुछ सूत्र भी मिलते हैं । पाणिनीय व्याकरण-अष्टाध्यायी ही आजकल वेदाङ्ग मानी जाती है । इसपर कात्यायन ऋषिका वार्तिक और महर्षि पतञ्जलिका महाभाष्य है । इसपर व्याख्या, टीका एवं विवेचनात्मक ग्रन्थोंकी बहुत बड़ी संख्या है ।

नागेशभट्टने 'व्याडिक' नामक वैयाकरणका उल्लेख किया है । इनके अतिरिक्त सारस्वत-व्याकरण, कामधेनु-व्याकरण, हेमचन्द्र-व्याकरण, प्राकृत-प्रकाश, प्राकृत-व्याकरण, कलापव्याकरण, मुग्धबोध व्याकरण आदि व्याकरण शास्त्रके प्रख्यात ग्रन्थ हैं । इन सबपर भी भाष्य, टीका आदि हैं ।

निरुक्त

जैसे पाणिनीय व्याकरणके प्रचारसे दूसरे पुराने व्याकरणोंका लोप हो गया, वैसे ही प्राचीन निरुक्तोंमें भी अधिकांश लुप्त हो गये । अब केवल यास्काचार्यका निरुक्त ही मिलता है । निरुक्त वेदोंकी व्याख्या करनेका साधन है । इसे वेदोंका विश्वकोष समझना चाहिये । निरुक्तको छोड़कर वेदार्थ नहीं किया जा सकता ।

छन्द

वैदिक छन्दोंका भेदोपभेदके साथ वर्णन महर्षि कात्यायन-

की 'सर्वानुक्रमणी' में हुआ है। लौकिक छन्दोंको प्रारम्भ करनेवाले आदिकवि वाल्मीकि ऋषि हैं। लौकिक छन्दःशास्त्रके निर्माता आचार्य पिङ्गल हैं। उनके नामपर इस शास्त्रको 'पिङ्गल' कहा जाता है।

कल्प और ज्यौतिष

कल्पसूत्रोंमें यज्ञोंकी विधिका वर्णन है। ज्यौतिषका प्रयोजन संस्कार तथा यज्ञादिके लिये ठीक मुहूर्त तथा यज्ञस्थली, मण्डप आदिके नाप बताना है। ज्यौतिष शास्त्र भी व्याकरणके समान व्यापक है। ज्यौतिषके तीन प्राचीन ग्रन्थ मिलते हैं, १–ऋक्ज्यौतिष, २–यजुःज्यौतिष, ३–अथर्वज्यौतिष। आचार्य वराहमिहिरके ग्रन्थ 'पाञ्चसिद्धान्तिका'के अतिरिक्त महर्षि पराशर एवं गर्गाचार्यके ग्रन्थोंकी चर्चा भी मिलती है। आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य और कमलाकर—ये ज्यौतिषके प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। गणित-ज्यौतिष तथा फलित-ज्यौतिष दोनोंपर इनके ग्रन्थ हैं। भारतमें ज्यौतिषके अनेक सिद्धान्त प्रचलित थे। सामान्यतः मुहूर्तादि चान्द्रगणितसे निकाला जाता है। सूर्यसिद्धान्त यहींसे विदेशोंमें गया और पाश्चात्त्य ज्यौतिषी आजकल इसीको मुख्य मानते हैं। इनके अतिरिक्त बार्हस्पत्य और प्राजापत्य (पैतामह) सिद्धान्त और भी सूक्ष्म गणितके हैं।

उपवेद

परलोककी उन्नतिके साधन वेदोंमें तथा लौकिक उन्नतिके साधन उपवेदोंमें हैं। लोक एवं परलोक दोनोंको सम्हालते हुए चलनेवाला जीवन ही पूर्ण जीवन है। प्रत्येक वेदका एक उपवेद है। मूल वेदमें जो भौतिक ज्ञान सूत्ररूपमें आया है, उपवेदमें उसीका विस्तार है। ऋग्वेदका उपवेद अर्थवेद, यजुर्वेदका उपवेद धनुर्वेद, सामवेदका उपवेद गान्धर्ववेद और अथर्ववेदका उपवेद आयुर्वेद है। इनमेंसे धनुर्वेद और अर्थवेदके मूल ग्रन्थोंका लोप हो गया तथा गान्धर्ववेदकी भी कोई संहिता नहीं मिलती।

महर्षि विश्वामित्रके धनुर्वेदका वर्णनमात्र मिलता है। वैशम्पायनका धनुर्वेद, वृद्ध शार्ङ्गधर, युद्धजयार्णव तथा युक्तिकल्पतरु—ये ग्रन्थ धनुर्वेदके मिलते हैं—ऐसा बँगलाके विश्वकोषकारने लिखा है। धनुर्वेदमें अस्त्र-शस्त्रोंके निर्माण तथा प्रयोगका वर्णन है। यह प्रयोग करके सीखनेका शास्त्र है। प्रयोगकी परम्परा बंद हो जानेसे इसका लोप हो गया।

गान्धर्ववेद गायन एवं नृत्य-विद्याका वर्णन करता है। इसमें राग, रागिनी, ताल, स्वर आदिके साथ नृत्य एवं वाद्यों आदिके भेदोंका वर्णन है। यद्यपि गानविद्या प्राचीन परम्परासे ही चली आ रही है, फिर भी सामगानकी अरण्यगान एवं गेयगान दोनों पद्धतियोंका लोप हो गया। लौकिक गानकी प्रणाली भी बराबर बदलती ही गयी। प्राचीन गायन-शास्त्रका विवरण देनेवाला कोई ग्रन्थ प्राप्य नहीं है।

आयुर्वेदमें शरीर-रचनाका वर्णन तथा रोगोंके कारण, लक्षण एवं चिकित्साका विवेचन है। आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें अश्विनीकुमारसंहिता, ब्रह्मसंहिता, भेडसंहिता और आग्नीध्रसूत्रराज बहुत प्राचीन हैं। सुश्रुतसंहिता, धातुवाद, धन्वन्तरिसूत्र, मानसूत्र, सूपशास्त्र, सौभरिसूत्र, दाल्म्यसूत्र, जाबालिसूत्र, इन्द्रसूत्र, शब्दकौतूहल और देवलसूत्र भी अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ हैं। चरकसंहिता तथा अष्टाङ्गहृदय तो प्राचीन हैं ही, इनके अतिरिक्त आयुर्वेदके सहस्रों ग्रन्थ हैं। मनुष्योंके अतिरिक्त अश्व, गज, गौ तथा अन्य पशु-पक्षियोंकी चिकित्साके ग्रन्थोंका वर्णन भी मिलता है; पर वे ग्रन्थ लुप्त हो गये।

अर्थवेदका कोई वैदिक ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। शुक्रनीति तथा कामन्दकीय अर्थशास्त्र प्राचीन ग्रन्थ हैं और कौटिल्यका अर्थशास्त्र इस विषयका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

इतिहास

वेदोंका ठीक-ठीक अर्थ इतिहास तथा पुराणोंमें ही प्रकट हुआ है। वेदोंके अर्थका ही इनमें विस्तार हुआ है, इससे इनको वेदोंका उपाङ्ग कहा जाता है। इतिहासमें महर्षि वाल्मीकिका वाल्मीकीय रामायण और भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजीका महाभारत—ये दो ग्रन्थ मुख्य माने जाते हैं। हरिवंशपुराण भी महाभारतका परिशिष्ट होनेसे इतिहास ही है।

पुराण

पुराण चार प्रकारके हैं—१–महापुराण, २–पुराण, ३–अतिपुराण, ४–उपपुराण। इनमेंसे प्रत्येककी संख्या अठारह-अठारह बतायी जाती है। सर्वसाधारणमें महापुराणोंको ही पुराण नामसे जाना जाता है। महापुराणोंके नाम निम्न लिखित हैं—

१–ब्रह्मपुराण, २–पद्मपुराण, ३–विष्णुपुराण, ४–शिवपुराण, ५–श्रीमद्भागवत, ६–नारदीयपुराण, ७–मार्कण्डेयपुराण, ८–अग्निपुराण, ९–भविष्यपुराण, १०–ब्रह्मवैवर्त-

पुराण, ११–लिङ्गपुराण, १२–वाराहपुराण, १३–स्कन्दपुराण, १४–वामनपुराण, १५–कूर्मपुराण, १६–मत्स्यपुराण, १७–गरुडपुराण, १८–ब्रह्माण्डपुराण ।

दर्शन

सृष्टि एवं जीवके जन्म-मरण तथा उसकी गतिके कारणपर जो विचार करें, उन्हें दर्शन-शास्त्र कहते हैं। दर्शन-शास्त्र छः हैं—१–न्याय, २–वैशेषिक, ३–सांख्य, ४–योग, ५–पूर्वमीमांसा, ६–वेदान्त (उत्तरमीमांसा) । इन्हींको छः शास्त्र कहा जाता है। इनमेंसे प्रत्येकके कई भेद आचार्योंके मतोंके कारण हो गये हैं। जितने भी सम्प्रदाय हैं, वे उत्तरमीमांसा दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के भाष्यरूपमें हैं। इस प्रकार दर्शन-शास्त्रोंमेंसे प्रत्येकपर सैकड़ों ग्रन्थ हैं।

स्मृति

धर्मका तथा समाजका पूरा आचारविधान स्मृतियोंमें है । श्रुतिके पश्चात् स्मृतिका ही स्थान है। स्मृतियोंमें अर्थव्यवस्था, वर्णव्यवस्था, चारों वर्णों एवं आश्रमोंके धर्म, नित्य तथा विशेष अवसरोंके कर्म, शासनव्यवस्था, दण्ड-व्यवस्था, प्रायश्चित्त तथा मोक्षके साधनोंका वर्णन है। इस प्रकार स्मृतियोंमें अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंका वर्णन हुआ है। हिंदू-धर्म तथा हिंदू-समाजका मुख्य संचालन स्मृतियोंके आधारपर ही होता है ।

इस समय बयालीस स्मृतियाँ पायी जाती हैं, जिनके नाम ये हैं—मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विष्णु, हारीत, औशनस, आङ्गिरस, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पाराशर, व्यास, शङ्ख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप, वशिष्ठ, प्रजापति, देवल, गोभिल, आश्वलायन, बौधायन, नारद, सुमन्तु, मार्कण्डेय, प्राचेतस, पितामह, मरीचि, जाबालि, पैठीनसि, शौनक, कण्व, षट्त्रिंशमत, चतुर्विंशतिमत, उपमन्यु, लौगाक्षिह्य, क्रतु, पुलस्त्य और शाण्डिल्य । लघु, बृहद्, वृद्ध आदि भेदोंसे इनकी संख्या साठ तक पहुँच जाती है। इनमेंसे मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति अधिक प्रख्यात हैं। हिंदू-समाजमें सम्पत्तिके उत्तराधिकारकी व्यवस्था याज्ञवल्क्य-स्मृतिके दायभागके अनुसार होती है ।

निबन्ध-ग्रन्थ

ये एक प्रकारके स्मृति-ग्रन्थ ही हैं। यद्यपि इनकी रचना मध्यकालमें हुई है, फिर भी ये स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं। स्मृतियों, पुराणों आदिमें जो धर्माचरणके निर्देश हैं, उनका ही इनमें बड़े विस्तारसे संकलन हुआ है। जो बातें स्मृतियोंमें पूर्णतः स्पष्ट नहीं हैं, निबन्ध-ग्रन्थोंमें उनको स्पष्ट किया गया है । बड़े विस्तारसे प्रमाण दे-देकर प्रत्येक विषयका इनमें विवेचन है। इसलिये धार्मिक विद्वान् इन्हें स्मृतियोंके समान ही प्रमाण मानते हैं। मुख्य निबन्ध-ग्रन्थोंके नाम यहाँ दिये जा रहे हैं।

जीमूतवाहनके तीन ग्रन्थ मिलते हैं—दायभाग, कालविवेक और व्यवहारमातृका। शूलपाणिका स्मृति-विवेक बहुत बड़ा ग्रन्थ था, परंतु अब उसके चार खण्ड ही मिलते हैं। रघुनन्दनका स्मृति-तत्त्व भी विशाल ग्रन्थ है। इसमें अट्ठाईस भाग हैं । अनिरुद्धके तीन ग्रन्थ हैं—हारलता, आशौचविवरण और पितृदयिता। इनके शिष्य बल्लालसेनके चार ग्रन्थ हैं—आचारसागर, अद्भुतसागर, प्रतिष्ठासागर और दानसागर। ये बंगालके निबन्धकारोंके ग्रन्थ हैं।

मिथिलाके निबन्धकारोंमेंसे श्रीदत्त उपाध्यायके तीन ग्रन्थ हैं—आचारादर्श, समयप्रदीप और श्राद्धकला। चण्डेश्वरका स्मृति-रत्नाकर बहुत विशाल ग्रन्थ है। इसमें अनेक खण्ड हैं। वाचस्पति मिश्र (भामतीके रचयितासे भिन्न) का विवाद-चिन्तामणि बहुत प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इनके ग्यारह ग्रन्थ और हैं—१–आचार-चिन्तामणि, २–आह्निक-चिन्तामणि, ३–कृत्यचिन्तामणि, ४–तीर्थचिन्तामणि, ५–व्यवहारचिन्तामणि, ६–शुद्धिचिन्तामणि, ७–श्राद्ध-चिन्तामणि, ८–तिथिनिर्णय, ९–द्वैतनिर्णय, १०–महादान, ११–शुद्धि-निर्णय ।

दाक्षिणात्य निबन्धकारोंमें देवणभट्टकी स्मृतिचन्द्रिका विस्तृत ग्रन्थ है। हेमाद्रिका चतुर्वर्गचिन्तामणि तो धर्मशास्त्रका विश्वकोष ही है। माधवाचार्यके सात ग्रन्थ हैं—१–कालमाधव, २–पराशरमाधव, ३–दत्तकमीमांसा, ४–गोत्र-प्रवर-निर्णय, ५–मुहूर्तमाधव, ६–स्मृतिसंग्रह, ७–व्रात्यसोमपद्धति ।

काशीके निबन्धकारोंमें सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं नारायणभट्ट। इनके तीन ग्रन्थ हैं—अन्त्येष्टिपद्धति, त्रिस्थलीसेतु और प्रयोगरत्नाकर । नन्दपण्डितके कई ग्रन्थ हैं—श्राद्धकल्प, शुद्धिचन्द्रिका, तत्त्वमुक्तावली, धर्मसिन्धु और दत्तकमीमांसा। कमलाकर भट्टके बाईस ग्रन्थ कहे जाते हैं, जिनमेंसे निर्णयसिन्धु बहुत प्रख्यात है । इसके अतिरिक्त शूद्रकमलाकर, दानकमलाकर, पूर्तकमलाकर, वेदान्तरत्न, विवादताण्डव तथा प्रायश्चित्तरत्न इनके मुख्य ग्रन्थ हैं। नीलकण्ठ भट्टका भगवन्तभास्कर बहुत बड़ा ग्रन्थ है। मित्रमिश्रका वीरमित्रोदय

भी विस्तृत ग्रन्थ है । लक्ष्मीधरका 'कल्पतरु' कई भागोंमें है। जगन्नाथ तर्कपञ्चाननका 'विवादार्णव' कानूनकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त और भी निबन्धकार हुए हैं। उनके ग्रन्थोंकी संख्या सहस्रों हैं।

भाष्य और टीकाएँ

वैदिक ग्रन्थोंसे लेकर निबन्धग्रन्थोंतकपर टीकाएँ हुई हैं। इनमें भाष्य हैं, टीकाएँ हैं, कारिकाएँ हैं, संक्षिप्त सारसंग्रह हैं। इन टीकाओंपर भी टीकाएँ हैं। भाष्य और टीकाओंमेंसे बहुतोंका स्वतन्त्र महत्त्व है। उनके द्वारा एक नवीन परम्परा ही चली है । जैसे श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि आचार्योंने ब्रह्मसूत्रपर जो भाष्य किये हैं, उनका स्वतन्त्र महत्त्व है—इन भाष्योंमें अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैतके सिद्धान्तोंका समर्थन हुआ है और फिर इन मतोंके आधारपर सहस्रों स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे गये हैं, जो अपने-अपने सम्प्रदायमें प्रमाण-ग्रन्थ माने जाते हैं—इसी प्रकार न्याय, मीमांसा आदि दर्शनोंपर भी अनेक भाष्य हैं, जिनकी स्वतन्त्र परम्परा चली है। इन भाष्यों तथा इनकी परम्पराके स्वतन्त्र ग्रन्थोंका बहुत बड़ा महत्त्व है; किंतु इनका वर्णन यहाँ सम्भव नहीं। इनकी संख्या सहस्रोंमें जायगी ।

आगम

वेदोंसे लेकर निबन्धग्रन्थोंतककी परम्पराको 'निगम' कहते हैं। यह परम्परा भगवान् नारायणसे चलती है। दूसरी परम्परा जो 'निगम' के समान ही 'अनादि' है, भगवान् शंकरसे चलती है। उसे 'आगम' कहा जाता है । इस परम्परामें मूलतत्त्व शिव तथा शक्ति माने जाते हैं।

आगमके दो भाग हैं—दक्षिणागम तथा वामागम। इनमेंसे दक्षिणागम तो निगमसे अभिन्न है। सनातन-धर्ममें निगम तथा आगम (दक्षिणागम) दोनों प्रमाण माने जाते हैं । श्रुतियोंमें ही इस दक्षिणागमका मूल है और पुराणोंमें वह विस्तृत हुआ है। इस आगम-शास्त्रका विषय है उपासना। नारद-पाञ्चरात्रादि आगम-ग्रन्थ स्मृतियोंके समान ही प्रमाण माने जाते हैं।

देवताका स्वरूप, गुण, कर्म, उनके मन्त्रोंका उद्धार, यन्त्र, ध्यान, पूजाविधि आदिका आगममें विवेचन होता है। देवर्षि नारदका पाञ्चरात्रागम तीन भागोंमें है—पाञ्चरात्र श्रुति, पाञ्चरात्र उपनिषद् तथा पाञ्चरात्रसंहिता। पाञ्चरात्र संहिताओंमेंसे बहुत थोड़ी संहिताएँ मिलती हैं। १–अहिर्बुध्न्य-संहिता, २–ईश्वर-संहिता, ३–कपिञ्जल-संहिता, ४–गयाख्य-संहिता, ५–पराशर-संहिता, ६–पाद्मतन्त्र, ७–बृहद्ब्रह्म-संहिता, ८–भारद्वाज-संहिता, ९–लक्ष्मीतन्त्र, १०–विष्णुतिलक, ११–श्रीप्रश्नसंहिता, १२–विष्णुसंहिता, १३–सात्वतसंहिता।

वैखानस-आगम भी वैष्णवागम हैं। इनमेंसे वैखानसीय संहिता, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और श्रौतसूत्र—ये चार ग्रन्थ ही मिलते हैं।

शैव-तन्त्र

कहा जाता है कि अट्ठाईस तन्त्र भगवान् शंकरके मुखसे प्रकट हुए और वे ही मुख्य हैं। उपतन्त्रोंको मिलाकर इनकी संख्या २०८ होती है। इनमेंसे भी ६४ तन्त्रोंको ही प्रधान माना गया है; किंतु ये सब उपलब्ध नहीं हैं । महेश्वररचित पाशुपतसूत्र, नरेश्वरपरीक्षा, तत्त्व-संग्रह, तत्त्वत्रय, भोगकारिका, मोक्षकारिका, परमोक्षनिरासकारिका, श्रुतिसूक्तमाला, चतुर्वेदतात्पर्यसंग्रह, तत्त्वप्रकाशिका, सूत-संहिता, नादकारिका तथा रत्नत्रय—ये शिवाचार्योंके प्रामाणिक ग्रन्थ हैं । सिद्धान्तशिखामणि वीरशैवमतका प्रामाणिक ग्रन्थ है। प्रत्यभिज्ञामार्गमें बानबे आगम प्रमाण माने जाते हैं, जिनमेंसे मुख्य ये तीन हैं—सिद्धान्ततन्त्र, नायकतन्त्र तथा मालिनीतन्त्र । इनको 'त्रिक' कहते हैं। इस मतके मूलाधार 'शिवसूत्र' हैं । इस मतका शास्त्र-विस्तार बहुत है । स्पन्द-सर्वस्व, शिवदृष्टि, परात्रिंशिका, विवृत्ति, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाकारिका, सिद्धित्रयी, शिवस्तोत्रावली, तन्त्रालोक आदि इस मतके प्रधान ग्रन्थ हैं।

शाक्त-तन्त्र

सात्त्विक आगमोंको तन्त्र या आगम, राजसको यामल तथा तामसको डामर कहा जाता है । सृष्टिके प्रारम्भसे ही राजस-तामस स्वभावके आसुरी प्राणी रहे हैं। वामागम असुरोंकी परम्पराका मुख्य शास्त्र है । शाक्ततन्त्रोंमें भी चौसठ तन्त्र मुख्य माने जाते हैं; किंतु वे शैवतन्त्रोंसे भिन्न हैं । कौलोपनिषद्, अरुणोपनिषद्, अद्वैतभावोपनिषद्, कालिकोपनिषद्, भावनोपनिषद्, बह्वृचोपनिषद्, त्रिपुरोपनिषद् और तारोपनिषद्—ये तन्त्रमतके प्रतिपादक माने जाते हैं। इनमेंसे कुछके भाष्य भी हुए हैं।

चन्द्रकला, ज्योत्स्नावती, कलानिधि, कुलार्णव, कुलेश्वरी, भुवनेश्वरी, बार्हस्पत्य और दुर्वासस—ये आठ

तन्त्र मिश्रमार्गके हैं। समायाचारमें वशिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन और सनत्कुमाररचित पाँच संहिताएँ 'शुभागमपञ्चक' के नामसे प्रमाण मानी जाती हैं। शाक्त-तन्त्रोंकी संख्या एक सहस्रसे भी अधिक है। उपलब्ध ग्रन्थोंमें मुख्य हैं—कुलचूडामणि, कुलार्णव, तन्त्रराज, शक्तिसंगमतन्त्र, कालीविलास, ज्ञानार्णव, वामकेश्वर, महानिर्वाण, रुद्रयामल, त्रिपुरारहस्य तथा दक्षिणामूर्तिसंहिता। प्रपञ्चसार और उसकी टीका शारदातिलक तान्त्रिक रहस्योंके सुन्दर संकलन हैं।

श्रीविद्याकी दो संतानोंमेंसे लोपामुद्रा-संतानपरम्परा तो लुप्त हो गयी; किंतु कामराज-संतानकी परम्परामें कुछ मुख्य ग्रन्थ प्राप्त हैं। दत्तसंहिता, सुभगोद्य, श्रीविद्यारत्न-सूत्र, सौन्दर्यलहरी, ललिता-त्रिशतीभाष्य, कामकलाविलास, चिद्वल्ली, श्रीतत्त्वचिन्तामणि, श्यामारहस्य, शाक्तक्रम तथा तत्त्वानन्दतरङ्गिणी—ये प्राप्त ग्रन्थोंमें प्रधान हैं।

इन आगम-ग्रन्थोंमेंसे भी बहुतोंपर भाष्य, टीकाएँ, कारिकाएँ आदि हैं और उनका भी वही महत्त्व है, जो श्रौत (निगम) ग्रन्थोंके भाष्योंका है। तन्त्र-ग्रन्थोंमें सूक्ष्म विद्याओंका अपार ज्ञान है। इन उपलब्ध-ग्रन्थोंके अतिरिक्त नेपालमें तन्त्रोंके तीन, साढ़े तीन सौ ग्रन्थ और प्राप्य हैं। देशमें भी ग्रन्थोंकी पर्याप्त बड़ी संख्या अज्ञातरूपसे बिखरी पड़ी है।

सनातन हिंदू-धर्मके अपार विस्तृत वाङ्मयका यह बहुत ही संक्षिप्त दिग्दर्शनमात्र है।

सीखो

(प्रेषिका—श्रीवनदेवी)

(१)

फूलोंसे नित हँसना सीखो
भौंरोंसे नित गाना।
तरुकी झुकी डालियोंसे नित
सीखो शीश झुकाना॥
सीख हवाके झोकोंसे लो
कोमल भाव बहाना।
दूध तथा पानीसे सीखो
मिलना और मिलाना॥

(२)

सूरजकी किरणोंसे सीखो
जगना और जगाना।
लता तथा पेड़ोंसे सीखो
सबको गले लगाना॥
वर्षाकी बूँदोंसे सीखो
सबको सरस बनाना।
मेंहदीसे सीखो सबपर ही
अपना रंग चढ़ाना॥

(३)

मछलीसे सीखो स्वदेशके
लिये प्रेम नित करना।
पतझड़के पेड़ोंसे सीखो
दुखमें धीरज धरना॥
दीपकसे सीखो जितना
हो सके अँधेरा हरना।
पृथ्वीसे सीखो प्राणीकी
सच्ची सेवा करना॥

(४)

जलधारासे सीखो आगे
जीवन पथमें बढ़ना।
और धुएँसे सीखो हरदम
ऊँचेपर ही चढ़ना॥
सत्पुरुषोंके जीवनसे तुम
सीखो चरित्र गढ़ना।
अपने गुरुसे सीखो उत्तम
ज्ञान-तत्त्वका पढ़ना॥

मानव-शरीर केवल ईश्वर-प्राप्तिके लिये ही है

(लेखक——स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी)

शास्त्रोंमें मनुष्य-शरीरकी बड़ी महिमा गायी गयी है । चलिये, अपने भी आज यथाशक्ति गायें—

लब्ध्वा सुदुर्लभतरं नरजन्म जन्तु-
स्तत्रापि पौरुषमतः सदसद्विवेकम् ।
सम्प्राप्य चैहिकसुखाभिरतो यदि स्याद्
धिक् तस्य जन्म कुमतेः पुरुषाधमस्य ॥

श्लोक बड़ा ही रहस्यपूर्ण है, अतएव इसको क्रमसे समझना चाहिये । कहनेका तात्पर्य तो इतना ही है कि मानव-शरीर अमूल्य है; क्योंकि इसीके द्वारा नित्यानित्य वस्तुका विवेक करके, अनित्यको त्यागकर नित्यकी प्राप्ति की जा सकती है; परंतु जो मनुष्य ऐसा दुर्लभ शरीर पानेपर भी उसे विषय-सेवनमें ही खो देता है, उसके जन्मको धिक्कार है । वह तो 'मनुष्य' नामके योग्य नहीं है, उसका चोलामात्र मनुष्यका है । उसने आचरण पशुके सदृश ही किये हैं ।

अब इसपर क्रमसे देखें । जो वस्तु महान् कष्टसे मिल सकती है, वह 'दुर्लभ' कहलाती है । ऐसी दुर्लभ वस्तुओंमें भी जो दुर्लभतामें बढ़ी हुई हो, उसे 'सुदुर्लभ' कहते हैं और सुदुर्लभ वस्तुओंमें भी जो विशेष मूल्यवान् हो, वह 'सुदुर्लभतर' कहलाती है । अतएव 'सुदुर्लभतर' का यह अर्थ हुआ कि मानव-शरीर अनुपम और अमूल्य है और उसके साथ तुलना की जा सके, ऐसी दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है ।

'नर-जन्म'का अर्थ मनुष्य-जन्म ही करना चाहिये; क्योंकि ईश्वरकी प्राप्तिमें नर और नारी दोनोंका, शारीरिक विलक्षणता होनेपर भी, समान अधिकार है । अतएव 'नर-जन्म'का अर्थ पुरुषका जन्म नहीं, पर मनुष्य-जन्म ही यथार्थ है ।

जन्तु अर्थात् जीव । अब यहाँ जो 'जीव' शब्दका व्यवहार न करके 'जन्तु' शब्द दिया गया है, उसका भाव यह है कि केवल सूक्ष्मशरीरकी दृष्टिसे देखें तो क्षुद्र-से-क्षुद्र जन्तुसे लेकर बड़े-से-बड़े प्राणीके शरीरोंमें किसी प्रकारकी विलक्षणता नहीं है । मानव-शरीर भी आज इसी कोटिमें आ जाता है और इन स्थूलशरीरोंका स्वभाव भी एक-सा ही होता है, उसके व्यवहारको शास्त्रोंने केवल चार ही शब्दोंमें समझा दिया है—'आहार, निद्रा, भय और मैथुन ।' बस, इन चार ही शब्दोंमें शरीरमात्रका स्वभाव और व्यवहार समाया है । तात्पर्य यह कि जीव यदि मानव-शरीरमें रहनेवाली सूक्ष्मशरीरकी सामग्रियोंका यथायोग्य उपयोग नहीं करता और स्थूलशरीरके स्वभावानुसार ही व्यवहार चालू रखता है तो वह 'जीव' कहलानेके योग्य नहीं है और इसीलिये यहाँ 'जन्तु' शब्दका व्यवहार किया गया है ।

पहले चरणमें 'नर-जन्म' शब्द व्यवहार करके दूसरे चरणमें जो 'पौरुषम्' शब्दका व्यवहार किया गया है, इसे पुनरुक्ति ही कहना चाहिये; पर ऐसी बात नहीं है । उसकी ध्वनि यह है कि केवल मनुष्य-शरीरसे ही चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि हो सकती है, दूसरे किसी शरीरसे पुरुषार्थचतुष्टय सिद्ध नहीं होता । देव-शरीर भी केवल भोगशरीर ही है । और उसकी इतनी ही विशेषता है कि जहाँ इस लोकके भोग पार्थिव हैं, वहाँ उस लोकके भोग यहाँकी अपेक्षा दिव्य हैं ।

दूसरे प्राणियोंमें विवेक-बुद्धि नहीं होती, अतः वे अपने कर्मोंके लिये उत्तरदायी नहीं माने जाते । परंतु मनुष्यको तो ईश्वरने विवेक-बुद्धि दी है; इसलिये उसको क्या नित्य है और क्या अनित्य है, क्या विनाशी है और क्या अविनाशी है तथा क्या आत्मा है और क्या अनात्मा है—इसका निश्चय कर लेना चाहिये, और फिर अनित्य, विनाशी तथा अनात्म वस्तुओंका त्याग करके नित्य, अविनाशी और आत्मतत्त्वका ग्रहण कर लेना चाहिये । तभी मानव-जीवन सफल कहलाता है ।

ऐसी योग्यतावाले मनुष्य-शरीरको पाकर भी जो मनुष्य विषय-भोगमें ही जीवन बिताता है, उस नराधमको हजारों धिक्कार हैं । यहाँ ऐसे मनुष्यको 'कुमति' कहा है । इसका भाव यह है कि ईश्वरने बुद्धि दी है नित्यानित्यका विवेक करनेके लिये; पर वैसा न करके जो मनुष्य उसका उपयोग भोग-पदार्थोंके संग्रहमें ही करता है, वह तो प्रभुके अमूल्य दानका दुरुपयोग करता है । अतः ऐसे मनुष्यको 'कुमति'

न कहा जाय तो फिर क्या कहा जाय ? फिर ऐसे मनुष्यको 'नराधम' कहकर यह सूचित किया गया है कि वह तो मनुष्य कहलानेके भी योग्य नहीं है; क्योंकि वह पशुके सदृश ही आचरण कर रहा है।

यह श्लोक 'सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह' का है और वेदान्तकी तो सिंहगर्जना होनी ही चाहिये। आपने वेदान्तकी प्रखरता देख ली; अब चलिये, भक्तिकी मृदुता देखें। चलिये, सुनें—भक्तिकी कोमल कलध्वनि। श्रीमद्भागवतमें ऐसा ही एक श्लोक निम्नरूपमें है—

> **लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते**
> **मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।**
> **तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-**
> **न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥**
> (११।९।२९)

कितना बढ़िया श्लोक है ! प्रत्येक चरणका पहला शब्द ले लें तो पूरे श्लोकका तात्पर्य समझमें आ जायगा—ऐसी रचना है। चलिये देखें। 'लब्ध्वा मानुष्यं तूर्णं यतेत निःश्रेयसाय।' अर्थात् यह मनुष्य-शरीर मिला है तो बिना विलम्ब 'आत्मकल्याण' कर लेना चाहिये। कोई पूछे कि 'बिना विलम्ब क्यों ? बुढ़ापेमें भगवान्‌को भजेंगे तो काम नहीं चलेगा ?' इसके उत्तरमें कहा गया है कि 'यह शरीर क्षणभङ्गुर है; इसका कब नाश हो जायगा, कुछ भी पता नहीं लगता। मृत्यु न तो दस-पाँच दिन पहलेसे यह सूचना देती है कि मैं कब आ रही हूँ और न इस बातको पूछनेके लिये ही क्षणभर ठहरती है कि इस भाईके सारे मनोरथ पूरे हो गये हैं या नहीं। वह तो बस, समय आते ही मनुष्यको झटसे, एक क्षणके लिये भी पहलेसे खबर दिये बिना, उठा ले जाती है। इसीलिये कहा गया है कि 'जरा भी प्रमाद न करके प्रयत्नमें लग जाओ।' ऐसा प्रयत्न करनेवाला कौन होता है ? कहते हैं कि—'धीरः'। धीर या चतुर पुरुष वही है, जो अपना हित समझता हो। मनुष्य-शरीर मिलनेपर भी जो अपना हित नहीं समझता, उसे शास्त्रमें 'आत्महत्यारा' कहा गया है—'स भवेदात्मघातकः।' इसी भावको व्यक्त करते हुए श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

> जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
> सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

अब यह देखना रहा कि मनुष्यका 'हित' किसमें है। इसी प्रसङ्गको समझाते हुए उद्धवजीसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

> **एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।**
> **यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥**

अर्थात् चतुर मनुष्यकी चतुराई और बुद्धिमान्‌की बुद्धिमानी इसीमें है कि इस संसारमें ऐसे क्षणभङ्गुर और विनाशशील देहके द्वारा मुझ अमृतस्वरूप—अविनाशीको प्राप्त कर ले।

अब मनुष्य-शरीरकी महत्ता बतलाते हुए कहते हैं—'इदं बहुसम्भवान्ते (लब्धं—अतः) सुदुर्लभम्।' यह मनुष्य-शरीर चौरासी लाखके चक्करमें फिरते-फिरते प्रभुदयासे प्राप्त होता है। इसीसे इसको सुदुर्लभ अर्थात् अतिशय दुर्लभ या देवदुर्लभ कहा है; क्योंकि देवता भी मनुष्य-शरीरकी प्राप्तिके लिये अकुलाया करते हैं। कोई पूछे कि 'यह किस लिये ?' तो कहते हैं—'अनित्यमपि इह अर्थदम्।' अर्थात् यह मनुष्य-शरीर यद्यपि स्वभावसे तो अनित्य है, तथापि इस मर्त्यलोकमें 'अर्थ' प्रदान करनेवाला है। यहाँ 'अर्थ' क्या है, इस बातको समझना है। अर्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मनुष्यको अपने मनुष्य-जन्ममें इन चारों ही अर्थोंको प्राप्त करना चाहिये। इसीलिये इनको 'पुरुषार्थ-चतुष्टय' कहते हैं। अब इन चारों पुरुषार्थोंमें बीचवाले दो अर्थात् 'अर्थ' और 'काम' तो प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुआ करते हैं। खास प्रयत्न तो करना है—धर्म और मोक्षकी प्राप्तिके लिये। इनमें भी 'धर्माचरणके द्वारा ही मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है' अतएव धर्म तो मोक्षकी प्राप्तिका साधन है। सुतरां मनुष्य-जन्ममें परम पुरुषार्थ तो 'मोक्ष'की प्राप्ति ही सिद्ध होता है। इसीलिये प्रस्तुत श्लोकमें भी निःश्रेयस-मोक्षके लिये ही यत्न करनेको कहा गया है।

अब दूसरे शरीरोंसे मानव-शरीरकी विलक्षणता बतलाते हुए कहते हैं—'विषयः खलु सर्वतः स्यात्।' यानी विषय-भोग—इन्द्रिय और उनके विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला सुख तो सभी योनियोंमें समानरूपसे प्राप्त है। षट्रस भोजनसे मनुष्यको जो तृप्ति मिलती है और अमृत-भोजनमें इन्द्रको जिस सुखका अनुभव होता है, उसी तृप्ति और उसी संतोषका एक सूअरको विष्ठा खाते समय अनुभव होता है। राजाको जो सुख मखमली गद्दीपर सोनेमें मिलता है, वही सुख गधेको राखकी ढेरीपर लोटनेमें मिलता है। इन्द्रिय

जनित सुखका अनुभव सभी योनियोंमें एक-सा ही है। तारतम्य तो एक दूसरेकी दृष्टिमें प्रतीत होता है। अर्थात् इन्द्रकी दृष्टिमें मनुष्यका भोग तुच्छ प्रतीत होता है, इसी प्रकार मनुष्यको सूअर और गधेका भोग तुच्छ लगता है। स्वदृष्टिसे तो सभी प्राणी एक-सरीखे सुखका ही अनुभव करते हैं। अतः विषय-सुखकी प्राप्तिको मनुष्य-जीवनका ध्येय नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह तो प्रत्येक योनिमें समान रूपसे प्राप्त है। इसीलिये मनुष्य-जीवनकी सार्थकता मृत्युके पहुँचनेसे पहले-पहले ही मोक्षकी प्राप्ति कर लेनेमें ही है, विषयोंकी प्राप्तिमें नहीं। श्रीमद्भागवतमें एक दूसरे प्रसङ्गपर भगवान्ने मनुष्य-शरीरकी महिमा गाते हुए कहा है—

> **यो लब्ध्वा मानुषं देहं मोक्षद्वारमपावृतम्।**
> **गृहेषु खगवत् सक्तः तमारूढच्युतं विदुः॥**

अर्थात् जो व्यक्ति मनुष्य-शरीर मिलनेपर भी, पक्षीकी भाँति घरमें ही आसक्ति रखकर पड़ा रहता है, उसे ऋषिगण स्वर्गसे नरकमें पड़ा हुआ कहते हैं। मनुष्य-शरीर कैसा है?—'मोक्षद्वारमपावृतम्।' यह खुले दरवाजेवाले मोक्षका मन्दिर ही है। मनुष्य-शरीर मिला कि मोक्षमन्दिरका द्वार अपने-आप खुल गया। द्वार खोलनेकी भी तकलीफ नहीं पड़ती। बस, प्रवेश करनेमात्रकी देर है। परंतु जबतक घरमें—संसारके प्राणिपदार्थोंमें—धन-वैभवमें आसक्ति है, तबतक दरवाजा खुला रहनेपर भी, मोक्षमन्दिरमें प्रवेश नहीं किया जा सकता। यह आसक्ति मनुष्यको उस ओर नहीं जाने देती। वह तो उसे नरकके द्वारकी ओर ही ढकेलती है। मनुष्य-शरीर मिला है, और उसके कारण मोक्षमन्दिरका द्वार भी खुला है; तथापि मनुष्य जबतक संसारमेंसे आसक्ति निकालकर मोक्षमन्दिरमें जानेका प्रयत्न नहीं करता, तबतक मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती और अमूल्य जीवन व्यर्थ चला जाता है। इस सम्बन्धमें एक कविकी उक्ति है—

> बाजी चौपड़ की लगी, पौ पर अटकी आय।
> जो अब के पौ ना पड़े तो फिर चौरासी जाय॥

कवि कहता है कि मनुष्य-शरीर मिलनेका अर्थ यह समझना चाहिये कि चौपड़का खेल जीता गया। तीन सार तो पक गयी, अब आखिरी सार पौके पासतक पहुँच गयी है। अब बाजी जीतनेमें बस, एक ही पौ बाकी रही है; यह पौ पड़ गयी तो बाजी जीत ली गयी। पर यदि यह दाव खाली गया तो विपक्षी सारको अवश्य मार देगा और फिर उसे चौरासी घरोंमें भटकना पड़ेगा। इस अमूल्य अवसरको जो व्यर्थ जाने दिया तो उसे मूर्ख ही कहना चाहिये। संसारका जीवन संसारकी चौपड़ है और उसमें एक ही पौ शेष रहना है—मनुष्य-जन्मकी प्राप्ति। मनुष्य-जीवनमेंसे संसारकी आसक्ति निकालकर मोक्षकी साधनामें लगना—यह पौ पड़ना है तथा मोक्षकी साधना न करके विषय-सुखमें ही रचे-पचे रहना पौ न पड़ना है और पुनः चौरासीके चक्करमें पड़ना है।

भगवान्ने मनुष्य-जन्म दिया है—भजन करनेके लिये। और जीव संसारमें फँसकर जीती बाजी हार गया; क्योंकि उसने न तो अपने हितको समझा और न उसको साधा ही!

प्रार्थना

(हिन्दीके प्रख्यात बाल-साहित्य-निर्माता स्वर्गीय श्रीरामदासजी गौड़)

हो न किसीसे द्रोह, प्रेम हम सबसे मानें;
जो हठ माने बैर, उसे भी अपना जानें।
क्षमा करें सब दोष, बने सो करें भलाई,
ऐसी दीजे शक्ति, प्रभो! हो नहीं खुटाई॥१॥

देखें अपने दोष, पराये पाप न चाहें;
अवगुणको कर दूर, पैज सच्ची निर्बाहें।
सदा करें सतसङ्ग, ढंग सीखें संतोंका,
प्रभो! मिले आदर्श हमें सद्गुणवंतोंका॥२॥

रहें सरल, शुचि, शुद्ध करें गुरुजनका आदर,
दें न किसीको दुःख, अड़े हों ब्रह्मचर्यपर।
शांत-सत्य-प्रिय बैन कहें, हितकी ही बोलें,
प्रभो! विपत हो कोय, सत्य पथमें ही डोलें॥३॥

मन प्रसन्न-थिर-सौम्य, तुम्हें क्षण एक न भूलें,
प्रभुका रहे प्रकाश, कमल-सा नित-नित फूलें।
मानें सदा विभूति तुम्हारी सचराचरको,
तुम्हें जान सर्वत्र न समझें कुछ भी डरको॥४॥

सिद्धोक्त मेधाजनन प्रयोग

(लेखक—राजज्योतिषी पं० श्रीमुकुन्दवल्लभजी मिश्र ज्यौतिषाचार्य)

जिसे अपने बालकको अलौकिक प्रतिभायुक्त देखनेकी सदिच्छा हो, उसे चाहिये कि प्रसव होनेके अनन्तर नाल काटनेके पहले ही यह अद्भुत 'सिद्धोक्त मेधाजनन-क्रिया' अवश्य करे । इस क्रियाकी सिद्धिके लिये सुवर्ण, चाँदी आदि किसी धातुके छोटेसे पात्रमें गोघृत २ माशा, शुद्ध मधु ४ माशा तथा शुक्ल पक्षके पुष्यनक्षत्रमें शुद्ध होकर उखाड़ी हुई ब्राह्मी और शङ्खपुष्पी बूटीका बारीक चूर्ण तीन-तीन रत्ती मिलाकर तैयार रक्खे । जब उस नवजात बालककी धाई आदिद्वारा मुखशुद्धि हो जाय, तब पूर्व या उत्तराभिमुख पड़े हुए बच्चेको अपने दाहिने हाथकी अनामिका अङ्गुलिके अग्र-भागमें सुवर्णकी अँगूठी या सुवर्ण लगाकर उसीसे उपयुक्त पात्रस्थ गोघृतादिसे बालककी जीभपर पहले धीरेसे (ॐ) लिखे । तदनन्तर—

'ॐ ऐं मेधां ते देवी सरस्वती आदधातु'

यह मन्त्र पढ़कर पुनः जीभपर (ऐं) यह बीजमन्त्र लिखे । फिर—

ॐ भूस्त्वयि दधामि । ॐ भुवस्त्वयि दधामि ।
ॐ स्वस्त्वयि दधामि। ॐ भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि।

—इन चारों मन्त्रोंसे बालकको थोड़ा-थोड़ा चार बार मधु-घृतयुक्त ब्राह्मी व शङ्खपुष्पी चटाये । यों करनेसे बालक अवश्य बुद्धिमान् और यशस्वी होता है । यह अनेकों महापुरुषोंका अनुभूत प्रयोग है ।

सूचना—बालकके चटानेसे शेष बचे हुए लेह्य पदार्थको ऐसी जगह गिराये, जहाँ किसीका पैर न पड़े ।

करना हो तो काम करो

(रचयिता—श्रीलक्ष्मीचन्द्रजी जैन 'सरोज')

करना हो तो काम करो !
वरना यों ही जीवन लेकर, जीवन मत बदनाम करो !
समय खेलनेका हो जब तुम
जीभर खेलो प्रयत्न कर तुम
समय काम करनेका हो जब, तब तुम तन्मय काम करो ।
समय पाठ जब पढ़नेका हो
रटने और समझनेका हो
समझो, रटकर कहो—शारदे ! जिह्वापर विश्राम करो ।
यदि छोड़ोगे काम अधूरे
निश्चय होंगे कभी न पूरे
आज सुबह पा, व्यर्थ न आशामय तुम कलकी शाम करो ।
करना हो तो अभी, आज-कल
कहो न श्रमसे होकर बेकल
कर ही डालो इसी समय तुम, फिर जी-भर आराम करो ।
इस शरीरका क्या होना है ?
काम बिना बोझा ढोना है
जबतक जीना जगमें तुमको, तबतक कर्मठ ! काम करो ।
जैसा कह सकते ज्ञानीजन
एक कंठ होकर एक हि मन
एक समयमें भले एक ही, पर सर्वोत्तम काम करो ।
यदि न करोगे समय याद तुम
पछताओगे खूब बाद तुम
समय कामका कभी न भूलो, जीवन नहीं हराम करो ।
'कर्म करो' सुंदर अभिलाषा
छोड़ो फल मिलनेकी आशा
यही कहा गीतामें हरिने, अर्जुन निशि-दिन काम करो ।
करो कामका मत विज्ञापन
कह-लिखकर मत करो प्रकाशन
काम सफल सब जग देखेगा, तुम तो अपना काम करो ।
यही प्रेरणा बने चेतना
जिससे तुमको हो न खेदना
सुन्दर सत्य सुभाषित समझो, ठीक समय पर काम करो ।
करना हो तो काम करो !

प्रारब्ध, कुलदेवता और कार्यसिद्धि

(लेखक—याज्ञिक आचार्य पं० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र, वेद-धर्मशास्त्र-मीमांसादर्शनाचार्य)

प्रारब्ध

प्रत्येक प्राणीको सर्वदा सुखमय जीवन बितानेकी अभिलाषा रहा करती है । इसके लिये प्राणी अपनी बुद्धि-शक्तिके अनुसार कई तरहके कार्य भी करता है। परंतु किये हुए कार्यकी सफलता और सुखलाभ प्रधानतया प्राणीके पूर्वजन्मके किये हुए फलदानोन्मुख कर्म—जो 'प्रारब्ध' या 'दैव' नामसे कहे जाते हैं—के ही अधीन रहता है । इस दैवद्वारा होनेवाली अपने मनोरथकी असफलताके निवारणके लिये वेदभगवान् एवं उनके अनुयायी महर्षियोंने अनेक प्रकारके उपायोंका उपदेश दिया है । महर्षि गर्गने कहा है—

सुरार्चनेन दानेन साधूनां संगमेन च ।
शुश्रूषया च विप्राणां दैवारिष्टं विनश्यति ॥

अर्थात्—'सुरार्चन (देवताओंके पूजन) से, दानसे, सत्पुरुषोंकी संगतिसे और ब्राह्मणोंकी सेवा करनेसे दैवकृत अरिष्ट शान्त हो जाता है ।' कुलदेवता—दैवकी सानुकूलताके लिये किसी भी देवताका पूजन (सुरार्चन) किया जा सकता है, तथापि अपने कुलदेव और इष्टदेवका स्मरण-पूजन विशेष महत्त्व रखता है । मनु भगवान्ने कहा है—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति ॥
(४ । १७८)

'जिस मार्गका पिता-पितामहादिने अनुसरण किया हो, उस मार्गसे ही चलना चाहिये । ऐसा करनेसे किसी प्रकारका अनिष्ट नहीं होता ।' अपने पितृ-पितामहादिसे स्वीकृत मार्गको सन्मार्ग या 'सदाचार' कहा जाता है । मनु-याज्ञवल्क्यादि स्मृतिकारोंने धर्मके निर्णयमें सदाचारको भी प्रमाण बतलाया है । महर्षि जैमिनिने भी—

शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति चेत् । न, शास्त्रपरिमाणत्वात् ।
अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन् ॥
(पूर्वमीमांसादर्शन १ । ३ । ५-७)

इन सूत्रोंद्वारा सदाचारको प्रमाण माना है । साक्षात् भगवती श्रुति भी—

यदग्रे तत् करवाणि ।
(शतपथब्राह्मण १ । १ । २ । ५)

'जो पहले था, उसे ही अब मैं करूँ' द्वारा सदाचार-परिपालनके विषयमें पूर्ण आदेश देती है । इसीलिये प्रत्येक धार्मिक कृत्यमें पूजनीय मातृकागणमें कुल-देवताका पूजन करना बतलाया गया है* । उपासकोंके लिये कुलदेवताकी उपासना विशेष अच्छी एवं शीघ्र फलप्रद होती है । यदि किसी अन्य देवताकी उपासना की जाय, तब भी अपने कुल-देवताका त्याग नहीं करना चाहिये ।

श्रद्धा और विधियुक्त देवाराधनसे देवताका वरदान प्राप्त होता है और उससे नवीन प्रारब्धका तुरंत निर्माण हो जाता है, जो फलदानोन्मुख प्रारब्धको रोककर पहले अपना फल भुगता देता है । भगवान्ने गीतामें कहा है—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥
(४ । १२)

'इस मनुष्यलोकमें कर्मोंके फलको चाहते हुए जो लोग देवताओंको पूजते हैं, उनको कर्मोंसे उत्पन्न सिद्धि शीघ्र ही प्राप्त होती है ।'

कार्यसिद्धि

भक्तजनोंकी प्रार्थनापर भगवान् कार्यसिद्धि अवश्य करते हैं; परंतु प्रार्थना अपने व्यक्तित्वके विरुद्ध या अकर्मण्यताकी पोषक या अनपराधीको सताने आदि दुर्विचार-की नहीं होनी चाहिये । कार्यसिद्धिमें प्रधान कारण है—देवता और उनकी प्रसन्नताके लिये किये जानेवाले कार्यमें 'श्रद्धा' । जैसे प्राणविहीन शरीरपर सामान्यतया बिजलीका असर नहीं होता, उसी तरह बिना 'श्रद्धा'के कार्यका फल प्रायः 'नहीं' हो जाता है । इसीलिये भगवती श्रुतिने कहा है—

'श्रद्धया सत्यमाप्यते'— (यजुर्वेद १९ । ३०)

प्राचीनोंने भी कहा है—

---

* **'आत्मनः कुलदेवता'—कर्मप्रदीप (१ । १२)**

येषां श्रौतादिकर्माचरणसरणिषूद्गाढरागानुबन्धो
येषां स्वप्नेऽपि तर्काहतनिगमकला नास्ति नास्तिक्यबुद्धिः ।
येषामन्तः प्रकामं शिशिरयतितरां भक्तिपीयूषधारा
तेषामेवेष्टसिद्धिर्भवति गुरुगवीस्थाणुविश्वासभाजाम् ॥

'जिनका श्रुति-स्मृति-पुराणप्रतिपादित कर्मोंके करनेमें पूर्ण अनुराग है, जिनको स्वप्नमें भी कुतर्कद्वारा शास्त्रके महत्त्वको नष्ट करनेवाली नास्तिक बुद्धि नहीं है, जिनके अन्तःकरण भक्तिरूप अमृतकी धारासे खूब ठंढे हो रहे हैं, जिनको गुरुकी बातपर पूर्ण विश्वास है, उन पुरुषोंको अभीष्टसिद्धि अवश्य होती है।'

श्रद्धासे किये गये कार्यकी (कभी-कभी) असफलताके रहनेपर अपने पूर्वसंचित पापका अवशेष या भावी किसी विशेष कल्याणके लिये भगवान्‌का अनुग्रह समझना चाहिये। देवताओंके उद्देश्यसे किया हुआ श्रद्धा-विधियुक्त सत्कर्म कभी विफल नहीं हो सकता।

* * *

'शिखा'की आवश्यकता

(लेखक—वैदिकसार्वभौम, महायाज्ञिक पं० श्रीभगवत्प्रसादजी मिश्र वेदाचार्य)

'शिखा' हिंदुओंका एक परम पवित्र और आवश्यक चिह्न है। इसका महत्त्व समझकर ही हमारे पूर्वज महर्षियोंने इसे रखनेकी आज्ञा दी है। जिन कारणोंसे शिखा रक्खी जाती है, उनमें प्रधान कारण निम्नलिखित हैं—

आध्यात्मिक दृष्टिसे—वेद-मन्त्र या आर्ष वचनोंके अमृतरूप वर्ण-समुदायके उच्चारण एवं उससे प्रतिपादित कर्मके अनुष्ठानसे उत्पन्न अमृत सनसनीसे सिरमें वर्तमान सहस्रदल चक्रकी कर्णिकामें प्रविष्ट होता है। सविधि मन्त्रोच्चारण या कर्मानुष्ठानसे उत्पन्न अमृतमें इतनी तेजी रहती है कि वह कर्णिकामें घुसकर सिरसे बाहर निकलकर ऊपरकी ओर वर्णामृतसिन्धु त्रयीमय सहस्ररश्मि सूर्यदेवमें मिलना चाहता है; परंतु शिखा रहनेपर वह अमृत उसकी गाँठकी उलझनसे टकराकर शिरःस्थित सहस्रदल कमलकी कर्णिकामें ही रह जाता है। यदि वेद-मन्त्रोच्चारण या वैदिक कर्मानुष्ठान करते समय शिखा खुली रहती है तो वह अमृत शिखाके बालोंसे होकर नीचे जमीनमें प्रवेश कर जाता है। तथा शिखा न रहनेपर वह अमृत सिरसे बाहर निकलकर ऊपर उठता है, परंतु प्रबल शक्तियुक्त न रहनेके कारण वायुसे टकराकर अन्तरिक्षमें ही नष्ट हो जाता है, जिससे उस मन्त्रोच्चारण या कर्मका अनुष्ठान विफल होता है। इसलिये शास्त्रकारोंने कहा है कि मनुष्यको सदा शिखा बाँधकर ही रहना चाहिये। यदि मनुष्य बिना शिखा बाँधे या बिना शिखाके काम करता है तो उसका किया-कराया सब बेकार हो जाता है—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च ।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम् ॥
(महर्षि कात्यायन)

आधिदैविक दृष्टिसे—सनातन सिद्धान्त है कि—(१) प्रत्येक पदार्थमें प्राण या देवशक्ति है। इस प्राण या देवशक्तिसे परिव्याप्त स्थावर-जङ्गमात्मक संसारका व्यक्ति किसी प्राणीके अपने मानव-जीवन या अन्य योनियोंमें किये गये कर्मका प्रतिफल है। (२) यह ब्रह्माण्ड अपने पिण्डशरीरमें छायारूपसे व्यवस्थित है, इस सिद्धान्तके अनुसार लता-वृक्षादि उद्भिज-संसारके व्यक्ति किसी समयके हमारे पूर्वज हैं, जो अपने कर्मवश इस रूपमें हैं। इस उद्भिज्जसंसारका ही चित्र हमारे शरीरमें शिखारूपसे है। इस शिखामें अमृतका संघर्ष होनेके कारण इसमें कुछ अमृतका लेश रह जाता है। इसीलिये हमारे मनुष्योंने देव, ऋषि, महर्षियोंके तर्पणका उपदेश देकर उद्भिज्जसंसारके चित्ररूप शिखाके जलसे उद्भिज-संसारको तर्पण करनेका उपदेश दिया है।

लतागुल्मेषु वृक्षेषु पितरो ये व्यवस्थिताः ।
ते सर्वे तृप्तिमायान्तु मयोत्सृष्टैः शिखोदकैः ॥
(संस्कारगणपति)

आधिभौतिक दृष्टिसे—मनुष्य ज्ञानेन्द्रिय (आँख, नाक, कान, चमड़ी, जिह्वा) एवं कर्मेन्द्रियों (वाणी, हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ) से जो काम करता है, उसके फलस्वरूप उसे सुख-अनुभव आदि प्राप्त होते रहते हैं। प्राप्त अनुभवादिको स्मरण रखते हुए अपने भविष्यत् जीवनमें उपयोग करना ही उन्नतिका साधन है। इसी उपदेशकी स्थिर स्मृति शिखाद्वारा की गयी है। जिस प्रकार शिखा कभी कटाये न जानेके कारण हिंदुओंका स्थिर चिह्न है, उसी प्रकार अपने जीवनके कर्तव्योंका स्मरण रखकर कार्य करना उन्नति-

का स्थिर चिह्न है । जिसके शिखा नहीं है, उसने अपने जातीय हिंदुत्वके परम चिह्नको हटा दिया है, अर्थात् उसके हृदयमें प्रभावोत्पादक हिंदुत्वका कोई सुस्थिर चिह्न नहीं है, इसलिये वह रीते घड़ेके बराबर है । शिखा रहनेसे हिंदुत्वकी गौरव-स्मृतिके सर्वदा बने रहनेके कारण यह पुरुष अपने गौरवसे भरा हुआ एवं शिखारूप ढकनेसे ढँका हुआ एक उपयुक्त घड़ा है । इसलिये शिखा रखना परमावश्यक है ।

रिक्तो वा एष यन्मुण्डस्तस्यैतदपिधानं यच्छिखा ।
(भगवती श्रुति)

पूर्व कारणोंसे हमारे पूर्वज महर्षियोंने शिखा रखनेकी आज्ञा दी है ।

संस्कार और शिक्षा

[लघुकथा]

(लेखक—श्रीराजेन्द्रनाथजी मिश्र, एम् ए०)

गृहस्वामिनीकी निद्रामें बगलवाले कमरेमें खटपट होनेके कारण बाधा पड़ गयी । तनिक देर पहले लगी आँखें खुल गयीं । वह कान लगाकर ही उस कमरेका आहट लेनेमें दत्तचित्त हो गयीं । सचमुच मेज-कुर्सी आदिके घसीटनेकी ध्वनि सुनायी दी । वह सोचने लगीं, बैरिस्टर साहब तो न्यायालय जा चुके हैं, फिर वहाँ खटपट कौन कर रहा है ? वह इन विचारोंमें डूबी थीं तभी उनके कानोंमें काँचके बर्तनोंकी खनक भी पड़ी; निःसन्देह वहाँ कोई है अवश्य । दबे पाँव वह कमरेकी ओर चल दीं ।

कमरेका दृश्य देख वह दंग रह गयीं । मेजपर सोडेकी कई बोतलें रक्खी थीं, पास ही विदेशी मदिराकी एक बोतल भी पड़ी थी । बैरिस्टर साहबके बहुमूल्य सुरापात्रोंमें सुरा-सुन्दरी अँगड़ाई ले रही थी । स्पष्ट कहें तो सुरासेवन हो रहा था । मेजके चारों ओर बैठे थे—दीपक, अमर, किरन और रीता । मापर दृष्टि पड़ते ही बच्चे सहम गये । वे यह भी न सोच पाये कि माका मुख क्रोधसे लाल क्यों है अथवा वे क्या करें ? बस, माकी ओर ताकते रह गये ।

क्रुद्ध माने कहा—'दुष्टो ! यह क्या हो रहा है ? यह नयी शरारत कहाँसे सीखी ?' बच्चे चुप थे । माने अनुमान लगाया कि इस शरारतका नेता 'दीपक' होगा । अतः उसके कोमल कपोलोंपर चपतें लगाना प्रारम्भ कर दिया । वह यह भी कहती जा रही थी, तेरी शरारतें निराली होती हैं । दिन-प्रतिदिन वे बढ़ती जा रही हैं । मैं तो तुझसे तंग आ गयी हूँ ।

दीपकको विश्वास हो गया कि अब सच्ची बात कहे बिना प्राण न बचेंगे । अतएव हिचकियों और सिसकियोंके बीच उसने कह दिया । पापाके साथ परसों क्लब गया था, वहाँ·····।

बच्चेकी बात पूरी होनेके पूर्व ही माने उसके बायें गालपर एक चाँटा और जमाया और बड़बड़ा उठीं । 'सपूत पापाकी बराबरी करने लगे हैं । बस, पापाकी यही एक बात नकल करनेको रह गयी है । दुष्ट स्वयं बिगड़ता है और तू छोटे भाई-बहनोंको भी यही शिक्षा देता है···इत्यादि·····इत्यादि··· ।'

माता कहे जा रही थीं, जो भी मनमें आ रहा था । उन्हें यह सोचनेका अवकाश भी कहाँ था कि इन संस्कारोंका दायित्व किसपर है । धीरे-धीरे बच्चे खिसक रहे थे और रीता कहती जा रही थी—'दादा ! पापाकी देखादेखी अब हम कुछ न करेंगे ।'

भगवान् प्रसन्न रहें

जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रय सूल । सो कृपाल मोहि तो पर सदा रहउ अनुकूल ॥

जिनका नाम जन्म-मरणरूपी रोगकी [अव्यर्थ] औषध और तीनों भयंकर पीड़ाओं (आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखों) को हरनेवाला है, वे कृपालु श्रीरामजी मुझपर और आपपर सदा प्रसन्न रहें ।

बालककी जन्मकुण्डली और उसकी आवश्यकता

(लेखक—ज्यौतिषाचार्य पं० श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी)

जन्मकुण्डलीमें लेखनीय विषयोंका जातक ग्रन्थोंमें सामान्यतः वर्णन है, किंतु जन्मकुण्डलीरचयिता ज्योतिर्वेत्ताओं और बालक-बालिकाओंके अभिभावकोंको भी निम्नलिखित बातोंकी ओर अवश्य ध्यान रखना चाहिये—

(१) बालक-बालिकाओंके जन्मस्थानीय सूर्योदयकालसे जन्मकालतकके घटीपलस्वरूप इष्टकालकी शुद्धि।

(२) जन्मस्थानके अक्षांश, देशान्तर, पलभा और सूर्यक्रान्तिके द्वारा चरपल; चरखण्डाके द्वारा स्थानीय दिनमान; मेषादि राशियोंके उदय-मानद्वारा जन्मलग्न, दशम लग्न और शेष भावोंका शुद्ध स्पष्टीकरण।

(३) सूर्यसिद्धान्त-जैसे शुद्ध आर्ष-सिद्धान्तके द्वारा जन्मस्थानके ध्रुवसे जन्मकालीन सूर्यादिग्रहोपग्रहका स्पष्टीकरण।

(४) आयुः-संस्कृत विंशोत्तरी आदि दशान्तर्दशादि विवरण।

(५) सूर्यादि ग्रहोंके स्थानादि षड्बलोंके साथ ही चय-क्षय ग्रहभावफल-बलका सामञ्जस्य करते हुए इष्टानिष्ट-योगोंके बाध्य-बाधक-विवेचनसहित ग्रहभाव-फल-वर्णन।

यदि जन्मस्थानीय सूर्योदयसे नहीं, पञ्चाङ्गरचनाके स्थानके सूर्योदयसे जन्मका इष्टकाल जन्म-कुण्डलीका आधार बनेगा; जन्मस्थानीय राशियोंके उदयमानसे नहीं, काशी, बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली आदि पञ्चाङ्गरचना-स्थानोंके राशि-उदय-मानसे जन्मलग्नका स्पष्टीकरण किया गया और जन्मस्थानीय नहीं, पञ्चाङ्गस्थानीय दिनमानसे नति-उन्नति बनाकर दशम-लग्न और भावोंका स्पष्टीकरण किया गया और बिना आयुः-संस्कार दिये दशाओंकी रचना की गयी तो जन्म-कुण्डली बालकके याथातथ्य शुभाशुभ फलोंकी प्रकाशिका कदापि न होगी।

जन्मकुण्डलीके शुभाशुभ फल अमिट नहीं; क्योंकि जीवात्मा अपने पूर्वजन्मार्जित सदसद् कर्मफलोंके अनुसार ही जन्म ग्रहण करता है और बालक-बालिकाओंके जन्म-कालीन संवत्सरादि काल, सूर्यादि ग्रह और उपग्रहादि उसी पूर्वजन्मार्जित कर्मफलके सूचक होते हैं, कर्ता नहीं। 'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते'—अर्थात् पूर्वजन्म-कृत कर्मको 'दैव' कहते हैं, जो बालकके जीवनमें शरीर, मन और वचनद्वारा न्याय्य और अन्याय्य कर्मोंके करनेमें पाँचवाँ हेतु होता है। उसी 'दैव' नामक पूर्वजन्मार्जित कर्मफलको जन्मकुण्डलीके ग्रहादिकोंकी स्थितिद्वारा होराशास्त्ररूपी दिव्य दृष्टिसे जानते हैं ज्योतिर्विद्; अतएव उनका 'दैव'को जाननेवाला 'दैवज्ञ' नाम है। दैवज्ञोंको चाहिये कि वे बालक-बालिकाओंकी कुण्डलीके अशुभ फलोंको उनके पूर्वजन्मार्जित पापकर्मोंका परिणाम ही मानकर उस पापके प्रायश्चित्तस्वरूप भगवदाराधन-ग्रहशान्तिका विधान अवश्य लिखें, जिससे बालक-बालिकाओंके अभिभावक अथवा वे स्वयमेव जन्म-कुण्डलीके अनिष्ट फलोंको सुनकर अधीर न होकर शान्तिविधान करके अपने कल्याणका मार्ग प्रशस्त करें।

हमारे पौराणिक साहित्यमें न जाने कितने उदाहरण ऐसे मिलते हैं कि अल्पायु योगवाले दीर्घायु, संतानहीन योगवाले संतानवान्, वैधव्ययोगवाली सौभाग्यवती और निर्धन सम्पत्तिशाली और पतित-पामरजन परमपावन बन परमधामको प्राप्त हो गये हैं और हो गये हैं अपने पूर्वजन्मार्जित पाप-कर्मोंके प्रायश्चित्तस्वरूप भगवदाराधन करके ही।

सारांश यह कि जन्मकुण्डलीके ग्रहफलोंको जानकर मनुष्य अनिष्ट फलोंको शान्तकर संकटसे बच सकता है और शुभफलदायी समयोंमें अपने पुरुषार्थद्वारा अधिक शुभफलको प्राप्त कर सकता है। अतएव जिस प्रकार वर्षारम्भमें हमको अपने आय-व्यय (बजट) के ज्ञानकी आवश्यकता होती है, व्यापारियोंको अपने ऋण-धनज्ञापक बहीखातेकी आवश्यकता होती है और उसके अनुसार हमलोग अपना वर्ष कल्याणप्रद बना सकते हैं, उसी प्रकार बालक-बालिकाओंकी कुण्डलीकी आवश्यकता होती है, जिसके द्वारा जन्मकालीन ग्रहोंद्वारा जीवनारम्भकालमें जीवनपर्यन्तका शुभाशुभफल-लेखा हमको विदित हो जाता है और हम चाहें तो अपने सदुद्योगसे अपने अशुभ फलोंको मिटाकर जीवनपर्यन्त सुखसम्पन्न और अन्तमें भगवच्छरणागतिद्वारा परम कल्याणमार्गके पथिक बन सकते हैं।

* * *

सच्चा बालक

[कहानी]

(लेखक—श्रीदुर्गाशङ्करजी व्यास)

पिताके रमणीक बगीचेमें राम प्रतिदिन सैर करने जाया करता था । उसके साथ उसके कुछ मित्र भी रहा करते थे । वहाँ वे सब खूब खेलते । लेकिन किसी पुष्प, पौधे, वृक्ष और लताको हानि नहीं पहुँचने देते थे । यह रामके पिताकी विशेष हिदायत थी ।

रामका पिता विनोद प्रकृतिका पुजारी था । वह प्रकृतिके प्रत्येक अङ्गमें सुन्दरता और हृदयग्राह्यता ढूँढ़ निकालता । उसे प्रकृति-निरीक्षणमें इतना आनन्द आता कि वह अपना काम-काज भी भूल जाया करता था । अपनी मनस्तुष्टिके लिये उसने अपनी कोठीके बगलमें एक बहुत सुन्दर बगीचा लगा रक्खा था । अमृतसरमें जितने भी प्राइवेट बगीचे थे, उन सबमें विनोदबाबूका बगीचा सबसे प्रसिद्ध था । उसमें उसने रंग-बिरंगे फूल, पौधे और लताएँ तथा फलोंके कुछ पेड़ खुद अपने हाथोंसे लगाये थे । नित्यप्रति कचहरी जानेसे पहले और शामको लौटनेपर वह अपने बगीचेमें ही देखा जाता था । यही कारण था कि वह अपने प्यारे बच्चेको आदेशपूर्ण शब्दोंमें कहा करता—'राम ! याद रखना, किसी पौधे आदिको किसी प्रकारकी हानि न पहुँचने पाये । यदि ऐसा तुमसे कभी अनजानमें भी हुआ तो मैं तुम्हारे साथ बुरी तरह पेश आऊँगा ।'

बेचारा राम हाथ जोड़कर अत्यन्त भोलेपनसे कह देता—'पिताजी ! मैं आपकी आज्ञाका कभी उल्लङ्घन नहीं कर सकता, आप विश्वास रक्खें ।'

विनोद समझता था कि बालक समझदार है, आज्ञा पालन करता है । इसलिये रामको उसने स्वच्छन्दतापूर्वक मित्रोंसहित बगीचेमें खेलनेकी आज्ञा दे दी थी ।

रामकी आयु आठ-दस वर्षकी थी । शरीर भरा हुआ, आँखें बड़ी-बड़ी, रंग सुन्दर गोरा । तबीयत उसकी मिलनसार थी । यही कारण था कि उसके मित्र बहुत हो गये थे । एक बार रामकी उम्रका जो बालक उससे मिलता, सदैवके लिये उसका हो रहता । बच्चे, बूढ़े सब उसे समानरूपसे प्यार करते थे । बगीचेमें जब उन छोटे-छोटे बालकोंका समूह खेला करता, उस समय ऐसा मालूम होता था मानो संसारका वास्तविक सुख उन्हींको बदा हो । प्रौढ़ व्यक्ति उनके खेलको देखकर ईर्ष्या किया करते थे । दूसरे बालक उनके सङ्ग खेलनेको लालायित रहते । मतलब यह कि बालक-दल आनन्द-हिलोरमें व्यस्त रहता । राम उनमें चाँद और उसके मित्र सब सितारे बन जाते ।

एक दिन शामके वक्त यही दृश्य था । ठंढी-ठंढी हवा चल रही थी । थोड़े ही समयके बाद वायुका वेग अधिक हो गया । आँधी चल पड़ी और साथ ही थोड़ी-थोड़ी वर्षाने मौसमकी मनोरमताको और भी बढ़ा दिया । बच्चे खुशीसे नाच उठे । बालक स्वभावसे ही चञ्चल होते हैं । चञ्चलताने रामके मनपर आधिपत्य जमा लिया । पिताके आदेशपर परदा छा गया । की हुई प्रतिज्ञा भूल ही गयी । पिताके कोपका उसे खयालतक न रहा ।

खुशीमें सब बालक जब तन्मयतासे नाच रहे थे, रामने कहा, 'दोस्तो ! ग्वालोंकी तरह हाथोंमें छड़ियाँ लेकर नाचो ।' इतना कहना ही था कि पिताके लगाये हुए अत्यन्त सुन्दर और प्रिय दो-तीन पौधोंका सत्यानाश हो गया, वे खेलते रहे । जी भरकर खेले ।

विनोद अपने नियमानुसार दूसरे दिन अपने बगीचेमें

गया। सबसे पहले वह अपने उन्हीं प्रियतम पौधोंके दर्शन करने जाया करता था। उन्हीं पौधोंको बुरी तरह नष्ट-भ्रष्ट हुआ देखा तो क्रोधाग्निसे उसका चेहरा लाल हो गया। नस-नसमें रक्त द्रुतगतिसे दौड़ने लगा। उसे वे पौधे प्राणोंसे भी अधिक प्यारे थे। उनके नष्ट होनेसे मानो उसके प्राणोंको किसीने मसल डाला हो। वह निर्जीव-सा खड़ा उन पौधोंको निहारता रहा। नेत्रोंसे जल बहने लगा। किसी प्रेमीके प्रेम-केन्द्रका अस्तित्वहीन हो जाना प्रत्येकके लिये वस्तुतः घातक प्रतीत होता है। विनोदने प्रण कर लिया कि वह इन पौधोंके शत्रुको पूरी-पूरी सजा देगा।

कोप-परिपूर्ण हृदयसे तथा लाल-लाल आँखें करता हुआ वह घर आया। उसे सबसे पहले रामपर ही शक हुआ। आते ही उसने रामको पुकारा। पिताकी भयानक आकृति देखकर रामको कँपकँपी शुरू हो गयी। रामका मन किसी अज्ञात वेदनासे पीड़ित होने लगा। वह हाथ जोड़कर पिताके सामने खड़ा हो गया और बोला—'पिताजी! क्या आज्ञा है?'

'आज्ञाका बच्चा! कल बगीचेमें क्या अनर्थ कर आया है?'

राम चुप था। उसकी जिह्वासे एक भी शब्द न निकल सका। वह चाहता था कि कुछ बोले, परंतु उसका कण्ठ रुद्ध हो गया।

विनोदने कड़ककर कहा—'बगीचेमें उन पौधोंको किसने खराब किया है? अभी बता, नहीं तो मैं तुझे ठीक कर दूँगा।'

राम काँप उठा। वह समझ गया कि पिताको वे पौधे जानसे भी अधिक प्यारे थे। यदि उन्हें पता लगा कि पौधोंका नाश मुझसे हुआ है तो मेरी बुरी गति बनेगी।

इसलिये उसने विचारा कि झूठ बोलकर जान बचायी जा सकती है; लेकिन झूठ! उसने फिर सोचा कि पिताजीको झूठसे बड़ी घिन है। वे सचाईके भक्त हैं। सत्यको वे स्वर्ण और झूठको मिट्टी समझते हैं। शायद सच बोलनेसे उस (राम) की जान बच जाय, तो कोई आश्चर्य नहीं। भोला बालक इतनी देर चुपचाप खड़ा रहा।

पिताका क्रोधानल और भी प्रचण्ड हो रहा था। पैर पटकते हुए, वह रामके ऊपर झपटा और गरजकर बोला—'बोलता क्यों नहीं? जो बात है, उसे छिपानेसे अब क्या लाभ। मैं अब अधिक देर प्रतीक्षा नहीं कर सकता।'

रामके पैरोंके नीचेसे पृथ्वी खिसकी जा रही थी! वह अत्यन्त असमञ्जसमें था। किंकर्तव्यविमूढ़-सा खड़ा रहा। आखिर वह धीरेसे मुँह नीचा करके बोला।

'पिताजी! क्षमा करें।'

'क्या है?' पिताने फिर कड़ककर पूछा, 'सच-सच कह!'

'क्या सच बोलनेसे बच सकता हूँ?' रामने दीनतापूर्वक पूछा।

'देखा जायगा।' विनोदने आँखें तरेरते हुए उत्तर दिया।

'पिताजी! सच····तो यह है कि····यह महान् अपराध····मुझसे ही····हुआ है। मैं····अपने मित्रोंके सहित····खेलते-खेलते····उन पौधोंके····नाशका····कारण था।' रामने लड़खड़ाती हुई भाषामें डरते-डरते कह दिया।

विनोद सत्यवादीसे अद्वितीय प्रेम किया करता था। सत्य उसका इष्टदेव था।

छोटे-से बालकके श्रद्धापूर्वक सत्य बोलनेपर उसका सारा क्रोध उसी क्षण हवा हो गया। प्रत्युत वह उल्लसित दिखायी देने लगा। बालकको, सच-सच

बता देनेपर, उसने अपने बाहुपाशमें आबद्ध कर लिया। रामका सिर सूँघा उसने, प्यार किया और सहर्ष कहा—'बेटा ! मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ, क्योंकि तुमने सच कहा है। आज मैं तुम्हें सच बोलनेके उपलक्ष्यमें एक घड़ी इनाम दूँगा। मेरा सारा क्रोध दूर हो गया है। तुम भी अपने सब मित्रोंसे कहना एक आज तुमने सच बोलकर सबकी जान बचायी है और मुझे भी अनर्थसे बचाया है।'

राम पिताके ऐसे एकाएक परिवर्तनको देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। ईश्वरको धन्यवाद दिया उसने कि उसकी प्रेरणासे सच बोलकर उसने अपने-आपको सुरक्षित पाया।

प्राचीन और अर्वाचीन शिक्षा-प्रणाली

[सच्ची परिस्थितिकी कहानी]

(लेखक—स्वामी श्रीपारसनाथजी)

(१)

प्राचीन

जिस 'पोरबंदर' के इलाकेमें महात्मा गांधीजीने जन्म लिया था, उसी इलाकेमें महात्मा सुदामाजीने जन्म लिया था। सुदामापुरीके पास एक जंगलमें सान्दीपनि मुनिका गुरुकुल था। उसमें ग्यारह विद्यार्थी थे। सुदामाजी तथा श्रीकृष्णजी भी उसी गुरुकुलमें रहकर विद्याध्ययन करते थे।

कुटीके सामने एक नीमके नीचे एक चौकीपर गुरु सान्दीपनिजी विराजमान थे। नीचे ग्यारह छोटी-छोटी चटाइयाँ अलग-अलग पड़ी थीं।

प्रातःका समय था। जो विद्यार्थी आता था, वह गुरुजीको प्रणाम करता था और एक फूलमाला पहनाकर अपने आसनपर बैठ जाता था। सब विद्यार्थी पीला आँचल बाँधे थे, जो ब्रह्मचारीकी पोशाक थी।

गुरु—क्यों शिवदत्त ! तुम प्रातः कितने बजे उठते हो ?

शिवदत्त—श्रीगुरुदेव ! मैं प्रातः चार बजे उठता हूँ।

गुरु—प्रत्येक विद्यार्थीको चार बजे उठना चाहिये।

सब विद्यार्थी—हमलोग चार बजे ही उठ जाते हैं, महाराज!

गुरु—उठकर क्या करते हो, गुरुदत्त ?

गुरुदत्त—शौच जाता हूँ।

गुरु—नहीं। उठकर जितना पी सको, एक कुल्ला करके जल पीना चाहिये। रातको एक लोटा जल ढककर शय्याके पास रख लेना चाहिये।

सूर्यदत्त—इससे क्या लाभ होगा, गुरुदेव ?

गुरु—न तो कभी अजीर्ण होगा और न कभी तपेदिक होगी।

चन्द्रदत्त—इसे 'शिक्षा' कहते हैं। संसार सुन ले—इसीका नाम शिक्षा है।

गुरु—क्यों सुदामा ! जागनेके बाद तुम क्या करते हो ?

सुदामा—ठाकुरजीको प्रणाम करता हूँ। माता-पिताको प्रणाम करता हूँ।

गुरु—यहाँ गुरुकुलमें माता-पिता कहाँ ?

सुदामा—अपने मनमें उनका ध्यान करके प्रणाम करता हूँ।

गुरु—परंतु—शय्यासे पृथ्वीपर पैर रखनेके पूर्व धरती माताका चरण छूना चाहिये।

चन्द्रदत्त—पृथ्वीके चरण कहाँ हैं, गुरुदेव ?

गुरु—हर जगह चरण ही हैं !

हरिदत्त—जागनेके बाद एक कुल्लाकर जल पीना चाहिये—फिर ईश्वर, माता, पिता, गुरुको मन-ही-मन प्रणामकर पृथ्वीका चरण छूना चाहिये। धन्य गुरुजी ! धन्य आपकी शिक्षा !

प्रभुदत्त—क्यों गुरुजी ! पृथ्वीके चरण छूनेसे क्या लाभ ?

गुरु—रोटीके लिये कभी दुखी न रहोगे। आयु बढ़ेगी, विद्या मिलेगी, कीर्ति और शक्ति प्राप्त होगी।

यज्ञदत्त—शौचके बाद मैं स्नान करता हूँ। फिर संध्या करके भगवान् सूर्यदेवको अर्घ्य देता हूँ अर्थात् जल चढ़ाता हूँ।

सब लड़के—हम सभी संध्या करके जल चढ़ाते हैं।

गुरु—सूर्यदेवको जल चढ़ानेसे क्या लाभ है ?

गुरुदत्त—मालूम नहीं, श्रीमहाराज !

गुरु—नेत्रोंकी ज्योति कभी नष्ट नहीं होती। तेज उत्तरोत्तर बढ़ता है।

चन्द्रदत्त—इसका नाम है शिक्षा। जीवनोपयोगी शिक्षा इसीको कहते हैं।

गुरु—सूर्यको जल-दान करते समय क्या कहते हो ?

सब लड़के—गायत्री पढ़ते हैं, गुरुदेव !

गुरु—ठीक है, एक दोहा भी पढ़ा करो—

तेज-रूप-रस-धाम तुम किरनमाल अभिराम ।
तमहारी भगवान रवि ! तुमको नित्य प्रणाम ॥

शिवदत्त—इसके बाद हमलोग 'कलेवा' करते हैं—गुरुजी !

गुरु—क्या कलेवा करते हो ?

शिवदत्त—रातको शीशमकी पत्ती कुचलकर भिगो देते हैं। उसीका शर्बत पीते हैं।

गुरु—दूध भी पी सकते हो। पत्तीके रसमें भी दूध मिलाया जा सकता है। किसी बासी चीजसे कलेवा कभी मत करना। बासी चीजसे स्वास्थ्य खराब होता है।

प्रभुदत्त—कलेवा करके हमलोग एक घंटा पाठ याद किया करते हैं।

गुरु—हाँ, पाँच बजेसे छः बजेतक ही याद करनेका ठीक समय है। जो विद्यार्थी उस समय याद नहीं करता, वह सफल विद्यार्थी नहीं बन सकता।

यज्ञदत्त—ब्रह्मचारीको क्या नहीं खाना चाहिये, गुरुदेव!

गुरु—नमक, मिर्च, खटाई, मिठाई और तेलसे ब्रह्मचारीको बचना चाहिये।

सुदामा—नमक और मिठाईका थोड़ा-बहुत व्यवहार तो होता है, गुरुदेव !

गुरु—कम-से-कम व्यवहार करो। अलोना और कच्चा अनाज खाया करो। पकी हुई रोटी तो मुर्दा चीज है। अनाज और फल और तरकारी—कच्ची ही खानी चाहिये।

यज्ञदत्त—ब्रह्मचारीके लिये यह भी जरूरी है कि वह ब्रह्मचर्यके देवता 'वीर बजरंगी' का इष्ट रक्खे। मंगलका व्रत रक्खे और अपनी क्षमताके अनुसार कुछ प्रसाद चढ़ाकर बच्चोंमें बाँट दे।

गुरु—बताओ, चन्द्रदत्त ! आज जीवनके लिये क्या शिक्षा दी गयी ?

चन्द्रदत्त—प्रातः चार बजे उठना चाहिये। जल पीना चाहिये। ईश्वर-माता-पिता-गुरुको भक्तिपूर्वक प्रणाम करना चाहिये। पृथ्वी माताके चरण छूकर शौच जाना चाहिये। स्नानके बाद संध्या करके सूर्यदेवको जल देना चाहिये। जलपानमें पत्तियोंका रस लेना चाहिये। जहाँतक हो नमक-मिर्च-खटाई-मिठाई और तेलसे बचना चाहिये। मंगलको व्रत रखकर महावीरजीका प्रसाद बाँटना चाहिये।

गुरु—प्रातःकाल एक घंटा पाठ याद करना चाहिये।

सब लड़के—जी गुरुदेव ! आपकी शिक्षा जीवनप्रदायिनी है, दीर्घ जीवनदायिनी है और कल्याणकारिणी है।

चन्द्रदत्त—सारे संसारको कान खोलकर सुन लेना चाहिये कि प्राचीन भारतमें शिक्षाका कैसा सुन्दर रूप था। तभी विद्यार्थीलोग वेद कण्ठ कर सकते थे और उनका मर्म भी समझ सकते थे।

(२)

अर्वाचीन

शाहाबाद हाईस्कूलमें इंट्रेंसके दर्जेको हेडमास्टर साहब खड़े होकर पढ़ा रहे थे और विद्यार्थीलोग पास-पास बैठे सुन रहे थे।

हेड०—भारतमें असभ्य लोग रहते थे। उनको कोल-किरात और भील कहते थे। गडरिये गड़बड़ गाया करते थे, उन्हींको लोग वेद कहने लगे। सब असभ्य थे। अंग्रेजोंने भारतको सभ्यता सिखलायी।

ज्ञानचंद—सब असत्य है ! जब अंग्रेज जातिका जन्म भी न हुआ था, तबसे भारत सभ्य है। रामायणकालमें और महाभारतकालमें अंग्रेज कहाँ थे ? हमारे वेद-शास्त्र, उपनिषद् और पुराण भारतकी आदिम सभ्यताकी घोषणा कर रहे हैं। कोल-भील क्या अंग्रेजोंके देशमें नहीं रहते ? क्या उनके यहाँ 'सभ्यता' आ चुकी है।

हेड०—बोलो, कर्मचंद ! स्वेज नहरपर कितने बंदर हैं !

कर्मचंद—बंदर या बंदरगाह ?

हेड०—बंदरगाह।

कर्मचंद—मैं अपने दिमागके साथ यह अत्याचार नहीं कर सकता कि उसे स्वेजके बंदर याद कराऊँ कि जिससे मेरे जीवनको कोई लाभ नहीं। अपने पुस्तकालयमें एक भूगोलकी पुस्तक रख दी है। उसमें दुनियाभरके बंदर तथा बंदरगाह लिखे हैं।

हेड०—सुरेश कहाँ गया ?

ज्ञानचंद—बरामदेमें खड़ा सिगरेट पी रहा है।

हेड०—क्यों रमेश ! प्रशान्त-महासागर……।

रमेश—अरे दइया ! मार डाला रे !

हेड०—क्या हो गया रे ?

रमेश–हरीशने एक आलपीन मेरी जाँघमें घुसेड़ दी।

हेड०–क्यों हरीश ! यह क्या हरकत है ?

हरीश–यह मेरे पास क्यों बैठा है ? इससे मुझे नफरत है।

हेड०–क्यों नफरत है ?

हरीश–रमेशने मेरे पितासे कह दिया था कि मैं 'चाइनस' खेलता हूँ और दो-चार रुपये रोजाना हारता हूँ। हारता तो मैं हूँ—इसके बापका क्या खर्च होता है ?

हेड०–तुम दोनों अलग-अलग बैठा करो।

रमेश–बैठनेके लिये बेंच ठीक चीज नहीं है। कलसे मैं अपनी चटाई लाया करूँगा और सबसे अलग बैठा करूँगा।

हेड०–क्यों दिनेश ! 'एलज़बरा' याद कर लाये ?

दिनेश–जब मैं 'एलज़बरा' की किताब उठाता हूँ, तब कोई दिलमें कहता है कि दिलके साथ व्यभिचार मत करो।

हेड०–हमारी शिक्षासे दिमागपर अत्याचार तथा दिलपर व्यभिचार होता है ?

ज्ञानचंद–इन समस्त पाठ्य-पुस्तकोंको फेंक देना चाहिये।

दिनेश–अगर हमें क्लर्कीकी ही योग्यता देनी है तो क्लर्की लाइनकी ही किताबें पढ़ानी चाहिये। यह सब 'अंट-संट' और 'आयँ-बायँ' क्यों ?

हेड०–तुमलोगोंको विद्या नहीं आयेगी !

ज्ञानचंद–विद्या नहीं—अविद्या कहिये।

हेड०–तुमलोग पाजी हो।

ज्ञानचंद–गालीका जवाब गालीसे दिया जायगा।

हेड०–हम तुम्हारा रस्टीकेशन करेगा।

ज्ञानचंद–स्कूलसे निकालनेवालेको हमलोग सड़कपर जूतोंसे पीट डालेंगे।

रमेश–संसारवालो ! यह है हमारी अर्वाचीन शिक्षा-प्रणालीका नमूना। नीचेसे ऊपरतक सारी बातें अशुद्ध !!

❦

क्रोध

क्रोध है बहुत बड़ा शैतान।
क्रोधसे मारा जाता ज्ञान॥
क्रोध करता नरको बेभान।
क्रोध खो देता सारा मान॥
क्रोधमें आँखें होतीं लाल।
क्रोधमें मुँह होता बिकराल॥
क्रोधमें खूब बजाता गाल।
क्रोधमें सभी बिगड़ती चाल॥
क्रोधमें नोच डालता बाल।
क्रोध कर देता है बेहाल॥
क्रोधसे जल्दी आता काल।
क्रोध देता नरकोंमें डाल॥
क्रोधमें जलते सारे अंग।
क्रोधमें सत्य न रहता संग॥
क्रोधमें हो जाता मतिभंग।
क्रोधमें मिटती सभी उमंग॥
क्रोधमें खोती सारी लाज।
क्रोधमें कूएँ गिरता भाज॥
क्रोधमें गले बाँधता पाश।
क्रोधमें करता आत्म-विनाश॥

क्रोधसे कँप उठती सब देह।
क्रोधमें मिट जाता सब नेह॥
क्रोधमें मिटता सद्व्यवहार।
क्रोधमें स्वयं मारता मार॥
क्रोधमें दुर्गुण आ डटते।
क्रोधमें सब सद्गुण मिटते॥
क्रोधसे सदाचार हटते।
क्रोधसे सद्विचार कटते॥
क्रोधमें गुरुजनको ललकार।
क्रोधमें देता है दुतकार॥
क्रोधमें उन्हें मारता मार।
क्रोधमें बिसराता सब प्यार॥
क्रोध जब आये, चुप हो रहो।
क्रोध आते ही माला गहो॥
क्रोधमें राम नाम जप करो।
क्रोधको सह करके तप करो॥
क्रोधको मत करने दो काम।
क्रोधके समय रटो हरिनाम॥
क्रोधको खूब दिखाओ त्रास।
क्रोधका करो क्षमासे नाश॥

बालक अढैया भक्त

(प्रेषक—महात्मा श्रीजयगौरीशङ्कर सीतारामजी)

गाजीपुर जिलेमें गायघाट गाँवमें एक किसानका लड़का था, उसके खास चार भाई थे । तीनों काम-काजमें निपुण थे, किंतु छोटा लड़का बहुत आलसी था । खानेमें यह बहुत बहादुर था । पूरा ढाई सेर खाता था, इसीसे इसका नाम अढैया पड़ गया । सब लोग अढैया-अढैया कहकर पुकारने लगे । पिताके मर जानेके बाद अढैयाको भाइयोंने घरसे निकाल दिया । बेचारा रोता-कलपता घरसे बाहर निकल पड़ा । जाते-जाते एक जंगलमें जा पहुँचा । घनघोर भयङ्कर जंगलमें उसे डर लग रहा था । अँधेरा हो चला था । वह बहुत घबराने लगा । कुछ दूर और जानेपर उसे एक संतकी कुटिया दिखलायी दी । वह प्रसन्न होकर कुटीमें जा पहुँचा । अढैयाको देखकर बाबाजी पूछने लगे—'बताओ, तुम क्या चाहते हो ?' अढैयाने कहा—'मेरा कोई नहीं है । मुझे अपना शिष्य बना लीजिये । मैं आपका सारा काम कर दूँगा । सिर्फ पेटके लिये पेटभर भोजन दे दीजिये ।'

संत महाराजने उसको अपने पास रख लिया, कंठी-तिलक लगानेकी विधि बतायी । राम-नाम जपनेको कहा । अब अढैयाको कोई कष्ट नहीं था । प्रेम और प्रसन्नतासे श्रद्धापूर्वक उस साधुकी कुटियामें अढैया रहने लगा ।

अढैया बहुत सीधा-सादा लड़का था और हृदयका बहुत ही साफ था । छल-कपट करना बिल्कुल नहीं जानता था । वह भगवान्‌का सच्चा भक्त था । खूब प्रेमसे तथा सच्चे मनसे परम विश्वासके साथ वह रामनाम बराबर रटा करता था । रामनाम जपनेमें उसका बहुत मन लगता था । वह रोज गाय चराया करता और बराबर रामनामका स्मरण करता रहता था । एक दिन एकादशी थी । बाबाजीने कहा—'बेटा अढैया ! आज एकादशी है, आज तो मेरे यहाँ भोजन नहीं मिलेगा । तुम्हें भी आज उपवास करना पड़ेगा ।' यह सुनकर अढैया बोला—'बाबा ! और सब कुछ तो मुझसे होगा, लेकिन बिना कुछ खाये नहीं रहा जायगा । न मैं खुद उपवास करूँगा और न ठाकुरजीको उपवास करने दूँगा । इसलिये सबसे अच्छा है कि मुझे खाने-पीनेका सब सामान दे दीजिये, मैं सामनेके तालाबपर जाकर भोजन बना लूँगा ।' मन मसोसकर, दुःख मानकर अढैयाको बाबाने सीधा दे दिया । पर केवल अढैयाके लिये ही दिया । इसपर अढैया बोला—'और ठाकुरजीके लिये मैं कहाँसे लाऊँगा, उनके लिये भी दीजिये । उनका हिस्सा क्यों बाकी रखते हैं ?' बाबाजीने हँसकर कहा—'अरे पागल, ठाकुरजी भी कहीं खाते हैं, क्यों तू मुझे परेशान कर रहा है ।' अढैयाने समझा बाबाजी मुझसे ठट्ठा कर रहे हैं, लड़का समझकर भुला रहे हैं । उसने कहा—'नहीं-नहीं, बाबाजी ! ठाकुरजीके लिये भी दीजिये । हमने सुना है कि वे जरूर खाते हैं ।'

अन्तमें उससे हार मानकर झुँझलाकर बाबाजीने थोड़ा-सा सीधा और दे दिया । एक छोटी-सी सीतारामजीकी मूर्त्ति तथा सीधा लेकर अढैया तालाबके किनारे चला गया ।

गौओंको चरनेके लिये छोड़ दिया और प्रेमसे भोजन बनाकर पत्तलोंमें परोस दिया । अढैया श्रीसीतारामकी मूर्त्तिके पास जाकर बोला—'चलो, ठाकुरजी ! भोजन कर लो ।'

ठाकुरजी काहेको उठें, मौन धारण किये सदैवकी तरह बैठे रहे । पीतलके ठाकुरजी उठते कैसे । अब अढैया बहुत जोर-जोरसे मुँह बनाकर चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगा—'अरे ठाकुरजी ! इतनी देर क्यों

करते हो? मुझे बड़ी भूख लगी है, आकर खाते क्यों नहीं?' बाबाजी जरा-सी घंटी डुला देते थे तो तुरंत आकर गपागप खा लिया करते थे। आज मैं घंटोंसे चिल्ला रहा हूँ तो सुनते ही नहीं! क्या मुझसे शर्मा रहे हैं? चलो, मैं भी नहीं खाऊँगा।'

यह कहकर अढैया रूठकर बैठ गया। इसपर भी ठाकुरजी तो नहीं आये। शाम हो गयी। अढैया चुपचाप बैठा ही रह गया।

अन्तमें भगवान् अढैयाका प्रेम और दृढ़ता देखकर रीझ गये। उनका आसन डोल गया। सीताजी और रामजी दोनों पहुँच गये। उन्हें देखकर अढैया प्रसन्न तो हुआ, किंतु उसे थोड़ा-सा क्रोध भी आ गया। सीधा-सादा छोटा अबोध बालक। उसने झट धृष्टताके साथ भगवान्से कहा कि 'इतनी देरतक तो मुझे भूखसे परेशान किया, और आये तो, साथमें मेरी इज़्ज़त बढ़ानेके लिये तथा सबको दिखानेके लिये इन महारानीजीको लेते आये। भला, औरतको साथ लानेकी क्या जरूरत थी? अकेले आते डर लगता था? मेरे बाबाजीने तो हमारे और तुम्हारे लिये ही सीधा दिया था। तुम बिना समझे-बूझे इन्हें साथ लेते आये! अब तो आधे-पेट ही रहना पड़ेगा!' भगवान् अढैयाकी प्रेमभरी अटपटी बातें सुनकर हँसने लगे और अढैयाका परोसा हुआ भोजन पाने लगे। अब दूसरी एकादशी आयी। अढैयाने उस दिन बाबाजीसे तीन व्यक्तियोंका सीधा माँगा। बाबाजीने बिगड़कर कहा—'अरे! तुम यह क्या तमाशा करते हो? ठाकुरजी भी कहीं खाते हैं? मुझे ठगने चले हो?' इसपर अढैया बिगड़कर बोला—'वाह, क्या मैं झूठ बोलता हूँ! अढैया मेरा नाम ही भर है, ठाकुरजी मुझसे भी ज्यादा खाते हैं। इसपर भी दिखानेके लिये साथमें एक स्त्री भी लाते हैं, मुझे बहुत बुरा लगता है। न विश्वास हो तो चलकर देख लीजिये न।'

बाबाजीने लाचार होकर तीन व्यक्तियोंके लिये सीधा देकर झंझट दूर किया। भोजन तैयारकर अढैयाने तीन पत्तलोंमें परोस दिया। मूर्तिके सामने जाकर कहा—'चलो, ठाकुरजी! भोजन तैयार है।' इतना सुनते ही भगवान् श्रीराघवेन्द्र श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीके साथ फौरन पहुँच गये। अब तो लक्ष्मणजीको देखकर बिगड़कर वह बोला—'सुनो, ठाकुरजी! तुम धीरे-धीरे पैर फैला रहे हो। लालच बढ़ता जा रहा है। बिना बुलाये, बिना नेवता दिये आज तीन आ गये। तुमने तो आफत मचा दी। आज भी भूखों मरना पड़ा।' भगवान् अपने सीधे-सादे भोले भक्तकी कटु वाणी सुनकर इतने प्रसन्न हुए कि जितने महाज्ञानीकी स्तुति-प्रार्थनासे भी नहीं हुआ करते।

इस तरह एकादशी-पर-एकादशी आती गयी। तीसरीमें भरतजी और चौथीमें शत्रुघ्नजी भी पहुँच गये। उधर अढैया बिगड़ता था। इधर बाबाजी अलग क्षुब्ध थे। उन्होंने यह पता लगाना चाहा कि अढैया झूठ बोलता है या सच। जब पाँचवीं एकादशी आयी, तब बाबाजीने इस बातकी जाँच करनी चाही।

उस दिन अढैया छः व्यक्तियोंका सीधा लेकर पहुँचा। सीधा ले जाकर उसने तालाबके किनारे पटक दिया। क्रोधमें आकर झुँझलाकर बोला—'आज आओ, ठाकुरजी! तुम्हीं लोग भोजन बनाओ। मैं तो अकेला खाता हूँ, तुम पाँच-पाँच जने गटकते हो। आज हमसे भोजन बनाना पार नहीं लगेगा।' इस दिन हनुमान्जी भी पहुँच गये। अब तो अढैया क्रोधके मारे उछलने-कूदने लगा। बहुत बिगड़ गया। ठाकुरजीसे कहने लगा—"तुम्हें इतना समझाता हूँ, पर तुम अपनी आदतसे बाज नहीं आते! जान-बूझकर परेशान करनेके लिये रोज एक-एक आदमी बढ़ाते ही जाते हो। हमारे बाबाजीका भी बेकार खर्चा कराते हो। इससे तुमको कौन-सा लाभ है? ऐसा ही करना हो तो जिस वक्त बाबाजीके पास सीधा लेने जाता हूँ, उसी वक्त क्यों नहीं मुझसे पहले

ही कह देते हो कि 'आज हम इतने आदमियोंके साथ आयेंगे।' व्यर्थ मुझे क्यों परेशान कर रहे हो। रोज-रोज भूखों मारते हो! जिस समय सीधा लेने जाता हूँ, उस वक्त तो तुम मौनीबाबा बनकर आसन-पर बैठ रहते हो। मालूम होता है कभी कुछ खाते ही नहीं, न कुछ जानते ही हो। खानेके समय पलटन लेकर आ पहुँचते हो और ढेर-के-ढेर झट-पट स्वाहा कर जाते हो! मैं इतना परिश्रम करके सीधा ले आता हूँ, भोजन बनाता हूँ, पर किसी दिन भी तुमलोगोंके मारे पेटभर भोजन नहीं कर पाता। भगवान्! क्या तुम यह चाहते हो कि मैं भूखों मर जाऊँ?''

भगवान् क्या कहते, मुसकराकर रह गये। श्रीमाता सीताजी रसोई बनाने बैठीं और हनुमान्‌जी इधर-उधरका टहल-टिकोरा करने लगे। उधर बाबाजी पूजा-पाठसे छुट्टी पाकर अढैयाकी जाँच करने चले। जब वे तालाबके नजदीक पहुँचे, तब उन्होंने देखा कि पाँच-छः जने भोजन कर रहे हैं। बाबाजी तो अवाक् रह गये। उनके लिये यह घटना अत्यन्त आश्चर्यजनक थी। महान् आश्चर्यमें डूबकर वे जहाँ-के-तहाँ खड़े रह गये। उनको इस बातकी चिन्ता हुई कि 'मैंने इतनी सेवा की, भगवान्‌ने मुझे कभी दर्शन नहीं दिया और यह गँवार मूर्ख बिना सेवा किये ही भगवान्‌का अपूर्व दर्शन पा गया।' बाबाजीका मन ईर्ष्याकी आगसे जल गया। उसी समय भगवान् अन्तर्धान हो गये। हनुमान्‌जी अढैयाका हाथ पकड़कर उड़ चले। ऐसा चमत्कार देखकर बाबाजी दौड़े। अढैयाका बाबाजीने पैर पकड़ना चाहा, किंतु वे पकड़ न सके। निराश होकर रोने लगे। उन्हें रोते देखकर हनुमान्‌जीने कहा—'तुम्हारा हृदय अभी मलिन है, निर्मल स्वच्छ पवित्र नहीं है। जितनी तुमने तपस्या की थी, उसके बदलेमें उतना फल तुमको मिल गया। तुम्हारी तपस्यासे तुमको दर्शन मिल गये। अब शुद्ध मनसे कुछ दिन और भगवान्‌का भजन करो।' यह कहकर अढैयाके साथ हनुमान्‌जी भी साकेत धामको चले गये। अढैया भक्तका जीवन सहजमें ही बिना जप, तप, योग किये ही श्रीरामनामके प्रतापसे—प्रेमसे नाम रटनेके फलस्वरूप सफल हो गया!

* * *

ईश-प्रार्थना

(रचयिता—स्व० पं० श्रीप्रतापनारायणजी मिश्र)

शरणागत-पाल कृपालु प्रभो, हमको इक आस तिहारी है।
तुम्हरे सम दूसर और कोऊ नहिं दीननको हितकारी है॥
सुधि लेत सदा सब जीवनकी, अति ही करुना उर धारी है।
प्रतिपाल करै बिनही बदले, अस कौन पिता-महतारी है॥
जब नाथ दया करि देखत हो, छुटि जात बिथा संसारी है।
बिसराय तुम्हें सुख चाहत जो, अस कौन नदान अनारी है॥
परवाह तिन्हें नहीं स्वर्गहुकी, जिनको तव कीरति प्यारी है।
धनि है, धनि है, सुखदायक जो तव प्रेम सुधा अधिकारी है॥
सब भाँति समर्थ सहायक हो, तव आश्रित बुद्धि हमारी है।
परतापनरायण तो तुम्हरे पदपङ्कज पै बलिहारी है॥

दो मित्रोंका आदर्श प्रेम

एक देशमें दो आदमी दुर्भाग्यसे गुलाम बन गये थे। एकका नाम एन्टोनिओ था और दूसरेका नाम रोजर। दोनों एक ही जगह काम करते, खाते-पीते तथा उठते-बैठते थे। धीरे-धीरे उनमें परस्पर घना प्रेम हो गया। छुट्टीके समय दुःख-सुखकी बातें करनेसे उनको गुलामीका असह्य दुःख कुछ कम जान पड़ता था।

वे दोनों समुद्रके किनारे एक पर्वतके ऊपर रास्ता खोदनेका काम प्रतिदिन करते थे। एक दिन एन्टोनिओने एकदम काम छोड़ दिया और समुद्रकी ओर नजर करके एक लंबी साँस छोड़ी। वह अपने मित्रसे कहने लगा—'समुद्रके उस पार मेरी बहुत-सी प्यारी वस्तुएँ हैं। हर एक क्षण मुझे ऐसा लगता है कि मानो मेरी स्त्री और लड़के समुद्रके किनारे आकर एक नजरसे इस ओर देख रहे हैं और यह निश्चय करके कि मैं मर गया हूँ, रो रहे हैं। मेरी इच्छा होती है कि मैं तैरकर उनके पास पहुँच जाऊँ।' एन्टोनिओ जभी उस जगह काम करने जाता, तभी समुद्रकी ओर दृष्टि डालते ही उसके मनमें ये विचार उत्पन्न होते थे। बादको एक दिन एक जहाजको जाते देखकर उसने रोजरसे कहा—'मित्र! इतने दिनों बाद अब हमारे दुःखोंका अन्त आ गया है। देखो, वह एक जहाज लंगर डालकर खड़ा है। यहाँसे दो-तीन कोससे अधिक दूरीपर नहीं है। हम समुद्रमें कूद पड़ें तो तैरते-तैरते उस जहाजतक पहुँच जा सकते हैं। यदि नहीं पहुँच सकेंगे और मर जायँगे तो इस दासत्वकी अपेक्षा वह मौत भी सौगुनी अच्छी होगी।'

यह सुनकर रोजरने कहा—'तुम इस तरह अपनेको बचा सको तो इससे मैं बड़ा खुश होऊँगा। तुम देशमें पहुँच जाओगे तो मुझे भी अधिक दिन दुःख नहीं भोगना पड़ेगा। यदि तुम सही-सलामत इस दुःखसे छूटकर घर पहुँच जाओ तो मेरे घर जाकर मेरे मा-बापकी खोज करना। बुढ़ापेके कारण तथा मेरे शोकसे शायद वे मर गये हों। पर देखना, यदि वे जीते हों तो उनसे कहना कि—इतना कहते-कहते एन्टोनिओने उसे रोक दिया और वह बोला—'तुम ऐसा क्यों सोच रहे हो कि मैं तुमको इस अवस्थामें अकेला छोड़कर जाऊँगा? ऐसा कभी नहीं हो सकता, तुम और मैं जुदा नहीं। या तो हम दोनों छूटेंगे या दोनों ही मरेंगे।' एन्टोनिओकी बात सुनकर रोजर बोला—'तुम जो कहते हो, वह ठीक है; पर मैं तैरना नहीं जानता, इसलिये तुम्हारे साथ कैसे जा सकता हूँ?' एन्टोनिओने कहा—'इसके लिये न घबराओ। तुम मेरी कमर पकड़ लेना। मैं तैरनेमें कुशल हूँ, इसलिये बिना किसी हरकतके तुमको लेकर जहाजतक पहुँच जाऊँगा।' रोजरने कहा—'एन्टोनि! इसमें कोई आपत्ति नहीं, पर कदाचित् भयभीत होकर मैं तुम्हारी कमर छोड़ दूँ या खींचतान करके तुमको भी डुबा दूँ। इसलिये ऐसा करना जरूरी नहीं है। मेरे भाग्यमें जो होना होगा, वह होगा। तुम अपने बचावका उपाय करो और व्यर्थ समय न गँवाओ। आओ, हम अन्तिम भेंट कर लें।'

इतना कहकर रोजरने आँसूभरी आँखोंसे एन्टोनिओका आलिङ्गन किया। तब एन्टोनिओने कहा—'दोस्त! यह रोनेका समय नहीं, बार-बार ऐसा अवसर न प्राप्त होगा।'

एन्टोनिओने इतना कहकर अपने मित्रका उत्तर सुननेकी बाट न जोहते उसको ढकेलकर समुद्रमें गिरा दिया और अपने भी उसके पीछे कूद पड़ा। रोजरने समुद्रमें गिरते ही घबराकर जीवनकी आशा छोड़ दी,

पर एन्टोनिओने उसको हिम्मत दिलाकर बहुत मेहनतसे अपनी कमर पकड़ा दी और वह तैरते हुए जहाजकी ओर जाने लगा ।

उस जहाजके आदमियोंने इन दोनोंको पहाड़परसे कूदते हुए देखा था, पर इतनेमें ऐसा मालूम हुआ कि गुलामोंकी सँभाल रखनेवाले आदमी उनको पकड़नेके लिये नौका लेकर आ रहे हैं । रोजर इससे घबराकर बोला—'मित्र एन्टोनि ! तुम मुझे छोड़कर अकेले चले जाओ । वह नाववाला मुझे पकड़ने लगेगा, इतनेमें तुम बिना हरकत जहाजपर पहुँच जाओगे । इसलिये अब तुम मेरी आशा छोड़कर अपना ही बचाव करो । नहीं तो वे हम दोनोंको पकड़कर वापस ले जायँगे ।'

इतना कहकर रोजरने एन्टोनिओकी कमर छोड़ दी । पर उत्तम प्रेमका प्रभाव देखिये! एन्टोनिओने उसको कमर छोड़कर पानीमें डूबते हुए देखा और तुरंत ही उसको पानीसे बाहर निकालनेके लिये डुबकी मारी । थोड़ी देरतक वे दोनों पानीके धरातलपर दीख न पड़े । इससे नौकावाले आदमी यह निश्चय न करके कि किधर जायँ-रुक गये । जहाजके आदमी डेकसे इस अद्भुत घटनाको देख रहे थे । उनमेंसे कुछ खलासी भी एक नावको समुद्रमें डालकर उनकी खोज करने लगे । उन्होंने थोड़ी देरतक चारों ओर बेकार प्रयत्न किया । फिर देखा कि एन्टोनिओ एक हाथसे रोजरको मजबूतीसे पकड़े हुए है और दूसरे हाथसे नौकाकी ओर जानेके लिये बहुत मेहनत कर रहा है । खलासियोंने यह देखकर दयासे गद्गद होकर अपनेमें जितना बल था, उतने डाँड़ मारना शुरू किया । देखते-देखते वे वहाँ पहुँच गये और उन दोनोंको पकड़कर उन्होंने नावमें बैठा लिया ।

उस समय एन्टोनिओ इतना थक गया था कि मिनट-भर और देर लगती तो वे दोनों पानीमें डूब जाते । 'तुम मेरे मित्रको बचाओ'—कहते-कहते वह अचेत हो गया । रोजर भी तबतक अचेत था, परंतु उसने कुछ ही क्षणोंमें आँखें खोलीं और एन्टोनिओको अचेत अवस्थामें पड़ा देखकर वह बहुत ही व्याकुल हो गया । एन्टोनिओके अचेतन शरीरका आलिङ्गन करके वह आँसू बहाते हुए कहने लगा—'मित्र ! मैंने ही तुम्हारा वध किया है । तुमने मेरी गुलामी छुड़ाने और मेरा प्राण बचानेके लिये इतनी मेहनत की, पर मेरी ओरसे उसका यही बदला मिला । मैं बहुत ही नीच हूँ । नहीं तो, तुम्हें मरा देखकर मैं क्यों जी रहा हूँ? तुमको खोकर अब मेरे जीनेसे क्या लाभ ?'

इस प्रकार शोकातुर होकर वह एकदम खड़ा हो गया और यदि खलासी उसे बलपूर्वक रोक न लेते तो वह समुद्रमें कूद पड़ा होता । फिर वह बहुत ही विलाप और पश्चात्ताप करके कहने लगा—'क्यों तुम लोग मुझे रोकते हो ? मेरे ही कारण इसके प्राण गये हैं ।' इतना कहकर वह एन्टोनिओके शरीरके ऊपर पड़कर कहने लगा—'एन्टोनि ! मैं जरूर तुम्हारा साथी बनूँगा । प्यारे खलासियो ! तुम्हें परमेश्वरकी शपथ है । तुम अब मुझको न रोको । मुझे अपने मित्रका साथी बनने दो ।' पर इतनेमें ही एन्टोनिओने एक लंबी साँस ली । रोजर उसे देखकर आनन्दसे अधीर हो उठा और उच्च स्वरसे बोला—'मेरा मित्र जीता है । मेरा मित्र जीता है । जगदीश्वरकी कृपासे अबतक इसके प्राण नहीं गये हैं ।' खलासी उसको होशमें लानेके लिये बहुत प्रयत्न करने लगे । थोड़ी देरके बाद एन्टोनिओने आँखें खोलकर अपने मित्रकी ओर दृष्टि डालते हुए कहा—'रोजर ! तुम्हारी प्राणरक्षा हो गयी—इसके लिये जगदीश्वरको धन्यवाद दो ।' उसके अमृत-जैसे वाक्य सुनकर रोजर इतना प्रसन्न हुआ कि उसकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी ।

थोड़ी देरमें वह नाव जहाजपर पहुँच गयी । जहाजके सभी आदमी खलासियोंके मुँहसे सारी बातें सुनकर उनके ऊपर बहुत स्नेह दिखलाने लगे । वह जहाज माल्टाकी ओर जा रहा था । वहाँ पहुँचनेपर दोनों मित्रोंको किनारे उतार दिया गया और वहाँसे वे अपने-अपने घर गये और सुखसे रहने लगे ।

गुरुजीका उपदेश

आज अष्टमीका दिन है, पढ़ाई बंद है; परंतु गुरुजीका यह नियम था कि वे अष्टमीकी छुट्टीके दिन सब लड़कोंको एक घंटे अपने घर बुलाकर कुछ उपदेश सुनाया करते थे। गुरुजी बड़े स्नेहसे उपदेश करते थे और उपदेशके बाद सब बच्चोंको ठाकुरजीका प्रसाद बाँटा करते थे। इससे बच्चे खुशी-खुशी छुट्टीके दिन भी गुरुजीके घर आते थे। आज भी सब बच्चे आये और बारी-बारीसे गुरुजीके चरणोंमें माथा टेककर उनका आशीर्वाद पाकर अपनी-अपनी जगह बैठ गये। गुरुजीने भगवान्‌की स्तुति गायी। बच्चे भी उनके पीछे-पीछे गाते रहे।—

दीनन दुख हरन देव संतन सुखकारी।
अजामील गीध ब्याध, इनमें कहो कौन साध,
पंछीहू पद पढ़ात, गनिका-सी तारी॥ दीनन०
ध्रुवके सिर छत्र देत, प्रह्लादको उबार लेत।
सीता हेतु बाँध्यो सेत, लंकपुरी जारी॥ दीनन०
तंदुल देत रीझ जात, साग-पात सों अघात,
गिनत नाहिं जूँठे फल, खट्टे मीठे खारी॥ दीनन०
गज कों जब ग्राह ग्रस्यो, दुःसासन चीर खस्यो,
सभा बीच कृष्ण कृष्ण, द्रौपदी पुकारी॥ दीनन०
इतने हरि आइ गए, बसनन आरूढ भए,
सूर कूर द्वारे ठाढ़ो, आँधरो भिखारी॥ दीनन०

फिर गुरुजी उपदेश करने लगे। उन्होंने कहा—'बच्चो! भगवान्‌ने तुम्हें तीन चीजें ऐसी दी हैं कि यदि तुम इनको साफ और पवित्र रख सको तो तुम्हारा बहुत बड़ा काम और नाम हो जाय। बुद्ध, शंकराचार्य आदि बड़े-बड़े महापुरुषोंको आजतक लोग इसीलिये पूजते हैं कि उन्होंने इन तीनों चीजोंको सदा साफ और पवित्र रक्खा था। तुम भी वैसे ही महापुरुष बन सकते हो अगर तीनोंको साफ और पवित्र रक्खो। ये तीन चीजें हैं—शरीर, वचन और मन। शरीरकी सफाई और पवित्रताके लिये इन बातोंपर ध्यान रक्खो।

'शरीरपर गंदगी मत रहने दो, रोज नहाओ। कपड़ोंपर गंदगी न लगने दो, कपड़े सदा साफ रक्खो, अपने हाथसे उन्हें धोनेकी आदत डालो। कुछ भी खा-पीकर पहननेके कपड़ेसे कभी हाथ-मुँह मत पोंछो। कहीं बैठो तो जगह झाड़कर बैठो। सादे और साफ कपड़े पहनो। रोज समयपर पाखाने जाओ। खाने-पीनेमें जीभके स्वादके वश मत होओ। भूखसे ज्यादा कभी न खाओ। बहुत मीठी, बहुत खट्टी और बहुत चटपटी चीजें मत खाओ। दिनमें तीन बारसे ज्यादा मत खाओ। दूसरेकी चीज कभी चुराओ मत। किसीको मारो मत। घरमें माता, पिता, ताऊ, चाचा, बड़े भाई आदि जो तुमसे बड़े हों, सबको रोज सबेरे प्रणाम करो। भगवान्‌की मूर्तिको रोज प्रणाम करो। गरीबों और दुखियोंकी सेवा करो; बड़ोंकी सेवा करो। किसी भी जीवको तकलीफ मत दो। ऐंठकर मत बैठो। अकड़कर न चलो। अच्छे खेल खेलो!

'जबानसे चिल्लाकर मत बोलो, किसीका मजाक न उड़ाओ, किसीको गाली मत दो, किसीकी चुगली मत करो, निन्दा मत करो, झूठ मत बोलो, कड़वे मत बोलो। जो बोलो, सच बोलो, मीठे बोलो। दूसरेका भला हो ऐसी बात कहो। भूलकर भी ऐसी न कहो जिससे किसीका जी दुखे या किसीका बुरा हो। नियमसे रोज भगवान्‌के नामका कीर्तन करो, उनकी स्तुति-प्रार्थना गाओ और अच्छे-अच्छे भजन गाओ। गरबके वचन मत बोलो। नरमीसे बात करो। माता-पिता, गुरु वगैरहके सामने बहुत विनयसे बात करो। सभीके साथ प्रेमसे हँसकर बोलो। रूखी-तीखी वाणी मत बोलो। गरीबोंके साथ विशेष स्नेहसे बात करो। वाणीसे सभीका सम्मान करो।

'मनसे सबका भला चाहो, दूसरोंका भला होता देखकर

सुखी होओ। किसीको दुःखमें देखकर दया करो। किसीसे डाह मत करो। सदा प्रसन्न रहो। फालतू बातें मत सोचा करो। मनमें कोई बुरी बात आवे तो उसे रोको। मनसे भगवान्‌को याद करो। भक्तोंकी तथा महात्माओंकी बातें याद करो। किसीसे वैर मत रक्खो। कभी ऐसा मत ख्याल करो कि धनके कारणसे या और किसी कारणसे मैं बड़ा हूँ, और लोग छोटे हैं। मनमें किसीको छोटा मत मानो। भगवान् सबमें हैं, इसलिये सभीका मन-ही-मन सम्मान करो। रोज सबेरे मन-ही-मन भगवान्‌की स्तुति करो।'

सब बच्चे बड़े चावसे उपदेश सुन रहे थे। उपदेश समाप्त होनेपर गुरुजीने सबको प्रसाद बाँटा। सब लोग गुरुजीको प्रणाम करके प्रसन्न होकर अपने-अपने घरोंको लौटे।

मा-बेटेकी बातचीत

'मा! ऐसा कौन-सा उपाय है, जिसके करनेसे तुम्हारी ही तरह सब लोग मुझसे प्रेम करने लगेंगे?' माने बड़े प्यारसे अपने पुत्रको दुलारते हुए कहा—'बेटा! तुम्हारी यह इच्छा बड़ी अच्छी है। मुझे तो तुम यों भी बड़े अच्छे लगते हो, परंतु इसमें मेरी ममता भी कारण हो सकती है। जब तुम्हारे अंदर अच्छे-अच्छे गुण आ जायँगे, तब तो सभी लोगोंकी दृष्टिमें तुम अच्छे हो जाओगे। सब लोग तुम्हारा सम्मान करेंगे और तुम्हारे मनमें भी बड़ी प्रसन्नता होगी। देखो, मेरे पड़ोसीका लड़का ध्रुव कितना अच्छा बालक है। उससे सब लोग खुश रहते हैं। उसकी बातका सब विश्वास करते हैं। वह कभी झूठ नहीं बोलता। उसके मुँहसे कभी किसीने कड़वी बात नहीं सुनी। जरूरत न होनेपर वह सच्ची बात भी नहीं कहता, चुप रह जाता है। समय देखकर किसीकी भलाईकी बात तब कहता है, जब उसकी समझमें वह बात ठीक-ठीक बैठ जाती है। इसीसे बड़े-बड़े लोग भी उसकी बात बड़े ध्यानसे सुनते हैं। यदि तुम भी बोलनेमें हमेशा थोड़ा बोलने, सच बोलने, मीठा बोलने तथा दूसरेकी भलाईकी बात कहनेका खयाल रक्खोगे तो सब लोग तुम्हें भी उसी तरह मानेंगे।

'बेटा! सच बोलनेका इतना ही लाभ नहीं है कि लोग उसकी बात मानें और उसका सम्मान करें। जो सत्य बोलनेका नियम ले लेते हैं, वे सच्ची बात जाननेकी चेष्टा भी करते हैं और सावधान रहते हैं कि कहीं मेरे मुँहसे झूठ न निकल जाय, कहीं मैं गलती न कर बैठूँ। इससे उनके मनमें सचाई जाननेकी इच्छा बढ़ती है और वे सत्यस्वरूप परमात्माको जान लेते हैं। सत्यकी खोज और सत्य वाणीसे भगवान् प्रसन्न होते हैं और उसकी मुँहमाँगी चीज दे देते हैं। यहाँतक सुना गया है कि जो बारह वर्षतक सच ही बोलता है, कभी अनजानमें भी झूठ नहीं बोलता, उसकी वाणी सिद्ध हो जाती है और वह यदि कभी किसी वस्तुके बारेमें असावधानीसे भी कुछ कह देता है तो वह वैसी ही हो जाती है।'

'मा! तुम तो कहती हो कि सच बोलना चाहिये; परंतु मेरे कई साथी तो झूठ बोलते हैं, छल करते हैं और लोग उनका ही आदर करते हैं। तब मैं कैसे मानूँ कि सच बोलना अच्छा है?'

'बेटा! उन लोगोंकी चालाकी तभीतक चलती है, जबतक उनकी पोल नहीं खुलती। जब सब लोग जान जायँगे कि ये झूठ बोलते हैं, तब उनकी सच्ची बातका भी विश्वास नहीं करेंगे। जो लोग झूठ बोलते हैं, वे भी झूठोंका विश्वास नहीं करते। उन्हें किसी बातका पता लगाना होता है, तब वे झूठोंसे नहीं पूछते, सच्चे लोगोंसे ही पूछते हैं। इससे सिद्ध होता है कि झूठे लोग भी सचाईका महत्त्व स्वीकार करते हैं। झूठ भी सचकी आड़में ही चलता है। यदि सत्यका परदा न हो तो झूठ चल

ही नहीं सकता; परंतु सत्य बिना झूठके परदेके भी चलता है, इससे भी सत्यका ही गौरव सिद्ध होता है। इसलिये बेटा! तुम्हें हमेशा सच ही बोलना चाहिये।'

'मा! सच बोलनेपर कई बार डाँट-फटकार भी सहनी पड़ती है। यदि मैं पिताजीसे कह दूँ कि मेरे पैसे अमुक काममें खर्च हुए हैं तो वे नाराज होते हैं और कभी-कभी दण्ड भी देते हैं; परंतु यदि वही बात छिपा लेता हूँ, तब वे कुछ नहीं बोलते, फिर मैं उनसे सच-सच कैसे कहूँ?'

'बेटा! तुम्हारे पिता बड़े समझदार हैं, उन्होंने दुनिया देखी है, उनका बड़ा अनुभव है; वे जिस कामसे रोकते हैं, वह तुम्हें कभी नहीं करना चाहिये। वे जब चाहते हैं कि तुम उन कामोंमें फिजूल पैसे न खर्च करो और तुम कर देते हो, तब उन्हें नाराज होना ही चाहिये। वे तुम्हारे भलेके लिये ही तुमपर नाराज होते हैं। तुम वैसा काम ही न करो, जिससे वे नाराज हों। झूठ बोलकर छिपाना तो बड़ा पाप है, इससे तुम्हारी आदत बिगड़ जायगी और तुम्हारे अंदर बहुत-सी बुराइयाँ आ जायँगी। जब उन्हें मालूम होगा कि तुमने झूठ बोलकर उन्हें धोखा दिया है, तब तो उनकी नाराजगी और भी बढ़ जायगी। एक झूठको सच बनानेके लिये सौ-सौ बार झूठ बोलना पड़ता है। झूठ बोलनेसे ही मनमें तरह-तरहके पाप आ बसते हैं। यदि तुम अपनी बातें सच-सच बतला दिया करोगे तो तुम्हारे सब पाप, तुम्हारी सब बुराइयाँ स्वयं ही छूट जायँगी।

'बेटा! तुम्हारे जो साथी झूठ बोलते हैं, उनसे अलग रहना ही अच्छा है; क्योंकि वे झूठके बलपर अपनी बहुत-सी बुराइयाँ छिपाये रखते हैं। उनके साथ रहने और हेल-मेल करनेसे वे दोष अपने अंदर भी आ जाते हैं और उसी तरह झूठ बोलकर दोष छिपानेकी आदत पड़ जाती है। तुम केवल वैसे लोगोंमें ही रहा करो, जो सच बोलते हों और जिनका चरित्र पवित्र हो। चरित्र ही सब कुछ है। जिसका आचरण ठीक है, उसकी बुद्धि बड़ी तेज होती है, वह किसीसे डरता नहीं, उसका चेहरा चमकता रहता है। शरीरके सुगठित, बलवान् और सुन्दर होनेके लिये, मनके निर्भय और ज्ञानसम्पन्न होनेके लिये चरित्रकी रक्षा परम आवश्यक है। चरित्रकी रक्षाके लिये सत्य सबसे बड़ा सहारा है।

'सत्यके साथ-साथ पहले कही हुई बातोंका भी ध्यान रखनेसे सबका प्यार और सबसे बढ़कर परमात्माका प्यार प्राप्त हो जाता है। उन बातोंको फिरसे याद कर लो।

१—सत्य ही बोला जाय।

२—कड़वी बात न कही जाय, मीठा बोला जाय।

३—भलाईकी ही बात कही जाय।

४—जहाँतक हो सके, थोड़ेमें ही अपनी बात पूरी कर दी जाय।

५—बिना मौके कोई बात न कही जाय।

आशा है तुम इन गुणोंको अपनाओगे। जब ये गुण तुम्हारे अंदर आ जायँगे, तब सब लोग तुम्हें अपना समझने लगेंगे। क्या तुम इनका अभ्यास करोगे?' माने पूछा। 'हाँ मा! मैं अवश्य करूँगा।' पुत्रने बड़े आदरसे कहा।

◆

उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्म रति॥

हे पार्वती! रामजीके गुण गूढ हैं, पण्डित और मुनि उन्हें समझकर वैराग्य प्राप्त करते हैं; परंतु जो भगवान्‌से विमुख हैं और जिनका धर्मसे प्रेम नहीं है, वे महामूढ़ (उन्हें सुनकर) मोहको प्राप्त होते हैं।

प्रार्थना

(हिंदी जगत्के प्रसिद्ध विद्वान् स्व० पं० श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदी)

हे दीन-पालक ! दयामय ! दुःखहारी !
हे हे महामहिम ! मङ्गल-मोदकारी।
हे प्रेम-मूर्ति ! परमेश्वर-नामधारी !
हे हे दयालु ! विनती सुन लो हमारी ॥१॥

जो ये अबोध सब बालक हैं दिखाते,
माता, पिता, गुरु जिन्हें श्रमसे सिखाते।
सन्मार्गमें तुम सदा इनको लगाओ,
हे हे दयामय ! दया इतनी दिखाओ ॥२॥

हो सत्य बात इनको सब काल प्यारी,
जावें सदा सुपथमें बन ब्रह्मचारी।
बोलें न झूठ, उससे अति दूर भागें,
रक्खें सु-सङ्ग, खल-संगति नित्य त्यागें ॥३॥

आलस्य, फूट, मत्सर, मद, दोष सारे,
छाये यहाँ सब कहीं, टरते न टारे।
हे भक्त-वत्सल ! इन्हें उनसे बचाओ,
देखो, कभी न इनकी सुधि भूल जाओ ॥४॥

उद्योग और श्रम, शिल्प-कला सिखाओ,
व्यापारमें मन सदा इनका लगाओ।
विद्या, विवेक, धन-धान्य—सभी बढ़ाओ,
आरोग्य और बलवान इन्हें बनाओ ॥५॥

देखो, यहाँ सकल बालक ये खड़े हैं,
छोटे अनेक, दस-पाँच कहीं बड़े हैं।
हे नाथ ! स्नेह इनसे तुम जोड़ लेना,
रक्षा सदैव करना, मत छोड़ देना ॥६॥

क्षमा-प्रार्थना और नम्र निवेदन

'कल्याण'का 'नारी-अङ्क' निकला, तभीसे 'बालक-अङ्क' के लिये 'कल्याण'के ग्राहकों तथा हितैषी बन्धुओंके प्रस्ताव आने लगे थे; परंतु कोई सत्-कार्य तभी होता है, जब श्रीभगवान् उसके लिये प्रेरणा और शक्ति देते हैं। इस बार 'तीर्थाङ्क' निकालनेकी बात थी और उसके लिये तैयारी भी आरम्भ कर दी गयी थी; परंतु समय थोड़ा रह गया तथा तीर्थोंमें घूमकर तथ्य संग्रह किये बिना केवल पुस्तकोंके आधारपर 'तीर्थाङ्क'के प्रकाशनकी बात जँची नहीं, इसलिये उक्त विचार छोड़ दिया गया। पुराण-प्रकाशनके काममें भी असुविधा उपस्थित हो गयी। 'बालक-अङ्क'का पुराना प्रस्ताव था ही, इसी बीचमें मध्यप्रान्त, युक्तप्रान्त और बंगालसे तीन-चार सज्जनोंके पत्र 'बालक-अङ्क' निकालनेका सुझाव देनेवाले मिले। प्रस्ताव रक्खा गया और स्वीकृत हो गया, तदनुसार 'बालक-अङ्क'का कार्य आरम्भ कर दिया गया। ''कल्याण' आध्यात्मिक पत्र है, इसके 'नारी-अङ्क' और 'बालक-अङ्क' प्रकाशित करनेकी कोई संगति नहीं।' ऐसा विचार दो-एक महानुभावोंने प्रकट किया। बात ठीक है; पर समझना यह है कि 'अध्यात्म' जड जंगलमें या कुटियामें नहीं होता। 'अध्यात्म' होना चाहिये जीवनमें। इधर जिस प्रकारकी शिक्षाका प्रचार-प्रसार है और जैसी हवा वह रही है, उससे जीवनमेंसे 'अध्यात्म' निकला जा रहा है। घर-व्यवहारमेंसे उसका बहिष्कार हो रहा है। दशा यहाँतक पहुँच रही है कि बातचीतके लिये भी—मनोरञ्जनके लिये भी 'अध्यात्म' की चर्चा अनावश्यक और अरुचिकर होने लगी है! नारी तथा बालक—संसारके मुख्य अङ्ग हैं। इनमें अध्यात्म रहा तो पुरुषोंमें रहेगा,—जीवनमें रहेगा; इनमेंसे निकल गया तो फिर केवल पुस्तकोंमें रहेगा और कहीं किसी-किसी भाग्यवान् व्यक्तिके जीवनमें भी। ऐसी अवस्थामें—बालकोंके लिये आध्यात्मिक जीवनका निर्माण तथा संरक्षण करनेवाले वातावरण, शिक्षण, साहित्यकी बड़ी आवश्यकता है। प्राचीन गुरुकुलोंके पवित्र शिक्षण और वातावरणमें आध्यात्मिक जीवनका स्वतः निर्माण होता था। जीवनके आरम्भसे ही ऐसी व्यवस्था थी। ब्रह्मप्राप्तिकी इच्छासे ही ब्रह्मचर्यका आचरण किया जाता था—'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'। पर वह बात अब नहीं रही। विलास-वासनाको और भौतिक विषय-सुखोंकी कामाग्निको भड़कानेवाले, ईश्वर तथा धर्मविरोधी वातावरण एवं मनोवृत्तिका निर्माण करनेवाले साहित्य, पत्र, चलन्चित्र और मतवादोंका तथा संस्थाओंका प्रसार बड़ी तेजीसे हो रहा है। शिक्षा-संस्थाओंमें भी विभिन्न सूत्रोंसे ये चीजें आ गयी हैं। इस स्थितिमें विशेष

आवश्यकता हो गयी है कि अध्यात्मप्रेमी लोग आध्यात्मिक भावोंके प्रचार-प्रसारकी विशेष चेष्टा करें । विरोधी प्रचारकी प्रबल बाढ़ आ गयी है, उसे रोकनेके लिये विशाल बाँधोंकी तथा उस बाढ़का सदुपयोग करनेकी व्यवस्थाकी आवश्यकता है । 'कल्याण'का यह प्रयास तो उस आवश्यकताकी पूर्तिके लिये एक अत्यन्त क्षुद्र तथा तुच्छ अध्यवसायमात्र है, परंतु यह आरम्भ इसीलिये है कि इससे अन्यान्य महानुभावोंकी दृष्टि इस ओर आकर्षित हो, इस कार्यमें सक्रिय प्रवृत्ति हो और सभी मिलकर विशाल उद्योगका आरम्भ कर सकें । कहाँतक क्या फल होगा, यह प्रभुके हाथमें है । अपना तो इतना ही काम है कि प्रभुके प्रेरणानुसार यथासाध्य ईमानदारीसे प्रभु-सेवाके लिये ही प्राप्त कर्तव्यके पालनकी चेष्टा करें । उसमें भी ईमानदारी, सचाई, अनासक्ति, अन्याभिलाषकी कालिमा न आना, केवल प्रभु-सेवा-परायणताका ही अनन्य भाव रहना आदि भी प्रभुकी कृपापर ही निर्भर है । इस दिशामें 'कल्याण' कितना कहाँतक सफल हुआ है, इसको प्रभु ही जानते हैं । इस निवेदनसे 'कल्याण'के बालक-अङ्क निकालनेकी उपयोगिता समझमें आ गयी होगी ।

लेख-कविता आदि बहुत अधिक आ गये । एक-एक विषयपर कई-कई लेख आ गये । कई महानुभावोंके लेख बहुत देरसे आये । इसलिये उनका प्रकाशन नहीं हो पाया । कुछका अंशमात्र ही छप सका । विशेषाङ्कके अतिरिक्त कुछ लेख इस दूसरे 'परिशिष्टाङ्क'में भी दिये गये हैं, परंतु सब लेख तो जा सके ही नहीं । हमारे इस अनिच्छित अपराधके लिये हम उन लेखक महानुभावोंसे हाथ जोड़कर क्षमा चाहते हैं । वे कृपापूर्वक हमारी परिस्थितिको समझकर क्षमा करें । उनके लेखादि वापस लौटाये जा रहे हैं । हमारे सम्मान्य जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य पुरी, स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी, डा० श्रीराधाकृष्णन्, डाक्टर श्रीकाटजू, श्रीजैनेन्द्रजी तथा अन्य ऐसे ही कुछ महानुभाव स्वीकार करके भी कार्यवश लेख नहीं भेज पाये, उनमेंसे कुछके नाम भी प्रकाशित कर दिये गये थे । इसके लिये भी हम पाठकोंसे क्षमा चाहते हैं ।

इस अङ्कमें विभिन्न मतों, क्षेत्रों, रुचियों, विचारों तथा विभिन्न दृष्टिकोण रखनेवाले सम्मान्य महानुभावोंके लेख प्रकाशित हुए हैं, उनमें मतैक्य होना सम्भव नहीं । इसलिये पाठक-पाठिका अपने-अपने भावानुकूल वस्तुओंको ग्रहण करें । इतना अवश्य है कि सभी लेखकोंने अपने विचारोंको शुद्ध नीयतसे और बालकोंकी हितकामनासे ही लिखा है, ऐसा विश्वास करें । लेखकोंके विभिन्न मतोंके लिये हमलोग उत्तरदाता नहीं हैं, यह तो स्पष्ट ही है ।

इस कार्यमें हमें जिन संस्थाओं और महानुभावोंसे लेख तथा चित्र-संग्रह आदिमें सहायता प्राप्त हुई है (जैसे, भारतकलाभवन, काशी, राय श्रीकृष्णदासजी, पं० श्रीगंगाशङ्करजी मिश्र, डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल आदि) तथा जिन पूजनीय सम्मान्य और आदरणीय आचार्यों, महात्माओं, विद्वानों, उच्च अधिकारियों, कवियों तथा विचारशील पुरुषोंने तथा माननीया बहिनोंने लेख, कविता, चरित्र आदि लिखकर हमारी सहायता की है एवं इस कार्यको सफल बनानेमें सहयोग दिया है, उन सबके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं । इसमें कुछ चरित्र 'सस्तुंसाहित्यवर्धक' कार्यालयसे प्रकाशित 'सद्गुणी बालकोंसे' लिये गये हैं, तथा और भी जिन ग्रन्थोंसे सहायता ली गयी है, उन सभीके भी हम हृदयसे कृतज्ञ हैं । हमारे सम्पादनविभागके सहयोगी बन्धुओंने तो सारा काम ही किया है । उनको क्या धन्यवाद दिया जाय । अन्तमें अपनी त्रुटियोंके लिये हाथ जोड़कर क्षमा चाहते हुए हम ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि उनकी कृपासे जीवनका प्रत्येक स्तर, प्रत्येक कार्य, प्रत्येक पल उनकी पवित्र स्मृति, सेवा तथा महती कृपाकी अनुभूतिमें ही बीते ।

विनीत क्षमाप्रार्थी—

सम्पादक { **हनुमानप्रसाद पोद्दार**
चिम्मनलाल गोस्वामी

* * *

शक्ति प्रेरणा स्फुरणा देकर सब कुछ तुम करवाते नाथ ।
प्राणि-प्रकृतिकी प्रति चेष्टामें रहता सदा तुम्हारा हाथ ॥
उसी तुम्हारी पुण्य-प्रेरणाका ही यह भी है परिणाम ।
वस्तु तुम्हारी तव चरणोंमें अर्पण कर कर रहे प्रणाम ॥

धर्मनाशक विवाह-तलाक-विधेयकका विरोध कीजिये

जिस धर्मविघातक 'हिंदू-कोड-बिल'का वर्षोंतक देशके अधिकांश हिंदुओंने तीव्र विरोध किया था, वही खण्ड-खण्ड-रूपमें पुनः संसद्में आ रहा है। अभी उसका 'विवाह तलाक'-विषयक अंश आया है। भारतके विधिमन्त्री श्रीचारुचन्द्र विश्वासने अपने भाषणमें कहा है कि 'राष्ट्रपतिने संसद्के अपने प्रारम्भिक भाषणमें यह सूचित किया था कि संसद्में हिंदू-कोड-बिल लाया जायगा, यह विधेयक उसकी पहली किश्त है।' 'विवाह तलाक' बिल संसद्में ले लिया गया है और विधिमन्त्रीका उसे जनमत जाननेके लिये प्रचारित करनेका प्रस्ताव भी अत्यधिक मतसे स्वीकार हो गया है। जनमत जाननेकी अवधि पहली मार्च सन् १९५३ तक रक्खी गयी है।

'हिंदू-विवाह' एक पवित्र धार्मिक संस्कार है। वह कोई सौदा नहीं है, जिसे तोड़नेका किसीको अधिकार हो; और अपनेको धर्मनिरपेक्ष बतानेवाली सरकारको किसीके पवित्र धार्मिक कार्यमें हस्तक्षेप करनेका कोई भी अधिकार नहीं है। बल्कि ऐसा करने जाना सरासर अन्याय है और अपने ही कार्यसे अपने सिद्धान्तका हनन है। तथापि सरकार उसे उपस्थित कर रही है और हमारे सम्मान्य पण्डितजी पवित्र हिंदू-संस्कृतिपर आक्षेप करते हुए यह कहते हैं कि 'दुलत्ती चलानेवाली विस्फोटक हिंदू-संस्कृति मर गयी और अब केवल वह 'भोजनालय-संस्कृति' के रूपमें रह गयी है' 'अब यह आवश्यक हो गया है कि कानूनके द्वारा हिंदू-समाजका सुधार करके उसे फिरसे गतिशील बनाया जाय।' और एक दिन कलकत्ता हाईकोर्टके विचारपतिकी हैसियतसे जिन श्रीचारुचन्द्र विश्वास महोदयने हिंदू-कोडका और विशेषरूपसे तलाकका विरोध किया था तथा 'धर्मसंघ' के कलकत्तेके हिंदू-कोड-विरोधी महाधिवेशनमें स्वागत-समितिकी अध्यक्षता की थी, वे ही विवाह-तलाक-विधेयक उपस्थित करते हुए अपनेको उसका समर्थक बता रहे हैं! पता नहीं, उस क्षेत्रमें पहुँचते ही कैसे मति बदल जाती है। जहाँतक अनुमान है, बहुत-से संसद्के सदस्य तलाकके विरोधी हैं, परंतु वे भी वहाँ विरोध करनेमें हिचकते हैं! पश्चिमी बंगालके तथा उत्तरप्रदेशके जिन कांग्रेसी सदस्योंने विरोध करते हुए कहा कि 'हिंदुओंमें विवाह इकरारनामा नहीं, धार्मिक संस्कार है, उसमें तलाकके लिये स्थान नहीं।' उन्होंने सत्यका प्रकाश करके बड़ा ही श्रेष्ठ कार्य किया, इसके लिये हम हृदयसे उन्हें बधाई देते हैं। जिन 'जनसंघी' सदस्यने घोर विरोध किया, वे तो बधाईके पात्र हैं ही। पर अब समय बहुत थोड़ा रह गया है। जनमतका कितना समर्थन हिंदूकोडको प्राप्त है, यह सबको स्पष्ट ज्ञात होनेपर भी यह कहनेका प्रसङ्ग लाया जा सकता है कि जनताने कोई विरोध नहीं किया।

अतएव तुरंत बड़े जोरोंसे विरोध होना चाहिये और सभी जगद्गुरुओं, धर्माचार्यों, मठाधिपतियों, महंतों, साधु-संन्यासियों, पण्डित-विद्वानों, धार्मिक नेताओं तथा धार्मिक जनताको इसका सब ओरसे घोर विरोध करना चाहिये। जो दल इस विषयमें एकमत हों, उनको मिलकर विरोध करना-करवाना चाहिये। विरोधके तार तथा पत्र 'विधिमन्त्री, भारतसरकार, नयी दिल्ली' (Law Minister, India Govt- New Delhi) के नाम तुरंत भेजने शुरू कर देने चाहिये तथा पत्रादि रजिस्ट्रीसे भेजने चाहिये और उसकी सूचना पं० गंगाशङ्करजी मिश्र एम्० ए०, गङ्गा-तरङ्ग, नगवा, बनारसको दे देनी चाहिये, जिससे विरोधपत्रों तथा तारोंकी पूरी संख्याका रेकर्ड रहे। दिल्लीमें एक 'केन्द्रिय कार्यालय' बन जाय और उसीके पास सारा संग्रह रहे तो और भी उत्तम है। इसके लिये प्रयत्न होना चाहिये। विरोधमें इतने तार तथा रजिस्टर्ड पत्र जाने चाहिये कि जनमतका दावा करनेवाली सरकारको कम-से-कम यह पता लग जाय कि जनमत इस बातमें उसके सर्वथा विरोधमें है; फिर हठवश वह कुछ करेगी भी तो वह उसके लिये सर्वथा अशोभनीय होगा।

हमारा संसद्के सदस्योंसे भी विनीत अनुरोध है कि वे वहाँ चाहे किसी दलकी ओरसे गये हों, उन्हें हिंदुओंके पवित्र धर्मपर आक्रमण करनेवाले ऐसे विधेयकका विशुद्ध न्यायकी रक्षाके उद्देश्यसे ही निर्भय होकर विरोध करना चाहिये। प्रबल जनमतका तिरस्कार करके संसद्में पहुँचे हुए कुछ लोग वहाँ अपने बहुमतके बलपर मनमाना कानून बनाकर न्यायका गला घोंटेंगे तो यह बात न उनके लिये शोभाकी होगी न न्यायकी रक्षा ही होगी और न उसका परिणाम ही उत्तम होगा।

'कल्याण'के प्रत्येक पाठकसे हमारा निवेदन है कि वे अपना विरोधपत्र तो भेजें ही, साथ ही हो सके जितने अधिक-से-अधिक हस्ताक्षर करवाकर भी भेजें।

बालक-अङ्क (द्वितीय खण्ड) सौर फाल्गुन, फरवरी सन् १९५३की

विषय-सूची

विषय पृष्ठ-संख्या

१–रई-घमरकेके साथ नाच [कविता] (श्रीसूरदासजी) ८०१
२–कल्याण ('शिव') ··· ··· ८०२
३–अद्भुत बालक श्रीकृष्ण [कविता] (पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ··· ८०३
४–हिमालयके घोर तपस्वी सिद्धसंत ब्रह्मलीन अवधूत श्रीकेशवानन्दजी महाराजका महत्त्वपूर्ण सदुपदेश (प्रेषक–भक्त श्रीरामशरणदासजी) ··· ८०४
५–बालहितोपदेश-वाक्य-माला (स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ··· ८०५
६–स्वाध्यायका महत्त्व (श्रीसीतारामजी सहगल) ८०८
७–बालको ! महान् बनो (श्रीरामनन्दनप्रसादसिंहजी एम्० ए०) ··· ··· ८१०
८–विश्वकल्याण बालककी शिक्षापर निर्भर है (श्रीरुलियारामजी कालिया) ··· ८१३
९–बड़े और छोटे [कविता] (श्रीधर्मपालजी शास्त्री, बी० ए०, प्रभाकर) ··· ८१६
१०–बालकोंकी वास्तविक शिक्षा (श्रीरामशरण ब्रह्मचारी बी० ए०, ए० टी० सी०) ··· ८१७
११–राम वहाँ बसिये [संकलित–श्रीरामचरितमानस] ८१७
१२–परीक्षक और परीक्षा(श्रीजशवंतराय जैशंकरजी हाथी)८१८
१३–अस्पृश्यता-निवारणके प्रति बालकोंका कर्तव्य (श्रीनोखेलालजी ठाकुर एम्० ए०, साहित्याचार्य, शास्त्री, काव्यतीर्थ) ··· ८२०
१४–संध्या और गायत्री-जपका महत्त्व (पण्डित श्रीअश्विनीकुमारजी दीक्षित) ··· ८२४
१५–आदर्श शिक्षा-विज्ञान (पं० श्रीराजमंगलनाथजी त्रिपाठी, एम्० ए०) ··· ··· ८२९
१६–भारतकी कुछ बाल-विभूतियाँ (श्रीवैकुण्ठनाथजी मेहरोत्रा, एम्० ए०) ··· ··· ८३०
१७–छात्र-छात्राओंके प्रति [कविता] (श्रीरघुनाथप्रसादजी 'साधक') ··· ··· ८३३
१८–हिंदू-धर्मग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय (सु०) ··· ८३४

विषय पृष्ठ-संख्या

१९–सीखो [कविता] (श्रीवनदेवीजी) ··· ८४०
२०–मानव-शरीर केवल ईश्वर-प्राप्तिके लिये ही है (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी) ··· ८४१
२१–प्रार्थना [कविता] (हिंदीके प्रख्यात बाल-साहित्य-निर्माता स्वर्गीय श्रीरामदासजी गौड़) ··· ८४३
२२–सिद्धोक्त मेधाजनन प्रयोग (राजज्यौतिषी पं० श्रीमुकुन्दवल्लभजी मिश्र ज्यौतिषाचार्य) ··· ८४४
२३–करना हो तो काम करो [कविता] (श्रीलक्ष्मीचन्द्रजी जैन 'सरोज') ··· ··· ८४४
२४–प्रारब्ध, कुलदेवता और कार्यसिद्धि (याज्ञिक आचार्य पं० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र वेद-धर्म-शास्त्र-मीमांसादर्शनाचार्य) ··· ८४५
२५–'शिखा' की आवश्यकता (वैदिकसार्वभौम, महायाज्ञिक पं० श्रीभगवत्प्रसादजी मिश्र वेदाचार्य) ८४६
२६–संस्कार और शिक्षा [लघुकथा] (श्रीराजेन्द्रनाथजी मिश्र, एम्० ए०) ··· ८४७
२७–भगवान् प्रसन्न रहें [संकलित–श्रीरामचरितमानस] ८४७
२८–बालककी जन्मकुण्डली और उसकी आवश्यकता (ज्यौतिषाचार्य पं० श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी) ८४८
२९–सच्चा बालक [कहानी] (श्रीदुर्गाशङ्करजी व्यास) ८४९
३०–प्राचीन और अर्वाचीन शिक्षा-प्रणाली [सच्ची परिस्थितिकी कहानी] (स्वामी श्रीपारसनाथजी) ८५१
३१–क्रोध [कविता] ··· ··· ८५३
३२–बालक अढैया भक्त (प्रे०–महात्मा श्रीजयगौरीशङ्कर सीतारामजी) ··· ··· ८५४
३३–ईश-प्रार्थना [कविता](स्व०पं० श्रीप्रतापनारायणजी मिश्र) ··· ··· ८५६
३४–दो मित्रोंका आदर्श प्रेम ··· ··· ८५७
३५–गुरुजीका उपदेश ··· ··· ८५९
३६–मा-बेटेकी बातचीत ··· ··· ८६०
३७–प्रार्थना [कविता] (हिंदी जगत्के प्रसिद्ध विद्वान् स्व० पं०श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदी) ··· ८६२
३८–क्षमा-प्रार्थना और नम्र-निवेदन ··· ८६२
३९–धर्मनाशक विवाह-तलाक-विधेयकका विरोध कीजिये ८६४

चित्र-सूची

तिरंगा

१–मन्थन-नृत्य ··· ··· ८०१

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी गीताएँ

श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्वविवेचनी—'कल्याण'के 'गीता-तत्त्वाङ्क'में प्रकाशित गीताकी हिंदी-टीकाका संशोधित संस्करण, टीकाकार—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६८४, रंगीन चित्र ४, मूल्य .... ४)

श्रीमद्भगवद्गीता—[श्रीशांकरभाष्यका सरल हिन्दी-अनुवाद] इसमें मूल भाष्य तथा भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता कर दी गयी है। पृष्ठ ५२०, चित्र ३, मूल्य सजिल्द २।।।)

श्रीमद्भगवद्गीता-रामानुजभाष्य—[हिंदी-अनुवादसहित] पृष्ठ ६०८, चित्र ३, सजिल्द मूल्य .... २।।)

श्रीमद्भगवद्गीता—मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७२, चित्र ४, मूल्य .... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता—[मझली] प्रायः सभी विषय १।) वाली नं० ४ के समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, मूल्य ।।≈) सजिल्द १)

श्रीमद्भगवद्गीता—श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, मोटा टाइप, पृष्ठ ३१६, मूल्य ।।), सजिल्द .... ।।।=)

श्रीमद्भगवद्गीता—मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, पृष्ठ २१६, मूल्य ।-), सजिल्द .... ।।-)

श्रीमद्भगवद्गीता—केवल भाषा, अक्षर मोटे हैं, पृष्ठ १९२, १ चित्र, मूल्य ।)

श्रीमद्भगवद्गीता—पञ्चरत्न, मूल, सचित्र, गुटका साइज, पृष्ठ १८४, मूल्य ≈)

श्रीमद्भगवद्गीता—साधारण भाषाटीका, पाकेट साइज, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य =)।। सजिल्द .... ।)।।

श्रीमद्भगवद्गीता—विष्णुसहस्रनामसहित, पृष्ठ १२८, सचित्र, मूल्य .... -)।।

श्रीमद्भगवद्गीता—(अंग्रेजी-अनुवादसहित) पाकेट साइज, सचित्र, पृष्ठ ४०४, मूल्य ।), सजिल्द .... ।=)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

अन्य पुस्तकोंका सूचीपत्र अलग मुफ्त मँगवाइये।

कल्याण

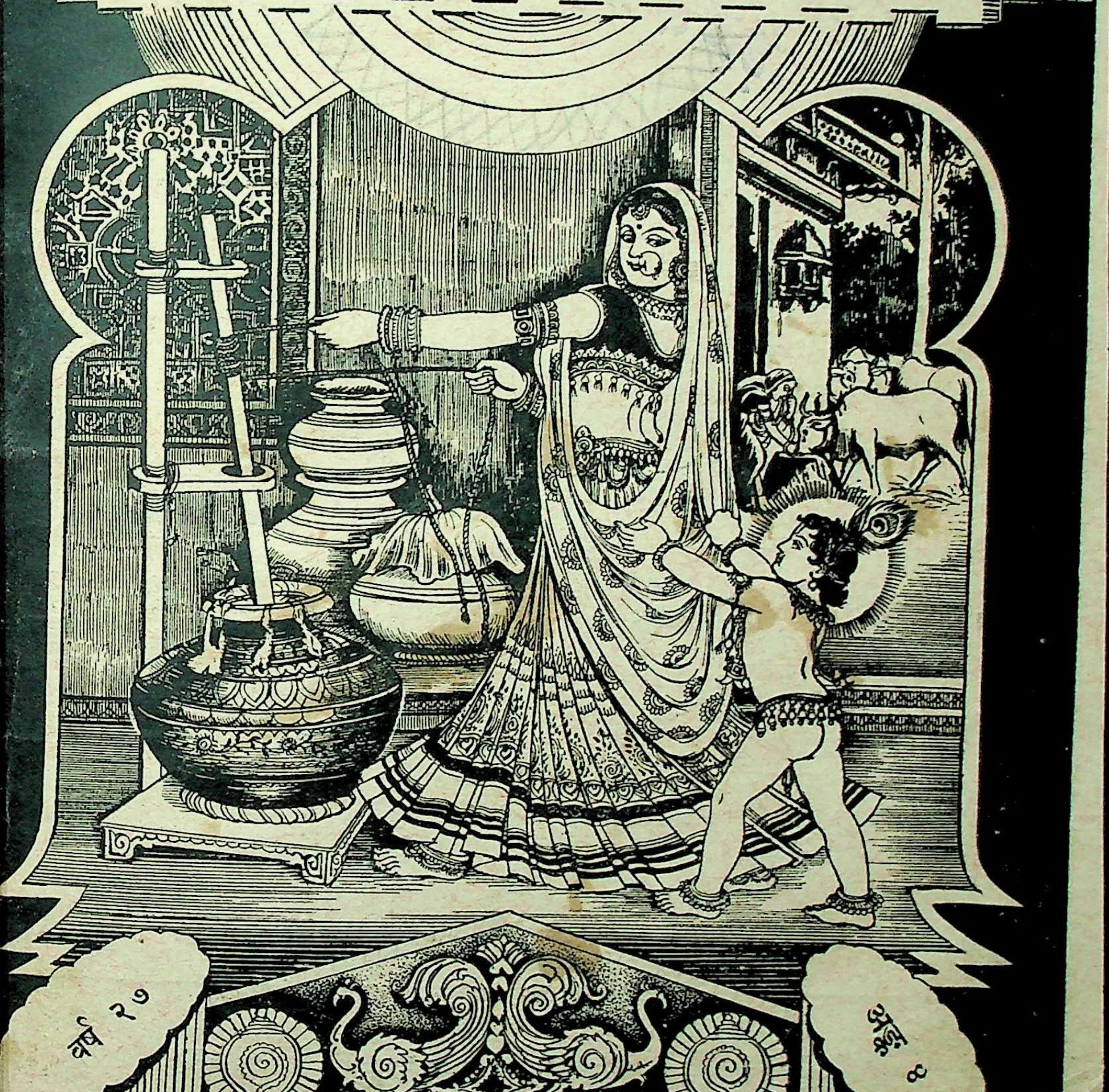

वर्ष २७

अङ्क ८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख २०१०, अप्रैल १९५३

विषय ... पृष्ठ-संख्या

१–वनलीलाकी एक झाँकी [कविता] (गीतावली—श्रीतुलसीदासजी) ... ९२९
२–कल्याण ('शिव') ... ९३०
३–संसारका स्वरूप (स्वामी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) ... ९३१
४–एकादशधा भक्ति [कविता] ... ९३४
५–स्त्रियोंके लिये कर्तव्यशिक्षा और पातिव्रत्यका प्रभाव (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ९३५
६–परमानन्द-रस-सार (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ... ९४५
७–विवेक (श्रीरघुनाथसिंहजी एम्० पी०) ... ९४९
८–पवित्र आत्मा (परमहंस श्रीस्वामी पूर्णानन्दजी 'बंगाली बाबा') ... ९५१
९–आध्यात्मिक आनन्द (प्रो०श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०) ... ९५२
१०–मान-बड़ाईका मोह—एक बड़ी बाधा ... ९५४
११–सत्यकी साधना (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ... ९५९
१२–चार प्रकारकी रचना (डा० श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... ९६२
१३–श्रीराधिकाका मुख [कविता] (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ... ९६४
१४–हमारी शिक्षा कैसी हो ? (डा० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... ९६५
१५–आस्तिक [कहानी] (श्री 'चक्र') ... ९६७
१६–श्रीश्रीनामामृतलहरी (महात्मा श्रीसीतारामदास ॐकारनाथ) ... ९७२
१७–भक्त-गाथा [भक्त कण्व ब्राह्मण] ... ९७५
१८–सदुपदेश (महात्मा जयगौरीशंकर सीतारामजी) ... ९८१
१९–मालिकके प्रति [कविता] (श्रीहरिनन्दनजी वाजपेयी) ... ९८१
२०–बाल-कल्याण (श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी०, 'ललाम') ... ९८२
२१–कामके पत्र ... ९८५
२२–गोसेवामें विवेकसे काम लिया जाय (श्रीराधाकृष्णजी बजाज, मन्त्री, गोसेवा-संघ) ... ९८९
२३–नाम-कीर्तन-महिमा (श्रीअमरनाथ शर्मा एडवोकेट, गुड़गाँव) ... ९९१

* * *

चित्र-सूची

तिरंगा

१–वनलीलाकी एक झाँकी ... ९२९

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।≡)
विदेशमें ॥-)
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

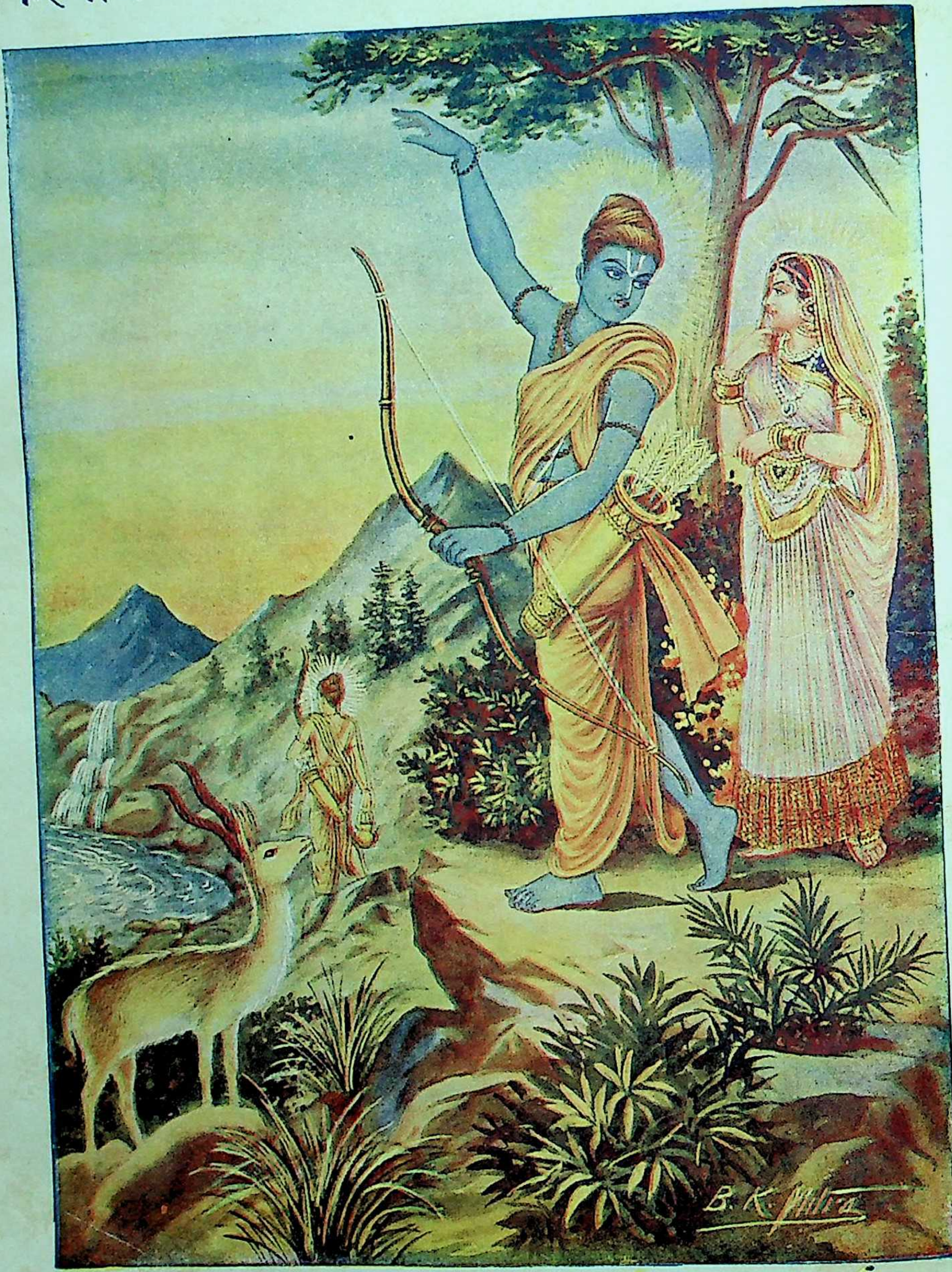

वनलीलाकी एक झाँकी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

उपासतामात्मविदः पुराणाः परं पुमांसं निहितं गुहायाम् ।
वयं यशोदाशिशुबाललीलाकथासुधासिन्धुषु लीलयामः ॥

वर्ष २७ } गोरखपुर, सौर वैशाख २०१०, अप्रैल १९५३ { संख्या ४
पूर्ण संख्या ३१७

वनलीलाकी एक झाँकी

फिरि फिरि राम सीय तनु हेरत ।
तृषित जानि जल लेन लषन गए, भुज उठाइ ऊँचे चढ़ि टेरत ॥
अवनि कुरंग, बिहँग द्रुम-डारन रूप निहारत पलक न प्रेरत ।
मगन न डरत निरखि कर-कमलनि सुभग सरासन सायक फेरत ॥
अवलोकत मग-लोग चहूँ दिसि, मनहु चकोर चंद्रमहि घेरत ।
ते जन भूरिभाग भूतलपर तुलसी राम-पथिक-पद जे रत ॥
(गीतावली)

निश्चय समझो—भगवान्‌ने तुमको जो कुछ दे रक्खा है, वह केवल तुम्हारे द्वारा देख-रेख रखने और सेवा करनेके लिये है। इस देख-रेख और सेवाका उद्देश्य है भगवान्‌की आज्ञाका पालन अथवा उनका प्रीति-सम्पादन। अतएव भगवान्‌ने तुमको जैसी जो कुछ शक्ति दी है, उसका पूरा उपयोग करके तुम्हें भगवत्प्रीत्यर्थ सेवा-कार्यमें लगे रहना चाहिये; पर यदि वे तुमसे अपनी दी हुई शक्तिको वापस ले लें और तुम्हारे द्वारा उन वस्तुओंकी देख-रेख और सेवा सम्भव ही न हो, तो तुम न तो इसके लिये चिन्ता करो, न घबराओ, न रोओ और न उनसे कुछ माँगो ही। तुम तो बस, उनकी चीजें मन-ही-मन उन्हें लौटा दो। वे चीजें तुम्हारी तो पहले भी नहीं थीं। सेवाके लिये तुम्हारे सुपुर्द थीं। इतना ही तुम्हारा दायित्व था, पर जब तुममें सेवाकी शक्ति ही नहीं तो फिर तुमपर दायित्व कैसा। ऐसी अवस्थामें तुम यह निश्चय समझो कि उनके देख-रेख और पालन-पोषणका सारा भार प्रभुने स्वयं ले लिया है। तुमको उस कार्यभारसे मुक्त कर दिया है। यदि तुमने ऐसा समझ लिया तो तुम निश्चिन्त हो गये। अब प्रभु तुम्हारे लिये दूसरा कोई काम दें तो ठीक है, नहीं तो, तुम निश्चिन्त चित्तसे उनका चिन्तन करो और कृतार्थ हो जाओ।

पर यदि अहङ्कारको लेकर तुमने भगवान्‌के भार-ग्रहणको स्वीकार न किया और हठपूर्वक माँगते-जाँचते ही रहे, तो निश्चय समझो—होगा तो प्रभुकी मङ्गलमयी इच्छा और विधानके अनुसार ही, तुम्हारी बन्धनकी गाँठ नहीं छूटेगी और तुम्हारा जीवन दुखी हो जायगा।

निश्चय समझो, तुम स्वतन्त्र कर्ता नहीं हो और न तुम किसी वस्तुके स्वामी ही हो। तुमने जान-बूझकर इस आफतको अपने सिर ले रक्खा है। और जब कभी भगवान् कृपा करके तुम्हें इस आफतसे छुड़ाना चाहते हैं, बन्धनसे मुक्त करना चाहते हैं; तब-ही-तब तुम उनका विरोध करते हो, अपनी असम्मति प्रकट करते हो और कहते हो कि 'यह काम तो मैं ही करूँगा।' फिर जब भगवान् यह कहते हैं कि 'पालन-पोषणका और देख-रेखका भार यदि तुम मुझपर नहीं छोड़ना चाहते तो चलो—मैं इन वस्तुओंको ही तुमसे हटाकर दूसरी जगह भेज देता हूँ, फिर तो तुमपर कोई दायित्व रह ही नहीं जायगा।' तब भी तुम रोने लगते हो और भगवान्‌की वस्तुओंको अपनी बताकर भगवान्‌पर दोषारोपण करने लगते हो कि 'प्रभु जबरदस्ती मेरी वस्तु छीन रहे हैं, मेरे परिवार-परिजन, घर-द्वार, मान-कीर्ति आदिको लूटकर मुझे राहका भिखारी बना रहे हैं, बड़ा अन्याय कर रहे हैं, मैं ऐसे भगवान्‌का विरोध करूँगा।'

भगवान् फिर हँसकर कहते हैं—'भाई! तुम्हारी तो कोई चीज न थी और न है। तुम झूठमूठ ही मोहकी मदिरा पीकर नशेमें चूर हुए इन्हें अपनी बता रहे हो और मुझपर दोषारोपण कर रहे हो। फिर, इन चीजोंको तुमसे लेकर, यदि तुमने इसमें सचमुच मेरी कृपाका दर्शन किया, तो मैं तुम्हें वह अमूल्य वस्तु दूँगा, जिससे बढ़कर कोई वस्तु नहीं है और जिसे पानेके लिये बड़े-बड़े लोग तरसते रहते हैं।' इसपर भी तुम नहीं मानते। रोना-कलपना नहीं छोड़ते। तब भगवान् तुम्हारा मोहका नशा उतारनेके लिये दूसरा उपाय करते हैं। तुम पहले ही भगवान्‌की बातपर विश्वास कर लेते तो नशा इतना बढ़ता नहीं और जो था वह भी तुरंत उतर जाता; पर कोई बात नहीं, अब भी चेतो, भगवान्‌के मङ्गलमय विधानपर विश्वास करो और परम कल्याणरूप प्रभुकी कृपाके दर्शन कर कृतार्थ हो जाओ।

'शिव'

संसारका स्वरूप

(लेखक—स्वामी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

संसारबीजं मन एव विद्धि
न पुत्रभार्याद्रविणादिकं हि ।
संसारनाशो मनसो लयेन
न तद् गृहस्थाश्रमवर्जनेन ॥

संसारका बीज केवल मन ही है, ऐसा जानो । अर्थात् संसार मनसे ही उत्पन्न होता है और मनमें ही रहता है । पुत्र-भार्यादि या गृह-वित्तादि कभी संसारके कारण नहीं होते । यह तो संसारका केवल बाह्य स्वरूप है । संसार उत्पन्न होता है मनसे और वह बाहर स्त्री-पुत्रादि तथा गृह-वित्तादिके रूपमें फैलता है ।

मनका लय होनेसे संसारका लय हो जाता है, यानी मनको वशमें करनेसे संसार जन्म-मरणरूपी दुःख नहीं दे सकता । संसारका त्याग करनेका अर्थ है—मनका निग्रह अथवा मनका लय । गृहस्थाश्रम छोड़कर संन्यासाश्रम ग्रहण करना, यह एक क्रिया है, इस अकेली क्रियाको ही संसारका त्याग नहीं कहा जा सकता ।

संन्यास धारण कर लेनेपर ऊपरसे वह संसारत्यागी भले ही कहलाये—पर यदि मनको वशमें नहीं किया हो तो जंगलमें भी मन नये ही संसारकी रचना कर लेगा । संसार मनका धर्म है, अतः मनोनिरोधके सिवा संसार-त्यागका दूसरा कोई भी रास्ता नहीं है । इस बातको समझाते हुए भगवान् वेदव्यासने श्रीमद्भागवतमें कहा है—

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्
यतः स आस्ते सहषट्सपत्नः ।
जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य
गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम् ॥

'जिसने मनको वशमें नहीं किया और इसलिये उसके योद्धाओं—काम, क्रोध, लोभ, मद और मत्सर तथा मोहको जीता नहीं, इस प्रकारका मनुष्य यदि संसार छोड़कर वनमें वास करे तो वहाँ भी ये योद्धा उसको हैरान करेंगे और इनका राजा मनदेव जंगलमें भी एक नये ही संसारकी रचना करेगा तथा उसमें इसको नचायेगा । परंतु जिसने मनको वशमें कर लिया और इसलिये मनके योद्धा [illegible] भी जिसके वशीभूत हो गये—इस प्रकारका मनुष्य गृहस्थाश्रममें रहता हो तो यहाँ भी वह विचलित नहीं हो सकता ।'

मन जंगलमें भी किस प्रकारसे संसारकी रचना करता है, यह बात एक दृष्टान्तसे समझिये । एक संन्यासी थे । वे किसी नदीके समीप एक बड़े वृक्षके नीचे अपनी पर्णकुटी बनाकर रहने लगे । जगह सब तरहसे बड़ी अनुकूल थी; परंतु चूहोंका उपद्रव था । कभी चूहे उनकी लँगोटी उठा ले जाते, तो कभी भिक्षाका पात्र ले जाते और कभी-कभी भिक्षान्न भी खा जाते थे । इस उपद्रवको टालनेके लिये स्वामीजीको एक बिल्ली पालनेका विचार आया और बिल्ली पाल भी ली गयी । बिल्लीके आनेसे चूहे भाग गये, उनका उपद्रव तो बंद हो गया । पर खानेके लिये कुछ न मिलनेसे बिल्ली दुबली होने लगी । अतएव बिल्लीको दूध देनेके लिये एक गाय रखनेका विचार हुआ और इसे अमलमें भी ले आया गया । बरसातके महीनोंमें तो गाय बाहरसे चर आती, पर दूसरी ऋतुओंमें उसे क्या खिलाया जाय, यह चिन्ता उत्पन्न हुई । इससे आसपासमें थोड़ी खेती की जाय, ऐसा विचार आया और खेती भी शुरू की गयी । सब ठीक-ठीक चलने लगा और स्वामीजी भी आनन्दमें रहने लगे । इतनेमें एक दिन राजाका सिपाही आया और मालगुजारी न देनेके कारण उनको पकड़कर राजाके पास ले गया । राजाने उनको अंगूठा पकड़कर दस मिनट खड़े रहनेकी सजा दी । अंगूठा पकड़नेपर स्वामीजीकी बुद्धि ठिकाने आ गयी और अपनी पहनी हुई लँगोटी खोलकर उन्होंने वहीं फेंक दी, वे ठहाका मारकर हँसने लगे । राजाके पूछनेपर उन्होंने सारी बातें आदिसे अन्ततक सुनाकर कहा कि इस एक लँगोटीके कारण ही इतनी फजीहत हुई है, इसलिये अब आजसे इसकी भी जरूरत न रही । तात्पर्य यह है कि यदि मनको शुद्ध नहीं किया तो वह अपनेको धोखा देकर किसी-न-किसी बहाने संसारकी रचना किये बिना नहीं रहता ।

संसार मनकी ही कल्पना है और वह अज्ञान-कालमें ही भासित होता है । यही बात भक्तकवि नरसिंह मेहताने भी गायी है—

जागीने जोऊँ त्यां जगत दीसे नहिं
ऊँघमां अटपटा भेद भासे ।
चित्त चतन्यविलास तद्रूप छे
ब्रह्म लटकां करे ब्रह्मपासे ॥

भाव इस प्रकार है कि जैसे जबतक निद्रा होती है तभीतक स्वप्नप्रपञ्च दीख पड़ता है और नींदके टूट जानेपर स्वप्नका लय हो जाता है; वैसे ही अज्ञानरूपी निद्राके समयमें ही संसारकी प्रतीति होती है, ज्ञान होनेके बाद जगत् नहीं दिखलायी पड़ता। वह फिर सुख-दुःख, जन्म-मरण आदि नहीं दे सकता।

श्रीयोगवासिष्ठमें संसारके स्वरूपका इस प्रकार वर्णन मिलता है—

चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशदूषितम् ।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥

अर्थात् राग आदि पाँच क्लेशोंसे दूषित चित्त ही संसाररूपमें दीख पड़ता है। रागादि पाँच क्लेश हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। कहते हैं कि इन पाँच क्लेशोंसे घिरा हुआ चित्त ही संसाररूपमें प्रकट होता है और जब विवेकके द्वारा इन पाँचों क्लेशोंसे चित्त मुक्त हो जाता है, तब संसार लयको प्राप्त होता है अर्थात् चित्त—मनको शुद्ध करके जबतक वशमें नहीं कर लिया जाता, तभीतक वह संसारकी रचना करता है। परंतु जब वह वशमें हो जाता है, तब संसारकी गन्ध भी नहीं रहती। इससे यहाँ मन या चित्त ही अपनी अशुद्धावस्थामें संसारको उत्पन्न करता है और इसको शुद्ध करके जीत लेनेपर संसार लयको प्राप्त होता है, ऐसा कहा है। भगवान् शंकराचार्य संसारके स्वरूपको इस प्रकार दिखलाते हैं—

संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसंकुलः ।
स्वकाले सत्यवद् भाति प्रबोधे सत्यसद् भवेत् ॥

कहते हैं कि जब मन अन्तर्मुख होता है, तब जैसे राग-द्वेषयुक्त स्वप्न सृष्टि करता है और वह सृष्टि स्वप्नकालमें यानी निद्रावस्थामें सत्य प्रतीत होनेवाले स्वप्नके समान सत्य प्रतीत होती है; परंतु निद्रासे जगते ही वह स्वप्न-सृष्टि जैसे लयको प्राप्त होती है, उसी प्रकार राग-द्वेषयुक्त मन बाह्य संसारकी रचना करता है और यह संसार भी जबतक ज्ञानरूपी जागरण नहीं होता तभीतक सत्यवत् भासित होता है और ज्ञान होनेके बाद पुनः मनमें ही लयको प्राप्त होता है। इसीलिये यहाँ भी प्रकारान्तरसे यही कहा है कि मन संसारका कारण है और इस कारण मनको वशमें कर संसार सुख-दुःख नहीं दे सकता।

श्रुति भगवती इस विषयमें कहती हैं—

चित्तमेव हि संसारः तत् प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो भवत्येतद् गुह्यं सनातनम् ॥

चित्त, यानी भोगवासनाओंसे दूषित चित्त ही संस रूपमें भासित होता है, इसलिये यदि संसारकी निवृत्ति क है तो पूर्ण प्रयत्न करके चित्तको शुद्ध करना चाहि चित्तमेंसे भोगवासना दूर हो जानेपर वह शुद्ध हो ज है और तब आत्माका अनुभव होनेसे पूर्ण आनन्दकी प्रा होती है। ऐसी हालतमें संसार दिखलायी देता है तो ही दिखलायी दे, पर चित्रमें लिखे हुए बाघके समान सुख-दुःखरूपी भयका कारण नहीं बनता। अब चित्त शुद्ध करनेका प्रयोजन समझाते हुए कहते हैं कि जैसा जि चित्त होता है वैसा ही वह मनुष्य होता है और जैसा आद होता है वैसा ही वह अपना संसार बनाता है। यह सना रहस्य है, अतएव इसे समझकर चित्तको शुद्ध करना चाहि इसके सिवा संसारसे छूटनेका और कोई दूसरा उपाय न

इस प्रकार मुक्तिके लिये चित्तको शुद्ध करनेकी आवश्य बतलाकर शुद्ध चित्तका प्रभाव दिखलाते हुए कहते हैं—

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥

चित्त शुद्ध हो जानेपर विशुद्ध अन्तःकरणमें ज्ञान अ आप स्फुरित होता है और ज्ञान होनेके साथ ही सारे कर्मबीजके साथ नाशको प्राप्त हो जाते हैं (ज्ञाना सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा)। इस प्रकार प्रसन्न हु चित्त जब आत्मामें स्थिर होता है, तब अक्षय सुख प्र होता है। यानी आत्माको आनन्दस्वरूप समझ लेनेपर भी आनन्दस्वरूप हो जाता है।

अब इस बातको युक्तिसे देखिये। मन जब बहि होता है, तब संसार बाहर दीख पड़ता है, जिसे हम जा प्रपञ्च कहते हैं। वही मन जब अन्तर्मुख होता है, शरीरके भीतर हिता नामकी एक अत्यन्त सूक्ष्म ना वह बाहरके समान ही एक संसारकी रचना करता है उसे हम स्वप्न-प्रपञ्चके नामसे पुकारते हैं। अब वही जब सुषुप्ति या गाढ़ निद्रामें अपने उपादानकारण अ

लयको प्राप्त होता है, तब संसार बिल्कुल दिखलायी नहीं पड़ता । इस अवस्थामें संसारका कारण मन लयको प्राप्त हुआ होता है, इसलिये संसारका उत्पन्न करनेवाला और कोई न होनेके कारण सुषुप्तिमें संसार नहीं दीख पड़ता । आत्मा तो मनकी इन तीनों अवस्थाओंमें साक्षीरूपमें उपस्थित रहता है । यदि आत्मा उपस्थित न रहे तो जाग्रत्-अवस्थामें जाग्रत्-प्रपञ्चका और स्वप्नावस्थामें स्वप्नप्रपञ्चका अनुभव कौन करे ? और फिर सुषुप्ति-अवस्थामें संसार कहीं है ही नहीं——इसका अनुभव किसे हो ? इसलिये इन तीनों अवस्थाओंका अनुभव करनेवाला आत्मा तो सर्वत्र ही उपस्थित रहता है और उसके रहनेसे ही जाग्रत्-स्वप्नमें क्रमशः स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्च दीख पड़ता है । तथा सुषुप्तिमें कुछ भी नहीं दीखता तो इसका कारण यही है कि संसार मनोमात्र है । अन्वयव्यतिरेक युक्तिसे यह बात सिद्ध हो जाती है । अन्वय यानी जहाँ मन है वहाँ संसार भासित होता है, अर्थात् जाग्रत् और स्वप्नमें मन उपस्थित रहता है, इससे वहाँ संसार दीख पड़ता है; और व्यतिरेक यानी जहाँ मन नहीं होता वहाँ संसार भी नहीं दीखता । सुषुप्तिमें मन लयको प्राप्त हुआ रहता है अर्थात् उपस्थित नहीं रहता, इसलिये वहाँ संसार भी नहीं दिखलायी देता ।

यहाँतक तो हमने यह देखा कि संसार मनका धर्म है, आत्माका नहीं । आत्मा तो केवल द्रष्टारूपसे मनके संसारको रचने तथा उसके लय करनेमें समान भावसे देखता है । मन संसारकी रचना करता है, इससे उसको कोई आनन्द नहीं होता, इसी प्रकार जब वह उसका लय करता है तब इससे उसको कोई खेद नहीं होता । सब अवस्थाओंमें वह तो निर्विकार और शान्त रहता है ।

अब इस बातको विशेषरूपसे दृढ़ करनेके लिये जरा और विचार कीजिये । राजमहलमें राजाके निश्चय किये हुए अलग-अलग स्थान होते हैं । बाहरी भागमें राजाकी कचहरी लगती है, जहाँ अपने अधिकारियों तथा नागरिकोंके साथ राजा बैठता है और अपना काम-काज करता है । उससे भीतरी भागमें दीवानखाना होता है, जहाँ राजा अपने कुटुम्बके लोगों तथा निजी मित्रोंके साथ बैठकर आमोद-प्रमोद करता है । इससे भी और भीतरी भागमें उसका अन्तःपुर होता है, जहाँ राजा केवल अपनी रानीके साथ रहता है । वहाँ दूसरा कोई उपस्थित नहीं होता और एकदम भीतरकी ओर राजाके अकेले बैठनेके लिये भजन-गृह होता है । वहाँ राजाके सिवा किसी भी दूसरेका प्रवेश नहीं होता ।

इसी प्रकार आत्माके भी चार स्थानोंकी कल्पना की जा सकती है । जाग्रत्-अवस्था उसकी कचहरी करनेकी जगह है; क्योंकि यहाँ मन और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंके साथ आत्माकी सेवामें हाजिर रहते हैं । स्वप्नावस्थाको दीवानखाना समझिये; क्योंकि वहाँ केवल मन और उसके रचे हुए सूक्ष्म संसारके दृश्य ही होते हैं । इन्द्रियाँ तथा उनके विषयरूपी प्रजाजन या अधिकारी वहाँ नहीं रहते । सुषुप्ति-अवस्थाको अन्तःपुर मानिये; क्योंकि वहाँ अविद्यारूपी स्त्रीके सिवा दूसरा कोई उपस्थित नहीं होता और तुरीया-वस्थाको भजन-स्थानरूप समझिये; क्योंकि वहाँ आत्मा केवल निर्विकल्प, निर्विकार और असङ्ग-स्वरूपमें रहता है, अर्थात् स्व-स्वरूपमें स्थित होता है ।

भजन-स्थानमें राजाको अपने बारेमें यह निश्चय होता है कि मैं अमुक देशका राजा हूँ, मेरी अमुक स्त्री है, इतनी संतान हैं, आज्ञाकारी अधिकारी हैं और विनयशील प्रजा है इत्यादि । वही राजा जब भजन-स्थानसे अन्तःपुरमें अपनी स्त्रीके पास आता है, तब वह कोई दूसरा नहीं बन जाता तथा राजत्वके विषयमें उसके निश्चयमें भी कोई अन्तर नहीं आता । सारांश यह है कि बैठनेके स्थानमें तथा व्यवहारमें भेद पड़नेसे राजाके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं आता । इसी प्रकार जब अन्तःपुरसे दीवानखानेमें कुटुम्बियोंके पास आता है, अथवा सभागृहमें जाता है, तब भी राजा वही रहता है और उसका राजत्व भी ज्यों-का-त्यों रहता है । स्थानमें अन्तर आनेपर राजामें अथवा उसके निश्चयमें कोई अन्तर नहीं पड़ता । बल्कि वही राजा अपने स्वरूपमें ही चारों स्थानोंमें फिरता रहता है ।

इसी प्रकार आत्मा जैसे तुरीय अवस्थामें निर्विकल्प, निर्विकार, असङ्ग-स्वरूपमें है और सांसारिक धर्मसे रहित है, उसी प्रकार सुषुप्ति-अवस्थामें, जहाँ अविद्यारूपी स्त्री उपस्थित है और संसारका अभाव दीखता है, वहाँ भी वह अपने असङ्गरूपमें ही रहता है । अविद्या या संसारके धर्म उसे स्पर्श नहीं कर सकते । उसी प्रकार स्वप्नावस्थामें आत्मा, स्त्री अविद्या, उसके संतान मन और पौत्रादिक सूक्ष्म प्रपञ्चको देखता है, इससे वह वस्तुतः सविकल्प और विकारी नहीं हो जाता, बल्कि अपने असङ्ग-स्वरूपमें ही रहता है । मनके धर्म संकल्प-विकल्प उसको स्पर्श नहीं कर सकते । इसलिये मनके विलासरूप स्वप्न-प्रपञ्चको देखनेसे उसके स्वरूपमें कुछ भी अन्तर नहीं आता । इसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें जब जाग्रत्-प्रपञ्च देखता है, तब उससे भी उसके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं पड़ता । वहाँ श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ शब्दादि विषयोंको ग्रहण करती हैं तथा मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार भी अपने-अपने नियत व्यापारोंको करते हैं; परंतु आत्मा इन सबसे तटस्थ रहकर देखता है, अतएव

सांसारिक धर्मोंसे लिप्त नहीं होता । अपने मूल निर्विकल्प, निर्विकार, असङ्ग स्वरूपको छोड़ता नहीं, बल्कि चारों अवस्थाओंमें समानभावसे एकरस रहता है और किसी भी विकारको प्राप्त नहीं होता ।

इसलिये यदि संसारसे पार उतरना हो तो मनको वशमें करना चाहिये; क्योंकि संसार मनोमात्र है, यह हमने देख लिया । मनको वशमें करनेसे संसार अपने-आप जीता जा सकता है । कबीर साहब कहते हैं—

राम कहो मन बस करो यही बड़ो है अर्थ ।
काहेको पढ़ि पढ़ि मरो बहुत ज्ञान अरु ग्रन्थ ॥

एक दूसरा कवि कहता है—

मन फुरनासे रहित कर जौनहि बिधिसे होय ।
चाहे भक्ति चाहे ज्ञानसे चाहे योगसे होय ॥

सारांश यह कि संसार-सागरसे तरना है तो मनको संकल्प-विकल्पसे रहित करना चाहिये । अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार भक्ति, ज्ञान अथवा योगके द्वारा मनको वशमें करनेके सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं है । भक्तकवि नरसिंह मेहता कहते हैं——

सुखसंसारी मिथ्या करी मान जो, कृष्ण बिना बीजूँ सर्व काँचू।

× × ×

वेद तो एम वदे, श्रुति स्मृति साख दे, कनक कुण्डलविशे भेद न्होये ।
घाट घडया पछी नामरूप जूजवां, अन्ते तो हेमनूं हेम होये ॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि संसार मनोमात्र है, अतएव उसमें जान पड़नेवाला सुख भी मिथ्या है । मनकी कल्पनाके सिवा कुछ नहीं है । इसलिये संसार-सागरसे तरना हो तो ईश्वरकी शरण लेना चाहिये; क्योंकि उसके सिवा सब कुछ मिथ्या है, असत् है——मृगजलके समान केवल देखनेमात्रके लिये है ।

एकादशधा भक्ति

देवर्षि नारदके भक्तिसूत्रके अन्तिम तीन सूत्रोंके आधारपर

एक भक्तिके ग्यारह भेद ।
नारद कह गये भक्तिसूत्रमें जो भक्तोंका वेद ॥
गुणमाहात्म्यासक्ति प्रथम ऐश्वर्य निरूपण करे ।
रूपासक्ति द्वितीय दिव्य सौन्दर्य भक्तमन हरे ॥
लखि ऐश्वर्य और सुन्दरता पूजासक्ति बढ़े ।
ता पर स्मरणासक्ति होय पुनि मन ते नाहिं कढ़े ॥
सेवकसेव्यभाव जब आवे दास्यासक्ति कहावे ।
सख्यासक्ति होय जब सोई दास सखापद पावे ॥
पुनि वात्सल्यासक्ति होय वात्सल्यभाव जब आवे ।
कान्तासक्ति होय जब सब विधि प्रियसैं लौ लगि जावे ॥
आत्मनिवेदनासक्ति बढ़े जब होवे आत्मनिवेदन ।
हो तन्मयतासक्ति ईशमें तन्मय हो जब तन मन ॥
परम विरह आसक्ति अंतमें परम विरह उपजावे ।
तब लौं जरै बिरहकी आगी जब लौं जीव कहावे ॥
ये ही ग्यारह भेद भक्तिके कह गये भक्त्याचार्य ।
एकमताः जनजल्पनिर्भयाः जेते आर्य अनार्य ॥
शुक शांडिल्य कुमार व्यास अरु गर्ग विष्णु कौडिन्य ।
शेषोद्धव हनुमान विभीषण बलि आरुणि अरु अन्य ॥
नारदके ये वचन और शिव अनुशासन जेहि भावे ।
जो विश्वसिति श्रद्धते जो सो भक्तिमान बन जावे ॥
वह होगा भक्तोंमें श्रेष्ठ, वह अवश्य पावेगा प्रेष्ठ ।
वह अवश्य पावेगा प्रेष्ठ ॥

स्त्रियोंके लिये कर्तव्यशिक्षा और पातिव्रत्यका प्रभाव

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[गताङ्कसे आगे]

पातिव्रत्य-धर्म

अब पतिव्रता स्त्रियोंके धर्म बतलाये जाते हैं। सुहागिन स्त्रियोंके लिये पतिसेवा ही सब कुछ है, इसलिये उन्हें श्रद्धा-प्रेमके साथ पतिसेवामें सदा तत्पर रहना चाहिये; क्योंकि श्रद्धा-प्रेमसे किया हुआ कार्य ही शीघ्र फलदायक होता है। फिर जो स्त्री निष्कामभावसे पतिकी सेवा करती है, उससे शीघ्र ही अन्तःकरणकी शुद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, अतः स्त्रीको अपने पतिकी सेवा निष्कामभावसे ही करनी चाहिये। सौभाग्यवती स्त्रीके लिये पति ही सर्वस्व है, उसके लिये पति-सेवाकी तुलनामें यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, देवपूजन, सेवा आदि सब मिलकर भी कुछ नहीं है। स्त्रीको चाहिये कि तीर्थ, व्रत, पूजन आदि सब पतिके साथ ही करे या पतिकी आज्ञासे स्वयं करे। पतिकी आज्ञाके बिना न तो कथा-कीर्तनमें, न साधु-महात्माओंके पास तथा न देव-मन्दिर और तीर्थमें ही जाय। जहाँ भी जाय, यथासम्भव अपने पतिके साथ ही जाय, अकेली नहीं। पतिके बिना स्वच्छन्दता-पूर्वक यज्ञ, दान, तप, व्रत, तीर्थ आदि करनेका स्त्रीके लिये निषेध है; क्योंकि उसको केवल एक पतिसेवासे ही सब प्रकार पूर्ण सफलता मिल जाती है।

पद्मपुराणमें कहा है—

युवतीनां पृथक् तीर्थं विना भर्तुर्द्विजोत्तम।
सुखदं नास्ति वै लोके स्वर्गमोक्षप्रदायकम्॥

(भूमि० ४१। १२)

सुकलाने अपने पतिसे कहा—'द्विजोत्तम! युवतियोंके लिये पतिके सिवा अन्य कोई ऐसा तीर्थ नहीं, जो इस लोकमें सुख देनेवाला और परलोकमें स्वर्ग तथा मोक्ष प्रदान करनेवाला है।'

आगे चलकर सुकला अपनी सखियोंसे भी कहती है—

भर्त्तुः सार्द्धं सदा सख्यो दृष्टो वेदेषु सर्वदा।
सम्बन्धः पुण्यसंसर्गाज्जायते नान्यकारणात्॥
नारीणां च सदा तीर्थं भर्त्ता शास्त्रेषु पठ्यते।
यमेवावाहयेन्नित्यं वाचा कायेन कर्मभिः॥
मनसा पूजयेन्नित्यं सत्यभावेन तत्परा।
एतत्पार्श्वं महातीर्थं दक्षिणाङ्गं सदैव हि॥
तमाश्रित्य यदा नारी गृहस्था परिवर्तते।
यजते दानपुण्यैश्च तस्य दानस्य यत् फलम्॥
वाराणस्यां च गङ्गायां यत् फलं न च पुष्करे।
द्वारकायां न चावन्त्यां केदारे शशिभूषणे॥
लभते नैव सा नारी यजमाना सदा किल।

(पद्म० भूमि० ४२। ६१–६६)

'सखियो! वेदोंमें सदा-सर्वदा यही बात देखी गयी है कि पतिके साथ नारीका सम्बन्ध पुण्यके संसर्गसे ही होता है, अन्य किसी कारणसे नहीं। शास्त्रोंका वचन है कि नारियोंके लिये पति ही सदा तीर्थ है। इसलिये स्त्रीको उचित है कि वह सच्चे भावसे पतिसेवामें प्रवृत्त होकर प्रतिदिन मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा पतिका ही आवाहन करे और तत्पर होकर श्रेष्ठभावसे सदा पतिका ही पूजन करे। पति स्त्रीका दक्षिण अङ्ग है और उसका वाम पार्श्व ही पत्नीके लिये सदा महान् तीर्थ है। जब गृहस्थनारी पतिके वाम-भागमें बैठकर दान-पुण्योंसे पूजन करती है, उसका जो फल बताया गया है, वह फल काशीकी गङ्गा, पुष्करतीर्थ, द्वारकापुरी, उज्जैन तथा केदारनामसे प्रसिद्ध महादेवजीके तीर्थमें स्नान और पूजन करनेसे भी कभी नहीं मिल सकता।'

सुसुखं पुत्रसौभाग्यं स्नानं दानं च भूषणम्।
वस्त्रालङ्कारसौभाग्यं रूपं तेजः फलं सदा॥
यशः कीर्तिमवाप्नोति गुणं च वरवर्णिनि।
भर्तुः प्रसादाच्च सर्वं लभते नात्र संशयः॥

(पद्म० भूमि० ४१। ६७-६८)

'पतिव्रता स्त्री उत्तम सुख, पुत्रका सौभाग्य, स्नान और श्रेष्ठ दान, वस्त्र तथा आभूषण, सौभाग्य, रूप, तेज, फल, यश, कीर्ति और उत्तम गुण प्राप्त करती है। हे वरवर्णिनि! पतिकी प्रसन्नतासे उसे सब कुछ मिल जाता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।'

तुष्टे भर्तरि तस्यास्तु तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः।
तुष्टे भर्तरि तुष्यन्ति ऋषयो देवमानवाः॥

भर्त्ता नाथो गुरुर्भर्त्ता देवता दैवतैः सह ।
भर्त्ता तीर्थं च पुण्यश्च नारीणां नृपनन्दन ॥
(पद्म० भूमि० ४२ । ७४-७५)

'पति संतुष्ट रहते हैं तो समस्त देवता उस स्त्रीपर संतुष्ट रहते हैं और पतिके संतुष्ट रहनेपर ऋषि-मुनि, देवता और मनुष्य भी प्रसन्न रहते हैं । राजन् ! पति ही स्त्रीका स्वामी, पति ही गुरु एवं पति ही देवताओंसहित उसका इष्टदेव और पति ही तीर्थ गुरु, पुण्य है ।'

श्रीबृहद्धर्मपुराणमें भी लिखा है—

सधवानां हि नारीणां नोपवासादिकं व्रतम् ।
पत्याज्ञया चरेद् यत्तु तत्तु तासां व्रतं परम् ॥
(उत्तरखण्ड ८ । ७)

'सधवा स्त्रियोंके लिये उपवास आदि किसी व्रतका विधान नहीं है; क्योंकि पतिकी आज्ञासे वे जो कुछ आचरण करती हैं, वही उनके लिये श्रेष्ठ व्रत है ।'

इसलिये मनुजीने यही व्यवस्था दी है कि—

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः ।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥
(९ । १०१)

'संक्षेपमें पति-पत्नीका यह परम धर्म समझना चाहिये कि वे जीवनपर्यन्त एक-दूसरेसे कभी अलग न हों ।'

इस विषयमें जगज्जननी सीताजी आदर्श हैं । पतिव्रता-शिरोमणि सीताजीका पतिकी सेवा करने और उनके साथ रहनेमें कितना आग्रह था, यह उनके आचरण और वचनोंसे ही स्पष्ट है । वन-गमनके समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने वनके भयानक कष्टोंका वर्णन करके सीताजीको अयोध्यामें रहनेके लिये कहा, किंतु सीताजीने उत्तरमें बहुत ही विनय और प्रेमपूर्वक साथ ले चलनेका अनुरोध किया तथा समस्त सुख और भोगोंका तिनकेके समान त्याग करके वे श्रीरामचन्द्रजीके साथ वनमें चली गयीं । श्रीरामचरितमानसमें उस समय श्रीरामचन्द्रजीके प्रति सीताजीने जो वचन कहे, वे ध्यान देने योग्य हैं, उनसे स्त्रियोंको बड़ी उत्तम शिक्षा मिलती है । श्रीसीताजी कहती हैं—

प्राननाथ करुनायतन सुंदर सुखद सुजान ।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान ॥

तनु धनु धामु धरनि पुर राजू । पति बिहीन सबु सोक समाजू ॥
भोग रोग सम भूषन भारू । जमजातना सरिस संसारू ॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं । मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं ॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी । तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें । सरद बिमल बिधु बदनु निहारें ॥

× × × ×

छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी । रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी ॥
बन दुख नाथ कहे बहुतेरे । भय बिषाद परिताप घनेरे ॥
प्रभु बियोग लवलेस समाना । सब मिलि होहिं न कृपानिधाना ॥
अस जियँ जानि सुजान सिरोमनि । लेइअ संग मोहि छाड़िअ जनि ॥
बिनती बहुत करौं का स्वामी । करुनामय उर अंतरजामी ॥
मोहि मग चलत न होइहि हारी । छिनु छिनु चरन सरोज निहारी ॥
सबहिं भाँति पिय सेवा करिहौं । मारग जनित सकल श्रम हरिहौं ॥
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं । करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं ॥
श्रम कन सहित स्याम तनु देखें । कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें ॥
सम महि तृन तरुपल्लव डासी । पाय पलोटिहि सब निसि दासी ॥

केवल पतिसेवासे ही स्त्री परम गतिको प्राप्त हो जाती है । तुलसीकृत रामायणमें जगज्जननी सीताके प्रति पातिव्रत्यका उपदेश देती हुई अनसूयाजी कहती हैं—

बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना । अंध बधिर क्रोधी अति दीना ॥
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना । नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥
एकइ धर्म एक ब्रत नेमा । कायँ बचन मन पति पद प्रेमा ॥

× × × ×

उत्तम के अस बस मन माहीं । सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ॥
मध्यम परपति देखइ कैसें । भ्राता पिता पुत्र निज जैसें ॥

× × × ×

पति बंचक पर पति रति करई । रौरव नरक कल्प सत परई ॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी । दुख न समुझ तेहि सम को खोटी ॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई । पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई ॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई । बिधवा होइ पाइ तरुनाई ॥

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं ।
तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित ॥

श्रीअनसूयाजीका यह कहना उचित ही है; क्योंकि सीताजी तो पहलेसे ही ऐसी ही थीं । श्रीवाल्मीकीय रामायणमें श्रीसीताजीके प्रति श्रीअनसूयाजीके वचन हैं—

त्यक्त्वा ज्ञातिजनं सीते मानवृद्धिं च मानिनि ।
अवरुद्धं वने रामं दिष्ट्या त्वमनुगच्छसि ॥

नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः ।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्त्ता तासां लोका महोदयाः ॥
दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः ।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥
नातो विशिष्टं पश्यामि बान्धवं विमृशन्त्यहम् ।
सर्वत्र योग्यं वैदेहि तपः कृतमिवाव्ययम् ॥

(अयोध्या० ११७ । २२–२५)

'माननीया सीते ! यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि बन्धु-बान्धवोंको छोड़कर और उनसे प्राप्त होनेवाली मान-प्रतिष्ठाका त्याग करके तुम वनमें भेजे हुए रामका (कर्तव्य समझकर) अनुसरण कर रही हो; यह बड़े सौभाग्यकी बात है। अपने स्वामी नगरमें रहें या वनमें, भले हों या बुरे—जिन स्त्रियोंको वे प्रिय होते हैं, उन्हें महान् अभ्युदयशाली लोकोंकी प्राप्ति होती है। पति बुरे स्वभावका, मनमाना वर्ताव करनेवाला, अथवा धनहीन ही क्यों न हो, वह उत्तम स्वभाववाली नारियोंके लिये श्रेष्ठ देवताके समान है। वैदेही ! मैं बहुत विचार करनेपर भी पतिसे बढ़कर कोई हितकारी बन्धु नहीं देखती। तपस्याके अविनाशी फलकी भाँति वह इस लोक और परलोकमें सर्वत्र सुख पहुँचानेमें समर्थ होता है।'

त्वद्विधास्तु गुणैर्युक्ता दृष्टलोकपरावराः ।
स्त्रियः स्वर्गे चरिष्यन्ति यथा पुण्यकृतस्तथा ॥

(वा० रा० अयोध्या० ११७ । २८)

'जो तुम्हारे समान लोक-परलोकको जाननेवाली उत्तम गुणोंसे युक्त साध्वी स्त्रियाँ हैं, वे उसी प्रकार स्वर्गमें विचरण करेंगी, जिस प्रकार कि पुण्यकर्मा मनुष्य।'

तदेवमेतं त्वमनुव्रता सती
पतिप्रधाना समयानुवर्तिनी ।
भव स्वभर्त्तुः सहधर्मचारिणी
यशश्च धर्मं च ततः समाप्स्यसि ॥

(वा० रा० अयोध्या० ११७ । २९)

'अतः तुम इसी प्रकार अपने पतिदेव श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें लगी रहो। सतीधर्मका पालन करो। पतिको प्रधान देवता समझो और प्रत्येक समय उनका अनुसरण करती हुई उनकी सहधर्मिणी बनो। इससे तुम्हें धर्म और सुयश दोनोंकी प्राप्ति होगी।'

श्रीअनसूयाजीके द्वारा पातिव्रत्यकी महिमा सुनकर सीताजीने कहा—

आगच्छन्त्याश्च विजनं वनमेवं भयावहम् ।
समाहितं हि मे श्वश्र्वा हृदये यत् स्थिरं मम ॥

(वा० रा० अयोध्या० ११८ । ७)

'जब मैं पतिके साथ इस प्रकारके भयंकर निर्जन वनमें आने लगी, उस समय मेरी सास कौसल्याने मुझे जो कर्तव्यका उपदेश दिया था, वह मेरे हृदयमें ज्यों-का-त्यों अङ्कित है।'

पाणिप्रदानकाले च यत् पुरा त्वग्निसन्निधौ ।
अनुशिष्टं जनन्या मे वाक्यं तदपि मे धृतम् ॥

(वा० रा० अयोध्या० ११८ । ८)

'पहले मेरे विवाहकालमें अग्निके समीप माताने मुझे जो शिक्षा दी थी, वह भी याद है।'

न विस्मृतं तु मे सर्वं वाक्यैः स्वैर्धर्मचारिणि ।
पतिशुश्रूषणान्नार्यास्तपो नान्यद् विधीयते ॥

(वा० रा० अयोध्या० ११८ । ९)

'हे धर्मचारिणि ! इसके सिवा मेरे अन्य स्वजनोंने अपने वचनोंद्वारा जो-जो उपदेश दिया है, वह भी मुझे भूला नहीं है। स्त्रीके लिये पतिकी सेवाके अतिरिक्त दूसरा कोई तप नहीं है।'

सावित्री पतिशुश्रूषां कृत्वा स्वर्गे महीयते ।
तथावृत्तिश्च याता त्वं पतिशुश्रूषया दिवम् ॥

(वा० रा० अयोध्या० ११८ । १०)

'सत्यवान्‌की पत्नी सावित्री पतिकी सेवा करके ही स्वर्गलोकमें पूजित हो रही है। आप भी पति-सेवाके द्वारा ही उस पातिव्रत्यका आचरण करके इस प्रकारकी अलौकिकताको प्राप्त हुई हैं।'

वरिष्ठा सर्वनारीणामेषा च दिवि देवता ।
रोहिणी न विना चन्द्रं मुहूर्त्तमपि दृश्यते ॥

(वा० रा० अयोध्या० ११८ । ११)

'सम्पूर्ण स्त्रियोंमें श्रेष्ठ यह स्वर्गकी देवी रोहिणी पतिसेवाके प्रभावसे ही एक मुहूर्त्तके लिये भी चन्द्रमासे विलग होती नहीं देखी जाती।'

एवंविधाश्च प्रवराः स्त्रियो भर्तृदृढव्रताः ।
देवलोके महीयन्ते पुण्येन स्वेन कर्मणा ॥

(वा० रा० अयोध्या० ११८ । १२)

'इस प्रकार दृढ़तापूर्वक पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली बहुत-सी साध्वी स्त्रियाँ अपने पुण्यकर्मके बलसे देवलोकमें आदर पा रही हैं।'

सती अनसूयाजी बहुत उच्च कोटिकी पतिव्रता थीं । उनके पातिव्रत्यके प्रभावसे ब्रह्मा, विष्णु और महेशने उनके यहाँ अवतार लिया था । दत्तात्रेयके रूपमें श्रीविष्णु, चन्द्रमाके रूपमें ब्रह्मा और दुर्वासाके रूपमें शङ्करने अवतार लिया, एवं मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामकी अर्धाङ्गिनी जगज्जननी सीता एक ऐसी पतिव्रता थीं कि जिनके नामोच्चारणसे ही स्त्री पतिव्रता बन जाती है । सीताके चरित्रसे स्त्रियोंको शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये ।*

इसी प्रकार सती पार्वतीका चरित्र संसारमें प्रसिद्ध ही है। पातिव्रत्य-धर्मकी सिद्धिके लिये कन्याएँ तथा स्त्रियाँ चैत्रमासमें इन्हीं श्रीगौरीजीकी पूजा किया करती हैं । इनका चरित्र रामायण, इतिहास और पुराणोंमें भरा हुआ है । जन्मसे ही उनकी अपने स्वामी श्रीशङ्करजीमें जो अटल निष्ठा है, वह पतिव्रताओंके लिये परम आदर्श है ।

श्रीमद्भागवतमें नारदमुनिने भी युधिष्ठिर महाराजसे पतिव्रता स्त्रियोंके धर्म इस प्रकार बताये हैं--

स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता ।
तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम् ॥
(७ । ११ । २५)

'पतिकी सेवा करना, उसके अनुकूल रहना, पतिके भाई-बन्धुओंको प्रसन्न रखना और सर्वदा पतिके नियमोंकी रक्षा करना--ये पतिको ही ईश्वर माननेवाली पतिव्रता स्त्रियोंके धर्म हैं ।'

सम्मार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डलवर्तनैः ।
स्वयं च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ११ । २६)

'साध्वी स्त्रीको चाहिये कि झाड़ने-बुहारने, लीपने तथा चौक पूरने आदिसे घरको और मनोहर वस्त्राभूषणोंसे अपने शरीरको अलंकृत रक्खे तथा सब सामग्रियोंको साफ-सुथरी रक्खे ।'

कामैरुच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेण दमेन च ।
वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत् पतिम् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ११ । २७)

'अपने पतिदेवकी छोटी-बड़ी इच्छाओंको समयके अनुसार पूर्ण करे । विनय, इन्द्रियसंयम, सत्य एवं प्रिय वचनों प्रेमपूर्वक पतिदेवकी सेवा करे ।'

या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा ।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ११ । २९

'जो लक्ष्मीजीके समान पतिपरायणा होकर अपने पति उसे साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप समझकर सेवा करती है, उस पतिदेव वैकुण्ठलोकमें भगवत्सारूप्यको प्राप्त होते हैं और व लक्ष्मीजीके समान उनके साथ आनन्दित होती है ।'

इस विषयमें द्रौपदीका उदाहरण इस प्रकार मिलता है उसने पतिसेवाके प्रभावसे लक्ष्मीका स्थान प्राप्त किया था औ अर्जुन भी भगवान्‌के परम धाममें गये थे । यह बात महाभारत के स्वर्गारोहणपर्वमें आती है । द्रौपदी उच्च कोटिकी पतिव्रत थी । उसकी पतिसेवाका विवरण संक्षेपसे यहाँ दिया जाता है भगवान् श्रीकृष्णकी महारानी सत्यभामाने भी उससे शि ग्रहण की है ।

एक समयकी बात है । जब पाण्डव वनमें वास करते थे उस समय श्रीकृष्णजी पाण्डवोंसे मिलनेके लिये गये । सत्यभाम भी साथमें थीं । सत्यभामा द्रौपदीसे मिलनेके लिये गयीं औ बोलीं--'पाण्डवलोग सर्वदा तुम्हारे वशमें रहते हैं--इसक रहस्य मुझे बताओ । पाञ्चाली ! तुम मुझे भी कोई ऐसा व्रत तप, स्नान, मन्त्र, ओषधि, विद्या तथा जप, होम या जड़ी बूटी बताओ, जिससे सर्वदा ही श्यामसुन्दर मेरे अधीन रहें ।

तब पतिपरायणा द्रौपदीने उनसे कहा--'सत्ये ! तुम मुझसे दुराचारिणी स्त्रियोंके-से आचरणकी बात पूछ रही हो भला, उन दूषित आचरणवाली स्त्रियोंके मार्गकी बातें मैं कै कहूँ ? उनके विषयमें तो तुम्हारा प्रश्न या शङ्का करना भ उचित नहीं है; क्योंकि तुम बुद्धिमती और श्रीकृष्णकी पट्टमहि हो । जब पतिको यह मालूम हो जाता है कि गृहदेवी उ काबूमें करनेके लिये किसी मन्त्र-तन्त्रका प्रयोग कर रही है, त वह उससे उसी प्रकार दूर रहने लगता है, जैसे मनुष्य घर घुसे हुए साँपसे । इससे कई प्रकारके अनर्थ हो जाते हैं धूर्तलोग जन्तर-मन्तरके बहाने ऐसी चीजें दे देते हैं, जिन भयंकर रोग पैदा हो जाते हैं तथा पतिके शत्रु इसी मिससे वि तक दे डालते हैं । वे ऐसे चूर्ण होते हैं कि जिन्हें यदि प जिह्वा या त्वचासे भी स्पर्श कर ले तो वे निःसन्देह उसी क्ष उसको मार डालें । ऐसी स्त्रियाँ अपने पतियोंको तरह-तरह

---

* इसके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा' नामकी पुस्तिका पढ़नी चाहिये । मूल्य ~)। है ।

रोगोंका शिकार बना देती हैं। वे उनकी कुमतिसे जलोदर, कोढ़, बुढ़ापा, नपुंसकता, जडता और बधिरता आदिके पंजोंमें पड़ जाते हैं। इस प्रकार पापियोंकी बातें माननेवाली वे पापिनी नारियाँ अपने पतियोंको तंग कर डालती हैं; किंतु स्त्रीको तो कभी किसी प्रकार अपने पतिका अप्रिय नहीं करना चाहिये।

'यशस्विनी सत्यभामे! महात्मा पाण्डवोंके प्रति मैं जिस प्रकारका आचरण करती हूँ, वह सब सच-सच सुनाती हूँ, तुम सुनो, मैं अहङ्कार और काम-क्रोधको छोड़कर बड़ी सावधानीसे सब पाण्डवोंकी, उनकी अन्यान्य स्त्रियोंके सहित, सेवा करती हूँ। मैं ईर्ष्यासे दूर रहती हूँ और मनको काबूमें रखकर केवल सेवाकी इच्छासे ही अपने पतियोंका मन रखती हूँ। यह सब करते हुए भी मैं अभिमानको अपने पास नहीं फटकने देती। मैं कटु भाषणसे दूर रहती हूँ, असभ्यतासे खड़ी नहीं होती, खोटी बातोंपर दृष्टि नहीं डालती, दूषित आचरणके पास नहीं फटकती तथा पाण्डवोंके अभिप्रायपूर्ण संकेतका अनुसरण करती हूँ। देवता, मनुष्य, गन्धर्व, युवा, सजधजवाला, धनी अथवा रूपवान्—कैसा ही पुरुष हो, मेरा मन पाण्डवोंके सिवा और कहीं नहीं जाता। अपने पतियोंके भोजन किये बिना मैं भोजन नहीं करती, स्नान किये बिना स्नान नहीं करती और बैठे बिना स्वयं नहीं बैठती। जब-जब मेरे पति घरमें आते हैं, तभी मैं खड़ी होकर आसन और जल देकर उनका सत्कार करती हूँ। मैं घरके बर्तनोंको माँज-धोकर साफ रखती हूँ, मधुर रसोई तैयार करती हूँ, समयपर भोजन कराती हूँ। घरमें गुप्त रूपसे अनाजका संचय रखती हूँ और घरको झाड़-बुहारकर साफ रखती हूँ। मैं बातचीतमें किसीका तिरस्कार नहीं करती, कुलटा स्त्रियोंको पास नहीं फटकने देती और सदा ही पतियोंके अनुकूल रहकर आलस्यसे दूर रहती हूँ। सदा ही सत्य भाषण और पतिसेवामें तत्पर रहती हूँ। पतिदेवके बिना अकेली रहना मुझे बिल्कुल पसंद नहीं है। जब किसी कौटुम्बिक कार्यसे पतिदेव बाहर जाते हैं, तब मैं पुष्प और चन्दनादिको छोड़कर नियम और व्रतोंका पालन करते हुए रहती हूँ। मेरे पति जिस चीजको नहीं खाते, नहीं पीते अथवा सेवन नहीं करते, उससे मैं भी दूर रहती हूँ। स्त्रियोंके लिये शास्त्रने जो-जो बातें बतायी हैं, उन सबका मैं पालन करती हूँ। पति जब घरमें रहते हैं तब शरीरको यथाप्राप्त वस्त्रालङ्कारोंसे सुसज्जित रखती हूँ तथा सर्वदा सावधान रहकर पतिदेवका प्रिय करनेमें तत्पर रहती हूँ।

'सासजीने मुझे कुटुम्बसम्बन्धी जो-जो धर्म बताये हैं, उन सबका मैं पालन करती हूँ। भिक्षा देना, पूजन, श्राद्ध, त्यौहारोंपर पक्वान्न बनाना, माननीयोंका सत्कार करना तथा और भी जो-जो धर्म मेरे लिये विहित हैं, उन सभीका मैं सावधानीसे रात-दिन आचरण करती हूँ। मैं विनय और नियमोंको सर्वदा सब प्रकार अपनाये रहती हूँ। मेरे पति मृदुलचित्त, सरलस्वभाव, सत्यनिष्ठ और सत्य धर्मका ही पालन करनेवाले हैं। मेरे विचारसे तो स्त्रियोंका सनातन धर्म पतिके अधीन रहना ही है, वही उनका इष्टदेव है और वही आश्रय है। मैं अपने पतियोंसे ऊँची होकर कभी नहीं रहती, उनसे अच्छा भोजन नहीं करती और न कभी सासजीसे ही वाद-विवाद करती हूँ तथा सदा ही संयमका पालन करती हूँ। बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें लगी रहती हूँ। इसीसे पति मेरे अनुकूल रहते हैं। वीरमाता, सत्यवादिनी कुन्तीकी मैं भोजन, वस्त्र और जल आदिसे सदा ही सेवा करती रहती हूँ। भोजनादिमें मैं कभी भी उनकी अपेक्षा अपने लिये कोई विशेषता नहीं रखती। जिस समय इन्द्रप्रस्थमें रहकर महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी-पालन करते थे, उस समय महाराज युधिष्ठिरके महलमें नित्यप्रति आठ हजार ब्राह्मण सुवर्णके पात्रोंमें भोजन किया करते थे। महाराज युधिष्ठिर अट्ठासी हजार गृहस्थ स्नातकोंका भरण-पोषण करते थे और उनके दस हजार दासियाँ थीं। मुझे उनके नाम, रूप, भोजन, वस्त्र—सभी बातोंका पता रहता था और इस बातकी भी निगाह रहती थी कि किसने क्या काम कर लिया है और क्या नहीं किया। मतिमान् कुन्तीनन्दनकी दस हजार दासियाँ हाथोंमें थाल लिये दिन-रात अतिथियोंको भोजन कराती रहती थीं। उस समय महाराज युधिष्ठिरके साथ एक लाख घोड़े और एक लाख हाथी चलते थे। उनकी गणना और प्रबन्ध मैं ही करती थी और मैं ही उनकी आवश्यकताएँ सुनती थी। अन्तःपुरके ग्वालों और गड़रियोंसे लेकर सभी सेवकोंके काम-काजकी देख-रेख मैं ही किया करती थी।

'यशस्विनी सत्यभामे! महाराजकी जो कुछ आमदनी, व्यय और बचत होती थी, उस सबका विवरण मैं अकेली ही रखती थी। पाण्डव लोग कुटुम्बका सारा भार मेरे ऊपर छोड़कर पूजा-पाठमें लगे रहते थे और आये-गयोंका स्वागत-सत्कार करते थे तथा मैं सब प्रकारके सुख छोड़कर उसकी सँभाल रखती थी। मेरे धर्मात्मा पतियोंका जो वरुणके भण्डारके समान अटूट खजाना था, उसका पता भी एक मुझको ही था। मैं भूख-प्यासको सहकर रात-दिन पाण्डवों-

की सेवामें लगी रहती । मैं सदा ही सबसे पहले उठती थी और सबसे पीछे सोती थी ।'

द्रौपदीकी ये धर्मयुक्त बातें सुनकर सत्यभामाने उसका आदर करते हुए कहा—'पाञ्चाली ! मेरी एक प्रार्थना है, तुम मेरे कहे-सुनेको क्षमा करना । सखियोंमें तो जान-बूझकर भी ऐसी हँसीकी बातें कह दी जाती हैं ।'

द्रौपदी बोली—'सत्ये ! मैं पतिके चित्तको अपने अनुकूल करनेका यह निर्दोष मार्ग बताती हूँ । यदि तुम इसपर चलोगी तो अपने स्वामीके मनको अपनी ओर खींच लोगी ।

नैतादृशं दैवतमस्ति सत्ये
सर्वेषु लोकेषु सदेवकेषु ।
यथा पतिस्तस्य तु सर्वकामा
लभ्याः प्रसादात्कुपितं च हन्यात् ॥
(महा० वन० २३४ । २)

'सत्ये ! स्त्रीके लिये इस लोक या परलोकमें पतिके समान कोई दूसरा देवता नहीं है । उसकी प्रसन्नता होनेपर वह सब प्रकारके सुख पा सकती है और असंतुष्ट होनेपर अपने सब सुखोंको मिट्टीमें मिला देती है ।'

'हे साध्वी ! सांसारिक भोगरूप सुखके द्वारा सुख कभी नहीं मिल सकता, सुख-प्राप्तिका साधन तो (न्याययुक्त) दुःखको सहन करना है । अतः तुम सुहृदता, प्रेम, परिचर्या, कार्यकुशलता और तरह-तरहके पुष्प और चन्दनादिसे श्रीकृष्णकी सेवा करो तथा जिस प्रकार वे यह समझें कि मैं इसे प्यारा हूँ, तुम वही काम करो । जब तुम्हारे कानमें पतिदेवके द्वारपर आनेकी आवाज पड़े, तब तुम आँगनमें खड़ी होकर उनके स्वागतके लिये तैयार रहो और जब वे भीतर आ जायँ, तब तुरंत ही आसन और पैर धोनेके लिये जल देकर उनका सत्कार करो ।

सम्प्रेषितायामथ चैव दास्या-
मुत्थाय सर्वं स्वयमेव कार्यम् ।
जानातु कृष्णस्तव भावमेतं
सर्वात्मना मां भजतीति सत्ये ॥
(महा० वन० २३४ । ७)

'हे सत्यभामा ! यदि तुम्हारे पति किसी कामके लिये दासीको आज्ञा दें तो भी तुम दासीको काम करनेसे रोककर उस सब कामको आप ही करो; श्रीकृष्णको यह मालूम होना चाहिये कि सत्यभामा सब प्रकारसे मुझे ही चाहती है ।'

'तुम्हारे पति यदि तुमसे कोई ऐसी बात कहें कि जि गुप्त रखना आवश्यक न हो तो भी तुम उसे किसीसे म कहो । पतिदेवके जो प्रिय, स्नेही और हितैषी हों, उन्ह तरह-तरहके भोजन कराओ तथा जो उनके शत्रु, उपेक्षणी और अशुभचिन्तक हों अथवा उनके प्रति कपटभाव रख हों, उनसे सर्वदा दूर रहो । प्रद्युम्न और साम्ब यद्यपि तुम्हारे पुत्र ही हैं तो भी एकान्तमें तो उनके पास भ मत बैठो ।

महाकुलीनाभिरपापिकाभिः
स्त्रीभिः सतीभिस्तव सख्यमस्तु ।
चण्डाश्च शौण्डाश्च महाशनाश्च
चौराश्च दुष्टाश्चपलाश्च वर्ज्याः ॥
(महा० वन० २३४ । ११

'जो अत्यन्त कुलीन, दोषरहित और सती हों, उन्ह स्त्रियोंसे तुम्हारा प्रेम होना चाहिये । क्रूर, लड़ाकी, पे चोरीकी आदतवाली, दुष्टा और चञ्चल स्वभावकी स्त्रियों सर्वदा दूर रहो ।'

'इस प्रकार तुम सब तरह अपने पतिदेवकी सेवा करो इससे तुम्हारे यश और सौभाग्यकी वृद्धि होगी ।'

सत्यभामा और द्रौपदीका यह संवाद महाभारत वनपर्वके २३३ और २३४ वें अध्यायोंमें विस्तारसे बतला है । यहाँ संक्षेपमें दिया गया है, विस्तार देखना चाहें उक्त ग्रन्थमें देखें ।

अतः पतिव्रता स्त्रीको उचित है कि वह अपने पति इच्छानुसार सब प्रकारसे अपना शृङ्गार करके अपनी सेवा द्वारा पतिको संतोष करावे । उसे अपने शरीरमें हल्द और कुङ्कुमका मालिस करना, केश सँवारना, सिन्दूर लगाना आँखोंमें अञ्जन लगाना, मुखमें पान चबाना तथा हाथ कान, गले और मस्तक आदिमें यथायोग्य भूषण धार करना चाहिये । पतिव्रता स्त्री सदा प्रिय, मधुर, विनय औ प्रेमयुक्त वचन बोले एवं जिस-जिस काममें पतिकी रु मालूम दे, वही काम पतिकी रुचि, आज्ञा और संकेत अनुसार बड़े विनय, प्रेम और उत्साहके साथ करे । जो अप मनके अनुकूल हो, पर पतिके मनके प्रतिकूल हो तो व काम कभी न करे और जो पतिके मनके अनुकूल हो उसे अपने मनके प्रतिकूल होनेपर भी उत्साहके साथ करे पतिकी प्रसन्नतामें प्रसन्न रहे और पतिके उदासीन होने

उदासीन हो जाय। सम्पत्ति और विपत्तिमें, सुख और दुःखमें सदा-सर्वदा पतिके मनसे मन मिलाकर रहे। मनुस्मृतिमें बतलाया है--

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया॥

(५। १५०)

'स्त्रीको सदा प्रसन्नचित्त, घरके कामोंमें कुशल, घरकी सामग्रीको भलीभाँति स्वच्छ रखनेवाली और खर्चमें हाथ रोककर उठानेवाली होना चाहिये।'

यस्मै दद्यात् पिता त्वेनां भ्राता वानुमते पितुः।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत्॥

(५। १५१)

'पिता अथवा पिताकी अनुमतिसे भाई इस स्त्रीको जिसे ब्याह दे, उसी पतिकी जीवनभर सेवा-शुश्रूषा करे तथा उसकी मृत्यु होनेपर भी उसकी आज्ञा और संकेतका उल्लङ्घन न करे।'

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः॥

(५। १५४)

'शीलहीन, स्वेच्छाचारी अथवा गुणोंसे शून्य होनेपर भी पति साध्वी स्त्रीके लिये सदा देवताकी भाँति पूजनीय है।'

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥

(५। १५५)

'स्त्रियोंके लिये पतिसे अलग कोई यज्ञ, व्रत और उपवास करनेका विधान नहीं है, जिस पातिव्रत्यका आश्रय लेकर वह पतिकी शुश्रूषा करती है, उसीसे वह स्वर्गलोकमें पूज्य होती है।'

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत् किञ्चिदप्रियम्॥

(५। १५६)

'परम कल्याणमय पतिलोककी इच्छा रखनेवाली नारी पाणिग्रहण करनेवाले पतिके जीवित रहने अथवा मरनेपर भी कभी कोई ऐसा आचरण न करे, जो उसे प्रिय न हो।'

श्रीब्रह्मवैवर्तपुराणके गणेशखण्डमें भी पतिव्रताका लक्षण बताते हुए कहा है--

कुत्सितं पतितं मूढं दरिद्रं रोगिणं जडम्।
कुलजा विष्णुतुल्यं च कान्तं पश्यति संततम्॥

(४४। १३)

'कुलीन पतिव्रता नारी अपना पति यदि पापी, पतित, पागल, दरिद्री, रोगी या मूर्ख हो तो भी उसे सदा विष्णुके समान देखती है।'

दक्षस्मृतिमें भी कहा है--

अनुकूला त्ववाग्दुष्टा दक्षा साध्वी पतिव्रता।
एभिरेव गुणैर्युक्ता स्त्री श्रीरेव न संशयः॥

(४। १२)

'जो पतिव्रता साध्वी, कठोर वचन न बोलनेवाली, पतिके अनुकूल और चतुर है, वह उक्त गुणोंसे युक्त स्त्री निःसन्देह लक्ष्मी ही है।'

प्रहृष्टमनसा नित्यं स्थानमानविचक्षणा।
भर्तुः प्रीतिकरी यातु भार्या सा चेतरा जरा॥

(४। १३)

'जो पतिकी अवस्था और मानका विचार करनेमें चतुर तथा नित्य प्रसन्नचित्त और पतिका प्रिय आचरण करनेवाली है, वही भार्या कहने योग्य है; जो ऐसी नहीं है, वह तो जरा नामकी राक्षसीके समान है।'

ऐसी पतिव्रता नारीकी महिमामें मनुजी कहते हैं---

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥

(५। १६५)

'जो मन, वाणी और शरीरको संयममें रखकर कभी पतिके विपरीत आचरण नहीं करती, वह (भगवत्स्वरूप) पतिलोकको प्राप्त होती है और सत्पुरुषोंद्वारा 'साध्वी' इस प्रकार कही जाती है।'

अनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देहसंयता।
इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च॥

(५। १६६)

'मन, वाणी और शरीरको संयममें रखनेवाली नारी इस बर्तावसे इस लोकमें उत्तम कीर्ति और परलोकमें पति-धामको प्राप्त करती है।'

इसलिये पति चाहे रोगी हो चाहे नीरोग, चाहे पापी हो चाहे धर्मात्मा, मूर्ख हो चाहे विद्वान्, पतिकी आज्ञाका कभी उल्लङ्घन न करे, बल्कि सदा उसका प्रिय

करे। जो स्त्री सदा पतिके मनके अनुकूल चलती है और पतिके इच्छानुसार उसे ताम्बूल देती है, पंखेसे हवा करती है, पैर दबाती है, प्रेमपूर्ण वचनोंसे तथा आज्ञाके पालनद्वारा पतिको प्रसन्न करती है, वह तीनों लोकोंको जीत लेती है।

इस विषयमें पतिव्रता शाण्डिली आदर्श है, जिसने अपने कुष्ठरोगसे पीड़ित पतिकी भी ईश्वर मानकर सेवा की——

प्रतिष्ठानपुरमें कौशिक नामक एक ब्राह्मण थे। वे पूवजन्ममें किये हुए पापोंके कारण कोढ़के रोगसे व्याकुल रहने लगे। ऐसे घृणित रोगसे युक्त होनेपर भी उनको उनकी पत्नी देवताकी भाँति पूजती थी। वह अपने पतिके पैरोंमें तेल मलती, उनका शरीर दबाती, अपने हाथसे उन्हें नहलाती, कपड़े पहनाती और भोजन कराती थी एवं उनके थूक, खँखार, मल-मूत्र और रक्त भी वह स्वयं ही धोकर साफ करती थी। वह उन्हें मीठी वाणीसे प्रसन्न रखती थी। इस प्रकार अत्यन्त विनीत भावसे वह सदा अपने स्वामीकी सेवा-पूजा किया करती तो भी अधिक क्रोधी स्वभावके होनेके कारण वे अपनी पत्नीको प्रायः फटकारते ही रहते थे। इतनेपर भी वह उनके पैरों पड़ती और उनको देवताके समान समझती थी। यद्यपि उनका शरीर अत्यन्त घृणाके योग्य था तो भी वह साध्वी उन्हें सबसे श्रेष्ठ मानती थी। कौशिक ब्राह्मणसे चला-फिरा नहीं जाता था, तो भी एक दिन उन्होंने अपनी पत्नीसे कहा——'धर्मज्ञे ! उस दिन मैंने घरपर बैठे हुए ही सड़कपर जाती हुई वेश्याको देखा था, उसके घर आज मुझे ले चलो। मुझे उससे मिला दो। वही मेरे हृदयमें बसी हुई है।'

अपने कामातुर स्वामीका यह वचन सुनकर वह पतिव्रता उनको कंधेपर चढ़ाकर वेश्याके घरकी ओर चली। जब वह राजमार्गसे जा रही थी, तब रात्रिके घोर अन्धकारमें देख न सकनेके कारण कौशिकने अपने पैरोंसे छूकर मार्गमें स्थित शूलीको हिला दिया। इससे माण्डव्य ऋषिको, जो कि चोर न होते हुए भी चोरके सन्देहसे शूलीपर चढ़ा दिये गये थे, बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने कुपित होकर कहा——'जिसने पैरसे शूलीको हिलाकर मुझे महान् कष्ट दिया है, उस पापात्मा नराधमका सूर्योदय होनेपर विनाश हो जायगा।' इस अति दारुण शापको सुनकर पतिव्रता पत्नी व्यथित होकर बोली——'सूर्यका उदय ही नहीं होगा।' तब सूर्योदय न होनेके कारण बराबर रात ही रहने लगी।

इससे देवताओंको बड़ा भय हुआ। वे आपसमें इस प्रकार बात करने लगे——'सूर्योदय न होनेसे स्वाध्याय, वषट्कार, स्वधा (श्राद्ध) और स्वाहा (यज्ञ) से रहित होकर यह सारा जगत् नष्ट हुए बिना कैसे रह सकता है। दिन-रातकी व्यवस्था हुए बिना मास, ऋतु, अयन, वर्ष और समयका ज्ञान होना भी असम्भव है। सूर्योदय न होनेके कारण स्नान-दानादि सब क्रियाएँ बंद हो गयीं, अतः हमलोगोंकी तृप्ति नहीं होती। जब मनुष्य यज्ञका यथोचित भाग देकर हमें तृप्त करते हैं, तब हम खेतीकी उपजके लिये वर्षा करके मनुष्योंपर अनुग्रह करते हैं। इस प्रकार हम जलकी वर्षासे मनुष्योंको और मनुष्य हविष्यसे हमलोगोंको तृप्त करते हैं। जो दुरात्मा लोभवश हमारा यज्ञभाग स्वयं खा लेते हैं, उन अपकारी पापियोंके नाशके लिये हम जल, अग्नि, वायु तथा पृथ्वी आदिको भी दूषित कर देते हैं। उन दूषित वस्तुओंका उपभोग करनेसे उन कुकर्मियोंकी मृत्युके लिये भयंकर महामारी आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं तथा जो हमें तृप्त करके शेष अन्न अपने उपभोगमें लाते हैं, उन महात्माओंको हम पुण्यलोक प्रदान करते हैं। पर इस समय प्रभातकाल हुए बिना इन मनुष्योंके लिये वह सब पुण्य-कर्म असम्भव हो रहा है। अब सूर्योदय कैसे हो ?' इस प्रकार सब देवता आपसमें बात करने लगे।

देवताओंके वचन सुनकर प्रजापति ब्रह्माजीने कहा——'महर्षि अत्रिकी पतिव्रता पत्नी तपस्विनी अनसूयाके पास जाओ और सूर्योदयकी कामनासे उन्हें प्रसन्न करो।' तब देवताओंने जाकर अनसूयाजीको प्रसन्न किया। वे बोलीं——'तुम क्या चाहते हो, बतलाओ।' देवताओंने याचना की कि 'पूर्ववत् दिन होने लगे।' अनसूयाने कहा——'देवताओ ! पतिव्रताका प्रभाव किसी प्रकार कम नहीं हो सकता, इसलिये मैं उस साध्वीको मनाकर सूर्योदयकी चेष्टा करूँगी।'

यों कहकर अनसूयादेवी उस ब्राह्मणीके पास गयीं और कुशल-प्रश्नके अनन्तर बोलीं——'कल्याणी ! पतिकी सेवासे ही मुझे महान् फलकी प्राप्ति हुई है तथा सम्पूर्ण कामनाओं एवं फलोंकी प्राप्तिके साथ ही मेरे सारे विघ्न भी दूर हो गये। साध्वी ! मनुष्यको ये पाँच ऋण सदा ही चुकाने चाहिये——अपने वर्णधर्मके अनुसार धनका संग्रह करना, उसके प्राप्त होनेपर शास्त्रविधिके अनुसार उसका सत्पात्रको दान करना, सत्य, सरलता, तपस्या, दान और दयासे युक्त रहना, राग-द्वेषका त्याग करना और शास्त्रोक्त कर्मोंका यथाशक्ति

प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करना । ऐसा करनेसे मनुष्य उत्तम लोकोंको प्राप्त होता है । पतिव्रते ! इस प्रकार महान् क्लेश उठानेपर पुरुषोंको प्राजापत्य आदि लोकोंकी प्राप्ति होती है, परंतु स्त्रियाँ केवल पतिकी सेवा करनेमात्रसे पुरुषोंके दुःख सहकर उपार्जित किये हुए पुण्यका आधा भाग प्राप्त कर लेती हैं । स्त्रियोंके लिये अलग यज्ञ, श्राद्ध या उपवासका विधान नहीं है । वे पतिकी सेवामात्रसे ही उन अभीष्ट लोकोंको पा लेती हैं । अतः महाभागे ! तुम्हें सदा पतिकी सेवामें अपना मन लगाना चाहिये; क्योंकि स्त्रीके लिये पति ही परम गति है ।'*

अनसूयाजीके वचन सुनकर पतिव्रता ब्राह्मणीने बड़े आदरके साथ उनका पूजन किया और कहा--'स्वभावतः सबका कल्याण करनेवाली देवी ! स्वयं आप यहाँ पधारकर पतिकी सेवामें मेरी पुनः श्रद्धा बढ़ा रही हैं । इससे मैं धन्य हो गयी । यह आपका मुझपर बहुत बड़ा अनुग्रह है । इससे देवताओंने भी यहाँ आकर आज मुझपर कृपादृष्टि की है । मैं जानती हूँ कि स्त्रियोंके लिये पतिके समान दूसरी कोई गति नहीं है । यशस्विनि ! पतिके प्रसादसे ही नारी इस लोक और परलोकमें भी सुख पाती हैं; क्योंकि पति ही नारीका देवता है । महाभागे ! आज आप मेरे घर पधारी हैं । मुझसे अथवा मेरे इन पतिदेवसे आपको जो भी कार्य हो, बतानेकी कृपा करें ।'

अनसूयाजी बोलीं--'देवि ! तुम्हारे वचनसे दिन-रातकी व्यवस्थाका लोप हो जानेके कारण शुभकर्मोंका अनुष्ठान बंद हो गया है, इसलिये ये इन्द्रादि देवता दुखी होकर मेरे पास आये हैं और प्रार्थना करते हैं कि दिन-रातकी व्यवस्था पहलेकी तरह ही अखण्डरूपसे चलती रहे । मैं इसीके लिये तुम्हारे पास आयी हूँ । मेरी यह बात सुनो । देवि ! सूर्यके उदय न होनेसे सम्पूर्ण यज्ञ आदि शुभकर्मोंका नाश हो जायगा और उनके नाशसे देवताओंकी पुष्टि नहीं होगी, जिससे वृष्टिमें बाधा पड़नेके कारण इस संसारका ही उच्छेद हो जायगा । अतः तुम सम्पूर्ण लोकोंपर दया करो, जिससे पहलेकी तरह सूर्योदय हो ।'

ब्राह्मणीने कहा--'महाभागे ! माण्डव्य ऋषिने अत्यन्त क्रोधमें भरकर मेरे ईश्वररूप स्वामीको शाप दिया है कि तू सूर्योदय होते ही मर जायगा ।' अनसूयाजी बोलीं--'यदि तुम्हारी इच्छा हो तो, तुम कहो तो, मैं तुम्हारे पतिको पूर्ववत् शरीर एवं नयी स्वस्थ अवस्थावाला कर दूँगी । मुझे पतिव्रता स्त्रियोंके माहात्म्यका सर्वथा आदर करना है, इसीलिये तुम्हें मनाती हूँ ।'

ब्राह्मणीके 'तथास्तु' कहकर स्वीकार करनेपर तपस्विनी अनसूयाने अर्घ्य हाथमें लेकर सूर्यदेवका आवाहन किया । उस समय दस दिनोंके बराबर रात बीत चुकी थी । तदनन्तर भगवान् सूर्यदेव उदित हो गये । सूर्यदेवके प्रकट होते ही ब्राह्मणीका पति प्राणहीन होकर पृथ्वीपर गिरा, किंतु उसकी पत्नीने गिरते समय उसे पकड़ लिया ।

अनसूया बोलीं--'तुम विषाद न करना । पतिकी सेवासे जो तपोबल मुझे प्राप्त हुआ है, उसे तुम अभी देखो, विलम्बकी क्या आवश्यकता ? मैंने जो रूप, शील, बुद्धि एवं मधुर भाषण आदि सद्गुणोंमें अपने पतिके समान दूसरे किसी पुरुषको कभी नहीं देखा है तो उस सत्यके प्रभावसे यह ब्राह्मण रोगसे मुक्त हो फिरसे तरुण हो जाय और अपनी स्त्रीके साथ सौ वर्षोंतक जीवित रहे ।'

अनसूयादेवीके इतना कहते ही वह ब्राह्मण अपनी प्रभासे उस भवनको प्रकाशमान करता हुआ रोगमुक्त होकर तरुण शरीरसे जीवित हो उठा, मानो जरावस्थासे रहित देवता हो । तत्पश्चात् देवताओंके दुन्दुभि आदि बाजोंकी आवाजके साथ वहाँ फूलोंकी वर्षा होने लगी । देवताओंको बड़ा आनन्द मिला । वे अनसूयादेवीसे कहने लगे—'आपने देवताओंका बहुत बड़ा कार्य किया है । इससे प्रसन्न होकर देवता आपको वर देना चाहते हैं । आप कोई वर माँगें ।' अनसूया बोलीं—'यदि ब्रह्मा आदि देवता मुझपर प्रसन्न होकर वर देना चाहते हैं तो मेरी यही इच्छा है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव मेरे पुत्रके रूपमें प्रकट हों तथा अपने स्वामीके साथ मैं उस योगको प्राप्त करूँ, जो समस्त क्लेशोंसे मुक्ति देनेवाला है ।'

यह सुनकर ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि देवताओंने 'एवमस्तु' कहा और तपस्विनी अनसूयाका सम्मान करके वे सब अपने-अपने धामको चले गये ।

तदनन्तर बहुत समय व्यतीत होनेके बाद अनसूयाके तीन पुत्र हुए । ब्रह्माके अंशसे चन्द्रमा, विष्णुके अंशसे दत्तात्रेय और शङ्करके अंशसे दुर्वासा हुए ।

---

* नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न श्राद्धं नाप्युपोषितम् ।
भर्तृशुश्रूषयैवैतान् लोकानिष्टान् व्रजन्ति हि ॥
तस्मात् साध्वि महाभागे पतिशुश्रूषणं प्रति ।
त्वया मतिः सदा कार्या यतो भर्ता परा गतिः ॥
(मार्कण्डेय० १६ । ६१-६२)

पतिव्रता ब्राह्मणीकी यह कथा मार्कण्डेयपुराणमें है। यहाँ इसको संक्षेपसे दिया है। विस्तार देखना चाहें तो उक्त ग्रन्थमें देखना चाहिये।

इसलिये स्त्रियोंको पातिव्रतधर्मके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये। पतिव्रता स्त्रियोंका धर्म क्या है, इस विषयमें ब्रह्मवैवर्तपुराणमें भगवान् श्रीकृष्णने श्रीनन्दजीको जो बातें बतलायी हैं, वे बड़े महत्त्वकी हैं। भगवान् कहते हैं—

पतिव्रतानां यं धर्मं तन्निबोध व्रजेश्वर।
नित्यं तु भर्तुर्यौत्सुक्यात् तत्पादोदकमीप्सितम्॥
भक्तिभावेन सततं भोक्तव्यं तदनुज्ञया।
(श्रीकृष्णजन्मखण्ड ८३। १११-११२)

'हे व्रजेश्वर! पतिव्रता स्त्रियोंका जो धर्म है, उसे आप मुझसे सुनिये। उसे चाहिये कि प्रतिदिन पतिसेवामें उत्साह रखकर पतिदेवकी आज्ञासे निरन्तर भक्तिपूर्वक उसके चरणामृतका पान करे—जो कि स्त्रियोंके लिये सदा अभीष्ट है।'

व्रतं तपस्यां देवार्चां परित्यज्य प्रयत्नतः॥
कुर्याच्चरणसेवां च स्तवनं परितोषणम्।
तदाज्ञारहितं कर्म न कुर्याद् वैरतः सती॥
(श्रीकृष्णजन्मखण्ड ८३। ११२-११३)

'व्रत, तपस्या, देवपूजन आदि कार्योंको छोड़कर पहले अपने पतिके चरणोंकी सेवा सावधानीके साथ यत्नपूर्वक करे तथा उनकी स्तुति करके उनको संतुष्ट करे। सती स्त्रीको चाहिये कि मनोमालिन्यके कारण उसकी आज्ञाके विरुद्ध कोई भी कर्म न करे।'

नारायणात्परं कान्तं ध्यायते सततं सती।
परपुंसां मुखं चैव सुवेषपुरुषं परम्॥
यात्रामहोत्सवं नृत्यं नर्तनं गायनं व्रज।
परक्रीडां च सततं न हि पश्यति सुव्रता॥
(श्रीकृष्णजन्मखण्ड ८३। ११४-११५)

'साध्वी स्त्री भगवान् नारायणसे भी बढ़कर पतिको समझकर उसका ध्यान करे। दूसरे पुरुषोंका मुख न देखे तथा गहनों-कपड़ोंसे सुसज्जित पर-पुरुषकी ओर भी न देखे। पतिव्रता स्त्री यात्रा और बड़े-बड़े महोत्सवोंको तथा नाच, गान आदि खेल-तमाशोंको, दूसरोंके हास-विलासको कभी भी नहीं देखा करती।'

यद् भक्ष्यं स्वामिनो नित्यं तद्देवमपि योषिताम्।
न हि त्यजेत् तु तत्सङ्गं क्षणमेव च सुव्रता॥
(श्रीकृष्णजन्मखण्ड ८३। ११६)

'जो उसके पतिका भोजन होता है, वही भोजन स्त्रियोंके लिये भी श्रेष्ठ होता है। पतिव्रताको चाहिये कि अपने पतिका सङ्ग एक क्षणके लिये भी परित्याग न करे।'

उत्तरं नोत्तरं दद्यात् स्वामिनश्च पतिव्रता।
न कोपं कुरुते शुद्धा ताडिता चापि कोपिता॥
(श्रीकृष्ण० ८३। ११७)

'और अपने पतिके साथ उत्तर-प्रत्युत्तर न करे। उस शुद्ध स्वभाववाली स्त्रीको चाहिये कि अपने पतिद्वारा ताडना दी जानेपर या क्रोध दिलाये जानेपर भी पतिपर क्रोध न करे।'

क्षुधितं भोजयेत् कान्तं दद्यात् पानं च भोजनम्।
न बोधयेत् तं निद्रालुं प्रेरयेन्नैव कर्मसु॥
(श्रीकृष्ण० ८३। ११८)

'अपने प्यारे पतिको जब वह भूखा हो तो उसे भोजन करावे, उसे खाने-पीनेकी वस्तुएँ आदरपूर्वक अर्पण करे। जब वह सोया हुआ हो उस समय जगावे नहीं तथा कोई कर्म करनेके लिये प्रेरणा भी न करे।'

पुत्राणां च शतगुणं स्नेहं कुर्यात् पतिं सती।
पतिर्बन्धुर्गतिर्भर्त्ता दैवतं कुलयोषितः॥
(श्रीकृष्णजन्म० ८३। ११९)

'सती स्त्रीको चाहिये कि पुत्रोंकी अपेक्षा सौगुना प्रेम पतिके साथ करे। कुलवती स्त्रियोंके लिये पति ही मित्र है, पति ही गति है, पति ही देवता है।'

शुभं दृष्ट्वा सुधातुल्यं कान्तं पश्यति सुन्दरी।
सस्मितं वदनं कृत्वा भक्तिभावेन यत्नतः॥
(श्रीकृष्णजन्म० ८३। १२०)

'सुन्दरी स्त्री सावधानीके साथ नमस्कार करके हँसती हुई अमृतके सदृश शुभ वस्तुको देखकर प्रियतम पतिदेवका दर्शन किया करती हैं।'

* * *

परमानन्द-रस-सार

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

परम मङ्गलमय—प्रभुके सर्वकामवरास्पद, कल्याणैकतान, लावण्यधाम पादारविन्दोंकी विस्मृति ही सबसे बड़ी भारी विपत्ति है । अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक, आनन्दकन्द सच्चिदानन्दघन नन्दनन्दन मुकुन्दके परम मङ्गलमय नामोंका विस्मरण ही सबसे बड़ा उपसर्ग, संकट, अकाल, दुष्काल तथा घोर भयंकर उत्पात है । परमकारुणिक, अकारणकरुणावरुणालय श्रीरामभद्र राघवेन्द्रकी रूपमाधुरीके ध्यानादिमें प्रमाद ही भयावह मृत्युका मानो निमन्त्रण है, सबसे बड़ा दुर्भाग्य है । ज्ञानिनामग्रगण्य, सकल सद्गुणनिधान, भक्तेष्टप्रद परम गुरु मारुतिने परमकरुणामयी पराम्बा भगवती श्रीसीताके विशाल कष्टोंका वर्णन करते हुए कहा था कि 'प्रभो ! सबसे बड़ी भारी विपत्ति यही है जो आपके वरद पादपद्म-किंजल्क तथा मङ्गलमय नामका ध्यान, स्मरण, भजन न होता हो—

'कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥'

पूज्य गोस्वामीजी भजनहीन मनुष्यको बिल्कुल मरा हुआ कहते हैं—'न तु डोलत और मुए धरि देही' (कवितावली ७ । ३६) उसका जीवन नरकरूप है और वह सबसे बढ़कर अभागा है जो भव-भय-भञ्जन रघुवीर-पदारविन्दके विमुख है । 'ते नर नरकरूप जीवत जग भव-भंजन-पद-विमुख अभागी ।' (विनय-पत्रिका)। उनके मतसे जीनेका फल सर्वभावेन सर्वदा भगवत्स्मरण ही है ।

श्रुति रामकथा, मुख रामको नामु हिए पुनि रामहि को थलु है।
सबकी न कहै, तुलसीके मतें इतनो जग जीवनको फलु है।
(३७)

काशीखण्ड, विष्णु-धर्म, गरुडादि पुराणोंमें बतलाया गया कि यही सबसे बड़ी हानि है, यही बड़ी बेढब चूक है । इसीको अन्धत्व, बधिरत्व, जडता या मूकता समझना चाहिये, जो किसी क्षण किसी पल केशव भगवान् वासुदेवका चिन्तन बंद हो जाय—

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूढता ।
यन्मुहूर्त्तं क्षणं वापि केशवं नैव चिन्तयेत् ॥
(गरुडपुराण २२२ । २२)

इयमेव परा हानिरुपसर्गोऽयमेव हि ।
अभाग्यं परमं चैतद् वासुदेवं न चिन्तयेत् ॥
(स्कन्दपुराण काशीख० २१ । ५१)

यन्मुहूर्त्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते ।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिः सैव विक्रिया ॥
(विष्णुधर्म०)

गरुड और लिङ्गपुराणमें बतलाया गया है कि सभी शास्त्रोंका बार-बार आलोडन, अध्ययन, मननकर बराबर इसी निष्कर्षपर पहुँचा गया कि सदा-सर्वदा नारायणका ध्यान-स्मरण किया जाय—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥
(गरुडपुराण २२२ । १, लिङ्गपुराण २ । ७ । ११)

गरुडपुराणका मार्मिक उपदेश कि जो भगवान्का स्मरण कर रहा है, उसके लिये यह कलियुग भी सत्ययुग ही है और यदि भगवान्के स्मरणसे मतलब नहीं तो ऐसे प्राणीके लिये सत्ययुग भी कलियुग ही है—

कलौ कृतयुगस्तस्य कलिरेव कृतौ युगे ।
हृदये यस्य गोविन्दो यस्य चेतसि नाच्युतः ॥
(गरुडपु० २२२ । २३)

जिसका सोते-जागते, चलते-फिरते, उठते-बैठते सदा-सर्वदा भगवान्में ही मन लगा है, वह कृतकृत्य है—

यस्याग्रतस्तथा पृष्ठे गच्छतस्तिष्ठतोऽपि वा ।
गोविन्दे नियतं चेतः कृतकृत्यः सदैव सः ॥
(२४)

जो एक ओर तो कोई पाप कर्म नहीं करता, प्रत्युत बार-बार शास्त्रीय मर्यादाओंके अनुकूल जप, होम, अर्चन आदि करता हो और दूसरी ओर 'मामनुस्मर युध्य च' के अनुसार उसका मन भी भगवान्‌में लगा हो, तो उसके लिये ऐन्द्र, ब्राह्म, प्राजापत्यादि पद भी विघ्न ही है—

वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु ।
तस्यान्तरायो मैत्रेय देवेन्द्रत्वादिकं फलम् ॥
(विष्णुपु० २ । ६ । ४१, गरुड २२२ । २५)

महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्ममें आचार्य भीष्मने इन इन्द्रादि पदोंको विघ्न ही नहीं, निरय(नरक) नामसे सम्बुद्ध किया है—

दिव्यानि कामचारीणि विमानानि सभास्तथा ।
आक्रीडा विविधा राजन् पद्मिन्यश्चैव काञ्चनाः ॥
चतुर्णां लोकपालानां शुक्रस्याथ बृहस्पतेः ।
मरुतां विश्वदेवानां साध्यानामश्विनोरपि ॥
रुद्रादित्यवसूनां च तथान्येषां दिवौकसाम् ।
एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः ॥
... ...
तस्य स्थावरस्येह सर्वे निरयसंज्ञिताः ॥
(१०८ । ४–६, १, १)

सचमुच ये लोक, ये पद उस महान् परमात्मपदके समक्ष निरय-तुल्य ही हैं ।

वस्तुतः भगवन्नामकी महिमा अपार है । उसकी पवित्रता अतुल्य तथा अचिन्त्य है । गरुडपुराण कहता है कि भगवान् नारायणके नमस्कारका पुण्य एक ओर तथा ६६ हजार शास्त्रोंमें वर्णित तीर्थोंके विधिपूर्वक भ्रमणावगाहनके पुण्य एक ओर रक्खे जायँ तो इनमें दूसरा पुण्य प्रथमके षोडशांशके तुल्य भी न होगा—

षष्टितीर्थसहस्राणि षष्टितीर्थशतानि च ।
नारायणप्रणामस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥
(२२२ । ३)

पूज्यपाद गोस्वामीजी भी—

तीरथ अमित कोटि सम पावन ।
नाम सकल अघ पुंज नसावन ॥

कहकर इसका ध्यान दिलाते हैं । एक जगह तो वे कहते हैं कि सभी श्रेष्ठ देवताओंके तीर्थ, भगवत्-परायण जीवके स्पर्शकी प्रार्थना करते हैं—

सुर-तीरथ तासु मनावत आवत,
पावन होत हैं ता तनु छ्वै ॥
(कवि० ७ । ३४)

एक भावुक कविने तो इसका और विचित्र चित्रण किया है । वे कहते हैं—

'दुइ बेर द्वारका त्रिबेणी जाय तीनि बेर,
चार बार काशी गंग अंगहूँ नहाये ते ।
पाँच बार गयो जाय छै बार नैमिषार,
सात बार पुष्कर मज्जन कराये ते ॥
रामनाथ, जगन्नाथ, बद्री, केदार,
अरु दशासुमेध दस दस बार धाये ते ।
जेते फल होत कोटि तीरथ नहाये एते,
तेते फल एक बार रामनाम गाये ते ॥'

इसे कविकी कोरी कल्पना करार देकर तिरस्कृत भी नहीं किया जा सकता ।

इसका पोषक—

गङ्गास्नानसहस्रेषु पुष्करस्नानकोटिषु ।
यत्पापं विलयं याति स्मृते नश्यति तद्धरेः ॥

यह श्लोक पुराणोंमें उपलब्ध होता ही है ।
(गरुडपुराण पूर्व खण्ड २२२ । १८)

वस्तुतः भगवन्नामस्मरण-परायण व्यक्तिके लिये बिना ही गृहस्थाश्रम त्यागे, बिना ही कोई तपोऽनुष्ठान किये मनोविजय तथा मायासंतरण सुकर हो जाता है—

असंत्यज्य च गार्हस्थ्यमतप्त्वा च महत्तपः ।
छिनत्ति पौरुषीं मायां केशवार्पितमानसः ॥
(गरुडपुराण २२२ । २६)

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः ।
मुकुन्दसेवया यद्वत् तथात्माऽऽद्धा न शाम्यति ॥
(श्रीमद्भा० १ । ६ । ३६)

गोस्वामीजी तो कहते हैं कि हरिस्मरण करनेवाले प्राणीने सम्पूर्ण धर्म-कर्मोंका अनुष्ठान कर लिया, सर्वस्व

दान दिया और 'तत्तपो यद्भवस्मृतिः' के न्यायसे घोर तप किया—

तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं
तेन सर्वं कृतं कर्मजालम्।
येन श्रीरामनामामृतपानकृत-
मनिशमनवद्यमवलोक्य कालम्॥
(विनय० ४६)

यह नहीं कहा जा सकता कि वेदोंमें भगवत्-स्मरणका महत्त्व कम है या नहीं है । सम्पूर्ण उपनिषद्-भागका एकमात्र तात्पर्य भगवद्ध्यानमें ही है । संहिताभागमें भी—

'मर्त्या अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे ।
प्रियासो जातवेदसः आस्य जानन्तोऽपि विवक्तन ॥'

आदि अगणित मन्त्र मुक्तकण्ठसे नामकी महिमा गा रहे हैं । वेदविदोंका तो कहना है कि वैदिक कर्मानुष्ठानमें प्रमादजन्य जो प्रच्यवन होता है, वह भगवान्‌के स्मरण करते ही सम्पूर्ण हो जाता है—

प्रमादात् कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत् ।
स्मरणादेव तद् विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः ॥

साथ ही विघ्नोंका क्षय होता है—

कीर्त्यमाने नृभिर्नाम्नि यज्ञेश ते
यज्ञविघ्नाः क्षयं यान्ति तस्मै नमः ।
(श्रीमद्भा० ४ । ७ । ४७)

मुमुक्षु पुरुषको काम-क्रोधादि आसुरीभावोंसे सर्वथा मुक्त होकर तृणसे भी हीन, तरुसे भी सहिष्णु बनकर श्रद्धापूर्वक भगवच्चिन्तन करना चाहिये । नामापराधादि दोषोंसे भी बचना आवश्यक है । शास्त्रोंमें साधनविघातक ये महान् दोष भी बताये गये हैं—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥
(मनु० २ । ९७)
किं तज्जपेन तपसा मौनेन च व्रतेन च ।
सुरार्चनेन दानेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम् ॥
(पद्मपु० पाताळखण्ड ९५ । १४)

श्रीमद्भा० ११ । १४ । ३०, ११ । २६ । १३, महा० अनु० ३८ । ४०, ब्रह्मवैवर्त० कृष्णजन्म० ६१ । ३५, ब्रह्मखं० १६ । ७, बृहन्नारदीयपु० ७ । ६ आदि ।

यत् क्रोधनो यजति यच्च ददाति नित्यं
यद्वा तपस्तपति यच्च जुहोति तस्य ।
प्राप्नोति नैव किमपीह फलं हि तस्य
मोघं फलं भवति तस्य हि क्रोधनस्य ॥
(वामनपु० १७ । १८)

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह ॥
(गीता १७ । २८, गरुण० उत्तरप्रेत० २ । ३०)

सतत भगवत्परायणता सर्वाधिक सर्वोपरि दुर्लभ पदार्थ है—

सब ते सो दुर्लभ सुरराया । रामभगति रत गत मद माया ॥

अस्त्वेवमेव भगवान् भजतां मुकुन्दो
भक्तिं ददाति कर्हिचिन्न तु भक्तियोगम् ।
(श्रीमद्भा० ५ । ५ । १८; गर्गसंहिता वृन्दावनखं० १५ । २७)

जिन्होंने हजारों वर्षतक भगवान्‌की सपर्या की है, उन्हींसे यह बन पाता है—

येन जन्मसहस्राणि वासुदेवो निषेवितः ।
तन्मुखे हरिनामानि सदा तिष्ठन्ति भारत ॥

जिन महाभागों महानुभावोंको इसकी सुरसताका लेशमात्र भी स्वाद मिल गया वे मोक्षतककी भी चिन्ता नहीं करते—

सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहुँ लहेउ ।
ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्म-सुखहि सज्जन सुमति ॥

जिन्हें इसका भगवत्-कृपासे आशय समझमें आ गया है, उनका भगवदाराधन ही व्रत हो जाता है । वे तीनों लोकोंकी सम्पत्तिके लोभ दिखानेपर भी क्षणमात्रके लिये भी स्मरणसे उपरत नहीं हो सकते—

'स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य' 'स्वभावो भजनं हरेः'
(गीता-गूढ़ार्थ, उपोद्० भाग० ५ । १५-१६)

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दात् ··'

जिस तरह चन्द्रोदयसे दिनके आतपका अपहरण होता है, उसी तरह प्रभुकी पद-नख-मणि-चन्द्रिकाद्वारा निरस्तताप प्राणीके हृदयमें लोभ-मोहादि कैसे सम्भव होंगे—

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखानख-
मणिचन्द्रिकया निरस्ततापे ।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स
प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ५४)

तब लगि बसत जीव उर माहीं ।
जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं ॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा ।
धरे चाप सायक कटि भाथा ॥

इन्हीं कारणोंसे प्रभु 'आनन्दहुके आनन्ददाता' हैं । प्राणोंके प्राण और सुखोंके भी सुख हैं । उनके मुखचन्द्रका ध्यान आनन्दाम्बुधिका वर्धन है, वैसा ही नामादिका स्मरण भी—

आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपलं पुण्यामृतास्वादनम् ।

इसका स्वाद जिसे स्वप्नमें भी मिल जाता है, वह बस, यही चाहता है कि किसी प्रकार—**'श्रवनन्हि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गइहौं'** की प्रतिज्ञा निभे ।

कहते हैं कि प्रभुका अबाध ध्यान भोग-विलासोंमें नहीं बनता । वह तो कष्टमें ही सम्भव है । इसीलिये माता कुन्तीने पग-पगपर विपत्तियाँ माँगीं—

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥
जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान् ।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ॥
(श्रीमद्भा० १ । ८ । २५-२६)

यही—

'करहिं जोग जोगी जेहि लागी । भूप राज तजि होहिं बिरागी ॥'

'ग्रामाद् वनं क्षितिभुजोऽपि ययुर्यदर्थाः ।'*
येऽध्यासनं राजकिरीटजुष्टं
सद्यो जहुर्भगवत्पार्श्वकामाः ॥†
(१ । १९ । २०)

सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति ॥‡
(१० । ४७ । १८)

तथा—

यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽङ्ग-
वैन्यजायन्तनाहुषगयादय ऐकपत्यम् ।
राज्यं विसृज्य विविशुर्वनमम्बुजाक्ष
सीदन्ति तेऽनुपदवीं त इहास्थिताः किम् ॥§
(१० । ६० । ४१)

इसका भी रहस्य है ।

---

* जिन (भगवान्) के लिये राजालोगोंने भी बस्तीको छोड़कर वनका रास्ता लिया है ।

† जिन्होंने भगवान्का सान्निध्य प्राप्त करनेकी इच्छासे चक्रवर्ती सम्राट्के सिंहासनका भी तुरंत त्याग कर दिया, जिसके नीचे अन्य राजा अपने मुकुटोंको रगड़ते हैं ।

‡ बहुत-से लोग अपनी दुःखमय घर-गृहस्थी छोड़कर अकिञ्चन हो जाते हैं और पक्षियोंकी तरह चुन-चुनकर—भीख माँगकर अपना पेट भरते हैं ।

§ अङ्ग, पृथु, भरत, ययाति और गय आदि जो बड़े-बड़े राज-राजेश्वर आपको पानेकी इच्छासे अपना-अपना एकच्छत्र साम्राज्य छोड़कर, हे कमलनयन ! वनमें चले गये थे, वे आपके मार्गका अनुसरण करनेके कारण क्या किसी प्रकारका कष्ट उठा रहे हैं ?

विवेक

(लेखक—श्रीरघुनाथसिंहजी एम्० पी०)

भयंकर अन्धकारपूर्ण गुहामें उषातुल्य सुहावना प्रकाश धीरे-धीरे फैलने लगा । अन्धकार आन्दोलित हो उठा । अन्धकार गुहाका एकच्छत्र अधिकार त्यागना नहीं चाहता था; किंतु प्रकाशरश्मियाँ शनैः-शनैः गुफामें बढ़ रही थीं । अन्धकारने अपनी अस्तित्व-रक्षाके लिये गुफाके किसी कोनेमें आश्रय लेना चाहा; किंतु प्रकाशके विपुल प्रसारके सम्मुख वह कहीं टिक न सका । बाध्य होकर अन्धकार गुफासे भाग निकला।

गुफा प्रकाशके द्वारा ज्योतिर्मय हो उठी । एक आगन्तुक आ रहा था । वह निर्मल था । शुद्ध था । शान्त था । गम्भीर था । उसे देखते ही गुफामेंसे कोई कह उठा—

'आगन्तुक ! आपका प्रकाशके साथ शुभागमन हुआ है—धन्यवाद ।'

'आपका वह बन्धन कैसा है ?'

'मित्र ! अपनी कहानी पुनः कहूँगा । क्या मैं आपका शुभ परिचय जाननेका अधिकारी हूँ ?'

'बन्धु ! मुझे लोग 'विवेक' कहते हैं । क्या मैं भी आपका परिचय प्राप्त कर सकूँगा ?'

'ओह ! मेरा नाम ? मुझे लोग 'जीव' कहते हैं ।'

'मित्र ! तुम्हारा सुन्दर रूप इतना मलिन कैसे हो गया है ?'

'विवेक ! वासनाने मुझे मलिन कर दिया है ।'

'तुम पवित्रता-लाभ क्यों नहीं करते ?'

'किस प्रकार—!'

'स्नानके द्वारा—!'

'कैसे स्नान करूँ बन्धु ?'

'क्यों—?' विवेकने साश्चर्य पूछा ।

'देखते नहीं ! चित्तने मुझे बाँध रक्खा है । मेरी स्वाधीनता छिन गयी है । शत्रुने मेरा सर्वस्व अपहरण कर मुझे भिखारी बना दिया है । न जाने कितने दिनोंसे मैं इस तिमिराच्छन्न गुफामें पड़ा हूँ ।'

'मुक्त क्यों नहीं हो जाते ?'

'चित्तने मुझे बाँध रक्खा है । मुझमें इतनी शक्ति कहाँ शेष रह गयी बन्धु ?'

'मेरी सहायता लोगे ?'

'तुम मेरे वास्तविक मित्र हो, विवेक ।'

'आओ ! मैं तुम्हारा बन्धन खोल दूँ । चित्तने कितना मजबूत चिन्ताका बन्धन लगा दिया है ?'

'बन्धु ! इस बन्धनने मुझे जीवित ही जला दिया है । मैं जीता हुआ भी मरा हूँ । शरीरपर बन्धनके काले-काले धब्बे पड़ गये हैं ।'

'जीव !—विवेकने बन्धन खोलते हुए कहा—यहाँसे छुटकारा मिलनेपर कहाँ जाओगे ?'

'जहाँ तुम कहोगे ?'

'मैं—?'

'हाँ—'

जीव चुप हो गया । उठकर खड़ा हो गया था । विवेक जगच्चिन्तनकी चिन्ता-डोरियाँ सरिआने लगा ।

'मित्र !'—जीवने अनुगृहीत स्वरमें कहा—'तुम्हारा यह अनुग्रह कभी भूल न सकूँगा ।'

विवेकने प्रेमसे जीवके कण्ठमें करमाला डालते हुए स्नेहपूर्ण स्वरसे कहा—'इस गुफाके अन्धकारको सदाके लिये नमस्कार करके चलो चलें ।'

गुफाके बाहरकी शीतल, शुद्ध, स्वास्थ्यप्रद सुखद वायुका स्पर्श प्राप्त करके जीव जीवनमय हो उठा। शून्य जगत्की ओर उसकी दृष्टि गयी। उसने निःश्वास परित्याग करते हुए कहा—

'विवेक ! इस सुहावने वायुमण्डल एवं प्रकृतिकी सुषमा देखकर अपने मलिन रूपपर मुझे लज्जा आती है। वासनाकी मलिनताने मेरा वास्तविक रूप बिगाड़ दिया है।'

'आओ ! पवित्र सरितामें स्नान करें।'

जीवने स्वच्छ पवित्र विरक्ति-सरितामें पूर्ण स्नान किया। उसकी मलिनता दूर हो गयी। शुद्ध रूप निखर आया। अपनी शुद्धतापर स्वयं प्रसन्न होता हुआ वह बोला—

'मित्र ! क्या मेरा अब वही रूप है ?'

'नहीं, जीव ! अब तुम्हें पहचानना कठिन होगा। तुम्हारा शुद्ध स्वरूप कितना निर्मल, कान्तिपूर्ण, सुन्दर और दिव्य है, देखते ही बनता है।'

विवेक एवं जीव स्नानके पश्चात् किनारेपर पहुँचे तो वहाँ स्वर्गीय संगीतकी मधुर ध्वनि सुन पड़ी।

'विवेक ! यह संगीत कैसा ?'

'सुनोगे ?'

'चलो—।'

विवेक एवं जीवने पवित्र सरिता-तटपर सामगानमें तल्लीन तपस्वियोंको देखा।

'जीव ! यह है स्वर्गीय संगीत। सुननेकी इच्छा हो तो बैठ जायँ।'

'विवेक ! यह नयी दुनिया है। नया जीवन है।' दोनों गान सुनने लगे। कुछ समय पश्चात् विवेकने कहा—

'मित्र ! अब मैं जाता हूँ।'

'कहाँ—?'

'वहीं—जहाँसे आया था।'

'क्यों !'

'मेरा कार्य पूरा हो गया।'

'मैं भी साथ चलूँगा !'

'तुम—?'

'हाँ, जहाँ तुम चलोगे, मैं भी चलूँगा। जहाँ तुम रहोगे, वहीं मैं भी रहूँगा। तुम्हारा निवासस्थान सुन्दर, पवित्र, उत्तम एवं शुद्ध होगा।'

'नहीं यहीं रहो—' विवेकने मुसकराकर कहा।

'नहीं—'

'अच्छा चलो।'

× × ×

'यह क्या है ?'

'सागर—'

'भयंकर है।'

'भँवरें कितनी रौद्र हैं ?'

'जैसे मृत्यु।'

'तरंगें सुन्दर लगती हैं—'

'तृष्णाकी तरह—'

'जल उत्तम है ?'

'जैसे अज्ञान।'

'यहाँके प्राणी कितने आनन्दपूर्वक विचरण करते हैं !'

'इन्द्रियाँ जैसे हंस जन्तु हैं।'—जीवने घृणापूर्वक कहा।

'पार उतरना है ?'

'सागर मृत्युस्वरूप है विवेक ! इस भयंकर जलराशिको कैसे पार किया जायगा ?'

'वह देखो ! नौका—'

'किसकी है—'

'मेरी—।'

'ओह—'

'चलोगे ?'

'हाँ—'

'भयभीत तो न होगे ?'

'नहीं।'

'क्यों—?'

'तुम जो साथ हो।'

'दोनों नौकापर बैठ गये। नौका लहरोंपर खेलती चल पड़ी।'

× × ×

'हम कहाँ आ गये ?'

'अपने देशमें !'

'कितना आनन्द है—आनन्दसे जीवकी आँखें बंद हो गयीं !'

विवेक नाव खेते हुए चला जा रहा था ।

'कहाँ चल रहे हो विवेक ?'

'उसीके पास जिसने मुझे भेजा था ।'

'किसने भेजा था—?' जीव आश्चर्यचकित बोल उठा ।

'परमात्माने ।'

'क्यों ?'

'तुम्हें बन्धनमुक्त करनेके लिये ।'

'ओह—!' जीव गम्भीर हो उठा ।

विवेकके अधरोंपर मुसकान थी । किनारा मिला । वे उतरे । कुछ काल चलते रहनेपर जीव खड़ा हो गया । विवेक चलता रहा । उसने मुड़कर नहीं देखा । विवेकको जाते हुए देखकर, मित्र-वियोग देखकर भी जीव कुछ कह न सका । आत्म-देशमें निर्विकार स्थिर खड़ा रहा । दृष्टि अन्तर्मुख हो गयी । आत्म-दर्शन हुआ । आत्मदेशमें, आत्म-दर्शनद्वारा वह आनन्दमय हो उठा । उसने देखा, आत्मा शान्त है । उसने आत्मासे पूछा—

'आत्मन् ! विवेक कहाँ गया ?'

'जीव !—अन्तर्ध्वनि हुई—तुमने अन्तर्मुख होकर मुझे देखना चाहा था । विवेक मेरा दूत था । वह मेरे पास आ गया । उसका ध्यान त्याग दो ।'

'भगवन् !'

'जीवने आत्मदेवको नमस्कार किया । उसके चारों ओर आनन्द था । वह कह उठा—

'ओह—! आनन्द !! परमात्मा मैं—आत्मा ! आनन्दस्वरूप—मैं स्वयं ।'

'जीव जीव नहीं रह गया ।'

× × ×

पवित्र आत्मा

(लेखक—परमहंस श्रीस्वामी पूर्णानन्दजी 'बंगाली बाबा')

सुख देवै, दुखको हरै, दूर करै अपराध ।
कहै कबीर वह कब मिलै, परम सनेही साध ॥

जो व्यक्ति पवित्र है, उसपर कोई भी अपनी दुरभिसन्धिसे विजय प्राप्त नहीं कर सकता । न तो कोई शत्रु उसको हरा सकता है और न सता ही सकता है । उसकी रक्षा उसकी ईमानदारी और पवित्रताके द्वारा अपने-आप होती है । उसको और किसी रक्षककी आवश्यकता नहीं । जिस प्रकार पापका पुण्यपर अधिकार जमाना असम्भव है, उसी प्रकार अपवित्र मनुष्य पवित्र मनुष्यपर कभी अधिकार नहीं जमा सकता । मिथ्या दोषारोपण, घृणा और द्वेष न तो वस्तुतः पवित्रताके पास पहुँच सकते हैं और न उसका कुछ बिगाड़ ही सकते हैं । जो मनुष्य उसको हानि पहुँचाना चाहता है, अन्तमें स्वयं उसीको तिरस्कार सहना पड़ता है ।

पवित्र मनुष्य कोई ऐसा अनुचित काम नहीं कर सकता, जिससे उसको दूसरोंसे दबना पड़े; अथवा वह कोई ऐसी दूषित इच्छा नहीं रखता, जिसके कारण दूसरोंके सामने उसे नीचा देखना पड़े । इसलिये वह सदैव निर्भय रहता है । उसे कभी लज्जित नहीं होना पड़ता । वह जो काम करता है, दृढतापूर्वक करता है और जो कुछ कहता है, यथार्थ कहता है । वह किसीके आगे भयसे न झुकता है, न झिझकता है । जो मनुष्य किसीका अनिष्ट नहीं करता, वह किसीसे क्योंकर डर सकता है ? जो मनुष्य किसीको धोखा नहीं देता, वह किसीके सामने क्योंकर लज्जित हो सकता है ? वह किसीको कभी भी हानि नहीं पहुँचाता,

इसलिये दूसरे भी उसे हानि नहीं पहुँचाते । इसी प्रकार वह किसीको धोखा नहीं देता, इसलिये दूसरे भी उसे धोखा नहीं दे सकते ।

पवित्र मनुष्य अपने सब काम ईमानदारी और परिश्रमके साथ करता है । वह पापोंसे कोसों दूर रहता है । इसलिये उसे कोई किसी बातमें दबा नहीं सकता । जिसने अपनी आभ्यन्तरिक पवित्रताके द्वारा भीतरी शत्रुओंको मार डाला है, उसे न तो कोई बाह्य शत्रु पराजित कर सकता है और न उसे बाह्य शत्रुओंसे अपनी रक्षा ही करनी पड़ती है; क्योंकि उसकी पवित्रता ही उसकी रक्षाके लिये यथेष्ट है ।

जो मनुष्य अपवित्र है, उसे प्रायः सभी बातोंमें दबना पड़ता है; क्योंकि वह सदा मनोविकार और पक्षपातका दास बना रहता है । दूसरोंके विषयमें वह मिथ्या मन्तव्य स्थिर कर लेता है, इसलिये उसको दूसरोंके द्वारा सदा दुःख पहुँचता रहता है । जब दूसरे उसपर दोषारोपण करते हैं, तब उसे बड़ा दुःख होता है; क्योंकि वह वास्तवमें सदोष है और चूँकि उसके पास अपनी रक्षा करनेके लिये पवित्रता नहीं होती । इसलिये वह बदला लेनेका प्रयत्न अथवा भाँति-भाँतिकी दलीलें या धोखा देकर अपने-आपको निर्दोष सिद्ध करनेका प्रयत्न करता है । फलतः उत्तरोत्तर नये-नये दुःखोंका शिकार बनता चला जाता है ।

* * *

आध्यात्मिक आनन्द

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम० ए०)

भारतीय संस्कृतिकी मूल भावना आध्यात्मिक है । अनन्तकालसे जीवित और सर्वव्यापी भारतीय मनोभावों, संस्कारों और शान्तिका रहस्य हमें प्रभुकी भक्ति, पूजन, कीर्तन, भजनमें प्राप्त होता है । भक्ति तथा उसका उच्च आनन्द हमारी भावनाओं, मान्यताओं, विचारों एवं आदर्शोंको रसमय बनाता है । भक्तिसे स्निग्ध वचन गीतिकाव्यके रूपमें प्रवाहित होकर साहित्यकी अमूल्य निधि बने हैं । भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, प्रेमतत्त्व, अध्यात्म-रहस्य, गुण और प्रभावका वर्णन करते-करते सूर, तुलसी, मीराँबाई, नानक और कबीर इत्यादि ऐसी काव्य-सम्पदा हमारे लिये छोड़ गये हैं कि जिनके गायन-मात्रसे हमारे प्रमाद, आलस्य, भोग और पापका सर्वथा निवारण हो जाता है; काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या और अन्य दुर्विचार नष्ट हो जाते हैं ।

जब आप सांसारिक दौड़-धूप एवं कुटिल संघर्षसे थक जायँ, तब लोकहितकारी परमानन्द प्रदान करनेवाली प्रेममयी भक्तिका आनन्द लीजिये । भक्तिरससे परिपूर्ण दो-चार सात्त्विक भजन धीमी-धीमी प्रेममयी वाणीसे गुनगुनाइये । कीर्तनमें ऐसे रम जाइये, जैसे प्रत्यक्ष भगवान्‌के सम्मुख ही बैठे हुए हैं । भगवद्भजनमें आपको सच्ची आन्तरिक शान्ति प्राप्त होगी । भजनके आनन्दकी तुलना संसारका कोई आनन्द नहीं कर सकता । प्रभुके प्रेमरसके कीर्तनमें संसारके समस्त कल्मष, संघर्षपूर्ण चिन्ताएँ, दुरभिसन्धियाँ प्रक्षालित हो जाती हैं । मनुष्यकी कुछ ऐसी प्रवृत्ति है कि भगवद्भजनमें रमण करनेसे उसे सर्वाधिक आनन्द प्राप्त होता है । इन्द्रियाँ तृप्त हो जाती हैं और मन शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।

हृदयकी सच्ची प्रार्थनामें जो आन्तरिक आनन्दानुभूति होती है, हृदय जिन सात्त्विक भावनाओंसे परिपूर्ण होकर आत्मविभोर हो जाता है, उसे भोले भक्तका अकलुष हृदय ही अनुभव कर सकता है । भक्तिरससे स्निग्ध व्यक्ति आत्माकी ज्योतिके प्रकाशमें रहता है

आत्मा, जो परमात्माका अंश है, सारे शरीरकी स्फूर्ति, आनन्द, आह्लादका उद्गम है। अपने दूषित विचारोंका दमन करो, तुम्हारे आनन्दोपभोगमें विश्वकी कोई शक्ति बाधा नहीं डाल सकती।

जो जिस स्तरपर है, वह अपनी शिक्षा, बुद्धि, विवेक तथा भावनाके अनुसार मनोरञ्जनका साधन प्राप्त करता है। जो पशुत्वकी कोटिके हैं, वे खान-पान, भोग-विलास, इन्द्रियलोलुपता तथा साधारण वस्तुओंमें आनन्द खोजते हैं; किंतु जो आत्माके आनन्दको समझते हैं, वे साधारण कोटिपर नहीं रुकते। निरन्तर आत्मचिन्तनमें निरत रहते हैं।

विषयोंकी लालसा करनेवाले व्यक्ति कभी सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं कर पाते। गीतामें कहा गया है—

'विषयोंकी चिन्ता करनेसे उनमें सङ्ग (आसक्ति) होता है, सङ्गसे काम या उनको भोगनेकी कामना उत्पन्न होती है, कामसे (यदि इच्छा पूर्ण न हो तो) क्रोध होता है, फिर क्रोधसे मोह और मोहसे स्मृतिका नाश होता है—भले-बुरेका ज्ञान नहीं रह पाता। स्मृति-नाशसे बुद्धिकी हानि और बुद्धिकी हानिसे सर्वनाश हो जाता है—मनुष्यकी अधोगति होती है। वह विषयोंमें आनन्द ढूँढ़ता हुआ विनाशको प्राप्त होता है।'

भगवान्‌की भक्ति, अध्यात्म-चिन्तन, परमतत्त्वकी खोजमें उच्चतम आनन्दकी उपलब्धि होती है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

'अर्थात् यदि मनुष्य राग और द्वेषका परित्याग करके मन-इन्द्रियोंको वशमें करके उनके द्वारा विषयोंका ग्रहण करे, तब वास्तविक आनन्द प्राप्त होता है।'

इन्द्रियाँ जब हमारे वशमें न होकर दूषित विषयोंकी ओर हमें ले जाती हैं, मन जब हमारे वशमें न होकर नाना प्रकारकी सांसारिक चिन्ताओं, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिशोधकी विचार-धाराओंमें संलग्न रहता है, तब मनमें चञ्चलता और अस्त-व्यस्तता आती है और फलतः हम आनन्दसे दूर होकर दुःखके गहरे गड्ढेमें गिर जाते हैं, परंतु जब हम आध्यात्मिक दृष्टिकोणको अपनाकर सर्वत्र एक ब्रह्मके दर्शन करते हैं, तब मन सदा आनन्दस्वरूप परमात्मामें मग्न रहता है। तब हमें सर्वत्र भगवान्‌का रूप ही दृष्टिगोचर होता है। सर्वोत्तम आनन्द जो हमारे मन, आत्मा और शरीरको अखण्ड आनन्द प्रदान करता है, आध्यात्मिक आनन्द ही है।

आध्यात्मिक सुख एवं आनन्दकी महिमा समझाते हुए भगवान्‌ने निर्देश किया है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
(गीता ६। २१)

अर्थात् 'इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ यह योगी भगवत्-स्वरूपसे चलायमान नहीं होता है।'

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(गीता ६। २२)

'और परमेश्वरकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता है और भगवत्-प्राप्ति रूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे विचलित नहीं होता है।'

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
(गीता ६। २३)

'और जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये। वह

योग न उकताये हुए चित्तसे अर्थात् तत्पर हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है ।'

भगवान्‌ने प्रतिज्ञापूर्वक कहा है—'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य और शूद्रादि तथा पापयोनिवाले भी जो हों, वे भी मेरी शरणमें आकर परमगतिको प्राप्त होते हैं। फिर क्या कहना है कि पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन परमगतिको प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर ।' अतएव भगवद्भजन, हरिनामकीर्तन, सद्ग्रन्थावलोकन, सदाचारी सत्पुरुषोंका सत्सङ्ग, इन्द्रियोंपर पूर्ण अधिकार कर उन्हें ब्रह्मानन्दमें लीन करने तथा इन्द्रियों एवं मनकी विषय-भोगसे निवृत्तिके द्वारा ही सबसे श्रेष्ठ आनन्दकी उपलब्धि हो सकती है। जिस साधकको परमेश्वरके जिस रूपमें अधिक प्रीति और श्रद्धा हो, निरन्तर उसीका भजन, पूजन और चिन्तन करना चाहिये ।

मान-बड़ाईका मोह—एक बड़ी बाधा

मनुष्यको पाप-पथमें प्रवृत्त करानेमें प्रधान कारण कामना या ईषणा ही है। कामना असंख्य वस्तुओंकी होती है और ज्यों-ज्यों काम्य वस्तुओंकी प्राप्ति होती है, त्यों-ही-त्यों कामनाके क्षेत्रका भी विस्तार होता जाता है। विषयकामनाका कहीं अन्त ही नहीं है। तथापि शास्त्रकारोंने तीन विषयोंकी कामनाको मुख्य बतलाया है—पुत्र-कामना, धन-कामना और लोककीर्तिकी कामना। यही त्रिविध ईषणा है। इन्हींके कारण बुद्धि व्यभिचारिणी, अनेक शाखावती और मलिन हुई रहती है—

सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥
(श्रीरामचरितमानस उ०)

इन तीनोंमें भी सबसे कठिन और बहुत आगे बढ़े हुए पुरुषोंमें ही समादरके साथ रहनेवाली कामना है—लोककीर्तिकी—मान-बड़ाईकी। स्त्री (पुत्र) के त्यागकी अपेक्षा धनका त्याग कठिन है। घर छोड़े हुए साधु-संन्यासियोंमें या त्यागी सेवकोंमें भी धन-संचयकी प्रवृत्ति देखी जाती है, फिर चाहे वह आश्रम-मठादि एवं विद्या-संस्थादिके निर्माणके लिये हो या लोकसेवार्थ हो। धनके सर्वथा त्यागके बाद भी मानकी कामना रहती है और वह इतनी मीठी तथा रसीली होती है कि उसका सहज ही त्याग नहीं हो पाता। अपने मुँहसे अपनी अतिशयोक्तिपूर्ण बड़ाई करना, जैसा कि चुनाव आदिमें होता है, एक प्रकारसे आत्महत्याके सदृश ही है। खुली सभाओंमें मानपत्रादिका स्वीकार करना और मुँहपर अतिशयोक्तिपूर्ण बड़ाई सुनना भी बहुत ही नीची बात है। परंतु मानका मन रहना, मानका प्रिय प्रतीत होना भी मानकी प्रत्यक्ष कामना ही है। जहाँ मान प्रिय होगा, वहीं अपमान अप्रिय होगा। मुझे मान प्रिय है या नहीं, इसका पता तभी लग सकता है, जब अपमान या तिरस्कारके समय चित्त क्षोभरहित, निर्विकार और उतना ही प्रसन्न रहे जितना मानकी प्राप्तिके समय रहता। मान-प्राप्तिकी कामना है या नहीं, इसकी यहीं परीक्षा होती है। परंतु इस परीक्षामें भी कदाचित् कोई उत्तीर्ण हो जाय अर्थात् मान न स्वीकार करके या अपमानको वरण करके भी कोई प्रसन्नचित्त दिखायी पड़े तो वहाँ भी वह सर्वथा निर्विकार है या मान-त्यागके कारण बड़ाई या कीर्ति प्राप्त होनेकी आशासे उत्फुल्ल है—यह देखना आवश्यक है।

मानके त्यागकी अपेक्षा अपमानका वरण विशेष कठिन है; परंतु अपमानका वरण भी बहुत बार मनुष्य बड़ाई या कीर्तिके लोभसे कर लेता है। लोगों

प्रत्यक्ष या परोक्षमें यह सुनने अथवा मरनेके बाद इतिहासमें भी यह लिखे जानेका मनुष्यको लोभ हो सकता है 'कि अमुक मनुष्य इतना महान्, विनयी, मानत्यागी और अपमानको भी मानके समान वरण करनेवाला संत था।'

कीर्तिके लोभसे मनुष्य बुरे कामोंसे हटता है, सत्कार्यमें प्रवृत्त होता है। इसलिये कीर्ति वस्तुतः बड़ी ही लोभनीय वस्तु है। पर यही मनुष्यकी सबसे बड़ी कमजोरी भी है। यह सत्य है कि कीर्तिके लोभसे बहुत अच्छे-अच्छे कार्य मनुष्य करता है, कीर्तिके लिये मनुष्य बड़े-बड़े त्याग, आत्मबलिदान, सेवा और दान आदि करता है। इस दृष्टिसे कीर्ति निकृष्ट वस्तु नहीं है। कीर्तिकी कामनासे भी मनुष्य शुभ कर्ममें प्रवृत्त हो तो वह अशुभ कर्मकी या कुछ भी न करनेकी अपेक्षा तो बहुत ही उत्तम है। भगवान् श्रीकृष्णने युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये गीतामें सबसे पहले कीर्तिकी ही बात कही। उन्होंने अर्जुनसे कहा—'इस विषम स्थलमें तुम्हारे अंदर अनार्य (अश्रेष्ठ) पुरुषोंके योग्य, स्वर्गकी अप्राप्तिमें हेतु और अकीर्ति करानेवाला यह कश्मल कैसे आ गया?' 'यदि तुम इस धर्मयुक्त संग्राममें प्रवृत्त न होओगे तो स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होओगे। सब लोग तुम्हारी कभी न मिटनेवाली अकीर्तिका ही कथन करेंगे और सम्मानित पुरुषके लिये अकीर्ति मरणसे भी बढ़कर होती है। तुम्हारा हित न चाहनेवाले लोग तुम्हारे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए बहुत-सी ऐसी बातें भी कहेंगे जो (तुम्हारे गौरवके सामने) कहने योग्य नहीं है। इससे बढ़कर दुःख और क्या होगा?'*

महात्मा कर्णने मरनेके बाद बनी रहनेवाली कीर्तिकी कामनासे ही जन्मके साथ उत्पन्न अभेद्य कवच और कुण्डल शरीरसे काटकर देवराज इन्द्रको दे दिये थे।

महाराजा दिलीपने नन्दिनी गौके लिये सिंहके द्वारा मरनेमें कीर्तिकी ही गाथा गायी थी। सिंहके यह कहनेपर कि 'यदि तुम भूतदयाके वशीभूत हो तो अपना शरीर प्रदान करके तो इस एक ही गायकी रक्षा करोगे और यदि तुम जीवित रहोगे तो अपनी सारी प्रजाको पिताके समान सदा संकटोंसे बचा सकोगे। तुम्हें अपने गुरुका डर लगता हो तो तुम जीवित रहकर घड़ोंके जैसे थनोंवाली करोड़ों गायें उन्हें दे सकते हो।' दिलीपने कई युक्तियोंसे इसका उत्तर दिया और अन्तमें कहा कि 'यदि तुम्हें ऐसा लगता हो कि मेरी हिंसा नहीं हो सकती, मुझपर तुम्हें दया आती है तो मेरे इस नश्वर (स्थूल) शरीरपर क्यों दया करते हो? मेरा जो यशः-(अमर कीर्तिरूपी) शरीर है, उसपर दया करो और इस नश्वर शरीरको खा डालो। इस नश्वर पिण्डपर मुझ-जैसे मनुष्यको कोई आस्था नहीं होती—

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं
यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां
पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु॥
(रघुवंश २। ५७)

महाराजा जनकने धनुषयज्ञमें राजाओंको धनुष तोड़नेमें असमर्थ देखकर यही कहा—

कुँअरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय।
पावनिहार बिरंचि जनु रचेउ न धनु दमनीय॥
(रामच० बा०)

---

* कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥
अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥
(गीता २। २, ३३-३४, ३६)

इस 'कमनीय कीर्ति'के लिये मनुष्य बड़े-से-बड़े मानका त्याग कर देता है और अपमानका भी स्वेच्छासे सुखपूर्वक वरण कर लेता है। परंतु विचार करनेपर स्पष्ट ज्ञात होता है कि कीर्तिकी कामना वस्तुतः एक नग्न मोह है। कीर्ति होती है—अनित्य और पाञ्चभौतिक शरीरके 'नाम'की, और 'नाम' है सर्वथा कल्पित। माताके गर्भमें जब बालक होता है, तब उसका कोई नाम होता ही नहीं। उस समय यह भी पता नहीं होता कि गर्भमें बालक है या कन्या। प्रसव होनेपर शुभ मुहूर्तमें 'नामकरण' होता है। पर यदि वह नाम अच्छा नहीं लगता तो दूसरा रख लिया जाता है। बहुत-से लोगोंको तो अपने जन्मके बाद नामकरणके समय रक्खे हुए नामकी याद ही नहीं होती। नया नाम ही सब जानते हैं। फिर वह नाम भी यदि नहीं रुचा, परिस्थिति बदली, संन्यास ग्रहण कर लिया या किसी अन्य कारणसे उस नामको छिपाना या मिटाना आवश्यक हो गया तो नया नाम रख लिया जाता है। आत्माका तो कोई नाम-रूप होता ही नहीं। वस्तुतः ऐसे अनित्य कल्पित नामकी कीर्ति-अकीर्तिसे आत्माका क्या बनता-बिगड़ता है? उससे आत्माका सम्बन्ध ही क्या है। फिर जो लोग कल्पित नामकी कीर्तिमें हर्षित और अकीर्तिमें उद्विग्न होते हैं, जो अनित्य पाञ्चभौतिक क्षणभङ्गुर शरीर (रूप) और उसके कल्पित 'नाम'को अपना रूप-नाम मानकर उनके आराम और यशमें सुखी तथा शरीरको आराम न मिलने तथा नामकी कीर्ति न होनेमें दुखी होते हैं, 'शरीर'का आराम तथा 'नाम'का नाम चाहते हैं और उसीके प्रभावमें बहुमूल्य जीवन खो देते हैं। वे देहाध्यासी अज्ञानी नहीं तो और क्या हैं? बड़ा ही स्पष्टरूप है यह देहाभिमानका। परंतु मोहकी ऐसी महिमा है कि बड़े-बड़े विचारशील तथा अन्यान्य विषयोंके त्यागी पुरुष भी इस नश्वर शरीरके कल्पित नामकी कीर्तिका लोभ करते देखे जाते हैं। इससे प्रत्यक्ष ही मनुष्यके अज्ञानका पता लगता है, परंतु इस मीठे विषका त्याग बड़ी ही कठिनतासे कहीं हो पाता है। जो लोग विशेष विचारशील होते हैं, वे तो और भी अधिक कीर्तिके चक्करमें फँसे रहते हैं। वे तो प्रत्येक कार्य करते समय यही देखा करते हैं कि 'इसमें हमारी कीर्ति होगी या नहीं, कहीं निन्दा या अकीर्ति तो नहीं होगी।' मानो उनका प्रत्येक कार्य कीर्तिकामनासे ही प्रेरित हुआ करता है!

कीर्ति प्राप्त होती है लोकसे अतएव लोकको संतुष्ट रखना कीर्तिकामीके लिये आवश्यक हो जाता है। वह सदा लोकरुचिको देखता है, लोकमतका अनुगमन करता है और इस प्रकार हर हालतमें हर प्रकारसे लोकरञ्जन करनेका प्रयत्न करता है। थोड़े शब्दोंमें कहा जाय तो यह कहा जा सकता है कि 'लोकरञ्जन' ही उसके जीवनका एकमात्र उद्देश्य बन जाता है। लोकरुचि वैसी ही होती है, जैसा लोक होता है। चोरोंके समाजकी रुचि चोरीकी होगी, डाकुओंकी डकैतीकी, व्यभिचारियोंकी व्यभिचारकी, छल-कपट-दम्भ करनेवालोंकी छल-कपट-दम्भकी। अतएव यदि किसीको ऐसे समाजके लोगोंका रञ्जन करना अभीष्ट होगा तो उनकी रुचिका समर्थन करना पड़ेगा। तभी वे प्रसन्न होंगे और तभी उनके द्वारा बड़ाई या कीर्ति प्राप्त होगी। पार्टी-पोलिटिक्समें यही तो होता है। एक मनुष्य जानता है कि यह कार्य अच्छा नहीं है और उसका मन उस कार्यको स्वीकार भी नहीं करना चाहता; परंतु पार्टीका मत मानना उसके लिये आवश्यक है, नहीं तो, वह पार्टीमें निन्दाका पात्र होगा या उससे बहिष्कृत कर दिया जायगा। इसलिये वह जान-बूझकर भी उस अकार्यका समर्थन करता है। और यों बुराईका समर्थन करते-करते स्वाभाविक ही मनुष्यका स्वभाव बुरा हो जाता है। अतएव कीर्ति चाहनेवाले पुरुषको पापका समर्थन करके पाप-जीवन बनना पड़े तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

लोकरञ्जनकी इच्छा करनेवाला पुरुष लोकरुचि रखनेके लिये—लोकमतका अनुगमन करनेके लिये बाध्य होगा। फिर चाहे वह लोकरुचि या लोकमत कितना ही दोषयुक्त, हेय और त्याज्य क्यों न हो !

दूसरोंकी तो बात ही क्या, मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रने लोकरञ्जनके लिये सर्वथा निर्दोष जानते हुए भी जगज्जननी श्रीसीताजी-सरीखी पवित्र धर्मपत्नीको बड़ी निष्ठुरताके साथ वनमें छुड़वा दिया था। तात्त्विक दृष्टिसे भगवान् श्रीरामचन्द्र और भगवती श्रीसीताजी एक ही परम तत्त्व हैं। श्रीसीताजी भगवान् श्रीरामकी नित्य सत्य स्वरूपाशक्ति हैं, उनसे कभी किसी भी कालमें उनका वियोग वैसे ही नहीं हो सकता जैसे सूर्यसे उनकी स्वरूपभूता ज्योतिका। इस दृष्टिसे तो श्रीसीताजीके त्यागका कोई प्रश्न ही नहीं है।

प्रजावत्सल भगवान् श्रीरामके प्रजारञ्जनकी दृष्टिसे भी श्रीसीताजीका त्याग बड़े महत्त्वका है। यह भगवान् श्रीरामचन्द्रका आत्मबलिदान है। प्रेममूर्ति भगवान् श्रीरामके लिये श्रीसीताजी उनका अपना ही अभिन्न अङ्ग हैं। वे श्रीसीताजीका त्याग उन्हें अलग मानकर नहीं करते। वे मानो श्रीसीताजीका त्याग करके अपने ही अङ्गका विच्छेद करते हैं। प्रजावत्सल शीलसागर तथा मृदुल-स्वभाव महाराज श्रीरामचन्द्र धोबीपर जरा भी क्रोध न करके व्यक्तिगत रूपमें महान् संतापका अनुभव करते हुए भी कठिन कर्तव्य-पालनकी दृष्टिसे इस प्रकार स्वयं ही सहज रूपमें जो अपना शरीर-च्छेद करनेमें नहीं हिचकिचाते, यह उनका महान् त्याग है और प्रजावत्सलताका आदर्श उदाहरण है तथा इस दृष्टिसे सर्वथा प्रशंसनीय है। वास्तविकताकी दृष्टिसे भी भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका यह कार्य महान् है और उनकी मर्यादापुरुषोत्तमता, प्रजावत्सलता, कर्तव्य-परायणता और श्रीसीताजीके प्रति सर्वथा अभिन्न भावका महत्त्वपूर्ण आदर्श है और इस आदर्श महानताको जितना ही हृदयङ्गम करनेकी चेष्टा की जाती है, उतना ही वह बढ़ती हुई असीमताकी ओर जाती दिखायी देती है और इस महत्ताके कारण बरबस भगवान् श्रीरामचन्द्रका श्रीचरण-धूलिकण प्राप्त करनेके लिये अनन्त जीवन एकत्र होकर उनके चरणप्रान्तमें लुट पड़ते हैं और परमपावन श्रीचरणरजका एककण-मात्र प्राप्त करके भी परम कृतार्थ और धन्यातिधन्य हो जाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि भगवान् श्रीरामके द्वारा सीताके त्यागसे और अन्तमें साक्षात् धरणी देवीके प्रकट होकर सीताजीको गोदमें लेकर पृथ्वीमें समा जानेसे श्रीसीताजीका चरित्र सदाके लिये निर्मलतम सिद्ध हो गया। इतना होनेपर भी और यही यथार्थ होनेपर भी एक दूसरा दृष्टिकोण भी है। इस दृष्टिकोणसे यह अनुमान होता है कि मानो सर्वदोषशून्य सर्वकल्याण-गुणगणार्णव-लीलामय भगवान् श्रीरामचन्द्रने हम लोगोंको शिक्षा देनेके लिये जगज्जननी श्रीसीताजीका परित्याग करके यह सिद्ध कर दिया है कि लोकरञ्जनकी इच्छा रखनेवाला किसप्रकार न्याय और धर्मकी रक्षा करनेमें असमर्थ हो जाता है, वह किस प्रकार कितना परवश हो जाता है, किस प्रकार एक मलिनहृदय और नीचाशय मनुष्यकी उक्ति सुनकर उसे प्रसन्न करना चाहता है, किस प्रकार निष्ठुर होकर सर्वथा निर्दोष और निरीह साध्वी सतीका सर्वथा अवाञ्छनीय अनादर एवं तिरस्कार करके उसे कष्ट पहुँचाता है और अन्तमें किस प्रकार अपने इस अनुचित कार्यके लिये उसे दुखी होना पड़ता है।

जो श्रीसीताजी-जैसी परम साध्वी सती भगवतीपर सन्देह करे, उस धोबीके सर्वथा मलिनहृदय और नीचाशय होनेमें तो कोई सन्देह ही नहीं है और भगवान् श्रीरामचन्द्रके सदृश परम बुद्धिमान् महापुरुष इस नीचाशयताको न जानते हों, यह भी नहीं कहा जा सकता, तथा श्रीसीताजी सर्वथा निर्दोष और परम पवित्र हैं—यह भी वे भलीभाँति जानते हैं। अग्नि और

देवतागण प्रत्यक्ष प्रकट होकर जगज्जननी श्रीसीताजीकी परम पवित्रताकी घोषणा कर चुके हैं। ऐसी स्थितिमें श्रीसीताजीको बिना ही कुछ बताये, उन्हें अकेले जंगलमें छुड़वा देनेको 'न्यायका सेतु भंग' नहीं तो और क्या कहा जा सकता है? वे यदि न्याय करते तो उस नीच धोबीको मिथ्या लाञ्छन लगानेके अपराधमें दण्ड दे सकते थे। कम-से-कम उसे अपनी बात सत्य सिद्ध करनेके लिये कह तो सकते ही थे। और उसकी वह बात सर्वथा असत्य थी ही, असत्य ही साबित होती। अतएव श्रीसीताजीका चरित्र उससे और भी उज्ज्वल तथा पवित्रतम प्रमाणित हो सकता था। उसके कहनेमात्रसे श्रीसीताजीका परित्याग कर देनेसे तो लोगोंके मनोंमें श्रीसीताजीके चरित्रके विषयमें सन्देह भी उत्पन्न हो सकता है, परंतु कुछ भी विचार न करके एक नगण्य और तुच्छ धोबीकी अनर्गल, असत्य और अन्यायमूलक बातसे डरकर भगवान् श्रीरामचन्द्र-सरीखे न्यायशील पुरुष निर्दोष श्रीसीताजीका त्याग करते और उनके पावन चरित्रपर सन्देहकी गुंजाइश होनेका जो अवसर देते हैं—भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी इस लीलासे यही सिद्ध होता है कि श्रीभगवान् अपने उदाहरणसे यह दिखलाना चाहते हैं कि लोकैषणाकी पूर्तिके लिये लोकरञ्जनके फेरमें पड़कर बड़े-से-बड़ा महापुरुष भी कहाँतक निर्दोषके प्रति अन्याय कर सकता है।

लोकेषणा लोकरञ्जनमें नरको है प्रवृत्त करती।
लोकमतानुकूल करनेकी मति अति ही मनमें भरती॥
मलिन लोकमतका भी आदर करनेको वह होता बाध्य।
क्योंकि बन गया एक लोकरञ्जन ही उसका जीवन-साध्य॥
करुणामय प्रेमी विज्ञानी न्यायधर्मके अमित सु-कोष।
जान रहे थे भलीभाँति सीताको निर्मलतम निर्दोष॥
स्वयं ईश राघवने, फिर भी, मलिन रजन रञ्जकके हेतु।
अति कठोर बन, वनमें छोड़ी, तोड़, न्यायका सुंदर सेतु॥

इससे कोई यह न समझे कि भगवान् श्रीरामचन्द्रमें वस्तुतः कोई दूषण है। उनकी तो प्रत्येक लीला ही उनका भूषण है। भगवान्ने इस लीलासे यहाँ यही शिक्षा दी है कि लोकैषणासे—बड़ाई या कीर्तिकी कामनासे विचारशील मनुष्य भी कहाँतक अन्यायाचरण कर सकता है। मान-बड़ाईकी कामना मनुष्यके मनमें छिपी रहती है और अधिकांश साधक भक्त ज्ञानी या प्रेमी कहलानेवाले लोगोंको भी अपने मनमें घुसकर गहराईसे देखनेपर यह स्पष्ट दिखायी दे सकता है कि साधना, भक्ति, ज्ञान या प्रेमकी आड़में किस प्रकार मान-बड़ाईका, और कहीं-कहीं मानका सक्रिय त्याग कर दिये जानेपर भी, किस प्रकार बड़ाई या कीर्तिका लोभ हृदयनिभृत एकान्त कोणमें छिपा रहता है और किस प्रकार वह मनुष्यकी भीतरी-बाहरी क्रियाओंमें चुपकेसे प्रवेश करके आत्मप्रकाश करता है।

यह भी निश्चित है कि जबतक कीर्तिकी कामना मनमें छिपी रहती है, तबतक भगवत्-प्राप्तिमें एक बड़ी बाधा बनी रहती है। अतएव भक्ति, प्रेम और ज्ञान-मार्गके प्रत्येक पथिकको इस दूरतक बनी रहनेवाली बाधासे छूटनेका प्रयत्न करना चाहिये। यह बात समझ लेनी चाहिये कि शरीर या 'रूप' और उसका 'नाम' दोनों ही हमारे अपने स्वरूपसे भिन्न वस्तु हैं, वे नाशवान् हैं, अनित्य हैं; इनके बनने-बिगड़नेसे वस्तुतः हमारा कुछ भी नहीं बनता-बिगड़ता, परंतु इनको अपना स्वरूप मानकर 'शरीर'के आराम और 'नाम'के यशकी वासना रखनेपर तो बन्धन कभी छूटेगा ही नहीं! गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने प्रेमी भक्तके रूपमें भगवान्से जो सुन्दर प्रार्थना की है, हमलोगोंको चाहिये कि हम भी भीतरके सच्चे मनसे उन्हींके सुरमें सुर मिलाकर भगवान्से प्रार्थना करें—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव-जड़ताई॥
चहौं न सुगति,सुमति,संपति कछु,रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई।

सत्यकी साधना

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

मनुष्यमें किसी भी गुण और दोषकी प्रकर्षता होती है तो उसके आनुषंगिक इतर गुण और दोष स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये 'एक ही साधे सब सधे' उक्ति कही गयी है। वैसे प्रत्येक मनुष्य बहुत-से गुण और दोषोंका पिटारा है। किसी भी व्यक्तिमें सभी गुण-ही-गुण हों; या दोष-ही-दोष हों, गुण कुछ भी न हों, ऐसा प्रायः नहीं होता। पर एकको प्रधानता देनेसे दूसरा दब जाता है, महत्त्वहीन हो जाता है। इसीलिये प्रत्येक मानवको कम-से-कम एक गुणको तो बहुत अच्छी मात्रामें पनपानेका लक्ष्य रखना और प्रयत्न करना चाहिये।

गुण चाहे एक ही हो, पर वह अच्छी एवं अधिक मात्रामें हो तो उसका प्रभाव बहुत पड़ता है और उसके कारण दूसरे अनेक दोष दबे रहते हैं। गुण अधिक मात्रामें होनेपर लोग उनको दस गुना मान लेते हैं। इसी प्रकार कोई एक भी दुर्गुण जब जीवनमें जोर पकड़ लेता है तो उसके अन्य बहुत-से गुण दब जाते हैं—महत्त्वहीन एवं हतप्रभ हो जाते हैं अर्थात् जिस किसी एक भी गुण एवं दोषका जीवनमें विशिष्ट स्थान हो जाता है तो वही उभरा हुआ सहज दृष्टिगोचर होता है। दूसरे छोटे-मोटे गुण-दोष तिरोभूत-से पड़े रहते हैं। लोग विशिष्ट गुण-दोषको प्रधानता देकर उनसे अपना व्यवहार चलाते हैं। एक गुणके पीछे कई दोष निभा लेते हैं।

प्रत्यक्ष जीवनमें हम इस सत्यका अनुभव पद-पदपर करते ही रहते हैं, एक ही परिवारके विभिन्न व्यक्तियोंमें किसीमें कोई गुण अच्छे परिमाणमें होता है तो किसीमें कोई अवगुण कैसा भी उत्कृष्ट मात्रामें होता है। ऐसी परिस्थितिमें साधारणतया हम गुणको प्रधानता देते हैं, दोषोंको दर गुजर कर लिया जाता है। जीवनमें ऐसे अनेक प्रसंग देखनेको मिलते हैं कि एक कर्मचारी बड़ा तुनकमिजाजका होता है, पर ईमानदार या किसी कार्यमें दक्ष होता है तो उसके गुणसे लाभ उठानेके लिये उसके स्वभाव या व्यक्तिगत दोष निभा लिये जाते हैं। वैसे ही अन्य बातोंमें तो कोई व्यक्ति बहुत ठीक हो, पर कोई स्वभाव या चरित्रगत दोष उसमें पड़ा हो तो उस व्यक्तिको अलग कर देना पड़ता है। हम प्रायः कहा करते हैं कि 'अमुक बातें ठीक होनेसे क्या हुआ, वह अवगुण जो बड़ा लगा हुआ है, इससे कभी बड़ा नुकसान होना सम्भव है। अतः ऐसे दोषोंको पहलेसे ही दूर कर दिया जाना उचित है।'

कुछ वर्ष पूर्व शान्तिनिकेतनके आचार्य संत-साहित्यके विशिष्ट अनुभवी श्रीक्षितिमोहन सेनसे मिलनेपर आध्यात्मिक साधन और आत्मानुभवप्राप्तिका उपाय पूछनेपर आपने कहा था कि 'मनुष्य आत्मानुभव तथा आत्मसाक्षात्कार इसीलिये नहीं कर पाता कि वह जैसी बातें कहता है, वैसी साधना नहीं करता। अन्यथा किसी भी एक धर्मकी साधना अच्छे रूपसे की जाय तो बाकीके गुण भी स्वयं विकसित होते रहेंगे और दोष क्रमशः क्षीण होते चले जायँगे। 'एक ही साधे सब सधे'। आप जैन हैं। अहिंसा जैनधर्मका प्रधान उपदेश है, उसीकी ठीकसे साधना कीजिये, जीवनमें प्रतिक्षण होनेवाली हिंसाभावनाको और कार्योंको टटोलकर उन्हें दूर हटाइये और विश्वप्रेम, प्राणिमात्रके साथ आत्मीय भावकी अभिवृद्धि, ईर्ष्या, घृणा, द्वेषको घटाकर, भावोंकी निर्मलता करते रहिये, आप इस एक ही गुणकी साधनामें जीवन लगा देंगे तो आपकी आत्मा उत्तरोत्तर आगे बढ़ती जायगी। आगेका रास्ता स्वयं दिखलायी देने लगेगा।

किसी एक बातको भी यदि जीवनमें नहीं उतारेंगे तो कोई लाभ नहीं होनेवाला है ।' ऐसी ही भावनाके कुछ शब्द कहकर आचार्य सेन अपने कार्यमें लग गये । विचार करनेपर उन्होंने इन थोड़ेसे शब्दोंमें ही बहुत बड़ी बात कह दी, ऐसा प्रतीत हुआ, पर उसके लिये भी अपनी तैयारी कहाँ ?

इस बार उसी सत्यको पुनः एक साधुसे सुनकर इस लेखके लिखनेका विचार हो आया । स्वयं उसकी साधना न करनेपर भी दूसरे जिज्ञासु और साधक तो उस साधनासे लाभ उठावें । इसी अन्तःप्रेरणासे यहाँ उन साधु-महात्मासे इस सम्बन्धमें जो बातचीत हुई नीचे उद्धृत की जाती है·········।

कुछ दिनों पूर्व मुझे आसाममें गौहाटी जाते समय एक साधु मिले थे । वे बहुत पढ़े-लिखे तो नहीं थे पर उन्होंने बताया कि बहुत-से साधुओंके सम्पर्कमें आनेसे उनका अनुभव ठीक है । पहले दार्शनिक विषयोंपर बातचीत प्रारम्भ हुई । फिर आपने प्राणिमात्रकी दयापर विशेष महत्त्व देते हुए परोपकार-सेवाको ही अपना जीवनव्रत बतलाया । मेरे आत्मसाक्षात्कारके सम्बन्धमें पूछनेपर आपने कहा कि 'साधकके लिये यह बहुत सुगम है, वैसे साधारण लोगोंके लिये दुर्गम है ही ।' मैंने उसका सरल उपाय पूछा तो आपने कहा कि 'सत्यकी साधना कीजिये । इससे भूमिका यानी चित्त-शुद्धि हो जायगी और व्रत, उपवासके द्वारा शरीरकी शुद्धि हो जायगी । फिर रास्ता स्वयं सूझ पड़ेगा । इसपर भी आगेका मार्ग जानना हो तो इसकी साधना कर लेनेके बाद मुझसे पत्रव्यवहार कीजिये या स्वयं मिलियेगा ।' मैंने पीछेकी बात पहले ही पूछ लेनेकी उत्सुकता दिखलायी तो आपने पुनः पहली बातको दोहराया और सत्यकी साधनापर ही जोर दिया । पीछेकी बात पीछे होगी, कहा ।

उन्होंने उस सत्य साधनाके करनेकी विधि इस प्रकार बतलायी 'कि पहले महीनेमें दो दिन किसी पर्वतिथिको ही उसकी साधना शुरू करें । उस दिन व्रत-उपवास किया जाय और दृढ़ निश्चय किया जाय कि आज किसी भी प्रकारका तनिक भी झूठ नहीं बोलूँगा । उसी निश्चयको ध्यानमें रखते हुए सचेत रहकर अपना जीवन-व्यवहार कीजिये ।

'यदि उस प्रतिज्ञाके विपरीत झूठ शब्द मुँहसे निकल जाय तो उसी समय उसका पश्चात्ताप करिये । संध्याकाल एकान्तमें बैठ दिनभरकी चर्चाको ध्यानसे विचार जाइये । प्रतिज्ञामें कहीं गड़बड़ी तो नहीं हुई है ? यदि कुछ हो गयी ध्यानमें आवे तो उसके लिये कठिन दण्ड लीजिये । प्रिय-से-प्रिय खाद्य पदार्थ आदिको छोड़ दीजिये या दो-चार उपवास उस दोष-शुद्धिके लिये कर डालिये । इससे झूठ बोलना छूटता या मन्द होता चला जायगा । विचारपूर्वक अन्तःनिरीक्षण करनेपर जिस साधारण असत्यकी ओर आपका लक्ष्य नहीं जाता, वह भी सामने आ जायगा और उससे छुटकारा पानेकी व्याकुलता बढ़ेगी । सत्यके प्रति निष्ठा और झूठके छोड़नेके लिये दृढ़ प्रतिज्ञा एक ही बात है । ये दोनों साथ-साथ होती हैं । साधनामें जो विघ्न-बाधा आवे, धैर्यसे उसका सामना कीजिये । विचलित न होइये ।

'जब महीनेमें दो दिन आपकी सत्य-साधना ठीकसे हो रही है यह अनुभव हो जाय तो फिर दो दिन और बढ़ाइये । वह भी ठीकसे निभ जाय तो महीनेमें छः दिन कर दीजिये । फिर तो सत्य आपका स्वभाव ही बन जायगा । झूठ अपने-आप भाग जायगा, कमजोरियाँ नष्ट हो जायँगी । तेज प्रकट होगा ।

'सत्यके लाभ प्रत्यक्ष एवं सर्वविदित हैं । इसकी महिमाको सब जानते हैं, पर जीवनमें उतारते नहीं, इसीसे हम धर्मसे कोसों दूर हैं, तेजहीन हैं ।

'सत्यको नारायण मानकर ही 'सत्यनारायणव्रत' को महत्त्व दिया गया है। साधना करनेसे इसका प्रभाव स्वयं विदित होगा एवं आगेका मार्ग (चित्त-शुद्धि एवं निर्मलता बढ़नेसे) स्वयं दीखने लगेगा।'

उनके चले जानेपर मैं इसपर काफी देरतक विचार करता रहा। मुझे मानो हजारों ग्रन्थोंका सार ही मिल गया। महात्मा गांधीने अपने जीवनको सत्यके प्रयोग-स्वरूप ही बतलाया है और सत्यको ही ईश्वर कहा है। महर्षियोंने भी 'सत्यं हि परमं तपः, सत्यमेव जयते' सत्य ही परम तप है—इत्यादि कहा है। सत्यकी साधना जीवनको ऊँचा उठाती है, परमेश्वर बनाती है। अन्तमें महात्मा गांधीके सत्य-सम्बन्धी विचार गांधी-विचार-दोहनसे उद्धृत किये जाते हैं। जिनसे सत्य-महत्त्व और सत्य क्या है ? संक्षेपमें विदित हो जाता है।

१—सत्यका अर्थ है परमेश्वर—यह सत्यका पर अथवा सीधा अर्थ हुआ। अपर अथवा साधारण अर्थमें सत्यके मानी हैं—सत्य विचार, सत्य वाणी और सत्य कर्म।

२—जो सत्य है, दूरका हिसाब लगानेसे, वही हितकर अथवा भला है, इसलिये सत्य अथवा सत्का भला ही होता है, और जो विचार, वाणी और कर्म सत्य है वही सद्विचार और सत्कर्म है।

३—जो विचार हमारी राग-द्वेषहीन श्रद्धा और भक्तियुक्त तथा निष्पक्ष बुद्धिको सदैवके लिये अथवा जिन परिस्थितियोंतक हमारी दृष्टि पहुँच सकती है उनमें अधिक-से-अधिक सफलताके लिये उचित और न्याययुक्त प्रतीत हो, वही हमारे लिये सद्विचार है।

४—जो वाणी कर्तव्यरूप हो जानेपर हमारे ज्ञान एवं जानकारीको सही-सही प्रकट करती है और उसमें ऐसी कमी-वेशी करनेका यत्न नहीं करती है कि उससे अन्यथा अभिप्राय भासित हो, वह सत्य वाणी है।

५—विचारमें जो सत्य है, उसके विवेकपूर्वक आचरणका नाम ही सत्यकर्म है।

६—चाहे यह कहिये कि पर-सत्यको जिसे हमने परमेश्वर कहा है, जाननेके लिये ऊपर सत्य साधन हैं, अथवा यही कहिये कि सत्यविचार, वाणी और कर्मरूप अपर सत्य-पालनकी पूर्ण सिद्धिका ही नाम परमेश्वरका साक्षात्कार है, साधकके लिये दोनोंमें कोई भेद नहीं है।

आज हमारे जीवनमें पद-पदपर असत्य प्रतिष्ठित है। कहते हैं कुछ, विचार कुछ और है, एवं करते कुछ और हैं। इसीसे जीवन पतनकी ओर प्रवाहित हो रहा है। इन त्रियोगकी एकता होना आवश्यक है। एक असत्यकी रक्षाके लिये हजारों झूठ अपनाने पड़ते हैं, अतः सत्यको ही अपनाइये। इससे आत्माका उत्थान निश्चित है।

सत्यके समान कोई बल नहीं, तप नहीं, तेज नहीं, गुण नहीं। झूठ बोलनेवालेका मन सदा भयभीत रहता है कि कहीं मेरा झूठ प्रकट न हो जाय। सत्यके लिये भारतीय संस्कृतिके प्रणेताओंने बड़े-बड़े प्राणान्त कष्टतक सहे हैं। कई व्यक्ति कहते हैं कि व्यापार-व्यवहारमें असत्यके बिना काम नहीं चल सकता, पर महात्मा गांधीने कहा कि यह सर्वथा गलत बात है। उन्होंने राजनीतिमें भी सत्यको ही प्रतिष्ठा दी, व्यवहार-व्यापारमें सचावटें ही फलती हैं। उसका गहरा और स्थायी असर होता है। असत्यभाषीका कोई विश्वास नहीं करता। सत्यके बिना जीवन चल ही नहीं सकता। तब असत्यके बिना जीवन उलटा आदर्श बनता है। सत्यकी साधना कर सत्-स्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कीजिये।

चार प्रकारकी रचना

(लेखक—डॉ० श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्०ए०, पी-एच०डी०)

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

हमारे चारों ओर रचनाके जो नाना रूप दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब चार भागोंमें विभाजित किये जा सकते हैं। इन चार विभागोंमें एक क्रम है जो क्रमिक विकासका द्योतक है। यह विभाजन और क्रम एक परम चेतन सत्ताके अस्तित्वको भी प्रकट करते हैं जिसने विश्वकी विभिन्नरूपतामें एक क्रमबद्ध व्यवस्थाकी स्थापना की है और व्यवस्थितरूपसे उसका निर्माण भी किया है।

इन चार भागोंमें सर्वप्रथम ऐसे पदार्थोंकी रचना आती है जो विशुद्ध रूपसे जडत्वको प्राप्त हैं। पलक जैसे खुलते और बंद होते दीख पड़ते हैं, तारे जैसे चमकते और तिरोहित होते जान पड़ते हैं—वैसा ही संकोच और विकास जहाँ दिखायी पड़ता है, वहाँ रचनाका प्रथम भाग है। प्रकृतिका अपना रूप भी सिकुड़ने और फैलनेतक ही सीमित है। इन स्वाभाविक क्रियाओंके अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र चेतना या प्रेरणात्मक क्रिया प्रकृतिके अन्तर्गत नहीं है। प्रेरक तत्त्व उसमें चेतनके संसर्गसे उत्पन्न होते हैं। चेतन सत्ता ही प्रकृतिको नाना रूपोंकी ओर ले जाती है और उनमें स्पन्दन उत्पन्न करती है। अतः रचनामें सर्वप्रथम प्रकृतिका अपना विशुद्ध रूप ही परिलक्षित होता है जिसे वेदने 'निमिषतः' शब्दद्वारा प्रकट किया है। निमिषतःका अर्थ पलकोंका खुलना और बंद होना है जो प्रकृतिकी स्वाभाविक क्रिया संकोच और विकासका द्योतक है। मिट्टीका ढेला पानी पड़ते ही संकुचित और सूर्यकी उष्णता पाते ही विकीर्ण हो उठता है। पृथ्वीमें स्वयं संकोच (Contraction) और विकास (Expansion) होता देखा जाता है। हमारे शरीर भी जाड़ोंमें संकुचित और गर्मी पाकर फैलते देखे गये हैं। जहाँ भी विशुद्ध जडत्व है वहाँ संकोच और विकासकी क्रियाएँ उस जडत्वके अस्तित्वको सिद्ध करनेवाली बनी हुई हैं; परंतु यह अवस्था पराधीनताकी अवस्था है। कोई भी चेतन सत्ता प्रकृतिके इन विकास-संकोचशील पदार्थोंको अपने अधीन करके इनका मनमाना उपयोग कर सकती है। मानव मिट्टीके ढेर, चूना, कंकड़ और पत्थरोंसे अपना मकान बना लेते हैं। न मिट्टीका ढेर उनसे अपना विरोध प्रकट करता है, न कंकड़ और पत्थर कोई आपत्ति उठाते हैं। मानव जहाँ चाहता है, इन्हें ले जाता है और जैसा चाहता है इनसे काम लेता है। इन पदार्थोंमें न अपनी कोई क्रिया है और न स्वाधीनता। ये निष्क्रिय और पराधीन हैं। ऐसी अवस्थामें इनके किसी स्वतन्त्र क्रिया-क्षेत्रकी बात करना ही व्यर्थ है। हाँ, ये दूसरोंके क्रिया-क्षेत्र एवं पाषाण सामग्री अवश्य बने हुए हैं।

रचनामें दूसरा भाग सप्राण सत्ताओंका है। इन्हें स्वाधीनताका एक अंश अवश्य प्राप्त है। इनका एक स्वतन्त्र क्रिया-क्षेत्र भी है। वेद इन सत्ताओंको 'प्राणतः' संज्ञा देता है। इनमें प्राण है। प्राणकी क्रिया उगने और बढ़नेमें प्रकट होती है। जहाँ प्राण है, वहाँ वृद्धि है। बीजको मिट्टीमें डाल दीजिये। वह वहींपर पड़े रहना पसंद नहीं करेगा। मिट्टीको फोड़कर वह बाहर निकलेगा और अपने आस-पाससे भोजन ग्रहण करता हुआ ऊपरको बढ़ेगा। उसके अंदर एक स्वतन्त्र क्रिया है और उस क्रियाके लिये एक क्षेत्र है, फिर चाहे वह क्षेत्र संकुचित ही क्यों न हो। वनस्पतियाँ, ओषधियाँ, लताएँ, वृक्ष, पादप सब इसी प्राणवान् सत्ताके नाना रूप हैं। ये जहाँ हैं, वहींपर अपने सीमित क्षेत्रके अन्तर्गत अपना कार्य करते हैं। मिट्टी और पानी इनकी खूराक बनते हैं। स्वाधीनता इनकी अपनी ऐसी है कि मिट्टी और पानीमें जो तत्त्व इनके कामके हैं, उन्हीं तत्त्वोंको ये ग्रहण करते हैं, अन्य तत्त्वोंको छोड़ देते हैं। ईखका गन्ना मिठासको ले लेता है, तीखेपन या कड़ुवेपनको छोड़ देता है। नीम कटु तत्त्वको स्वीकार करनेवाला है। इसी प्रकार आम, पीपल, बरगद, जामुन, अमरूद, खिन्नी, फालसा प्रभृति सभी पादप अपने उपयोगी अंशोंको मिट्टी और पानीमेंसे ले लेते हैं, अन्य अंशोंको वे छूते भी नहीं। यह इनकी स्वतन्त्र क्रिया है; परंतु इनकी स्वाधीनताका क्षेत्र सीमित है जिसका अतिक्रमण करना इनकी शक्तिके बाहर है। हाँ, मिट्टी और पत्थर आदिकी अपेक्षा इनका अस्तित्व अवश्य उच्चतर कोटिका है।

रचनाका तीसरा प्रकार 'चतुष्पद' पशुओंमें प्रकट हुआ है। इनकी स्वाधीनता और क्रियाका क्षेत्र पादपोंकी अपेक्षा कहीं अधिक विशाल है। वृक्ष जहाँ उगा है, वहींसे अपनी भोजन-सामग्री ग्रहण कर सकता है। वह अपने स्थानसे

चलकर कोस-दो-कोस आगे नहीं जा सकता और न अपने स्थानको स्वयं छोड़ ही सकता है । पशुओंमें ये क्रियाएँ पायी जाती हैं । इन क्रियाओंके लिये प्राण तो चाहिये ही, पर प्राणकी भी अपेक्षा मानसिक शक्तिकी विशेष आवश्यकता पड़ती है । वृक्षोंमें प्राणवत्ता विकसित हुई है तो पशुओंमें मानसिक तत्त्वका विकास अनुभूत होता है । गाय, भैंस भूख और प्यास लगनेपर रँभाने लगते हैं, भोजन न मिलनेपर रस्सी तोड़कर भाग भी जाते हैं और अपना अभीप्सित पूरा करते हैं । एक स्थानपर घास या पानी न मिला, तो दूसरे स्थानपर जाकर उसे प्राप्त कर लेते हैं । अपने बच्चोंसे प्रेम करनेमें इनके मनस्तत्त्वके दर्शन होते हैं । शिक्षित किये जानेपर ये अनुपम कार्यको सिद्ध करनेवाले भी बन जाते हैं । मानवने कुत्ते, हाथी, ऊँट, अश्व आदिसे अनेक कार्य लिये हैं । ये पशु मानवके दुःखमें दुखी और सुखमें सुखी होते हुए भी देखे गये हैं । वेदने रचनाके इस तीसरे प्रकारको 'चतुष्पद' संज्ञा दी है । इनके पास वृक्षोंकी अपेक्षा अधिक स्वाधीनता है और इनकी क्रियाका क्षेत्र भी उनकी अपेक्षा अधिक विस्तृत है । इसका एक मुख्य कारण इनके अंदर मनस्तत्त्वका विकास है ।

रचनाके चतुर्थ प्रकारको वेदने 'द्विपद' कहा है । यह द्विपद पशु नहीं, मानव है । मानवकी स्वाधीनता वृक्ष और पशु दोनोंसे बढ़कर है । साथ ही उनके क्रियाक्षेत्रकी कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती । वह शारीरिक भोजनके लिये ही नहीं, मानसिक भोजनके लिये भी देश-देशान्तरोंका भ्रमण करता है । वृक्ष और पशुओंके लिये देश और काल दोनोंका व्यवधान है, पर मानव देश तथा कालके व्यवधानोंको चीरता हुआ अपना प्राप्य सभी देशों तथा वर्तमान और अतीत दोनों कालोंसे ग्रहण करता है । पशु अपने भविष्यके लिये कुछ भी सामग्री संचित नहीं कर सकते पर मानव इसे संचित करता है और बहुत दूरतक देखनेकी सामर्थ्य भी रखता है । यह सब उसके अंदर बुद्धि-वैभवके विकासके कारण सम्भव हो सका है । मानव अपने बुद्धि-बलसे पार्थिव तत्त्वों, पादपों और पशुओंपर शासन करनेमें समर्थ हुआ है और बुद्धि-बलसे ही वह सबका अपने लिये उपयोग भी कर सका है । एक दार्शनिककी उक्तिके अनुसार इस विश्वमें सर्वाधिक श्रेष्ठ मानवकी सृष्टि है और मानवमें भी सबसे उत्कृष्ट अंश बुद्धिका है ।* मानवकी रचना बुद्धि-तत्त्वके कारण सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है ।

रचनाके जो चार प्रकार ऊपर वर्णित हुए हैं, उनमें एक व्यवस्थित क्रम पाया जाता है । सबसे निम्नस्तरपर विशुद्ध पार्थिव तत्त्व है । यह न स्वाधीन है, न किसी स्वतन्त्र क्रियाका प्रेरक । यह निष्क्रिय और पराधीन है । इससे ऊपरकी रचना-कोटियोंमें पराधीनता कम होती जाती है और स्वतन्त्र क्रिया एवं उसका क्षेत्र विशालसे विशालतर बनता जाता है । वृक्षोंकी अपेक्षा पशु और पशुओंकी भी अपेक्षा मानव इन दोनों क्षेत्रोंमें बहुत आगे बढ़ा हुआ है । मानवपर आकर विकासकी एक सीमा बँध जाती है, क्योंकि मानवका सर्वोच्च विकास देवत्वमें है जहाँ स्वाधीनताका नैरन्तर्य है और क्रिया-क्षेत्रकी असीमता । उपनिषदोंने इस विकासको 'भूमा' संज्ञा प्रदान की है । भूमा अल्पताकी विपरीत अवस्था है जिसे विशालता या व्यापकता कहा जा सकता है । रचनाके इन चार विभागोंमें एक और भी है । रचनाका निम्नस्तर जहाँ घोर पराधीनताकी अवस्थामें है, वहाँ उसका सर्वोच्च स्तर स्वाधीन दशाका द्योतक है ।† इसीके साथ नीचेका स्तर अपनेसे ऊपरके स्तरकी खाद्य-सामग्री भी बना हुआ है । मिट्टी और पानी वृक्षोंका भोजन है । वृक्ष, वनस्पति, घास, पौधे आदि पशुओंका भोजन है । पशु अन्तमें मानवका भोजन है । भोजनका अर्थ यहाँ व्यापक रूपमें ग्रहण करना चाहिये । मानवके लिये उसके नीचेके सभी रचना-स्तर खाद्य-सामग्री अथवा उपयोगके साधन प्रस्तुत करते हैं । मानव पशुओंका दूध पीता है, उनके चमड़ेसे काम लेता है, वृक्षोंके फल उसका भोजन बनते हैं, मिट्टी और पानी भी उसके शरीरके लिये उपयोगी तथा पोषक तत्त्व प्रदान करते हैं । पशु अपनेसे नीचेके स्तरों—वृक्षों तथा पार्थिव पदार्थोंसे काम लेता है और वृक्ष मिट्टी तथा पानीपर जीवित रहते हैं ।

---

* On earth, there is nothing so great as man. In man, there is nothing so great as mind.

† पराधीनता दुःख है और स्वाधीनता सुख है । स्वतन्त्रचेता ही आनन्दी है । अतः विकासके स्तरोंमें जो जितना ही अधिक स्वतन्त्र है, वह उतना ही अधिक आनन्दके निकट है । परब्रह्म किसीके अधीन नहीं है, वह पूर्ण स्वतन्त्र है । अतः वही आनन्दरूप भी है ।

चेतनाके विकासमें 'निमिषतः' की श्रेणी जडत्वको लिये हुए है। इससे ऊपर वृक्षादिमें प्राण पाया जाता है जो उन्हें मिट्टीके ढेले और प्रस्तरादिसे पृथक् करता है। वृक्षादिमें छाल, लकड़ी आदि पार्थिव तत्त्व भी हैं, पर उनकी विशेषता प्राण-शक्तिकी विद्यमानताके कारण है। पशुओंमें हाड़, मांस, चर्म आदिके रूपमें जड पार्थिव तत्त्व है। प्राण-शक्ति पशुओंके शरीरकी वृद्धि तथा संतानकी उत्पादन-शक्तिमें देखी जाती है, पर उनकी विशेषता मनस्तत्त्वके विकासमें निहित है जो उन्हें इधर-उधर जानेके लिये प्रेरणा देती है तथा स्वाधीन होनेके लिये उत्तेजित करती है। मानवके पास पार्थिवता, प्राणवत्ता तथा मनस्तत्त्वके साथ बुद्धिका विकास भी है। जो पार्थिवता रचनामें चारों ओर बिखरी पड़ी है, जो प्राण और मनका तत्त्व आकाशमें भरा पड़ा है, जो बुद्धि-तत्त्व रचनाके प्रथम रूप द्यौमें व्याप्त है, वह सब अपना सुन्दर संश्लिष्ट रूप मानव-रचनामें निहित किये हुए है। द्विपद मानवकी सृष्टिकी महत्ता इसी संश्लेषणके कारण है। बुद्धिका स्थान इस संश्लेषणमें सर्वोपरि माना जाता है।

वेदमन्त्रमें इस चतुर्विध रचनाके सम्बन्धमें एक बात और कही गयी है। रचनाके चारों प्रकार पराधीनताकी कोटिसे निकलकर स्वाधीनताकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। पर अन्तिम स्तरपर जाकर पूर्ण स्वाधीन होकर भी वे स्वेच्छासे जान-बूझकर पराधीन हो गये हैं। विकासकी प्रथम कोटि जैसी है—बिना किसी ननु-नचके, बिना किसी हिचकिचाहट और संशयके (क्योंकि वहाँ चेतनताका स्पन्दन कार्य ही नहीं करता) पराधीन रहकर चुपचाप जैसी व्यवस्थित निर्मिति बना दी गयी, उसीमें अपने निर्माताका शासन स्वीकार कर चलना—वैसी ही विकासकी सर्वोच्च कोटि है जिसमें स्वाधीन होते हुए भी जान-बूझकर, स्वेच्छासे सचेत और जागरूक अवस्थामें चेतनतम, महतो महीयान्, अणोरणीयान् सत्ताकी आज्ञा पालन करना होता है। ऐसा करना इन सर्वोच्च कोटिकी विकसित सत्ताओंमें स्वाभाविक रूप धारण कर लेता है। व्यवस्था और नियमबद्धता इनके जीवनकी सहज संगिनी बन जाती हैं। निम्नतम कोटिमें जडत्वको लिये हुए आज्ञा-पालन है, व्यवस्था है, परंतु उच्चतम कोटिमें चेतनता लिये हुए आज्ञा-पालन है, नियमबद्धता है। वेद कहता है, परम आनन्दमय प्रभु इस चतुर्विध रचनाका ईश है, प्रभु है, स्वामी है। सब उसकी प्रजा हैं—वह राजा है। सब उसके वशवर्ती हैं—अन्तर केवल चेतनाका है—कुछ अनजानमें और कुछ जान-बूझकर उसके वशवर्ती बने हुए हैं। उसके राज्यसे बाहर कोई भी नहीं जा सकता। विकसिततम सत्ता स्वयं उसके बाहर नहीं जाना चाहती।

हमारा कर्तव्य यही है कि हम अपनी हविको पवित्र-से-पवित्रतर बनाते हुए उस यजनीय आनन्दरूप*प्रभुका यजन करते रहें, त्यागद्वारा उसकी पूजा करते रहें। यही कल्याणका मार्ग है।

श्रीराधिकाका मुख

इन्दिरा अम्बुधि मंदिरको हिय मंदरको गिरिजाने कियो रुख।
मण्डल भानुको ऊनः सदा अथयो करै दूनो लिये मनमैं दुख॥
राधिके! रावरे आननकी उपमा बनिवेको न काहू लह्यो सुख।
पांजर बैठि न पायो मयंक कलंककी काजर पोति लियो मुख॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री

---

* परब्रह्म पूर्ण आनन्दी है। वह किसी प्रकारके अभावका अनुभव करनेवाला नहीं है। जो अभावका अनुभव करता है, वह आनन्दसे विरहित है। मैं जबतक अपनेमें मग्न हूँ, किसी अन्यकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखता, तबतक मैं सुखी हूँ। पर मैं अपनी पत्नी, गृह, धन आदिके अभावको अनुभव करने लगता हूँ, तभी दुःखदल आकर मुझे दबोच लेता है और पराधीन होकर मैं दुखी हो उठता हूँ। विकासके क्षेत्रमें, इसी हेतु, स्वतन्त्रता या आनन्दरूपताको जीवनका परम लक्ष्य स्वीकार किया गया है।

हमारी शिक्षा कैसी हो

(लेखक—डा० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

बालक प्रत्येक बात मातृभाषामें ही सीखता है । गुरु भी उसे उसी भाषामें शिक्षा देता है; जिसे वह पहलेसे जानता है। परमात्मा जगद्गुरु है । जीवोंको वह प्रत्येक बात उसीकी भाषाके माध्यमद्वारा बताता रहता है । मानवकी मनोवृत्ति इस समय विनाशोन्मुख है, अतः परमात्मा भी उसे विनाशके मार्गद्वारा, विनाशमें डुबोकर ही उसे अपने पास बुलाना चाहता है । यही कारण है कि उच्चतम वैज्ञानिक, श्रेष्ठतम विद्या-विशारद, प्रतिष्ठाप्राप्त शिक्षाविशेषज्ञ और श्रीसम्पन्न कलाकोविद सब-के-सब एटम बम, कीटाणु बम आदि ध्वंसकारी पदार्थोंके निर्माण और आविष्कारमें संलग्न हैं ।

मनोवृत्तिका निर्माण हमारे जीवन, हमारे आचरणके अनुरूप होता है । हमारे जीवन और आचरणकी आधार-शिला है हमारी शिक्षा । 'जैसा खावे अन्न, वैसा बने मन ।' अन्नका अर्थ भोजन है, जो शारीरिक और मानसिक दोनों ही अर्थोंमें प्रयुक्त होता है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि वर्तमान ध्वंस, विनाश, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, भौतिक-नैतिक उत्थान-पतन सबके मूलमें हमारी शिक्षा ठहरती है ।

आजकल दिन-रात, जहाँ देखो वहीं, शिक्षाप्रसार-सम्बन्धी विभिन्न योजनाएँ बनती रहती हैं । हमारी राष्ट्रिय सरकार इस बातकी स्पष्ट घोषणा कर चुकी है कि वह देशसे शीघ्र ही निरक्षरता मिटा देगी, भारतवर्षका प्रत्येक निवासी शिक्षित होकर अपने हिताहित सब औचित्यानौचित्यका निर्णय कर सकेगा । परंतु विचारणीय प्रश्न यह है कि हमारी प्रस्तुत शिक्षाप्रणाली कैसी है, वह किस प्रकारके जन-जीवनका निर्माण कर रही है तथा हमारी शिक्षापद्धति किस प्रकारकी होनी चाहिये और वह हमारे भावी नागरिकोंके मन-मानसका किस प्रकार निर्माण करेगी ।

हमारी वर्तमान शिक्षापद्धतिको सात आततायी बुरी तरहसे जकड़े हुए हैं—मस्तिष्क, दण्ड, परीक्षा, कुरूप भवन, अत्यधिक कार्य, स्वाभिमानरहित अध्यापक तथा संकुचित मनोवृत्तिके माता-पिता । निरीह विद्यार्थीको पाठ्यक्रमकी इतनी अधिक पुस्तकें पढ़नी पड़ती हैं, उसे इतने विभिन्न प्रकारके विषयोंका अध्ययन करना पड़ता है कि वह और उसका दिमाग, शरीर, मन सब कुछ बुरी तरहसे पिसे जाते हैं । भाँति-भाँतिके दण्ड और हर समय प्रस्तुत परीक्षाओंका भय उसे खाये जाता है । सिवा पढ़ने और पढ़कर परीक्षा पास करनेके वह और कुछ सोच ही नहीं सकता । गंदे तंग मकानोंमें गंदी टाटों अथवा गंदी और भद्दी मेज-कुर्सियोंपर बैठकर उसे पढ़ना पड़ता है, अतः उसके लिये स्वच्छ वायुमण्डल एक दुर्लभ पदार्थ है । विद्यालयमें उसे पढ़ानेवाले अध्यापक केवल इसलिये पढ़ाते हैं कि उनकी नौकरी बनी रहे, विद्यार्थीके योगक्षेमसे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं । वे सदैव अपने ट्यूशनकी चिन्तामें व्यस्त रहते और धन-प्राप्तिकी मृगमरीचिकामें अपने स्वाभिमान, अपने गुरुत्व, अपने अध्यापकत्वको यों ही गँवा बैठते हैं । विद्यालय, पाठशाला, स्कूल, कॉलेजके अलावा विद्यार्थीका घरपर भी यही हाल रहता है । घरपर वह जबतक कम-से-कम चार घंटे नित्य नियमपूर्वक न पढ़े, तबतक उसका गृहकार्य, अध्यापकद्वारा बताया हुआ घरपर किया जानेवाला कार्य पूरा नहीं होता । और फिर इन सबके ऊपर है उसपर सवार नौकरीका भूत । बालकको दिन-रात किताबोंसे चिपके देखकर माता-पिताको पूरा विश्वास हो जाता है कि उनकी साधना और बच्चेकी तपस्या दोनों ही सफल है । बड़ा होनेपर उसे अवश्य ही कोई अच्छी नौकरी मिल जायगी । अच्छी नौकरी पाना ही जब सब प्रकार जीवनका उद्देश्य हो जाय, तब मानसिक विकासकी चर्चा कैसी ? हो भी क्यों ? विद्या और नौकरी जब पर्यायवाची शब्द बन गये हों, तब सिवा इसके कि मानव केवल स्वार्थ-साधनमें तल्लीन बना रहे, उससे और आशा भी क्या की जा सकती है । सामाजिक स्वास्थ्यकी ओरसे तो वह अनिवार्यतः उदासीन रहेगा ही ।

स्थिति-परिस्थिति सब विकट और विकराल है । इनपर विजय प्राप्त करनेके लिये हमें ऐसी शिक्षा-दीक्षाका विधि-विधान करना होगा जो हमें स्वयं अपने ऊपर विजय प्राप्त करनेमें समर्थ बना सके; क्योंकि ज्ञानका अन्तिम लक्ष्य चरित्र-निर्माण होना चाहिये । इसके लिये आवश्यक है हमारी शिक्षा स्पष्ट रूपसे तीन भागोंमें विभाजित हो—शारीरिक शिक्षा, मानसिक शिक्षा तथा आध्यात्मिक शिक्षा । हम स्वस्थ हों, स्वस्थ शरीरमें स्वस्थ मस्तिष्क हो तथा हमारा स्वस्थ मन जीवनके स्वास्थ्यपर विचार करनेमें समर्थ हो। संक्षेपमें, हमारी शिक्षाका सीधा सम्बन्ध मानवसमाजके स्वास्थ्यके साथ हो ।

उक्त तीन श्रेणियोंवाली शिक्षापद्धतिके अन्तर्गत हमें निम्न प्रकारसे शिक्षा देकर जीवनके लिये तैयार किया जाना चाहिये ।

(क) शारीरिक शिक्षा-इसका ध्येय शरीरकी सुव्यवस्था और रक्षा है । इसके अन्तर्गत हमें बताया जाय कि हम कब, कितना और क्या खायँ, कब और कितना सोवें, कब और कितना तथा किस प्रकार अपना मनोरञ्जन करें, हम पूरी तरह सफाईके साथ रहना सीखें तथा कब, कितना और किस प्रकार व्यायाम करें । यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि मनोरञ्जन तथा व्यायामकी शिक्षा व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों रूपोंमें दी जानी चाहिये, ताकि हमारे भीतर सहयोग भावनाका विकास हो और हम एक साथ मिलकर रहना और काम करना सीखें ।

(ख) मानसिक शिक्षा-इसका उद्देश्य है मस्तिष्कका सम्यक् विकास। हमारा मस्तिष्क इस प्रकार विकसित हो कि— १. हम शरीररक्षा सम्बन्धी सभी बातोंको भली प्रकार समझ लें तथा तदनुकूल आचरण करने लगें । २. हममें सेवा-भाव आवे । ३. हमारे हृदयमें बन्धुत्वके भाव जाग्रत् हों । ४. हम अपनी पाठ्यपुस्तकों तथा अन्य पुस्तकोंको भली प्रकार समझ सकें । ५. नयी बातें जाननेके लिये हम उत्सुक हों, ज्ञान-बुद्धिके लिये हम आकुल बने रहें । ६. हममें कार्यक्षमता आवे तथा ७. हमारी बुद्धि सात्विक और नीर-क्षीर-विवेकके योग्य बन जाय ।

(ग) आध्यात्मिक शिक्षा-इसके अन्तर्गत तीन अवयवोंपर विशेष बल दिया जाना चाहिये । (१) सम्मान अथवा आदर-भाव । (२) बन्धुत्व-भावना । (३) दया एवं करुणाभाव । इनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

(१) सम्मान अथवा आदरभाव—**१.** मान्यताओंके प्रति (राष्ट्रिय, धार्मिक, जातीय, सामाजिक, पारिवारिक एवं व्यावसायिक मान्यताएँ इस क्षेत्रमें आती हैं) हमारा आदर हो—इन्हें हम निःसंकोच स्वीकार करें ।

२. महानताके प्रति—मानुषी और दैवी कृत्य तथा कला, इनकी महत्ताके सम्मुख हम नतमस्तक हों । कलाके क्षेत्रमें ललित कलाएँ, वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, नृत्यकला, संगीत, साहित्य आदि है ।

३. अवस्थाके प्रति—**वयोवृद्ध जनोंका हम सम्मान करें तथा दुर्बल एवं बालकोंको अपना वरदहस्त प्रदान करें तथा उनके प्रति सहिष्णु बनें ।**

४. उत्साहके प्रति—जिन व्यक्तियोंमें युवकों-जैस उत्साह और कार्यशीलता हो, उनका हम आद करना सीखें ।

५. आचरणके प्रति—सद्गुणों एवं सद्व्यवहारोंके प्रति हमा हृदयमें सम्मानका आविर्भाव हो । साहस, अदम उत्साह, सचाई, ईमानदारी, वफादारी, सहिष्णुता, त्याग, उत्सर्ग, शुभ्रता, स्फूर्ति, विनय, स्वाभिमान आदि सद्गुणोंके महत्त्वको स्वीकार कर हम उनके प्रति श्रद्धालु बनें ।

(२) बन्धुत्वके भाव—हम विश्वके प्रत्येक पदार्थमें अपने स्वरूपका दर्शन पावें तथा उसके प्रति प्रेमभाव रक्खें। इसके लिये आवश्यक है कि हम अपने उत्तरदायित्वों और कर्तव्योंको भली प्रकार समझें तथा अधिकारोंके स्थानपर कर्तव्योंका पाठ पढ़ें ।

प्रत्येक जाति, प्रत्येक समुदाय, प्रत्येक धर्म तथ प्रत्येक राष्ट्रके प्रति हमारे हृदयमें प्रेम-भाव हो, ह किसीको न तो बुरा समझें और न किसीसे घृणा करें। सबको अपने ही समान स्वत्वाभिमानी समझें ।

हमारी शिक्षा हमें इस योग्य बनावे कि हम प्रत्येक बात को निष्पक्ष भावसे समझ सकें। अपने निजी विचारोंके अनुरूप अपनी धारणाएँ निर्धारित कर सकें। तथा सिद्धान्त के पीछे मर-मिटनेको तैयार हो जायँ । हमारी आत्मा इत शक्तिशालिनी बन जाय कि हम समाजद्रोहियोंका खुल विरोध कर सकें। बुरेको बुरा न कह सकना हमा नैतिक निर्बलताका परिचायक है । जबतक व्यक्ति अपेक्षा सिद्धान्तको महत्ता-सर्वमान्यता प्रदान नहीं जाती, तबतक बन्धुत्वके भाव एक दूरका स्वप्न है।

(३) कृपा एवं करुणाके भाव—हमारे अंदर विश्व प्रत्येक असहाय, निरुपाय, दलित, पीड़ित, शोषि दुखी, निर्धन व्यक्तिके प्रति दया एवं करुणाके भ हों । क्रोध और घृणाके पात्र न समझकर हम उन प्रति दया और प्रेमके भाव रक्खें । निर्धन और दु होना केवल दुर्भाग्य हो सकता है, अपराध नहीं उक्त भावके साथ संयोग होना चाहिये उदारता निःस्वार्थताका । इतना ही काफी नहीं है कि हम दुखियोंपर दया करके ही रह जायँ । हम उनके दु दर्दमें हाथ बँटाना तथा उनके पीछे उत्सर्ग

स्वार्थत्याग भी करें । संक्षेपमें हमारी करुणा सक्रिय हो, निष्क्रिय और निश्चेष्ट नहीं ।

उपर्युक्त विवेचनका अभिप्राय यह है कि हमारा पाठ्यक्रम केवल काम चलाऊ वस्तु न हो, वह केवल परीक्षासे पास करानेका माध्यममात्र न हो, वह हमें भलीभाँति जीना भी सिखाये । अतएव हमारे पाठ्यक्रममें मुख्यतया दो प्रकारकी व्यवस्था होनी चाहिये । उसमें १. आचरणसम्बन्धी परीक्षाएँ हों तथा २. हम स्वाभिमानी मानव बनकर रहना सीखें । तभी यह सम्भव हो सकेगा कि हमारे शिक्षित समुदायमें भय और चिन्ताका स्थान शान्ति और साहस ले सकेंगे । संशयात्मक विद्याके स्थानपर वास्तविक ज्ञान तथा विषयमें पैठ हो तथा उदासीनताके भावकी जगह अदम्य उत्साह एवं सूझ-बूझ खेलती दिखायी दें ।

इस शिक्षाका एक ही उद्देश्य होगा । एक नवीन युगका प्रादुर्भाव । उसके निम्नलिखित रूप होंगे ।

१. सत्य, अहिंसा, धार्मिक सहिष्णुता, सांस्कृतिक व्यापकता, कला-प्रेम; औद्योगिक सहकारिता आदिद्वारा मानवमात्रकी सेवामें पूर्ण समर्पण ।

२. अपने आधुनिक जीवनमें प्राचीन मान्यताओंको क्रियारूपमें परिणत करके भारतकी विस्मृत अतीत गौरव-गाथाकी पुनःप्रतिष्ठा ।

तथा—

३. समस्त विश्वके लिये उज्ज्वल भविष्यकी उत्कट अभिलाषा ।

नवीन आशाका संचार करके उज्ज्वल भविष्यका स्वरूप प्रस्तुत करनेवाली शिक्षा ही वास्तविक शिक्षा है । अच्छी शिक्षा ही हमें अभय बना सकती है । शुभ संकल्प; किंवा दैवीसम्पत्तिके समुच्चयका ही दूसरा नाम 'अभय' है । जबतक सर्वभूतात्मैक्य साम्यभावयुक्त जीवनका निर्माण नहीं किया जायगा, तबतक 'अभय' होना एक दूरका स्वप्न ही समझना चाहिये । विद्या वही है जो हमें इस दुनियाकी चिन्ताओंसे मुक्तकर हमारी जीवन-नैयाको भय-भव-सागरके पार लगानेमें समर्थ हो ।

'सा विद्या या विमुक्तये'

आस्तिक

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

[१]

'भगवान् भी दुर्बलोंकी पुकार नहीं सुनते !' नेत्रोंसे झर-झर आँसू गिर रहे थे । हिचकियाँ बँध गयी थीं । वह साधुके चरणोंपर मस्तक रखकर फूट-फूटकर रो रहा था ।

'भगवान् सुनते तो हैं; लेकिन हम उन्हें पुकारते कहाँ हैं ।' साधुने स्नेहभरे स्वरमें कहा । 'विपत्तिमें भी भगवान्‌को हम स्मरण नहीं कर पाते, पुकार नहीं पाते—कितना पतन है हमारे हृदयका ।'

'लेकिन प्रभु ! वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् दयामय कहे जाते हैं ।' उसकी वाणीमें अपार वेदना थी । 'मेरे घरके तो सभी नित्य प्रातः-सायं पूजा करते थे ।'

'लेकिन भाई ! किसी मूर्तिपर दो बूँद जल डाल देना, दो फूल चढ़ा देना, दो-चार पद्य या श्लोक मुखसे बोल देना ही तो पूजा नहीं है । पूजा तो तब होती है, जब हम भगवान्‌को सचमुच मानें ।' साधु महाराजके स्वरमें कोमलताके साथ उलाहना था ।

'तो क्या मैं भगवान्‌को मानता नहीं ?' उसने मस्तक उठाया ।

'भगवान् सर्वव्यापक हैं, सर्वसमर्थ हैं, यह हम सब जानते-मानते हैं ।' साधुने उसी शान्तिसे कहा—'लेकिन हम झूठ बोलते हैं, दूसरोंको धोखा देते हैं और अनेक पाप करते हैं । संकटमें घबरा जाते हैं—इतने घबरा जाते हैं कि भगवान्‌को पुकारनेका हमें स्मरणतक नहीं रहता ।'

'संकट भी संकट-जैसा हो तब !' अपने नेत्र

पोंछने-जैसी भी उसमें शक्ति नहीं थी। गला रुँधनेसे अटक-अटककर वह बोल पा रहा था—'महाप्रलय एक साथ ही सिरपर टूट पड़े तो किसका चित्त ठिकाने रहे? कोई उस समय क्या करता है, यह क्या सोच-समझकर किया जा पाता है?'

'कोई क्या मानता है, क्या जानता है, किसपर विश्वास करता है, इसका उसी महासंकटमें तो पता लगता है।' साधुने स्थिर गम्भीर स्वरमें कहा—'एक नन्हे बच्चेको जब वह माँसे दूर हो, डराकर देखो। वह जानता है माँ दूर है, आ नहीं सकती, उसकी सहायता नहीं कर सकती; किंतु वह भागेगा पीछे, कंकड़-पत्थर तुम्हें मारनेकी सुध उसे पीछे आयेगी, वह पहले पुकारेगा—'माँ! माँ!!' और हम तो जानते हैं कि सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् परमात्मा हमारे पास है। हमें वह आधे क्षणके करोड़वें भागमें बचा सकता है। यदि हम हृदयसे परमात्माको मानें, हम आस्तिक हों तो उसे विपत्तिमें पुकारना भूल जायँ, क्या यह बन सकता है?'

उसने मस्तक झुका दिया। उसका शरीर जैसे ऐंठकर शिथिल हो गया हो। उसकी वाणी खिन्न, हीन, निराश, अन्तिम श्वास लेते प्राणीकी वाणी-जैसी थी—'परमात्मा!'

'जब तुम्हारे पीछे तुम्हारे महाराज खड़े हों—भले तुमने उन्हें देखा न हो; पर जान गये हो कि वे तुम्हारे पीछे दबे पैर चुपचाप चले आ रहे हैं—कोई तुम्हें एक सहस्र स्वर्णमुहरें दे तो तुम उसके लोभमें पड़कर उस समय कोई भेद बता सकोगे? तुम कोई भी बुराई कर सकोगे उस समय? कोई कर्तव्य तुम्हारे सामने हो तो उसमें तुमसे ढिलाई होगी? तुम्हारा कोई शत्रु तलवार लेकर तुम्हारे सामने आ खड़ा हो तो तुम जानते हो कि तुम क्या करोगे उस समय?' साधुने बड़ी गम्भीरतासे प्रश्न किये।

'मेरे उदार महाराज!' उसने एक बार मस्तक झुकाया। या तो शोकके वेगमें साधुकी पूरी बात उसने सुनी नहीं या उनका उत्तर देना उसे उचित नहीं जान पड़ा। वह केवल अन्तिम प्रश्नके उत्तर बोला—'मेरे महाराज मुझसे कुछ दूर भी हों—इतनी दूर कि मैं उन्हें पुकार सकूँ, मुझे किसका भय। मुझे आवश्यकता क्या कि मैं अपनी तलवारके मूठपर हाथ रक्खूँ। कोई कैसा भी चढ़ आवे, मैं पीछे मुख घुमाकर देख लूँ तो उसकी नानी मर जायगी।'

'निखिल ब्रह्माण्डनायक उदार-चक्रचूडाम परमात्मा तुम्हारे साथ है और फिर भी तुम्हें भ लगता है, घबराहट होती है, इसका तो यही अर्थ है न कि परमात्मा है और सर्वत्र है, इस बातक हृदयमें पूरा निश्चय नहीं।' साधु कहते जा रहे थे—'आस्तिक पाप नहीं कर सकता, कर्तव्यमें प्रमाद न कर सकता और भयभीत नहीं हो सकता। आस्तिकत की कसौटी ही है निष्पाप, कर्तव्यनिष्ठ एवं निर्भ होना। आस्तिककी पूजा ही यथार्थ पूजा होती है।'

'महाराज! मैं आस्तिक नहीं हूँ! मुझमें ऐ विश्वास कभी नहीं रहा है।' वह बोल नहीं रहा था—उसके प्राण चीत्कार कर रहे थे—'परमात्मा!'

× × ×

[२]

वह राजपूत है। दूसरे राजपूतोंके समान ही भी है; किंतु दूसरोंके बहुत-से दोष उसमें नहीं हैं वह यहाँके ठिकानेदारका अङ्गरक्षक है। उन विश्वासी सेवक है। अपने ठिकानेदारको 'महाराज' कहता है, उसके तो वे महाराज ही हैं बहुत स्नेह है उसपर उनका।

राजस्थानके राजपूतोंमें कुछ दोष भी हैं। किसमें नहीं हैं। वह अपनेको निर्दोष कहाँ क

है, किंतु आप उससे शपथ ले सकते हैं कि उसने कभी मांस या मदिरा छुआ हो। एक और दोष—यह दोष भी राजाओं, ठिकानेदारोंमें जहाँ-तहाँ मिलता ही था और उनके पार्श्वचर लोगोंका उसमें सम्मिलित हुए बिना निर्वाह नहीं था। उसके सामने भी बात आयी थी—केवल एक बार बात और उसने बिना सोच-संकोचके तलवार खींच ली थी—'दूसरोंकी बहिन-बेटी तो मेरी बहिन-बेटी हैं!' उसका उस दिनका वह रौद्र रूप—किसको मरना था जो उससे फिर कोई ऐसी-वैसी बात कहता।

कुलपरम्परासे उसे ठिकानेदारजीकी सेवा मिली है, शूरता मिली है और आस-पासके राजपूतोंसे सर्वथा भिन्न आचार मिला है। उसके पिता जब मरण-शय्यापर थे, उन्होंने कहा था—'बेटा! भगवान् नारायण हमारे कुलदेवता हैं। मांस और शराब हमारे कुलमें किसीने छुआ नहीं है। यह खड्ग—यह तो माँ भवानीका साक्षात् रूप है। यह तेरे पिता-पितामहके हाथमें रहता आया है। इसकी लज्जा रखना। स्वामीकी रक्षामें प्राण जाते हों तो जायँ, कुलको कलंक मत लगाना!'

उसने पिताकी शय्याके पास बैठकर उस कुलपरम्परासे प्राप्त खड्गको मस्तकसे लगाकर शपथ ली। प्राण-त्यागके अन्तिम क्षणमें उससे पिताने कहा था—'एक बात और स्मरण रखना। नारीकी गौरव-रक्षा—यह राजपूतका परम धर्म। धर्मसे बड़ा कोई नहीं होता बेटा! प्राण भी नहीं और स्वामी भी नहीं। धर्म तो साक्षात् भगवान् नारायणका स्वरूप है।'

आज आप उसकी व्यथा—उसकी दारुण पीड़ा समझ नहीं सकेंगे। राजपूतके जिस परम धर्मकी रक्षाके लिये, नारीके गौरवको उज्ज्वल रखनेके लिये उसने एक दिन अपने उस स्वामीके सम्मुख भी तलवार खींच ली थी, जिनके लिये अपना मस्तक काटकर धर देनेमें भी उसे संकोच नहीं, उसका वही परम धर्म आज नष्ट हो गया है। आज उसके सामने उसका वह परम धर्म················वह विचार करनेमें भी असमर्थ हो रहा है।

परमात्मा! परमात्मा!! उसने कभी किसी नारीकी ओर वासनाभरी दृष्टि नहीं उठायी। किसीकी वासनाको 'हूँ' कहकर भी उसने समर्थन नहीं किया। आज उसके घरकी नारी—उसकी बहिन—वे नरपिशाच ············परमात्मा!' वह जैसे उन्मत्त हो गया है। उसे न पृथ्वी दीखती है, न आकाश। सारी दिशाएँ जैसे घूम रही हैं।

भारतका विभाजन—पता नहीं कितने अनर्थ किये इस विभाजनने। उसका गाँव सीमाका गाँव बना और सीमाके गाँवोंकी जो दुर्दशा होती है, उसे भी क्या बताना पड़ेगा? दो राष्ट्रोंमें मैत्री हो, सन्धि हो, तब भी सीमाके ग्रामोंपर तो रात-दिन कोई-न-कोई संकट चढ़ा ही रहता है और जहाँ इतना उपद्रव, इतनी कटुता, इतनी आपाधापी हो········।

था वह घरपर ही। किसीका घरपर रहना क्या अर्थ रखता है? बहुत छोटा गाँव है उसका। थोड़ेसे लोग रहते हैं। वे सावधान भी होते तो कुछ होना-जाना नहीं था और उस समय तो सब रात्रिमें अपने-अपने घरोंमें सोये पड़े थे। तड़ातड़ गोलियाँ चलने लगीं, चिल्लाहट सुनायी पड़ने लगी। वह चौंककर उठा तो बड़ी भारी भीड़ने उसका गाँव घेर रक्खा था। कई घर धाँय-धाँय करके जल रहे थे। वह अपनी तलवार लेकर दौड़ पड़ा। कुछ और भी राजपूत दौड़े होंगे; किंतु सीमाकी दूसरी ओरसे जो उपद्रवी चढ़ आये थे, उनकी संख्या बहुत बड़ी थी। राजपूत गिने-चुने थे। कुछ भी हो, जब मरना ही है तब सम्मुख युद्धमें मरनेसे राजपूत पीछे क्यों हटे। वह जैसे आँखें बंद करके टूट पड़ा था। उसे पता नहीं कि पीछे वहाँ

क्या हुआ । वह दूसरे दिन, दिन चढ़े नेत्र खोल सका था । कोई उसे अपने घर उठा लाया था । अनेक स्थान शरीरके जले-से जाते थे । स्थान-स्थानपर पट्टियाँ बँधी थीं ।

उपद्रवी केवल उपद्रवी थे । लूट-पाट और हत्या ही उनका उद्देश्य था । वे शीघ्र ही भाग गये थे । कुछ उनके लोग और कुछ गाँवके लोग खेत रहे थे । कुछ पशु, सम्पत्ति लुटेरे ले गये थे और कुछ मनुष्य भी । कुछ झोंपड़ियाँ और मकान भस्म हो गये थे ।

'अपना घर जल चुका है । बहुत थोड़ी सामग्री बची है ।' उसकी स्त्री उसके सिरहाने बैठी थी और भरे नेत्रोंसे उसीकी ओर देख रही थी ।

'गङ्गा कहाँ है ?' पत्नीकी बातका उत्तर दिये बिना उसने पूछा । गङ्गा—उसकी विधवा युवती बहिन, गङ्गाके समान ही पवित्र बहिन गङ्गा उसे क्यों नहीं दीखती ।

'वह तो मिली नहीं ।' पत्नीने सिर झुका लिया ।

'मिली नहीं ? कहाँ गयी वह ?' वह झटकेसे उठ बैठा । एक क्षणमें सब बातें उसकी समझमें आ गयीं । पत्नीने उसे रोकना चाहा; किंतु पता नहीं कहाँकी शक्ति उसमें आ गयी थी । स्त्रीको एक ओर झटककर वह बाहर आया । बिना किसीकी सहायताके उसने साँडिनी कसी और उड़ चला । आज उसकी ऊँटनीको भी जैसे पंख लग गये थे । अच्छे पशु अपने आरोहीकी आतुरता भाँप लेते हैं ।

'महाराज !' उसे और कहाँ जाना था । उसके परम आधार तो उसके महाराज ही थे ।

'तुम क्या चाहते हो ?' ठिकानेदारजीने बड़े ही धैर्यसे, बड़ी शान्तिसे उसकी बातें सुनीं । लेकिन वे कर ही क्या सकते थे । उनके साथ ही ऐसा कुछ हुआ होता तो भी वे क्या कर सकते थे ? एक ठिकानेदारकी शक्ति ही कितनी होती है और यह तो अब दूसरे देशकी बात हो गयी थी ।

'मेरी बहिन !' वह तो पागल हो रहा था ।

'मैं क्या करूँ ? जहाँ इस समय अपने पूरे देशकी शक्ति कुछ नहीं कर पा रही है, वहाँ मैं कर क्या सकता हूँ ।' ठिकानेदारजी उसे बहुत मानते थे, बहुत स्नेह करते थे उससे, लेकिन विवश थे ।

'हे भगवान् !' वह धमसे गिर पड़ा भूमिमें । उसका जो आधार था, टूट गया । उसकी आशा नष्ट हो गयी ।

'भगवान् !' आशा नष्ट होनेपर मनुष्य कदाचित् ही जीवित रह पाता है । लेकिन मुखमें भगवान्का नाम आया और एक नवीन लहर आयी हृदयमें । एक आशाकी दूसरी ज्योति दिखायी दी ।

वह पढ़ा-लिखा कम ही है । उसे तो तलवारकी और राजपूतके आत्मगौरवकी शिक्षा मिली है । वह शिक्षा इस समय काम आवे, ऐसा नहीं है । उसका कुल भगवान् नारायणका उपासक रहा है । वह बचपनसे साधु-संतोंमें श्रद्धा रखता आया है । यहाँसे कुछ दूर एक टेकरी है । टेकरीपर एक कुटिया है । कुटियामें एक संत रहते हैं । संत सिद्ध हैं । सिद्ध संत अपनी इच्छासे ही सब कुछ कर सकते हैं । असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं । यही है उसकी आशाका आधार । उसकी ऊँटनी फिर पूरे वेगसे दौड़ने लगी है ।

× × × ×

[३]

उसका दुःख, उसकी पीड़ा—मैं उसके शरीरमें बँधी पट्टियोंके नीचेके घावोंकी बात नहीं कहता । उन घावोंमें होती जलनकी बात नहीं कहता और नहीं कहता उस रक्तकी बात जो कपड़ेकी पट्टियोंसे ऊपर तक आ गया दीख रहा है । उसे स्वयं इस पीड़ाका,

इन घावोंका इस समय पता नहीं है। पीड़ाका हाहाकार तो हो रहा है उसके हृदयमें। एक राजपूत और उसकी बहिन—गङ्गा-सी पवित्र उसकी बहिन—वे क्रूर पशु……पिशाच……

साधुकी बात वह सुनता रहा। साधुकी बात सुन लेनी चाहिये, यह उसने सुना है। साधुको अप्रसन्न नहीं करना चाहिये, यह वह जानता है। पता नहीं क्यों, इस टेकरीपर पैर रखते ही उसका उन्माद बहुत कुछ दूर हो गया है। उसका हृदय अपने-आप किसी अज्ञात कारणसे आश्वस्त होता जा रहा है। साधुकी बात सुन सके इतना धैर्य उसमें आ गया है।

‘परमात्मा!’ उसने साधुकी बात सुनकर बड़ी कातरतासे कहा। वह आस्तिक न सही, साधु महाराज तो भगवान्‌के परम भक्त हैं। वह उन्हींसे तो दयाकी याचना करने यहाँ आया है।

‘भगवान् दयामय हैं। वे किसी आर्त प्राणीकी पुकार कभी अनसुनी नहीं करते। कोई संकटमें उन्हें पुकारे और वे उसकी पुकार न सुनें, यह हो नहीं सकता।’ साधुपर उसकी पुकारका प्रभाव पड़ा था। उनके स्वरमें वज्र-जैसी दृढ़ता और सम्पूर्ण निश्चय था। उनके नेत्र आकाशमें कहीं स्थिर हो गये थे।

‘परमात्मा!’ वह एक बार फिर चीत्कार कर उठा। साधुके आदेशका उसके हृदयपर सीधे प्रभाव पड़ा था।

‘भैया!’ उसकी पुकार पूरी होते-न-होते दूसरी पुकार आयी। टेकरीपर चढ़ता कोई नारी-स्वर गूँज गया।

‘गङ्गा!’ वह चौंक पड़ा और दूसरे क्षण ही दौड़ा।

‘दयामय प्रभु!’ साधुने भूमिपर मस्तक रख दिया और फिर अपने दोनों नेत्र पोंछ लिये।

गङ्गा अकेली नहीं आयी थी। उसके साथ एक और लड़की थी। आजका गङ्गाका स्वरूप देखने ही योग्य था। उसके केश बिखर रहे थे। सारा शरीर रेतसे भरा था। दाहिने हाथमें एक नङ्गी तलवार थी, जिसे अब भाईको देखते ही उसने झनसे दूर फेंक दिया था। उसके मुखपर, उसके नेत्रोंमें अद्भुत दीप्ति थी। उसने बायें हाथसे उस लड़कीका हाथ पकड़ रक्खा था और वह लड़की तो जैसे पुतली हो। गङ्गाके हाथके संकेतपर चले चलनेके अतिरिक्त जैसे वह और कुछ करना जानती ही न हो।

‘तू यहाँ कैसे आयी बेटी! यह कौन है?’ जब भाई-बहिन मिल चुके, उनका आवेग घटा, गङ्गाने और दूसरी लड़कीने साधुके चरणोंमें सिर झुकाया और बैठ गयी, तब साधुने पूछा।

‘मेरे गाँवपर रातमें लुटेरोंने आक्रमण किया था।’ गङ्गाने मस्तक नीचे किये हुए कहा।

‘तुम्हारे भाईने बहुत कुछ बता दिया है।’ साधुने बीचमें रोका—‘तुम लुटेरोंके हाथसे छूट कैसे आयी?’

‘मुझे किसने पकड़ा था? मुझे कौन पकड़ सकता था।’ गङ्गाने ऐसे दृढ़ स्वरमें कहा, जिसे सुनकर उसके भाईको भी आश्चर्य हुआ। वह भी अपनी बहिनका मुख देखने लगा।

‘तब तुम थीं कहाँ?’ साधुने ही पूछा।

‘बाबा! लुटेरे बहुत बुरे होते हैं। वे किसी स्त्रीके धर्मकी रक्षा करना नहीं चाहते। गङ्गाके लिये यह बहुत बुरी और बहुत अद्भुत बात थी। भला कोई मनुष्य किसी स्त्रीकी मर्यादाका कैसे सम्मान नहीं करेगा। वे लुटेरे इस बेचारीको पकड़े लिये जा रहे थे। इसे बहुत गंदी-गंदी गालियाँ दे रहे थे। यह रो रही थी, गिड़गिड़ा रही थी, प्रार्थना कर रही थी, पर वे सुनते ही नहीं थे।’

‘तू इसे बचाने गयी थी?’ साधु इस स्नेहसे पूछ रहे थे, जैसे अपनी सगी पुत्रीसे पूछ रहे हों।

‘मैं बचाने नहीं जाती बाबा? यह मेरी गाँवकी बहिन लगती है। कोई दुःखमें हो तो बचाना नहीं

चाहिये बाबा ?' गङ्गाने सहज भावसे कहा—'मैं दौड़ी, मुझे एक कसा खाली घोड़ा मिल गया। एक कोई वहाँ मरा पड़ा था, मैंने उसकी तलवार ले ली। लेकिन बाबा! लुटेरे बड़े कायर होते हैं। मैं उनके पीछे घोड़ा दौड़ाती गयी। उन्होंने पहले तो गोलियाँ चलायीं; लेकिन फिर पीछे डर गये। इसे घोड़ेसे उतारकर वे सब भाग गये। मैं इसे घोड़ेपर बैठाकर घर आ रही थी, लेकिन रास्ता भूल गयी। पता नहीं कहाँ भटक गयी। वह घोड़ा भी बड़ा अड़ियल था। बार-बार पीछे ही मुड़कर भागता था। इससे मैंने उसे छोड़ दिया। बहुत भटकती-भटकती यहाँ आयी हूँ। बहुत थक गयी हूँ बाबा!'

'उतने लुटेरोंके पीछे तू अकेली दौड़ती गयी। तुझे डर नहीं लगा? वे तुझे भी पकड़ लेते तो क्या करती?' साधुके स्वरमें उलाहना नहीं, स्नेह था।

'क्या मैं मरना नहीं जानती? वे मुझे कैसे पकड़ लेते? भगवान् नहीं हैं क्या बाबा? भगवान् मुझे बचाते न। मैं उन सबसे क्यों डरूँ?' गङ्गाकी वाणीमें अविचल विश्वास था।

'इसका नाम है—आस्तिकता। तुमने आस्तिक देखा?' साधुने गङ्गाके बदले उसके भाईकी ओर देखा।

वह क्या कहे। उसका जी चाहता है कि अपनी इस बहिनके पैरोंपर सिर रख दे। वह गङ्गाका भाई है, यही क्या कम गौरवकी बात है उसके लिये।

श्रीश्रीनामामृतलहरी

(लेखक—महात्मा श्रीसीतारामदास ॐकारनाथ)

न वासुदेवात् परमस्ति मङ्गलं
न वासुदेवात् परमस्ति पावनम्।
न वासुदेवात् परमस्ति दैवतं
तं वासुदेवं प्रणमन् न सीदति॥
(अनुस्मृति)

'वासुदेवसे अतिरिक्त परम मङ्गल कुछ नहीं है, वासुदेवकी अपेक्षा परम पवित्र और कुछ नहीं है, वासुदेवसे श्रेष्ठ देवता और कोई नहीं है, उस वासुदेवको प्रणाम करनेपर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश—इन पाँचों क्लेशोंकी प्राप्ति नहीं होती। प्रणाम करने मात्रसे पाँचों क्लेश दूर हो जाते हैं।'

भगवान्‌ने कहा है—'नम इत्येव यो ब्रूयान्मद्भक्तः श्रद्धयान्वितः'—श्रद्धासम्पन्न मेरा जो भक्त 'नमः' इस शब्दका उच्चारण मात्र करता है, हे नारद! वह यदि चाण्डाल भी होता है तो भी उसे अक्षय लोककी प्राप्ति होती है। मुखसे 'नमः' कहनेपर ही जब मनुष्यको अक्षय लोक मिल जाता है, तब प्रणाम करनेपर अविद्यादि क्लेशोंके दूर हो जानेमें क्या आश्चर्य है?

येऽहर्निशं जगद्धातुर्वासुदेवस्य कीर्तनम्।
कुर्वन्ति तान् नरव्याघ्र न कलिर्बाधते क्वचित्॥
(विष्णुधर्मोत्तर)

'जो लोग दिन-रात जगत्‌के निर्माणकर्त्ता, रक्षाकर्त्ता, धारणकर्त्ता वासुदेवका नाम-कीर्तन करते हैं, हे नरश्रेष्ठ! कलि उन लोगोंपर कोई उपद्रव नहीं कर सकता अथवा कोई पीड़ा नहीं दे सकता।'

वासुदेवका नाम-कीर्तन समस्त कल्याणकारी कर्मोंका भी कल्याणकारक है, आयुवर्द्धक है और भोग या मोक्ष—जो जिसको चाहता है, उसको वही प्रदान करता है।

'तब कुछ लोग यह कैसे कहते हैं कि भगवान् वासुदेवका आश्रय लेनेपर मनुष्य दरिद्र हो जाता है?'

दरिद्र कौन होता है—जो भोग नहीं चाहता।

जिन्होंने इस जन्ममें या पूर्वजन्ममें कभी भोगकी प्रार्थना की है, वे तो भोग पाते ही हैं। मनु, राजा पृथु, ध्रुव, प्रह्लाद, अम्बरीष, मान्धाता, जनक, युधिष्ठिर—इनके समान भक्त कौन हैं ? ये भगवान्‌की सेवा करके राजा हो गये। लक्ष्मी जिनकी गृहिणी हैं, उनकी सेवा करके मनुष्य दरिद्र क्यों होगा ? हाँ, जो यह कहते हैं कि 'हमें कुछ नहीं चाहिये; हम तो केवल तुम्हींको चाहते हैं'—तब भगवान् अगत्या उन्हें अपने-आपको दे देते हैं। कल्पवृक्षसे जो जिस वस्तुको चाहता है, वह उसीको पाता है। जो गाछ चाहता है, वह गाछ पाकर इतना बड़ा धनवान् हो जाता है कि उसका माप करनेकी शक्ति किसीमें नहीं रह जाती, इसलिये लोग उसे निर्धन कहते हैं। हरि-हरि-हरि करता है—गाछके नीचे पड़ा है—खानेको नहीं पाता, पहननेको कपड़ा नहीं है—उसको लोग महा-धनवान् और राजा कैसे कहेंगे ?

हरि-हरि ! नहीं सुना है—साधुओंको लोग 'महाराज' कहते हैं ? मनुष्य धन चाहता है आनन्दके लिये; अर्थके द्वारा अनन्त दुःखमिश्रित खण्डानन्दका भोग प्राप्त होता है। और जो परमार्थ-लाभ करता है—वह असीम अपरिमित परमानन्द-सागरमें डूबा रहता है, उसके आनन्दको दूसरा क्या समझेगा ? वह जैसा मुक्त प्राणसे हँसता है, उस प्रकार हँसनेकी शक्ति वित्तनाशके भयसे सशङ्कित राजा-महाराजामें भी नहीं है।

भगवान्‌ने ही तो कहा है—

'यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।'

'जिसपर मैं कृपा करता हूँ, उसके धनको शनैः-शनैः हर लेता हूँ।' ठीक ही तो है। राजा बननेकी प्रार्थना करके, राजा बनकर जब उसकी ज़्वालासे त्राहि-त्राहिकी पुकार मचाता है, तभी तो भगवान् अनुग्रह करके धन हरण करते हैं और जो ऐश्वर्यमदमें अन्धे हो जाते हैं, उनपर कृपा करनेके लिये धन छीन लेते हैं। लक्ष्मी जिनकी चरणसेविका है, उनके दास निर्धन नहीं हो सकते। कोई पार्थिव धन पाकर—भगवान्‌के उद्देश्यसे दान, यज्ञ, लोक-सेवा, परोपकारमें लगाते हैं। कोई अपार्थिव धनके अधिकारी होकर तप्त जीवसमूहको उस धनसे धनी बनाते हैं। जो जिस वस्तुको चाहता है, उसे वही देते हैं। कोई कहता है—

मुक्ति न दीजै मोहिं प्रभु ! कीजै कृपा उदार।
जनम जनम पद-कमल-रति, सेवाको अधिकार॥

—उसको भगवान् यही देते हैं और जो निर्वाण चाहते हैं, उनको नाम लेनेपर निर्वाण मिलता है; क्योंकि भगवान्‌ने कहा है—'नारायण-अच्युत-अनन्त-वासुदेव' मेरे इन सब नामोंका कीर्तन करनेसे 'याति मल्लयतां स हि'—वह मुझमें निश्चय लयको प्राप्त होता है—महाकाशमें घटाकाशकी भाँति सदाके लिये सम्मिलित हो जाता है।

वासुदेवेति मनुज उच्चार्य भवभीतितः।
तन्मुक्तिपदमाप्नोति विष्णोरेव न संशयः॥
(अङ्गिरसपुराण)

जो मनुष्य भवभयसे भीत होकर 'वासुदेव' इस नामका उच्चारण करता है, वह जन्म-मरणके बन्धनसे छूटकर विष्णुके परमपदको प्राप्त करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

'वासुदेव नामका अर्थ क्या है ?'

वासु सर्वनिवासश्च विश्वानि यस्य लोमसु।
स च देवः परं ब्रह्म वासुदेव इति स्मृतः॥
(ब्र० वै० पुराण)

जो सबका निवासस्थान है एवं विश्व समूह जिसके रोममें स्थित है, वह ज्योतिर्मय परम ब्रह्म वासुदेव है।

'क्या वासुदेव परम ब्रह्म नारायणका नामान्तर है ?'

हाँ !

वसन्ति त्वयि भूतानि ब्रह्मादीनि युगक्षये ।
त्वं वा वससि भूतेषु वासुदेवस्तदोच्यते ॥
(मत्स्यपुराण)

'प्रलय कालमें ब्रह्मादि सब तुम्हारे अंदर निवास करते हैं और तुम सब भूतोंमें निवास करते हो, इसलिये 'वासुदेव' कहलाते हो ।'

सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः ।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिकीर्तितः ॥
(विष्णुपुराण)

'वह सर्वत्र है और सब उसीमें निवास करता है, इसलिये उसे वासुदेव कहा जाता है ।'

सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि ।
भूतेष्वपि च सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः ॥

'समस्त भूत परमात्मामें निवास करते हैं और वह समस्त भूतोंमें निवास करता है, इसीलिये वह सर्वात्मा 'वासुदेव' कहलाता है ।'

भूतेषु वसते सोऽन्तर्वसन्त्यत्र च तानि यत् ।
धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभुः ॥

'वह भूतोंके अंदर निवास करता है और समस्त भूत उसमें निवास करते हैं, वह जगत्का धारण-रक्षण और निर्माण करनेवाला है; विधानकर्त्ता है और निग्रह-अनुग्रहमें समर्थ प्रभु है, इससे वासुदेव है ।'

सर्वभूताधिवासं च यद्भूतेषु वसत्यपि,
सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेवः,
तदस्म्यहं वासुदेवः ॥
(ब्रह्मबिन्दूपनिषद्)

'सब भूतोंका निवासस्थान, सब भूतोंका निवास और सबका अनुग्राहक होनेके कारण वह वासुदेव मैं हूँ, वह वासुदेव मैं हूँ ।'

'सब भूतोंमें जो निवास करता है और समस्त भूत जिसमें निवास करते हैं, वही वासुदेव है—यही बात सबने कही है । हृदयकमलमें आत्मारूपसे वह है, यह तो समझमें आ गया परंतु समस्त भूत उसमें किस प्रकार है ?'

द्यौ मूर्द्धानं यस्य विप्रा वदन्ति
खं वै नाभिं चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ ।
दिशः श्रोत्रे यस्य पादौ क्षितिं च
ध्यातव्योऽसौ सर्वभूतान्तरात्मा ॥

'द्युलोक जिसका मस्तक है, आकाश नाभि है, चन्द्र-सूर्य दोनों नेत्र हैं, दिशाएँ कान हैं, पृथ्वी चरण हैं—हम उसके चरणोंमें ही हैं । हमारे ऊपर-नीचे, बायें-दाहिने, सामने-पीछे वही है, अतएव हमलोग उसके भीतर ही हैं । और भी उसका एक नाम है 'ब्रह्माण्डोदर' । सावरण चतुर्दश भुवन उसके छोटेसे उदरमें स्थित है; अतः भूतगण उसीमें निवास करते हैं ।'

'यह धारणा करना बहुत कठिन है ।'

अच्छा, 'वसुदेवस्यापत्यं पुमान् इति वासुदेवः' वसुदेवके पुत्र वासुदेव; मुखमें हँसी, हाथमें वंशी—यह तो सरल है । अच्छा लगे तो उसीका चिन्तन करो, अथवा शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी नारायणका ध्यान करो ।

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥
(विष्णुसहस्रनाम)

'वासुदेवमें परम आसक्त, वासुदेव-आश्रयी मानव सब पापोंसे विशुद्धचित्त होकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त करता है ।'

नवघनश्यामसुन्दर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी वासुदेव या पीतवसन, मयूर-पिच्छको मस्तकपर धारण किये वंशी बजाते हुए कृष्णचन्द्रका चिन्तन करते-करते नामोच्चारण करो । यह भी न कर सको तो, केवल बोलो—वासुदेव-वासुदेव-वासुदेव ।

◆

भक्त-गाथा

(भक्त कण्व ब्राह्मण)

द्वापरयुगकी बात है, कण्व नामक एक सदाचारी भक्त ब्राह्मण थे। वे नन्दबाबाके घर कभी-कभी आया करते थे। भगवान् श्रीकृष्णके अवतीर्ण होनेके बाद एक दिन वे घूमते-घामते नन्दालयमें आ पहुँचे। सदा आनेवाले थे। सबसे परिचित थे। शुद्ध आचरण करनेवाले त्यागी पुरुष थे। कहीं रोक-टोक थी नहीं, सीधे अन्तःपुरमें जा पहुँचे। वात्सल्य-प्रेममयी यशोदा मैयाने ब्राह्मणको घर आये देखकर अपना परम सौभाग्य माना और अभ्यर्थना, पाद-प्रक्षालन, आसन, अर्घ्य, मधुपर्क आदि समर्पण करके भूमिपर गिरकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। फिर नन्हे-से नीलमणिको लाकर उनके चरणोंमें डाल दिया और कहा 'आपके श्रीचरणोंके शुभाशीर्वादसे यह पुत्र प्राप्त हुआ है, आप आशीर्वाद दें जिसमें यह दीर्घजीवी होकर आपलोगोंकी सेवा करे।' ब्राह्मणने आशीर्वाद दिया पर उनके नेत्र बालकसे हटना नहीं चाहते। यशोदा मैयाको ब्राह्मणोंपर बड़ी भक्ति थी, पर जब ब्राह्मणकी दृष्टिको अपने नन्हेसे शिशुपर गड़ी हुई देखा, तब मनमें नजर लगनेका संदेह हो गया और अपने नीलमणिको झटपट ले जाकर अंदर सुला दिया। ब्राह्मण देखते ही रह गये। पर यशोदा शीघ्र लौट आयीं और बड़े आग्रहसे उन्हें भोजन बनाकर प्रसाद पानेके लिये राजी किया। यशोदाने स्नान करके कपड़े बदले और ब्राह्मणके लिये भोजनका सामान जुटाने चली गयीं।

इतनेमें चञ्चल नीलमणि उठकर आँगनमें आ गये। चारों ओरसे वात्सल्यवती व्रजाङ्गनाएँ आ पहुँचीं। ब्राह्मणदेवता चपल बालककी ओर देखने लगे। शिशुके अनुपम सौन्दर्यका उन त्यागी ब्राह्मणपर बड़ा प्रभाव पड़ा। वे मन-ही-मन बोले—गोपबालकमें इतनी रूपमाधुरी! उस समय यशोदा इसे तत्काल उठा ले गयी। मैं अच्छी तरह देख ही नहीं पाया। यह क्या हो गया। मेरी आँखें तो इस नील-शिशुसे हटना ही नहीं चाहतीं, पलकें पड़नी बंद हो गयीं। कैसी भंगिमा है। अरे, इसने तो बायें हाथसे नन्हे-से बछड़ेका गला पकड़ लिया और दाहिने हाथसे उसे थपथपा रहा है और बछड़ा भी इसके अङ्ग-से-अङ्ग सटाकर कैसी मुदित और मुग्ध दृष्टिसे देख रहा है। अरे देखो, यह तो मोरकी ओर चला। मोर भी ग्रीवा ऊपरको उठाकर इसकी ओर आ रहा है। ये तो बहुत मोर आ गये। दल-के-दल मोरोंने आकर नील-शिशुको घेर लिया और पंखोंको फैला-फैलाकर नाचना आरम्भ कर दिया। बीचमें खड़ा बालक भी अङ्गोंको हिला-हिलाकर हाथोंके भाव बता-बताकर नाचने लगा। अहा! क्या माधुरी है, कैसी मनोहारिणी छवि है। ये इतनी व्रजगोपियाँ क्यों दौड़ी आ रही हैं। ये ताली क्यों बजाने लगीं। अरे, बालक नाच रहा है। ये व्रजगोपियाँ भी हँस-हँसकर नाचने लगीं। अपूर्व शोभा है।'

इतनेमें यशोदा मैया लौटीं। ब्राह्मण तो मन्त्रमुग्धकी तरह एकटकी लगाये उनके शिशुपुत्रकी ओर देख रहे थे। यशोदा फिर डरीं। उन्होंने पुकारकर कहा—'पण्डितजी! मैं प्रसाद बनानेके लिये गोशालामें चौका लगाकर चूल्हा जला आयी हूँ। पद्मगन्धा गायका ताजा दूध नये मँजे हुए बर्तनमें दुहकर रख दिया है। श्रीनारायणके पूजा-भंडारसे पवित्र साफ किये हुए सुगन्धित शालि चावल, शक्कर, कपूर, मँजी हुई पतेली और चमची सब चीजें रख दी हैं। स्वयं कूएँसे खींचकर जलकी गगरी रख आयी हूँ। सोनेका पवित्र लोटा, गिलास, थाली—सब कुछ रक्खा है। आप चल-

कर देख लें और खीर बनाकर भगवान्‌के भोग लगावें ।'

ब्राह्मणका मन तो बालकको देखते ही रहनेका था, पर भगवान्‌के भोगमें देर हो रही थी, अतः वे गोशालामें जाकर रसोई बनाने लगे। उन्होंने दूध चूल्हेपर चढ़ाया, उसमें चावल डाले, परंतु उनका मन यहाँ नहीं लग रहा था। वे मन-ही-मन देख रहे थे यशोदा-नन्दन भुवनमोहन नीलमणिकी अङ्ग-शोभा और व्रजाङ्गनाओंके साथ उसके अङ्गोंकी नाना प्रकारकी मनोहर विचित्र भङ्गिमापूर्ण मधुर बाललीला। फिर उन्हें लगा, 'भोजनकी व्यवस्था इतनी दूर न करके यशोदाने वहीं उसी आँगनमें कर दी होती तो दोनों काम होते। मेरी रसोई भी बनती और उस क्रीड़ामत्त यशोदा-लालकी बाल-माधुरीको भी मैं देखता रहता। जो कुछ भी हो, अब तो जल्दीसे खीर बनाकर प्रभुके प्रसाद लगा दूँ, फिर उधर ही चला जाऊँगा और विश्रामके बहाने वहीं बरामदेमें बैठकर उस अद्भुत-सुन्दर बालककी लीला देखूँगा।' ब्राह्मणने खीर बनायी। उसमें शर्करा, कर्पूर आदि मिलाकर सुमधुर और सुवासित बनाया। तदनन्तर स्वर्णथालमें डालकर ताड़की पंखीसे हवा करने लगे। खीरके ठंडी हो जानेपर इष्टदेवके भोग लगानेके लिये उसे चौकीपर रक्खा, समीपमें सुगन्धित जलका स्वर्ण-पात्र रक्खा और मन-ही-मन श्रीबालगोपालके समर्पण करके किंवाड़ बंद कर दिये। स्वयं बाहर आकर संयत-चित्तसे बालगोपालके मन्त्रका जप करते हुए उनके भोजन-ग्रहणका ध्यान करने लगे। जप पूरा होनेपर ताली बजाकर किंवाड़ खोले तो क्या देखते हैं कि यशोदाका नन्हा-सा लाल अपनी रूप-छटासे समस्त गृहको प्रकाशित करता हुआ ब्राह्मणके इष्ट देवताके आसनपर विराजित है। दाहिना घुटना ऊपर उठाये है, दाहिना चरणतल, बायाँ चरणतल और बायाँ घुटना जमीनपर रक्खे है और दाहिने हाथसे खीरका भोजन कर रहा है। किंवाड़ खुलनेका शब्द सुनकर उसने चकित होकर भोजन करना बंद कर दिया। उसके दाहिने हाथमें लिया हुआ खीरका ग्रास आधा मुखमें और आधा दाहिने हाथमें है। वह भय-चकित नेत्रसे मुख ऊँचा करके ब्राह्मणकी ओर एकटकी लगाये देख रहा है।

नीलमणिकी इस छबिको देखते ही एक बार तो ब्राह्मण चकित और विस्मित हो गये। क्षण कालके लिये उनके मनमें आया कि यह तो मेरी ही ध्यान-मूर्ति है। पर दूसरे ही क्षण भगवान् नन्दनन्दनकी चञ्चलता दीखी, मानो उन्होंने मायाका पर्दा डाल दिया और भाव बदल गया। आँखोंमें क्रोध आ गया। सोचने लगे, किंवाड़ बंद थे यह चञ्चल बालक अंदर आया किस रास्तेसे। फिर निश्चय किया कि यह पहलेसे ही आकर घरमें छिप गया था और भोग रखकर मेरे बाहर निकलते ही खाने लगा। ब्राह्मणका क्रोध बढ़ गया। उन्होंने मन-ही-मन कहा—'यशोदा कितनी मूर्खा है जो इस परम चञ्चल बालकको छोड़कर घरके काममें लग गयी। इतना भी नहीं सोचा कि यह नटखट भगवान्‌का भोग जूँठा कर देगा।' भूख लगी हुई थी; ब्राह्मणने झुँझलाकर बड़े जोरसे चिल्लाकर पुकारा—'अरी यशोदा, जल्दी आ, देख तेरे इस उपद्रवी बच्चेने कितना अनर्थ कर डाला है।'

यशोदा कुछ ही समय पूर्व अपने लालाको छोटेसे पलँगपर सुलाकर उसके शरीरपर हाथ फेर रही थीं। इसी बीचमें नींद आने लगी तो वहीं जमीनपर सो गयी थीं। ब्राह्मणकी कर्कश पुकार सुनते ही घबराकर उठीं और दौड़कर ब्राह्मणके पास पहुँचीं। हाथ जोड़कर बोलीं—'महाराज! आपका भोजन तो निर्विघ्न हो गया न? क्या हाथ धुलानेके लिये मुझे पुकारा था! अभी जल लाती हूँ।' यशोदाके इन शब्दोंने तो मानो अग्निमें घृतकी आहुतिका काम किया। वे क्रोधसे तिलमिला उठे। आँखें एकदम लाल हो गयीं और

गरजकर बोले—'मुझसे दिल्लगी करने चली है, मैं निर्विघ्न भोजन करके तुझे हाथ धुलानेके लिये पुकार रहा था ? अंदर जाकर देख तो सही अपने सपूतकी करतूत, भोजनकी क्या गति की है उसने ।' ब्राह्मणकी बात सुनते ही यशोदाने अंदरकी ओर देखा और देखते ही वह तो काँपने लगीं । उन्होंने हतबुद्धि होकर अपना सिर पीट लिया । 'हाय ! ब्राह्मणके कोपसे, पता नहीं, अब क्या होगा । मेरा तो कुछ भी हो जाय । ये घर-द्वार नष्ट हो जायँ । पर अरे मूर्ख कन्हैया ! तूने यह क्या किया । भगवान् नारायणकी कृपाने तुझे पूतनासे बचाया । महाशकट गिरा, पर उससे तू बच गया, पर आज इस ब्राह्मणके क्रोधानलसे तुझे कौन बचायेगा ? हाय ! हाय ! मैं क्या करूँ ?' यशोदा ब्राह्मणके चरणोंमें गिर पड़ीं और आँसुओंकी जलधारासे उनके चरणोंको धोती हुई बोलीं—'महाराज ! मेरे इस अबोध बालकको आप प्राणोंकी भीख दें । आपके कृपा किये बिना साक्षात् नारायण भी मेरे इस बालकको क्षमा नहीं करेंगे ।' इतना कहते-कहते यशोदाकी वाणी रुक गयी । वे पुत्रके अमङ्गलकी आशङ्कासे सर्वथा व्याकुल हो गयीं और ब्राह्मणके चरणोंमें पड़कर करुण क्रन्दन करने लगीं । यशोदाकी व्याकुलताको देखकर सरल भक्त-हृदय ब्राह्मणका क्रोध पूर्णरूपसे शान्त हो गया । उन्होंने बड़े मधुर शब्दोंमें कहा—'यशोदे ! इतना डर क्यों रही हो । तुम्हारे बालकका जरा भी अनिष्ट नहीं होगा । अबोध बच्चा है, उसे, क्या करना है, क्या न करना है, इसका पता थोड़े ही है । सब कुछ भगवान् श्रीनारायणके मङ्गल विधानसे ही होता है । मुझे कोई दुःख नहीं है । तुम्हारे यहाँ इस समय भोजनकी सुविधा नहीं होगी । बालक बड़ा हो जायगा तब मैं फिर आ जाऊँगा । तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो, तुम्हारा पुत्र दीर्घजीवी होकर तुमको और जगत्को सुखी करे । लो, मैं चला ! तुम जरा भी घबराना नहीं ।'

यशोदाने चरण पकड़ लिये और अत्यन्त कातर होकर कहा—'महाराज ! मैं प्राण रहते कभी आपको भूखे नहीं जाने दूँगी । इस बार मैं दूसरे घरमें सारी व्यवस्था करती हूँ ।' यशोदा मैया अतिथिवत्सल तो थीं ही, धर्मभीरु भी थीं और सबसे बड़ी बात इस समय यह थी कि ब्राह्मणके भूखे चले जानेमें उनके मनमें अपने पुत्रकी अनिष्टाशङ्का थी । ब्राह्मण भूखे तो थे ही । यशोदाके अनुनय-विनयसे मान गये । यशोदा अपने उद्दण्ड पुत्रको वहाँसे हटानेके लिये अंदरकी ओर चलीं तो ब्राह्मणदेवता बोल उठे—'नहीं-नहीं, यशोदे ! बच्चेको यहाँसे क्यों हटाती हो ? देखो न ! वह खीरके खेलमें कैसा उन्मत्त हो रहा है ? दोनों हाथोंमें खीर लेकर मुँहमें डाल रहा है, कभी-कभी दोनों हाथोंसे खीरकी थालीको ही थपथपा देता है । तुम्हारे इस बालकके खेल तो बड़े ही मनोहर हैं । श्रीनारायणकी कृपासे तुम्हारा यह पुत्र दीर्घजीवन प्राप्त करके तुम्हारा आनन्द बढ़ावे ।'

ब्राह्मणके वचनसे यशोदाको बड़ा आश्वासन मिला । उन्होंने एक दूसरी गोशालामें ब्राह्मणकी रसोईकी समस्त व्यवस्था कर दी और कहा—'आप किंवाड़ बंद करके भोजन बनाकर पावें, मैं इस अशान्त बालकको उस बड़ी दूरके घरमें ले जाकर बैठी रहूँगी । आपके भोजन कर लेनेपर मैं आऊँगी और बालकके साथ प्रसाद ग्रहण करके कृतार्थ होऊँगी ।' यों कहकर सारे शरीरमें खीर लिपटे हुए अपने लालाको लेकर वे दूरके घरमें चली गयीं । ब्राह्मणने पूर्ववत् भोजन बनाकर थालीमें परोसा और तुलसी रखकर इष्टदेवके समर्पण किया और किंवाड़ बंद करके वे बाहर आकर मन्त्रजप तथा भोजनका ध्यान करने लगे । तदनन्तर किंवाड़ खोलकर देखा तो वही पहलेकी भाँति यशोदानन्दन उनके इष्टदेवके आसनपर बैठे खीरका भोग लगा रहा है । ब्राह्मणको बड़ा दुःख एवं आश्चर्य हुआ कि 'यह बालक

अंदर प्रवेश कैसे करता है ? और यशोदा ही इसे मेरे भोजन करनेतक घरमें बंद न रखकर खुला क्यों छोड़ देती है। जो कुछ भी हो—अब यहाँसे अन्यत्र कहीं चल देना चाहिये।' यों विचारकर उन्होंने यशोदाको पुकारा।

यशोदा मैयाने जब अपने नीलमणिको दूर घरमें ले जाकर पलंगपर लिटा दिया था, इतनेमें ही वहाँ नन्दबाबा आ पहुँचे। 'ब्राह्मणका आदर-सत्कार भलीभाँति किया गया न ?' यह पूछनेपर नन्दबाबाको यशोदा मैयाने सारी घटना सुनायी। नन्दबाबाको अपने पुत्रकी इस धृष्टतापर बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने कहा—'कन्हैयाने बड़ा अनर्थ किया; परंतु दयालु ब्राह्मण तुम्हारी विनयपर मान गये—यह नारायणने बड़ी कृपा की। मैं जाकर देखता हूँ, इस बार तो ब्राह्मणने आनन्दसे भोजन किया होगा।' नन्दबाबा यह कह ही रहे थे कि यशोदा मैयाकी दृष्टि पलंगकी ओर गयी, देखा तो कन्हैया नहीं है। नन्द-यशोदा दोनों ही दौड़े—कहीं इस बार भी उसने वहाँ पहुँचकर रसोई जूँठी न कर दी हो, बड़ा भय लगा उनको। वहाँ जाकर देखते हैं कि पूर्ववत् आसनपर बैठा कन्हैया खीर खा रहा है। ब्राह्मण बरामदेमें निराश उदास खड़े हैं। ब्राह्मणके कोपसे पुत्रकी अमङ्गलाशङ्का करके दोनोंका हृदय काँप उठा। यशोदा तो जड़ कटे हुए वृक्षकी भाँति धड़ामसे ब्राह्मणके चरणोंपर गिरकर रोने लगीं। नन्दबाबा बड़े जोरसे डाँटते हुए कन्हैयाकी ओर बढ़े। ब्राह्मणने नन्दको रोककर कहा—'बच्चेको क्यों डाँटते हो नन्दजी ? इसे दोष-गुणका क्या पता है। बालक मिष्टान्न-लोभी हुआ ही करते हैं। इसीलिये यह बार-बार खीर खाने आ पहुँचता है। इसको क्या पता कि इससे ब्राह्मणके भोजनमें विघ्न होगा। जीव कर्माधीन है। जगत्के सारे हानि-लाभ, वस्तुओंकी प्राप्ति-अप्राप्ति प्रारब्धाधीन है। विश्वविधाताके अलङ्घनीय विधानके अनुसार, जब जो होना होता है, वही होता है; मनुष्य तो व्यर्थ ही अहङ्कार और कामनाके वश होकर इस भगवद्विधानकी बातको भूल जाता है और भाँति-भाँतिके दुःख-भोग करता है। जिसकी प्रेरणासे यह बालक बार-बार आकर भोजनमें विघ्न करता है, उसके विधानके अनुसार आज यहाँ मेरे भोजनकी व्यवस्था नहीं है, ऐसा मेरा अनुमान है। अतएव व्यर्थ प्रयास करनेमें क्या लाभ है। मेरे मनमें कोई दुःख नहीं है, तुमलोग न तो दुःख करो और न इस अबोध बालकको ही डाँटो-डपटो। तुम्हारा और इस बालकका मङ्गल हो—मैं जाता हूँ। फिर कभी आऊँगा। तुम्हारे मनमें यदि यह भय हो कि ब्राह्मणके भूखे जानेसे हमारा अनिष्ट होगा तो लाओ, थोड़ा मक्खन-दूध ला दो, मैं उसे खा-पीकर चला जाऊँगा।'

ब्राह्मणके शान्त वचनोंसे नन्द-यशोदाको सान्त्वना तो मिली, परंतु ब्राह्मणको भूखे भेजना इन्हें सर्वथा अनुचित लगा। दोनोंने हाथ जोड़कर क्षमा-प्रार्थना की, बड़ा आग्रह किया। जोर-जोरकी आवाज सुनकर आस-पासके गोप-गोपी भी वहाँ आ गये। उन लोगोंने भी हाथ जोड़कर ब्राह्मणसे क्षमा-प्रार्थना की और कृपापूर्वक भोजन करनेके लिये निवेदन किया। ब्राह्मण बड़े सरल थे। उन्होंने स्वीकार किया। यशोदाने सारी व्यवस्था कर दी और अपने कन्हैयाको लेकर गोपियोंके साथ वे उपनन्दके घर चली गयीं। गोपगण नन्दभवनके प्रत्येक द्वारपर और आँगनमें पहरा देने लगे। वे ऐसे खड़े हो गये कि किसी ओरसे कन्हैया वहाँ नहीं आ सकता। यह सारी व्यवस्था देखकर ब्राह्मणको भी यह विश्वास हो गया कि इस बार बालक कोई उपद्रव नहीं कर सकेगा।

ब्राह्मणने पुनः पूर्ववत् खीर बनायी और थालीमें परोसकर उसपर तुलसी रक्खी, भोग इष्टदेवके अर्पण किया एवं किंवाड़ बंद करके वे बाहर आ गये। चार

और पहरेदार खड़े ही थे। वे बाहर आकर इष्टदेवके भोजनका ध्यान करने लगे; परंतु उनके मनमें बार-बार दोनों हाथोंमें खीर लिये भोजन करनेवाले उस नन्दलालकी बाल-माधुरी आ रही थी। ब्राह्मणने किसी प्रकार ध्यान तथा मन्त्र पूरा करके ताली बजायी। किंवाड़ खोलकर देखा तो फिर वही पूर्ववत् दृश्य दिखलायी दिया। इस बार ब्राह्मणके मुखसे एक शब्द भी नहीं निकला। मानो किसी अननुभूतपूर्व विचित्र भावके आवेगसे ब्राह्मणका हृदय पूर्ण हो गया! मानो एक अचिन्त्य अतुलनीय मधुरातिमधुर सौन्दर्य-रस-सुधा-धारा ब्राह्मणके नेत्र-द्वारोंसे हृदयमें प्रवेश कर गयी और उसने उनके मन-प्राणको बहा दिया। ब्राह्मणकी हृदय-गुफापर लगा हुआ पाषाणका आवरण दूर हो गया और उससे निराविल परमानन्द-रस-सुरधुनी-धारा निर्गत होकर नेत्रोंके द्वारा बाहर बहने लगी। अगणित पुलकावलियोंसे समस्त शरीर व्याप्त हो गया। ब्राह्मण मन्त्रमुग्धकी भाँति किंवाड़ लगाकर नन्दनन्दनके समीप आ गये।

नन्दनन्दन नीलमणिने मृदु-मन्द-मधुर स्वरसे ब्राह्मणके श्रवण-पथमें पवित्र परमानन्दमयी पीयूषधारा ढालते हुए ब्राह्मणसे कहा—'प्रिय कण्व! तुम मुझे बार-बार खीर खानेको बुलाते हो, फिर, जब मैं आता हूँ तब तुम क्रोध क्यों करने लगते हो?' ब्राह्मण आश्चर्यचकित, पुलकित और स्तम्भित हो गये, मन-ही-मन सोचने लगे—'यह बालक क्या कह रहा है? मैं न तो कुछ देख-सुन पाता हूँ, न समझ और जान ही सकता हूँ। मेरी समस्त इन्द्रिय-शक्ति मानो सर्वथा विलुप्तप्राय हो गयी। यह बालक कौन है?' नीलमणिने ब्राह्मणकी ओर मुख करके करुणापूर्ण दृष्टिसे उनकी ओर देखकर कहा—'ब्राह्मण! तुम मुझे नहीं पहचान रहे हो? तुमने मेरा दर्शन पानेके लिये कितने जन्मोंतक अनशन, जागरण और तीव्र ध्यान किया है। इस जन्ममें भी निरन्तर मेरे दर्शनकी तीव्र लालसा हृदयमें रखकर ही तुम अपने जीवनके दिन बिता रहे हो। तुम दिन-रात—जहाँ जाते हो, जो कुछ करते हो, सर्वत्र सबमें मेरे ही दर्शनकी तृष्णामें व्याकुल रहते हो। पर आश्चर्य है कि मुझे साक्षात् अपने सामने देखकर भी पहचान नहीं पा रहे हो।

'जगत्में प्रायः कोई भी मुझे देखना नहीं चाहता। प्रायः सभी बाह्य अनित्य सौन्दर्यपर मुग्ध और आकृष्ट होकर मुझे भूल जाते हैं! कदाचित् यदि कोई मेरा दर्शन भी चाहता है, तो वह भी केवल ध्यान-मन्त्रादिसे जहाँतक सम्भव है, उसीमें संतुष्ट हो रहता है। मेरा साक्षात् दर्शन करके—'यह वही है'—इस प्रकार पहचान पाना बहुत ही कठिन है। इस विषयमें तुम्हीं प्रत्यक्ष प्रमाण हो। तुम मेरा दर्शन निश्चय ही चाहते हो, पर मुझे प्रत्यक्ष देखकर भी पहचान नहीं पाते। पर तुम्हारे हृदयकी व्याकुलता अब यहाँतक बढ़ गयी है कि तुम्हारे द्वारा न पहचाने जानेपर भी मैं अब तुम्हें बिना पहचान कराये नहीं रह सकता। तुमने मेरे दर्शनके लिये बहुत जन्मोंसे मनमें लालसाका पोषण किया है, इसीलिये मेरी प्रकट-लीलाके समय तुम्हारा इस ब्रह्माण्डमें जन्म हुआ है। फिर मेरे माता-पितासे तुम्हारा बहुत दिनोंका परिचय है और मेरी इस बाल-लीलाके समय तुम यहाँ आ पहुँचे हो। ब्राह्मण! अब देखो तो मुझे पहचानते हो या नहीं?'

इस बार ब्राह्मण कृतार्थ हो गये। अनादिकालसे उनके दृष्टि-पथपर जो एक आवरण फैला हुआ था, नन्दनन्दनके कृपाकटाक्षमात्रसे वह उसी क्षण दूर हो गया। ब्राह्मणने देखा—यह तो वही है! यह तो वही मेरा बालगोपाल है जो प्रफुल्ल नील शतदल-विनिन्दित श्रीअङ्गकी दिव्य-मधुर-ज्योति-छटासे दसों दिशाओंको उद्भासित करके उसी ध्यान-ध्येय बालगोपाल-रूपमें मेरे सामने प्रकट होकर अपने अरुण-नयन-

अम्बुजकी करुणदृष्टि-मकरन्द-सुधा-धारासे मुझे कृतार्थ कर रहा है। ये वही चरणोंमें नूपुर हैं, कटिमें मनोहर मणि किङ्किणी है, गलेमें पद्मराग-मणिमें जड़े हुए व्याघ्रनख हैं। दोनों हाथोंसे खीरका भोग लगा रहा है।' देखते-देखते ब्राह्मण परमानन्दमें सारी सुध-बुध भूल गये। वे स्तुति करें, चरणोंमें पड़े रहें या और कुछ उनका कर्तव्य है, इसका कोई अनुसन्धान उन्हें नहीं रह गया, वे आनन्द-जड होकर स्थित हो गये!

देखते-ही-देखते ब्राह्मणकी वह ध्यान-ध्येय मूर्ति उनकी दृष्टिकी आड़में छिप गयी। बस, इस क्षणमें ब्राह्मणको जो दर्शन प्राप्त हुआ, उससे उन्हें कोटि-कोटि जन्मोंकी साधनाका परम फल प्राप्त हो गया। वे कृतार्थ हो गये। भगवान् नन्दनन्दनके लीलासंकेतसे जब कुछ बाह्यभाव आया, तब वे उस अपनी ध्यान-ध्येय करुणामयी मूर्तिके प्रति स्तवन-प्रणाम करने लगे। तदनन्तर साक्षात् भुक्तावशिष्ट पायसान्नको प्रणाम किया, उसकी प्रदक्षिणा की, स्तुति की और भक्तिपूर्वक उसे ग्रहण करके समस्त उत्तमाङ्गोंमें लेपन और भोजन किया। जो कुछ शेष बचा, उसे अंगोछेमें बाँधकर सोचने लगे कि यह महाप्रसाद ही मेरे अशेष जन्म-सञ्चित महान् पुण्य-वृक्षका परम दिव्य सुफल है। ब्राह्मणके मनमें आया कि मेरा शेष जीवन यहीं नन्दालयमें बीते तो वह धन्य हो जाय, पर दूसरे ही क्षण यह मनमें आया कि मेरे ऐसा करनेपर वात्सल्य-प्रेमरूप श्रीनन्द, यशोदा और गो-गोपिगणके वात्सल्य-प्रेमकी धारणामें विघ्न होने और उससे मेरे भगवान्के लीलारसास्वादनमें अन्तराय आनेकी सम्भावना है, इसलिये मुझे यहाँ नहीं रहना चाहिये। बस, यह विचार आते ही ब्राह्मणने तुरंत किंवाड़ खोले। गोपराज नन्द स्वयं दरवाजेपर पहरेदारके रूपमें खड़े थे। उन्होंने ब्राह्मणके चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़कर कहा—'महाराज! इस बार तो आपके भोजनमें कोई विघ्न नहीं हुआ न? ब्राह्मणने परमानन्दपूर्ण चित्तसे गद्गद वाणीमें कहा—'गोपराज! इस बार मैंने बिना किसी विघ्नके पर परितोषके साथ भोजन किया है। आज मैंने जो औ जैसा भोजन किया है, वैसा इससे पहले कभी नहीं किया। तुमसे मैं क्या कहूँ। तुम्हारा सब प्रकारसे मङ्गल हो; तुम परमानन्दसे इस अपने पुत्रका लालन-पालन करके सुखी होओ।'

ब्राह्मणने अब वहाँ अधिक देर ठहरना उचित नहीं समझा; क्योंकि प्रेमावेश बड़ी कठिनतासे रुक पात था। अतः ब्राह्मणदेवता अपने अनुभूत परमानन्दको लेकर किसी निर्जन स्थानमें उसका रसास्वादन करनेके लिये तुरंत नन्दभवनसे निकलकर चल दिये। इस बा ब्राह्मणके निर्विघ्न भोजन करनेका समाचार पाक यशोदा परम प्रसन्न हुईं और अपने लालाको गोद लिये उपनन्दके घरसे लौटीं! दौड़ी हुई-सी आक रास्तेमें जाते हुए ब्राह्मणके चरणोंमें प्रणाम करके कहने लगीं—'महाराज! मेरे इस अबोध बालकसे जो कु भी अपराध हुआ हो, उसे क्षमा करें। भविष्यमें इस ऐसा कोई अपराध न बन पावे, इसके लिये एवं इस दीर्घ जीवनके लिये आप कृपया आशीर्वाद दें। ब्राह्मणने आनन्दगद्गद आशीर्वाद देकर अपनी वा को पवित्र और सफल बनाया और यशोदाकी गोद अपने परमाराध्य नीलमणिको देखकर और उस मनोह मधुर छबिको हृदयमें रखकर महानन्दपरिपूर्ण चित्त वहाँसे प्रयाण किया।

'बोलो भगवान् और उनके भक्तकी जय!'

सदुपदेश

(लेखक—महात्मा जय गौरीशंकर सीतारामजी)

यदि तुम इस असार संसारमें क्षणभङ्गुर नाशवान् शरीरके लिये तुच्छ शूकरी विष्ठाके समान प्रतिष्ठाको चाहते हो तो बड़ी भूल करते हो । रामनाम जपो, तभी तुम्हारी सच्ची प्रतिष्ठा होगी ।

जो लोग पाप करते हुए, झूठ बोलते हुए, अपनेको संत-महात्मा मानते और कहते हैं, वे संसारको धोखा देते और अपना परलोक बिगाड़ते हैं ।

मनुष्य चाहे यूरोप-अमेरिका चला जाय, जंगल-पहाड़ोंमें चला जाय या कहीं कन्दरामें छिप जाय, उसका पाप उसके साथ ही रहता है, जबतक उसे भोग नहीं लेता, तबतक वह उसका साथ नहीं छोड़ता ।

जब तुम पहले किसी तरह किसीकी बुराई कर चुके हो, तभी तुम्हारी भी बुराई हो रही है और आगे चलकर भी होगी ।

यदि तुम सचमुच सुखी होना चाहते हो तो कपट छोड़कर दूसरेकी हृदय-प्रेमसे भलाई करो और ईश्वरका नाम लो ।

पुरुष हो चाहे स्त्री—सबको अपने किये हुए कर्मोंका फल अवश्य भोगना पड़ता है, बिना भोगे करोड़ों कल्पोंतक भी उसका नाश नहीं होता ।

यदि तुम पापोंसे डरते हो और अच्छे कर्म करना चाहते हो तो तुमसे अच्छे कर्म बराबर होंगे और होते ही रहेंगे ।

मानव-जीवनके इस अमूल्य समयको खोनेवालेके समान संसारमें कोई अभागा नहीं है । इसे तो भगवान्के भजनसदृश अमूल्य कर्मोंमें भी लगाना चाहिये, तभी भलाई है और तभी इसकी सार्थकता है ।

जिसका समय बराबर ईश्वर-भजनमें बीतता है । जो ईश्वरके प्रेममें मस्त है उसके लिये कहीं जानेकी आवश्यकता नहीं है ।

जिस मनुष्यका हृदय कामनासे कलुषित हो गया है, वह वेदाध्ययन, यज्ञ, जप, योग आदिसे सहज ही शुद्ध नहीं हो सकता ।

वासनारूपी पहाड़ीको सहजमेंही पार करनेकी आशा मत करो, न हृदयमें घमंड करो; क्योंकि उसमें पाप तथा दुःखरूपी शेर छिपे हुए हैं । उस पहाड़ीको पार करनेके लिये भजनरूप शिकारीकी आवश्यकता है।

शुभ लोक उसीको मिल सकता है, परलोक उसीका बन सकता है जिसका हृदय पवित्र है, जो सदैव सद्विचार, सद्भाषण और शुभकार्य करता रहता है और निरन्तर अपने हृदयको निर्मल बनानेकी चेष्टामें लगा रहता है ।

मालिकके प्रति

(१)

रूप अनूप सुना उसका,
जिसकी न किसीसे हुई समता है,
मोहित हैं बिन देखे उसे
उसमें कुछ ऐसी मनोरमता है ।
नाम लिये उसका, मिटते दुख,
ये उसी मालिकमें क्षमता है,
ज्ञात नहीं कि रमा उसमें जग
याकि वही जगमें रमता है ॥

(२)

ज्ञात नहीं अपराध मुझे निज,
हों यदि तो वह मेरे नहीं हैं,
क्योंकि कहीं न सुनी घटना
जिसमें छिपे इंगित तेरे नहीं हैं ।
केवल एक निमित्त हूँ मैं
कहाँ मायाके व्यूह घनेरे नहीं हैं,
मालिक बोल मुझे अनुशासन
तेरे कहाँ पर घेरे नहीं हैं ॥

—हरिनन्दन वाजपेयी

बाल-कल्याण

राजकुमार कुणाल

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी०ए०, एल्-एल्० बी० 'ललाम')

हमारे नन्हे मुन्ने भाई ! तुमने इस देशका राष्ट्रिय तिरंगा झंडा तो देखा होगा । इस झंडेमें जो अशोक-चक्र बना है उसे भी अवश्य देखा होगा । तो क्या बतला सकते हो कि यह अशोक नाम किसका है ? अशोक प्राचीन कालमें इस देशके एक बड़े प्रसिद्ध सम्राट् हो गये हैं । यह उन्हींका नाम था । उनका राज्य बंगाल-बिहारसे लेकर काश्मीरतक फैला था और उनकी राजधानी पाटलिपुत्र थी, जिसे अब आजकल पटना नगर कहते हैं । कुणाल इन्हीं महाराज अशोकके पुत्र थे । महाराज अशोकके कई रानियाँ थीं । उनमेंसे सबसे बड़ी रानी कुणालकी माता थी और सबसे छोटी रानीका नाम तिष्यरक्षिता था ।

तिष्यरक्षिता रूप-रंगमें बड़ी सुन्दर थी । इसीसे महाराज अशोक उसे बहुत अधिक चाहते थे और सारे राजमहलमें उसकी बड़ी धाक थी । इसके अतिरिक्त जब महाराज विजय-यात्राके लिये कहीं बाहर जाते तो सारी राजशक्ति उसीके हाथमें छोड़ जाते । किंतु थी यह रानी बड़ी दुष्टा। बस, पूरी जहरकी प्याली ही थी। बालक कुणालको वह देख भी न सकती थी, कारण कि कुणाल उसकी सौतके पुत्र थे और ज्येष्ठ होनेसे राज्यके उत्तराधिकारी भी थे । अस्तु, उसकी आँखोंमें राजकुमार सदा काँटेकी तरह खटकते रहते थे और वह सदैव इसी चिन्तामें रहती कि किस प्रकार इस बालकको राज्यसे बाहर निकाल दूँ, कि छुटकारा मिले । पूर्वकालमें कैकेयीने श्रीरामचन्द्रको वनमें भेजकर राज्यसुख लूटना चाहा था । ठीक उसी प्रकार आज इस रानीपर भी अपना राज्यसुख निष्कण्टक बनानेका भूत सवार हो रहा था ।

एक बार जब महाराज अशोक बाहर लड़ाईपर गये हुए थे, तब तिष्यरक्षिताने अवसर पाकर राजकुमार कुणालको अपने पास बुलाया और उन्हें तत्काल राज्य छोड़कर बाहर चले जानेकी आज्ञा दी । कुणाल अपने माता-पिताके आज्ञाकारी और आदर्श पुत्र थे । विमाताको भी वह अपनी सगी मातासे कम न समझते थे । अतएव विमाताकी आज्ञा सुनते ही उन्होंने सिर झुकाकर उसे प्रणाम किया और चुपचाप बाहरकी ओर प्रस्थान कर दिया । चलते-चलते वे काश्मीरकी ओर निकल गये और वहीं बौद्ध-भिक्षुओंके साथमें एक कुटी बनाकर रहने लगे ।

यहाँ जब महाराज अशोक राजधानीको लौटे, तब पुत्र कुणालको महलमें न देखकर अधीर हो उठे; किंतु उसके चले जानेका असली भेद सिवा रानी तिष्यरक्षिताके और किसीको मालूम न था । सबने यही कहा कि राजकुमार बिना किसीसे कुछ कहे-सुने लापता हो गये हैं । निदान बड़ी ढुँढ़ाई हुई, चारों ओर खोज की गयी, राज्यका कोना-कोना छान डाला गया, पर राजकुमारका कहीं पता न लगा । महाराजके मनको इससे बड़ी गहरी ठेस पहुँची और वे बड़े दुखी रहने लगे ।

रानी तिष्यरक्षिता महाराजका इस प्रकार पुत्र-प्रेम देख मन-ही-मन और जल उठी । अब वह इस चिन्तामें रहने लगी कि राजकुमारको फिर कहीं पा जाऊँ, तो इसका सारा बदला अच्छी तरह निकाल लूँ । अगली बार जब महाराज अशोकको फिर बाहर जाना पड़ा, तो रानी तिष्यरक्षिताने प्रत्येक राज्यपालके नाम यह आज्ञा जारी की कि राजकुमार कुणाल जहाँ कहीं भी मिलें, उनकी दोनों आँखें निकाल ली जायँ और वह तुरंत बंदी बनाकर राजदरबारमें हाजिर किये जायँ ।

इस समय काश्मीरमें महाराज अशोककी सेना पराजित यवनोंका चारों ओरसे पीछा कर रही थी और उन्हें धर-पकड़ रही थी । इसी सेनाकी एक टुकड़ी

कई यवनोंका पीछा करते हुए उस स्थानपर आ निकली जहाँ राजकुमार कुणालकी कुटी थी। यवनोंने कुटीमें पहुँचकर कुणालसे शरण माँगी। शीघ्र ही सैनिकगण भी वहाँ उन यवनोंको पकड़नेके लिये आ पहुँचे। कुणालने आगे आकर सैनिकोंसे कहा——

कुणाल—'क्यों भाई! तुम इन्हें क्यों पकड़ रहे हो?'

सैनिक सरदार—'ये यवन हैं।'

कुणाल—'किंतु यवन होना कोई पाप नहीं है।'

सैनिक सरदार—'जो हो, हमें तो यही सरकारी आज्ञा है और उसका पालन करना हमारे लिये आवश्यक है।'

कुणाल—'अच्छा तो तुम यहाँके राज्यपालसे जाकर कहो कि राजकुमार कुणाल तुम्हें बुला रहे हैं।'

सैनिक सरदार राजकुमार कुणालका नाम सुनकर एकबारगी अवाक् रह गया। फिर बोला—'अयँ! राजकुमार कुणाल! कहाँ हैं राजकुमार कुणाल?'

कुणाल—'हाँ! मैं ही हूँ राजकुमार कुणाल। तुम जाकर यहाँके राज्यपालको बुला लाओ तो सब ठीक हो जायगा।'

निदान दो घुड़सवार सैनिक तुरंत दौड़ाये गये और उन्होंने जाकर काश्मीरप्रदेशके राज्यपालको खबर दी। खबर पाते ही राज्यपाल भी तत्काल दौड़े आये और वहाँ कुणालको भिक्षु-वेषमें देखकर आश्चर्य और दुःखसे भरकर बोले—

राज्यपाल—'राजकुमार! आप इस वेषमें !!!'

कुणाल—'ईश्वर-भक्तोंके लिये सभी वेष ठीक हैं। मैंने आपको इसलिये बुलाया कि आप इन यवनोंको मेरे सुपुर्द कर दें।'

राज्यपाल—'मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है, परंतु ....' आगे राज्यपालके मुखसे शब्द न निकले। वह दुःख और संकोचमें पड़ गया।

कुणाल उसे इस प्रकार संकुचित देखकर बोले—'कहिये, कहिये, निःसंकोच होकर कहिये। क्या कहना चाहते हैं?'

राज्यपाल—'राजकुमार! क्या कहूँ, कहने योग्य बात नहीं। परंतु मजबूर हूँ, कहना ही पड़ेगा। आपके नाम एक राजाज्ञा है।'

कुणाल—'क्या है राजाज्ञा? कहाँ है वह?'

राज्यपालने सकुचाते हुए वह राजाज्ञा निकालकर कुणालके हाथमें रख दी। कुणालने पढ़ा। उसमें राजकुमारकी दोनों आँखें निकालकर और उसे बंदी बनाकर दरबारमें उपस्थित करनेकी आज्ञा थी। आज्ञापत्रपर पिता अशोक महाराजकी राजमुहर भी लगी हुई थी, अतएव संदेहका कोई स्थान न था। इसे पढ़कर राजकुमार बोले—

'क्या पिताजीकी यही इच्छा है? तो फिर राज्यपाल! मैं तैयार हूँ। आप अपने कर्तव्यका पालन कीजिये।'

कुमारकी ये बातें सुनकर राज्यपालका हृदय पानी-पानी हो गया और वह रोते हुए बोला—'क्या राजकुमारकी मैं आँखें निकालूँ? यह नृशंस कार्य मुझसे कैसे होगा?'

कुणाल—'कोई चिन्ताकी बात नहीं। पिताकी आज्ञा मुझे सर्वथा माननीय है, अतएव मैं आपसे कहता हूँ कि आप बिल्कुल निश्चिन्त-मन होकर अपना कार्य कीजिये।'

राज्यपाल—'राजकुमार! मैं बिल्कुल असमर्थ हूँ। इस क्रूर कर्मके लिये मेरे हाथ उठते ही नहीं।'

कुणाल—'तो फिर पिताकी इच्छा पूरी करनेके लिये मुझे अपने हाथसे काम लेना होगा।'

इतना कहकर राजकुमार कुणालने खंजर उठा लिया और उसे अपनी दोनों आँखोंमें भोंक लिया। जो लोग वहाँ खड़े थे सब रो पड़े और हाहाकार करने लगे। इसके बाद राजकुमारको राजधानी पहुँचाया गया।

संयोगवश इस समय महाराज अशोक राजधानीको लौट आये थे और स्वयं दरबारमें मौजूद थे। अतएव ज्यों ही राजकुमार कुणाल उनके सामने उपस्थित किये गये, वह अपने प्राणोंसे प्यारे पुत्रकी यह दशा देखकर एकबारगी चिहुँक उठे और झट दौड़कर उसे अपनी छातीसे लगा लिया। फिर गरजते हुए बोले—'किसने राजपुत्रके साथ यह भयंकर अत्याचार किया ? किसके सिरपर मौत नाच रही है ? कौन होगा इसका उत्तरदायी ?'

'राज्यपाल जो कुमारके साथ ही आये थे और वहाँ खड़े थे, भयसे काँपते हुए बोले, 'महाराज! मुझे ऐसी ही राजाज्ञा मिली।'

क्रोधसे काँपते हुए महाराजने कहा, 'कैसी राजाज्ञा ?'

राज्यपालने काँपते हुए हाथसे वह राजाज्ञा पेश कर दी। महाराजने राजाज्ञाको पढ़ा और उसपर अपनी राजमुहर देखकर आश्चर्यसे स्तम्भित हो उठे। फिर पूछा, 'कहाँसे मिली तुम्हें यह राजाज्ञा ?'

राज्यपालने कहा—'महाराज, मुझे तो प्रतीहारीद्वारा यह मिली थी।'

निदान प्रतीहारीसे बुलाकर पूछा गया। तब प्रतीहारीने बतलाया कि 'मुझे यह आज्ञापत्र छोटी महारानीने दिया था।' यह सुनते ही महाराजका चेहरा क्रोधसे तमतमा उठा और बोले—'छोटी महारानीको अभी इसी दरबारमें उपस्थित होनेको कहो।' निदान महारानी तिष्यरक्षिता दरबारमें उपस्थित की गयीं। उन्हें देखकर गरजते हुए महाराजने पूछा, 'क्यों री पापिनी! क्या यह सब तेरी ही करतूत है ? क्या तूने ही मेरे प्राणप्यारेकी इस प्रकार दुर्दशा की ? क्या मेरा सारा विश्वास, सारा भरोसा तुझपर केवल इसीलिये था कि तू मुझे ही धोखा देगी ? हाय, आज मुझे मालूम हुआ कि मैंने अपनी आस्तीनमें एक काली नागिनको पाल रक्खा था। आज मेरी आँखें खुलीं। परंतु अब तुझे इस पृथ्वीपर एक दिन भी जीवित रहनेका अधिकार नहीं। मैं तुझे अब प्राणदण्डकी आज्ञा देता हूँ। आज ही तेरा सिर एक साधारण कैदीकी भाँति काटक अलग कर दिया जायगा।'

महारानी तिष्यरक्षिता भयसे काँपती हुई चुपचा सिर झुकाये खड़ी थी। उसके मुखसे एक शब्द भी न निकला। इसी समय राजकुमार कुणालने महाराजसे कहा, 'पिताजी! मैं आपसे कुछ माँगना चाहता हूँ।' महाराज बोले, 'बेटा! बेखटके कहो, क्या चाहते हो! कोई भी वस्तु मेरे पास ऐसी नहीं जो तुम्हारे लि अदेय हो।' राजकुमारने कहा, 'मैं इस माताकी प्राण भिक्षा चाहता हूँ पिताजी!

पुत्रकी यह बात सुनकर महाराज अशोक चकि रह गये और बोले, 'बेटा! यह तुम क्या कह रहे हो! जिस राक्षसीने तुम्हारी यह दुर्गति की है, क्या उसीं तुम प्राण बचाना चाहते हो ?'

कुणालने कहा—'यह मेरी माता है।'

महाराज बोले—'परंतु इसने तुम्हारे साथ शत्रुकास व्यवहार किया है।'

कुणाल—'मुझे यह देखनेका कोई अधिकार नहीं कि दूसरे मेरे साथ क्या करते हैं। मुझे तो केवल अप ही कर्तव्य देखना है। माता-पिताके प्रति मेरा क्य कर्तव्य है बस, इतना ही जानना और मानना मेरे लि पर्याप्त है।'

महाराज पुत्रकी बातें सुनकर आनन्द और प्रेम पुलकित हो उठे और बोले, 'धन्य है, बेटा, धन्य है! तु जैसे पुत्ररत्नको पाकर मैं अपनेको धन्य मानता हूँ तुम्हारी बातको मैं नहीं टाल सकता। इसलिये तुम्हा कहनेसे मैं इस रानीको क्षमादान तो करता हूँ, कि आजसे यह मेरे नेत्रोंके सम्मुख कदापि न आवे।'

इसके पश्चात् राजकुमार जब राजमहलमें गये, त रानी तिष्यरक्षिता उनके पास आकर दुःखभरे शब्दों

कहने लगी—'कुमार ! मैं तुम्हारे सामने बड़ी लज्जित हूँ । सचमुच मैंने तुमपर बड़े अत्याचार किये, परंतु तुम्हारी उदारता और आदर्श व्यवहारने मेरी आँखें खोल दीं । मैं अपने कियेपर बहुत पछता रही हूँ और नहीं जानती कि तुम्हारे इस आदर्श मातृस्नेह और उदारताका मैं कैसे बदला चुका सकती हूँ ।'

राजकुमारने विमाताके ये शब्द सुनकर कहा—'माँ, तुम्हारे हृदयमें जो अब मेरे लिये पुत्रस्नेह पैदा हो गया है वही क्या कुछ कम बदला है । मैं तो अपनेको उसीसे कृतकृत्य मानता हूँ ।'

कामके पत्र

(१)

सकाम भक्ति और सकाम कर्म

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । मैंने पहले लिखा था, तदनुसार सत्य तो यही है कि मनुष्य भ्रमवश जबतक विषयोंमें सुख मानता है, जबतक विषय सुखकी खोजमें लगा है, तबतक उसे न तो शान्ति मिल सकती है और न वह यही कह सकता है कि मुझसे पाप नहीं बन सकते । एक मनुष्य धनकी प्राप्तिके लिये भगवान् श्रीशङ्करजीकी उपासना-भक्ति करता है, पर जब कुछ समयतक उपासना करनेपर उसका कोई अनुकूल फल नहीं मिलता, तब वह शङ्करजीकी उस उपासनासे ऊबकर दूसरे किसी देवताकी उपासना करना चाहता है । अनुकूल फल न मिलनेपर वह इसी प्रकार बार-बार उपासना बदला करता है । कोई कह देता है कि तुम अबकी बार भगवान् श्रीलक्ष्मीनारायणकी उपासना करो, वह करता है, पर उसका मन तो सदा धनके अनुसन्धानमें लगा है । वह भगवान् श्रीलक्ष्मीनारायणकी या अन्य किसी देवताकी उपासना तो उस धनकी प्राप्तिके लिये करता है । अतएव धन-कामनामें लगा हुआ भगवान्की उपासना कैसे करेगा । तुलसी-माला चढ़ाते, आरती करते या दण्डवत् प्रणाम करते—जब देखो तभी उसके मनमें धनका चिन्तन होता रहेगा; क्योंकि वही उसका साध्य या उपास्य है । भगवान् और भगवान्की पूजा तो गौण वस्तु है, उपायस्वरूप है और यह आवश्यक नहीं कि किसी कार्यकी सिद्धिके लिये मनुष्य फल मिलनेमें विलम्ब होनेपर भी किसी एक ही उपायसे चिपटा रहे । वह तो जिस उपायसे शीघ्र-से-शीघ्र अपना कार्य सफल हो, उसी उपायसे काम लेगा । एकसे न हुआ, दूसरा सही, दूसरेसे भी न सिद्धि हुई तो तीसरा, चौथा और इसी प्रकार असंख्य । फिर यह भी कोई जरूरी बात नहीं है कि उपाय एक ही प्रकारका हो; उपासना-आराधनासे न काम हो तो दूसरा उपाय सोचा जाय । कामनाके वशमें होकर मनुष्य यहाँतक नीचे उतर आता है कि चोरी या झूठसे धन आता दीखता है तो चोरी-झूठको भी उपाय बना लेता है । उसे मतलब है धनसे, फिर चाहे वह उपासना-भक्तिसे आवे, किसी व्यापार-व्यवसायसे आवे या चोरी-असत्यसे आवे । इसीसे भगवान्ने गीतामें कामनाको ही पापमें एकमात्र हेतु बतलाया है । यह कामना ही क्रोध बन जाती है । यही जीवका परम शत्रु है । अतएव जबतक विषयमें सुखकी सम्भावना दीखती है और जबतक विषयका अनुसन्धान एवं विषयकामना है, तबतक पापसे मनुष्यका बच सकना अत्यन्त ही कठिन है । विषय-कामना भी रहे और पाप न हो, यह सम्भव नहीं है ।

आपका यह लिखना सत्य है कि कामनासे भी भगवान्की भक्ति करना बहुत श्रेष्ठ है । पर विषय-कामना मनुष्यको भक्तिनिष्ठ होने देती नहीं । सकाम भक्तिमें भी अनन्यताकी—एकमात्र प्रभुसे ही वस्तु-प्राप्तिकी चाह होनेकी आवश्यकता है । जैसे कोई स्त्री गहने-कपड़े तो चाहती है पर चाहती है एकमात्र पतिसे ही । पतिके अतिरिक्त दूसरे पुरुषको या दूसरे किसी उपायको वह जानती ही नहीं । ऐसी स्थितिमें जैसे वह भी पतिव्रता है, यद्यपि केवल पति-सुखके लिये ही बिना किसी अन्य कामनाके पतिकी सेवा करनेवालीसे उसका स्तर नीचा है । इसी प्रकार अन्याश्रय और अन्योपायसे सर्वथा रहित होकर जो ध्रुवकी भाँति केवल भगवान्को ही जानता है और उन्हींसे अभीष्ट सिद्धि चाहता है, उसकी समस्त कामनाओंका नाश करके भगवान् उसे अपनी परमकृपाका दान करते हैं—इसीलिये गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा—

जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं
जियँ जाँचिअ जानकिजानहि रे ।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ,
जो जारति जोर जहानहि रे ॥

'जगत्में किसीसे भी कुछ माँगना-जाँचना नहीं चाहिये; परंतु यदि जाँचना ही हो तो मनमें श्रीजानकी-जीवन भगवान् राघवेन्द्रसे जाँचना चाहिये, जिनको जाँचनेपर वह जाँचकता (कामना) ही जलकर भस्म हो जाती है, जो सारे जगत्को जबरदस्ती जला रही है।'

परंतु ऐसी अनन्य सकामता सुलभ नहीं है, इसमें बहुत बड़ी श्रद्धा और महान् विश्वासकी आवश्यकता है। विषय-कामनासे चित्त इतना मलिन हुआ रहता है, उसमें अश्रद्धा और अविश्वासका इतना विष भरा रहता है कि वह विषय-प्राप्तिमें जरा-सी देर या प्रतिकूलता दीखते ही क्षुब्ध हो उठता है और सारी भक्तिको भूलकर बड़े-से-बड़े पापको उपायरूपमें स्वीकार करनेको प्रस्तुत हो जाता है। सकामतामें यह दोष प्रायः आ जाता है।

यदि इस दोषसे मनुष्य बचा रहे तो सकाम भक्ति बहुत लाभदायक और अन्तमें भगवान्को प्राप्त करानेवाली सिद्ध होती है। भगवान्ने गीतामें सकाम भक्तोंको भी सुकृती और उदार कहा है और उनको अन्तमें अपनी प्राप्ति बतलायी है—'मद्भक्ता यान्ति मामपि' (गीता ७। २३) अतएव अनन्यनिष्ठापूर्वक भगवान्की सकाम भक्ति निःसन्देह अन्तमें भगवत्प्राप्तिरूप परमकल्याण प्राप्त करनेवाली होती है।

सात्त्विक देवताओंकी सकाम आराधना भी इस दृष्टिसे लाभदायक है। मनुष्य जैसा कार्य करता है, जिस प्रकारके कार्योंमें उसका मन लगा रहता है, उसी प्रकारका उसका स्वभाव बनता है। एक मनुष्य धनके लिये चोरी-ठगी करता है, दूसरा मनुष्य धनके लिये धनी मनुष्योंकी सेवा करता है; तीसरा व्यापार करता है, चौथा सात्त्विक आराधना आदि शास्त्रीय कर्मोंका अनुष्ठान करता है। कर्मका फल तो कर्मके अनुसार प्राप्त होता ही है; परंतु वह मनुष्य लगातार बहुत दिनोंतक श्रद्धा-सत्कारपूर्वक जिस कार्यमें लगा रहता है, वैसा ही उसका स्वभाव बन जाता है। सात्त्विक आराधनादि कर्मोंसे सात्त्विक स्वभाव बनता है, अन्तःकरणकी क्रमशः शुद्धि होती है और अन्तमें जीवन सत्त्वमुखी बनकर उसे भगवान्की ओर प्रवृत्त कर देता है। अतः सात्त्विक सकाम अनुष्ठान भी परम्परासे क्रमशः लाभ पहुँचाते हुए भगवान्की ओर ले जाते हैं, इसलिये ये न तो पाप हैं और न इनका निषेध ही है। अवश्य ही, विशुद्ध निष्काम भक्ति या भगवत्प्रेमकी तुलनामें इनका स्तर बहुत नीचा है और लक्ष्य भगवान् न होकर भोग होनेके कारण मार्गभ्रष्ट होकर पाप-पंकमें फँसनेका भय भी है ही। शेष भगवत्कृपा।

(२)

भगवत्प्रेम और अनुकूलताकी खोज

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आप अपनेको भगवान्का प्रेमी भी मानते हैं और सांसारिक सुविधाओं तथा अनुकूलताओंके लिये इतने अधिक चिन्तित भी हैं, यह आश्चर्यकी बात है। संसारके दुःखोंको तो वह बुद्धिमान् मनुष्य भी धीरजके साथ सह लेता है जो उन्हें अपने ही किये हुए कर्मोंका अनिवार्य फल मानता है। वह भी समझता है कि प्रारब्धके अनुसार जो फल-भोग प्राप्त होता है, उससे कर्मका ऋण ही उतरता है। इसमें चिन्ताकी कोई बात नहीं है। उससे आगे बढ़कर भगवान्का वह विश्वासी पुरुष है जो प्रत्येक फलको भगवान्के मङ्गलमय विधानके द्वारा निर्मित मानता है और विपरीत प्रतीत होनेपर भी विश्वासके बलपर उसका मङ्गलमय परिणाम मानकर प्रसन्न होता है। उससे आगे बढ़ा हुआ वह प्रेमी है, जो किसी घटनाको प्रतिकूल तो समझता है पर यह मानकर प्रसन्न होता है कि इसमें मुझे तो दुःख होगा पर मेरे प्रियतम भगवान्को सुख होगा। ऐसा न होता तो भगवान् इस प्रकार करते ही क्यों? भगवान् जिस बातमें सुख समझें, वही मेरे लिये सुख है, इसलिये मैं सुखी हूँ। इससे भी आगे बढ़ा हुआ वह सच्चा प्रेमी है जिसको दुःख होता ही नहीं, जो प्रत्येक फलमें भगवान्का स्पर्श पाकर सुखी ही होता रहता है। प्रियतम भगवान् जो कुछ करते हैं उसमें उसे प्रतिकूलताकी कल्पना ही नहीं होती। वह पद-पदपर सुखका ही अनुभव करता है। भगवान् जो कुछ करते हैं, उसे छोड़कर किसी भी सांसारिक सुविधा और अनुकूलताकी ओर उसका मन कभी जाता ही नहीं। ऐसा प्रेमी कभी दुःखका अनुभव नहीं करता। आप अपने लिये कहते हैं कि 'मैं भगवान्के प्रेमके अतिरिक्त और कुछ भी न जानता हूँ और न चाहता हूँ।' फिर तो सांसारिक सुविधा और अनुकूलताको जाननेका भी प्रश्न नहीं उठना चाहिये।

अतएव मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप प्रेमके स्वरूपको समझिये और सदा आनन्दमग्न रहिये। जहाँ प्रेम होगा, वहाँ आनन्द ही रहेगा। जितनी जितनी प्रेमकी कमी होगी, प्रेमके स्थानपर कोई अन्य वस्तु होगी, उतना ही आनन्दका अभाव होगा। यह सिद्धान्त है। शेष भगवत्कृपा।

(३)

मोहका स्वरूप

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला था। आपने अपनी पत्नी, घर, व्यापार-उपार्जन, घरमें जेठानी-देवरानी, सास-बहू, छोटे-बड़े भाई, धन, महँगाई आदिका वर्णन करके सबको प्रतिकूल बताया और अन्तमें लिखा कि 'संसारसे हट गया हो मोह जिसका। उद्देश्य हो इसी शरीरद्वारा ईश्वर-प्राप्ति-मोक्ष ·····। उस मनुष्यका क्या कर्तव्य है?' इसके उत्तरमें यही निवेदन है कि आपने जिन सारी प्रतिकूलताओंका वर्णन किया है, वही तो संसारका स्वरूप है। उससे मोह हट जाना ही उससे छूटकर इसी शरीरद्वारा ईश्वर-प्राप्तिका उपाय है। आप लिखते हैं 'मोह हट गया।' मोह हट गया तो फिर इतनी प्रतिकूलताके दर्शन कैसे होते हैं? संसारको सत्य मानकर उसमें अनुकूलताकी खोज करना तो मोहका ही कार्य है—वस्तुतः यही मोह है। मेरी समझसे आपका मोह नहीं हटा है, प्रतिकूलतासे डरकर आप उससे पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं। सो यह निश्चय मानिये कि जबतक आप संसारको इसी रूपमें सत्य मानेंगे और भोगोंमें सुख है, ऐसा समझते रहेंगे, तबतक प्रतिकूलतासे पिण्ड छूटेगा ही नहीं। मोहभङ्ग यथार्थ होना चाहिये। यह मोह ही सारी प्रतिकूलताओंका मूल है, इसीसे सारी आधि-व्याधि उत्पन्न होती है और जीवको दुःख भोगनेके लिये बाध्य होना पड़ता है—

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।
तिन्ह तें पुनि उपजहिं बहु सूला॥

इस मोहका नाश होता है श्रीभगवान्की रहस्यमयी लीलाकथाओंको सुनने-समझनेसे और भगवान्के सच्चे भावोंकी कथा प्राप्त होती है—संतोंकी अनुभवयुक्त वाणीसे। अतएव जितना और जैसे हो सके, संतोंके वचनोंका मनन कीजिये—सत्सङ्ग कीजिये। तब असली मोहका नाश होगा और फिर कर्तव्यका प्रश्न रह ही नहीं जायगा। मोह मिटा कि भगवान्में प्रेम हुआ। प्रेम होनेपर अपने-आप ही जीवन उसी मार्गमें लग जायगा और सब ओर अनुकूलता और सुखका दर्शन होने लगेगा—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥

शेष भगवत्कृपा।

(४)

पत्नीका सुधार

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने पत्नीके सम्बन्धमें जो बातें लिखीं, वे सचमुच दुःखदायिनी हैं और उनको लेकर आपके मनमें क्षोभ होना स्वाभाविक है; परंतु भूल होना मनुष्यके जीवनमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। मन-इन्द्रियाँ वशमें हैं नहीं, कुसङ्ग मिल जाता है, तो आदमी गिर जाता है। पुरुषोंसे भी तो भूलें होती हैं अतएव आप न तो अपनी हत्याकी बात सोचें, न किसी दूसरेकी ही। इसी प्रकार घर छोड़ने, संन्यासी हो जानेकी कल्पना भी न करें। आप अपनी पत्नीको अपने पास रक्खें, उसके अपराधको क्षमा करें। भूलका सुधार दण्डसे उतना अच्छा नहीं होता, जितना प्रेमसे होता है। आप उसपर दया करें, प्रेम करें, अपना सद्व्यवहार दें और उसके जीवनको पवित्र बना लें। भगवान् आपका और उसका मङ्गल करेंगे। इस विषयकी चर्चा छोड़ दें। पापका सच्चा प्रायश्चित्त है—पश्चात्ताप और भविष्यमें वैसा पाप न करनेका निश्चय। आप प्रेमपूर्ण व्यवहार करके उसको समझायेंगे तो पश्चात्ताप भी होगा और भविष्यमें पाप भी नहीं बनेगा। ऐसा होना बड़ी बात नहीं है। इसे असम्भव न समझें। घरमें रहें, सुखी रहें और सबको सुखी बनावें। शेष भगवत्कृपा।

(५)

सत्सङ्गकी इच्छा

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपकी महापुरुषोंके समीप रहने और साधन-भजन करनेकी इच्छा है सो तो बड़ी ही श्रेष्ठ इच्छा है। मानव-जीवनका यही तो सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है, परंतु घरमें आप पिताजीके अकेले पुत्र हैं। माता, विधवा चाची, पत्नी, कन्या हैं। उनकी सेवा और पालन करना आपका कर्तव्य है। घरमें आसक्ति तथा ममताका त्याग करना चाहिये, घरका और कर्तव्यका नहीं। घरको भगवान्का समझकर भगवान्की सेवाके भावसे भगवान्का स्मरण करते हुए कर्तव्य-कर्मका पालन कीजिये। घर छोड़नेकी उमंग तो होती है पर घर जितना सुरक्षित है, उतना घर छोड़कर भटकना नहीं है। आजकल तो बाहर बड़ी दुर्दशा है और पतनके हजारों साधन हैं। दुर्गति मानो मुँह बाये खड़ी है। अतएव घर छोड़नेकी बात सर्वथा अनुचित है।

श्रीजयदयालजी गोयन्दका लगभग तीन-चार महीने प्रतिवर्ष गीताभवन स्वर्गाश्रम ऋषिकेशमें सत्सङ्गके लिये निवास किया करते हैं। वे अब वहाँ पधार गये हैं। आषाढ़-तक वहाँ रह सकते हैं। हो सके तो कुछ समय निकालकर वहाँ सत्सङ्गके लिये जाना चाहिये। वहाँके सत्सङ्गमें बहुत-सी शङ्काओं और प्रश्नोंका समाधान हो जायगा तथा यथार्थ उत्तर मिल जायगा। भगवान्‌का स्मरण करते हुए ही सारे कार्य कीजिये। अर्जुनको भगवान्‌ने आज्ञा दी—'तुम निरन्तर मेरा स्मरण करते हुए ही युद्ध करो। मन-बुद्धि मुझे सौंप दो। तब निश्चय मेरी ही प्राप्ति होगी।'

> तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
>
> (गीता ८।७)

शेष भगवत्कृपा।

(६)

कुसङ्गका त्याग तुरंत कीजिये

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने लिखीं, वे बातें यदि सत्य हैं तो बड़ी भयानक हैं। आजकल छात्र-छात्रा कितना अनर्थ कर रहे हैं, छात्रोंकी यात्राओंमें क्या होता है इसका पापपूर्ण चित्र है। आप जो कुछ कर रहे हैं यह आपके लिये बड़ा ही अशुभ है। इसका परिणाम बहुत ही बुरा होगा। आप जिन दुराचारी, व्यभिचारी छात्रोंको अपना अन्तरङ्ग मित्र मानते हैं और जिन छात्राओंको अपनी सङ्गिनी मानकर जीवनको कलङ्कित करते हैं, वे आपके शत्रु हैं और उनके साथ इस प्रकार पापके गड्ढेमें गिरकर उनके साथ भी आप शत्रुताका ही व्यवहार कर रहे हैं। आप सावधान हो जाइये। इस कुसङ्गको तुरंत छोड़ दीजिये। आपके भाई आपसे बहुत ठीक कहते हैं। आप कालेजको छोड़ दीजिये। दूकानपर भाईके पास बैठिये। ऐसे पापके अड्डेमें रहनेसे तो हानि-ही-हानि है। जब आप 'कल्याण'को पढ़ते हैं तब आपको अपने कुकृत्योंपर पश्चात्ताप होता है और आप उनसे छूटनेकी इच्छा करते हैं, पर साथियोंके मिलनेपर फिर वैसे ही कुकर्मोंमें लग जाते हैं—सो पश्चात्ताप होना तो बहुत ठीक है, परंतु जबतक कुकर्म बनते हैं, तबतक असली पश्चात्ताप कहाँ है। वास्तविक पश्चात्ताप वही है जो पुनः वैसा कुकर्म न करनेका दृढ निश्चय ही नहीं करा दे वरं उसे असम्भव कर दे। भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये, मनको दृढ़ बनाइये, बार-बार सत्साहित्यका अध्ययन कीजिये। कुकर्मी साथियोंका परित्याग कीजिये। छात्राओंको तो देखना भी बड़ा पाप मानिये। उनसे कभी बोलनेकी भी इच्छा मत कीजिये। सिनेमा छोड़िये और भगवान्‌के कृपा-बलपर दृढ़प्रतिज्ञ होकर पापसे छूट जाइये। यह असम्भव नहीं है। भगवत्कृपा और उसके बलपर आपके सच्चे प्रयत्नसे यह पाप छूट जायगा। कुसङ्ग किसी प्रकारका हो, उसका त्याग तुरंत आवश्यक है। शेष भगवत्कृपा।

(७)

पतिका अत्याचार

मान्य बहिन! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपकी दुःख-कहानी पढ़कर बड़ा खेद हुआ। वस्तुतः वह पुरुष बड़ा ही भाग्यहीन और पाप-जीवन है जो अपनी निर्दोष पत्नीपर अत्याचार करता है। गाली देना और मारना तो बहुत बड़े अपराध हैं। अपराध तो असत्कार करना भी है। एक धर्मप्राण राजाको केवल एक इसी पापके कारण नरकका हाहाकार सुनना पड़ा था कि उन्होंने अपने जीवनमें एक बार पत्नीका तिरस्कार किया था। जैसे पतिकी प्रसन्नता-सम्पादन पत्नीका कर्तव्य है, वैसे ही पत्नीको निर्दोष सुख पहुँचाना पतिका धर्म है। पति इस धर्मसे बञ्चित होता है तो वह घोर नरकका भागी होता है। जिस घरमें दुःखके भारसे पीड़ित होकर स्त्री रोया करती है वह घर नष्ट हो जाता है। यह मनुमहाराज कहते हैं। अतएव मुझे तो आपके पतिदेवसे यह कहना है कि वे अपने-आपको सँभालें, केवल ग्रन्थोंके अध्ययनसे कुछ नहीं होता, वास्तविक लाभ तो आचरणसे होता है। वे यदि इसी प्रकार क्रोधके वश होकर अत्याचार करते रहेंगे तो उसका परिणाम उनके लिये लोक-परलोकमें बड़ा ही दुःखदायी होगा। साथ ही आपसे भी निवेदन है कि आप अपने स्वामीको उनकी होनेवाली इस दुर्दशासे बचानेका शुभ प्रयत्न करें। आप उनके लिये प्रेमयुक्त शुभ भावना करें। उनका स्वभाव बदलकर सात्त्विक हो जाय, इसके लिये विश्वासपूर्वक भगवान्‌से प्रार्थना करें। अपनी तपस्यासे भगवान्‌को सन्तुष्ट करके इनके अपराधको उनसे क्षमा करावें। भगवन्नाम-स्मरण और भगवत्प्रार्थना ही आपके सुख-शान्तिके लिये अमोघ उपाय है। शेष भगवत्कृपा।

गोसेवामें विवेकसे काम लिया जाय

(लेखक—श्रीराधाकृष्णजी बजाज, मन्त्री, गोसेवा-संघ)

हमारा मानना है कि गाय तभी बच सकती है जब वह अर्थशास्त्रमें स्वावलम्बी बन जायेगी और यह भी मानना है कि वह कुछ पीढ़ियोंमें स्वावलम्बी बन सकती है। आज उसकी नस्ल गिरी है; उसे चारा-दाना पूरा नहीं मिलता है। उसे उठानेके लिये शास्त्रीय गोपालनसे नस्ल सुधारनी होगी। खेतीके प्रयोग करके उत्तम चारा (हरा) पैदा करना होगा। चिकित्साकी समुचित व्यवस्था करना तथा सब तरहसे उसे स्वावलम्बी बनानेका यत्न करना होगा। साथ ही उसे बड़े शहरोंसे, कसाईसे, वनस्पति (जमाये तेल) से, कृत्रिम दूधसे, विदेशी सस्ते दूध-पाउडरसे और हमारे अज्ञानसे बचाना होगा। यह गोसेवाका हमारा रास्ता है।

गोसेवा-संघका ध्येय है कि गायको सब तरफसे बचाया जाय। गायको कसाईसे बचाना है, उसी तरह जाने-अनजाने हमारी ओरसे गायको मरने देनेमें मददरूप होनेवाले कृत्योंसे भी बचाना है। यह एक प्रकट सत्य है कि चमड़ेके लिये काफी गायोंकी कत्ल की जाती रही है।* यदि हम उस कत्ली चमड़ेकी चीजें इस्तेमाल करते हैं, उसका व्यापार करते हैं तो उस कत्लमें शरीक हो ही जाते हैं। विदेशी दूधपाउडर या वनस्पति आदि चीजें स्वादु या सस्ती कहकर खरीद लेते हैं तथा सोयाबीनका सस्ता कृत्रिम दूध बनानेका यत्न करते हैं और गायके दूध-घीको महँगा कहकर इन्कार करते हैं, तो उसका अर्थ यह होता है कि हमारे जीवनमें हम भैंसको या कारखानेको स्थान देते हैं और गायको महँगी समझकर उसका इन्कार करते हैं। अर्थात् चारा-पानी गायको न देकर भैंस या कारखानेवालोंको देते हैं। यदि हम बैलोंके मुकाबले ट्रैक्टरको पसंद करते हैं तो हम बैलका यानी गायका इन्कार करते हैं। इसी तरह जो-जो बातें बैलको बेकार बनाती हैं या गायको बेकार बनाती हैं और गोदूध, घी आदि गोरसोंका मुकाबला करके उसकी कीमत घटाती हैं, वे सब गायको मृत्युकी ओर ले जानेमें मदद करती हैं। गायके खादके मुकाबले कृत्रिम खादोंको अधिक महत्त्व देना भी उसी तरह

---

* चमड़ेके लिये तो कत्ल होता ही है, गोमांसके निर्यातके लिये भी अच्छी-अच्छी गायोंका वध बढ़ रहा है। ता० १३ मार्च सन् १९५३ के कलकत्तेके 'सन्मार्ग'में 'भारत गोसेवक-समाज'के मन्त्री लाला हरदेवसहायजीने गोमांसके निर्यात और इसके लिये बढ़ते हुए गोवधके आँकड़े प्रकाशित कराये हैं। इस वर्णनमें जहाजोंके नाम, तारीख, भेजनेवालेका नाम, जानेके स्थान और पानेवालेका नाम तथा मूल्य छपा है। उस वक्तव्यके अनुसार ५ दिसम्बर सन् १९५२ से लेकर २५ फरवरी १९५३ तक लिसबन और हाँगकाँग आदिको कुल ३९२८४२) का गोमांस कलकत्तेसे बाहर भेजा गया है। वे लिखते हैं कि 'जहाज खर्चके नामसे जानेवाला गोमांस इन आँकड़ोंमें सम्मिलित नहीं है। निर्यात होनेवाला मांस नौजवान और १४ वर्षसे कम उम्रकी आयुवाली गायोंके वधसे प्राप्त होता है।'

बाबा श्रीराघवदासजीके कथनानुसार यदि १२ आने पौंडके हिसाबसे जोड़ा जाय तो इतने रुपयेका पाँच लाख बीस हजार पौंड होता है और प्रत्येक गाय तीन सौ पौंडकी मानी जाय तो इतना मांस लगभग १७५० गायोंका होता है और जब दो महीने बीस दिनमें १७५० गाय होती हैं तो सालभरमें लगभग ८००० गायोंका वध होता है। श्रीबाबाजी लिखते हैं कि इतना तो पता मिला है, और न मालूम क्या होता होगा। लालाजी लिखते हैं कि 'यद्यपि म्युनिसिपल कसाईखानों—जैसे टैंगरा और गार्डन रीचमें कत्लकी संख्या कुछ कम हुई है; किंतु कानूनसे बचनेके लिये कसाई म्युनिसिपलसीमासे बाहर ले जाकर अच्छी-अच्छी गायोंको कत्ल कर रहे हैं। गत दिसम्बर १९५२ में दूधसूखी गायोंकी कीमत कलकत्तेमें १००) प्रति गाय थी, जब कि मार्चमें उन्हीं गायोंका दाम बढ़ते हुए वधके कारण बढ़कर १५०) हो गया है। राष्ट्रहितकी रक्षा एवं भारतीय विधानकी ४८ वीं धारामें आदेशोंकी पूर्तिके लिये पश्चिम बंगाल सरकारको चाहिये कि पशुवध-नियन्त्रण कानून फौरन सारे प्रान्तमें लागू करे और गोमांसका निर्यात बंद कर दे।'

कलकत्तेमें अच्छी नस्लकी दूधसूखी हुई छः-सात वर्षकी बढ़िया गायें ग्वालोंके द्वारा कसाइयोंके हाथों बेच दी जाती हैं। ऐसी हजारों गायें हैं जो यदि ठीक देख-रेख हो तो अभी ५-६ बच्चे दे सकती हैं। जो गोभक्त सज्जन गोशाला, पिंजरापोल आदि संस्थाएँ इन गायोंको खरीदकर रखना चाहें, वे अवश्य खरीदकर इनकी रक्षाका परमपुण्य लाभ करें। ऐसी गाय १२५), १५०) में मिल जाती है। सरकारने रेलका भाड़ा आधा कर दिया है। आठ-दस गायोंका पूरा डिब्बा होनेसे भाड़ा बहुत कम लगेगा। इसके लिये श्रीकृष्णलालजी पोद्दार मन्त्री 'गोरक्षा-समिति' ११५ प० चितरञ्जन ऐवन्यू, कलकत्तासे पत्रव्यवहार करना चाहिये।

है। यह मानी हुई बात है कि जिस चीजकी माँग बनी रहेगी उसका अस्तित्व बना रहेगा और जिसकी माँग घट जायेगी, उसका अस्तित्व दुनियासे, आज नहीं कल, मिट जायेगा। हमें गायको जीवित रखना है तो हमारे जीवनमें गायकी माँग बराबर बनायी रखना चाहिये। गायसे उत्पन्न चीजोंको प्रथम स्थान देना चाहिये, यानी अपने घरमें गोदूध एवं उसके बने पदार्थोंका ही इस्तेमाल करना चाहिये। अपने घरसे जो भी पैसा जाय, वह गायको जीवित रखनेमें काम आवे——इसका ख्याल रखना चाहिये।

हम देखते हैं कि अच्छी गायोंका पालन सभी करते हैं। बेकार या कम उत्पादक गायोंको लोग छोड़ देते हैं। यह भी जानते हैं कि अच्छे साँड़से अच्छी नस्लकी संतान पैदा होती है और बुरेसे बुरी। फिर भी धर्मके नामपर छोड़े गये साँड़ बुरे हों और उनसे गायकी नस्ल बिगड़कर गाय नष्ट हो रही हो तो भी हम आग्रह रखते हैं कि उन बुरे साँड़ोंसे ही यह काम लिया जाय। इस आग्रहके पीछे मनमें चाहे जितनी धर्मभावना हो, इस कृत्यका अन्तिम परिणाम गोवंशके नाशमें ही होनेवाला है।

गायोंको हम बड़े-बड़े शहरोंमें ले जाते हैं, वहाँ उनसे अनेक कृत्रिम तरीकोंसे पूरा दूध लिया जाता है। वे वहाँ बाँझ बन जाती हैं या जल्दी थनातीं नहीं। उनके बछड़े मरने दिये जाते हैं। दूध सूखनेपर वे कसाईके हाथ बेच दी जाती हैं, जहाँ गोवध-बंदी हो, वहाँ वे बुरी-बेकार हालतमें शहरोंसे बाहर भेज दी जाती हैं। इस तरह जो गोविनाश हो रहा है, इस विनाशमें उस दूधसे लाभ उठानेवाले हम सब शरीक हो ही जाते हैं। भले ही अपने मनमें निर्दोष मानें।

हम गोवध बंद करा देना चाहते हैं, यह ठीक है, लेकिन हम बेकार गाय पैदा होने देते हैं। वे दर-दर भूखी मरती फिरती हैं पर उनके खानेका कोई बंदोबस्त नहीं करते, न गोसदन बना लेते हैं, उनके जीनेके कोई साधन नहीं कर पाते, अन्तमें वह भूखके मारे रीब-रीबकर मर जाती हैं, इन सारी बातोंका हम विचार नहीं करते और न विवेकसे काम ही लेते हैं। गायको बचाना चाहिये, उसे तकलीफ न हो। इस भावनासे सभी सहमत हैं। लेकिन आज तो हम इतना ही देखते हैं कि हमारी आँखोंके सामने उसे तकलीफ न हो। आँखकी ओट चाहे हमारी कृतिसे ही उसके साथ निर्दय-क्रूरता होती हो हम खुदको दोषी नहीं मानते। यह विचारधारा गलत है। इस विचारधारामें हमारा और गायका दोनोंका विनाश है। सामने या पीछे हमारे कृत्यका दूरतक क्या परिणाम होगा, इसे सोचनेका विवेक हमें रखना चाहिये और हमारा विवेक जिस बातको कबूल करे उसे करनेकी हिम्मत करनी चाहिये।

गायको जिलानेमें हम उसपर उपकार करते हों ऐसी बात नहीं है। हमारे जीनेके लिये उसे जिलाते हैं। वह हमें ऐसी अद्‌भुत चीजें देती है, जिसका मुकाबला आजका बढ़ा हुआ सायन्स भी नहीं कर सकता। अन्न हम खाते हैं और बचे हुए कचरेका गाय दूध बना देती है। वह दूध भी ऐसा देती है जो माताके दूधके करीब है और मनुष्यके लिये अधिक-से-अधिक लाभप्रद है। बिना लोहे या लुहारके इंजिन देती है, वह हमारी खेती जोतता है, वाहनका काम देता है और कचरा खाकर चलता है। उसे चलानेके लिये बाहरके किसी तेलकी जरूरत नहीं पड़ती। हजारों सालोंसे भूमिकी उपजाऊ-शक्ति कायम रखनेवाला मल-मूत्र और हड्डी-मांसका खाद गाय देती है, चमड़ा देती है। अहिंसक समाज-रचनाका तो गाय आधारस्तम्भ है। इतनी महान् सेवामूर्ति गायको हम माँ कहते हैं तो उसपर कोई उपकार नहीं करते। वह हमारी इतनी सेवा करती है कि उसे माँसे कम कहें तो क्या? जन्मभर वह हमारी सेवा ही करती है। हमारी ओरसे केवल इतनी ही अपेक्षा रखती है कि बुढ़ापेमें जब वह बच्चे और दूध नहीं दे सकती, तो भी खाद तो देती ही है, उसे साल दो साल खिलाते रहें। आर्थिक लोभसे उसका विनाश न करें। क्या मानवता इतना भी नहीं सिखाती कि जन्मभर उपकार करनेवालेपर थोड़े दिन हम प्रत्युपकार करें। भारतकी संस्कृति, भारतकी आत्मा किसी तरह भी गोविनाश-को बरदास्त नहीं कर सकती। गोविनाशको तुरंत रोकना चाहिये। सरकारके हाथमें कानून है, वह कानूनसे गोवध रोके और जनताके हाथमें विवेक तथा धन है, उसके सहारे वह अपनी तरफका वध रोके। इस तरह सब मिलकर गोविनाश रोकनेका निश्चय करेंगे तो निश्चय ही गाय बचेगी और भारत फूले-फलेगा। लेकिन हर एक अपना हिस्सा अदा किये बिना दूसरेसे उसका हिस्सा अदा करवानेका प्रयत्न करेगा तो कोई फल नहीं निकलेगा। गायको सचमुच बचाना है तो हमारे जीवनमें उसकी माँग बनायी रखनी चाहिये अर्थात् जहाँतक सम्भव हो गायका ही दूध-घी इस्तेमाल करना चाहिये और बैलकी शक्तिसे ही काम लेना चाहिये'।

◆

नाम-कीर्तन-महिमा

(लेखक—श्रीअमरनाथ शर्मा, एडवोकेट, गुड़गाँव)

हमलोगोंने बहुधा यह सुना है कि पुराने वैद्यों तथा साधु-महात्माओंके पास ऐसी अद्भुत ओषधियाँ होती थीं, जिनसे वे पलक मारते-मारते ऐसे भयङ्कर-से-भयङ्कर रोगोंका नाश कर देते थे, जिनको आधुनिक वैज्ञानिकोंने भी प्राणघातक और असाध्य ही समझा है। किंतु दुर्भाग्यसे हमारे पूर्वज अपनी वे अद्भुत ओषधियाँ अपनी संतानों अथवा शिष्योंको नहीं बता गये। उन्होंने अपने ज्ञानको अपने ही हृदयमें छिपाये रक्खा, उसे किसी जीवित व्यक्तिपर प्रकट नहीं किया। अतएव यह प्राचीन ज्ञान उन्हींकी इहलीला-समाप्तिके साथ समाप्त हो गया।

मेरे पास भी एक बड़ी चमत्कारी ओषधि है जिससे केवल शारीरिक व्याधि ही नहीं, मनुष्यमें जितने भी रोगोंकी कल्पना की जा सकती है, सब-के-सब दूर हो सकते हैं। मैं उसको अपने जीवनकी सबसे मूल्यवान् निधि मानता हूँ। परंतु मैं उसे प्रकट कर देनेके लिये इसलिये उत्सुक हूँ कि कहीं उसकी भी प्राचीन कालके साधुओंके ज्ञानकी-सी गति न हो जाय। यह अद्भुत लेप सबको प्राप्त हो सकता है और इसका निर्माण भी सरल है।

मैं अपने एक लेखमें यह कह चुका हूँ कि जीवनके भौतिक कष्टोंके निवारणार्थ भगवन्नामका प्रयोग करना पाप है, तथापि यह तो सत्य ही है कि प्रभुमें परम विश्वासके साथ किया हुआ नाम-जप जीवनकी भयङ्करतम व्यथाओं और विपत्तियोंको दूर कर सकता है। दुर्दिनके आनेपर दुर्बल मानव विक्षिप्त होकर अपनी सुध-बुध खो बैठता है। ऐसी घड़ीमें सर्वशक्तिमान्में शाश्वत विश्वास होते हुए भी जपमें मनको नियोजित करना उसके लिये कठिन हो जाता है। मानव-मन उस समय किसी प्रत्यक्ष एवं प्रगाढ़ उपायको ढूँढ़ता है।

मेरे पास जो रोगनाशक लेप है, वह भगवन्नाम-जपका मूर्तरूप है। वस्तुतः यह जपका सार है। कुछ वर्ष पहलेकी बात है। मेरे पूज्य गुरुदेव श्रीबाबा गौराङ्गदासजी वृन्दावनसे मेरी कुटियापर पधारे और उन्होंने चौबीस घंटेका एक अखण्ड कीर्तन करवाया। कीर्तनकालमें भगवान्के सिंहासनके सामने अखण्ड दीपक जलता रहा। कीर्तन समाप्त हो जानेपर हमारे पूज्य गुरुदेवने दीपकसे एक काजल तैयार किया और बड़े प्यार तथा दुलारभरे शब्दोंमें मेरी पत्नीको आदेश-सा देते हुए कहा—'लल्ली! जब तुम्हारे बच्चोंमेंसे किसीको कोई कष्ट हो तो उसके मस्तकपर इस काजलकी एक टीकी लगा देना। वह एकदम ठीक हो जायगा।' तबसे अनेक बार मैंने इस पवित्र लेपका व्यवहार किया है और इसका चमत्कारी प्रभाव देखा है। कहा जाता है कि दुष्ट आत्माएँ इधर-उधर घूमा करती हैं जो प्रायः छोटे बच्चोंको तंग करती हैं। बोल-चालकी भाषामें इसको 'झपटा' कहते हैं। बच्चोंपर इसका भयङ्कर आक्रमण होता है और कभी-कभी तो उनके प्राणोंपर बन आती है। सन् १९४८ की बात है एक दिन आधी रातके समय अपने तीन वर्षके छोटे शिशुकी करुण चीत्कारसे हमलोगोंकी नींद खुल गयी। मानो कोई अदृश्य हाथ बच्चेको बिछावनपर उछाल रहा था। हमलोगोंने सोचा कि किसी विषैले बिच्छू आदिने उसे काट लिया है और हमलोग उसकी पीड़ाके किसी ऐसे ही कारणको इधर-उधर ढूँढ़ने लगे। किंतु कुछ हो, तब तो मिले। बच्चा लगातार यन्त्रणासे छटपटा और चिल्ला रहा था। तबतक मुझे गुरुदेवके उस काजलकी याद आयी और उसे बच्चेके मस्तकपर लगा दिया। कैसा आश्चर्य कि जैसे ही उसके मस्तकसे इस काजलका स्पर्श हुआ कि बच्चा चुप हो गया और उसकी पीड़ाका भी पता नहीं रहा।

मैंने इसकी बार-बार परीक्षा की है और सदा अमोघ पाया है। मेरे एक पड़ोसीके जो शिल्पी-वर्गके हैं, कई बच्चे हुए पर सब मर गये। बेचारे स्त्री-पुरुष दोनों ही बहुत दुखी थे। इस दुखी दम्पतिको मैंने अपने पवित्र काजल-व्यवहारकी सम्मति दी। उन्होंने भगवान्में विश्वासपूर्वक इसका प्रयोग किया और उनकी उसके बादवाली संतान आज भी जीवित है।

यह विलक्षण ओषधि मानवकी समस्त व्याधियों और दुःखोंको निवारण करती है। मैं इसे केवल उन्हीं लोगोंको देता हूँ, जिनका भगवान्में तथा उनके दिव्य नाम-गानमें पूर्ण विश्वास होता है। मैंने एक मुसल्मान मित्रपर भी इसकी परीक्षा की और भगवान्में उनका विश्वास होनेके कारण उनके यहाँ भी इसने जादूका-सा प्रभाव दिखाया। स्वर्गीय श्रीरशीद अहमद, एडवोकेट मेरे सहचारी थे। उनका लड़का आई० सी० एस्० परीक्षामें पास हो गया था। पब्लिक सर्विस कमीशनके सामने उपस्थित होनेके दो दिन पूर्वसे ही उसे तीव्र ज्वर हो आया जो उतरनेका नाम ही नहीं लेता था। लड़केके

पिता मेरे सामने रोने लगे। मैंने उनसे कहा कि मेरे पास एक पवित्र लेप (Balm) है जिसका प्रयोग वे चाहें तो कर सकते हैं। मैंने उनके घर जाकर उस पवित्र काजलको सोते हुए लड़केके सिरपर लगा दिया। प्रातःकाल जब लड़का उठा, तब पूर्णरूपसे स्वस्थ था और चुनाव बोर्डके सामने उपस्थित होनेके योग्य हो गया था। ये महाशय अब पाकिस्तानमें एक आई० सी० एस्० अफसर हैं। मैं ऐसे उदाहरणोंकी झड़ी-सी लगा सकता हूँ किंतु केवल एक ही औरका उल्लेख करके संतोष करूँगा।

दो वर्ष पहले मेरे पड़ोसी श्रीचमनलाल, एडवोकेटके सुपुत्र श्रीअमृत नय्यरका विवाह होनेवाला था। बारात गुड़गाँवसे अमृतसर जा रही थी। श्रीचमनलाल सरदार दलजीतसिंह ए० डी० एम्० तथा मैं एक ही डिब्बेमें साथ यात्रा कर रहे थे। दुर्भाग्यवश दूल्हेको जोरका ज्वर चढ़ा हुआ था। रातका समय था और मेरे मित्र पड़ोसीने चिन्ताके स्वरमें कहा कि 'यात्राके श्रमसे बालककी अवस्था और बिगड़ जायगी।' उनके लिये अत्यन्त दुःखित होना स्वाभाविक ही था। मैंने अपनी दिव्यौषधिकी शरण ली और मेरे पाठकोंको क्या विश्वास होगा कि जब गाड़ी अमृतसर पहुँची तब ज्वर उतरकर स्वाभाविक ताप हो गया था और सरदार दलजीतसिंहजीने कहा कि उसने तो अद्भुत काम किया। श्रीअमृत नय्यर आजकल उड़ीसामें आई० ए० एस्० अफसर हैं।

इस दिव्यौषधिको मैंने कितनी बार परीक्षामें बैठनेवाले विद्यार्थियोंको तथा इंटरव्युमें (नौकरी आदिके लिये अधिकारियोंसे मिलने) जानेवाले लोगोंको भी दिया है और सदैव संतोषजनक फल प्राप्त हुआ है। मेरा ऐसा विश्वास है कि यदि कोई व्यक्ति नित्य प्रातःकाल इसे अपने मस्तकपर लगाकर जीवन-क्षेत्रमें प्रवेश करे तो उसपर कोई आपत्ति नहीं आयेगी और उसका मार्ग निष्कण्टक हो जायगा। सफलता उसकी चिरसंगिनी बन जायगी और जब मृत्यु ही आ जायगी, तब भी यह घनीभूत जप आपके प्राणोंको ऊर्ध्वगति देगा। यमदूतोंकी जगह देवतागण अपनी भुजाओंमें आपको ले जायँगे।

यह काजल उस दीपकसे बनता है जो कम-से-कम चौबीस घंटेके कीर्तनमें भगवान्‌के सामने अखण्ड जलता रहता है। स्वभावतः ही है कि तीन दिन अथवा नौ दिनके कीर्तनके बाद बना हुआ काजल और भी प्रभावशाली होगा। मैं अपने पाठकोंकी जानकारीके लिये बता देना चाहता हूँ कि प्रतिवर्ष वृन्दावनमें फरवरी मासमें पुनीत संतोंका एक विशाल समारोह होता है। वे नौ दिनोंतक कीर्तन करते हैं और इस शुभ अवसरपर बना हुआ काजल भक्तोंको बाँटा जाता है।

अपने पाठकोंसे मेरा एक नम्र निवेदन है। उक्त उत्सवपर बने हुए पवित्र काजलको मैं उन लोगोंको देनेको तैयार हूँ, जिन्हें जप और कीर्तनमें सच्चा विश्वास हो और जो अपने घरमें भी पूर्वोक्त प्रकारसे काजल बनानेका वचन दें। वे मेरे भेजे हुए काजलको अपने बनाये हुए काजलमें मिला सकते हैं और मेरा विश्वास है कि उनके हाथमें आनेवाली यह सबसे अधिक विलक्षण ओषधि होगी। दुःखसे भरे हुए इस संसारमें जब विपत्तिके बादल मँडराने लगें तब वे इसके नीचे आश्रय ले सकते हैं। इस काजलको पवित्र तुलसीकी सूखी डालीसे लगाना चाहिये।*

जपके विषयमें एक बात और कहकर मैं समाप्त करूँगा। जीवन अल्प है। हमें इसका सर्वोत्तम उपयोग कर लेना चाहिये। अतएव बिना किसी विलम्बके हम भगवन्नाम-जप आरम्भ कर दें। महाराज जनकके जीवनकी एक घटनाका उल्लेख करना यहाँ अनुपयुक्त न होगा। एक बार चार पवित्र महात्मा उनकी सभामें आये। तब राजाने उन सबको एक ही साथ प्रणाम किया। ऋषियोंने राजासे अलग-अलग प्रणाम न करनेका कारण पूछा, तब राजाने कहा कि जीवनका कोई निश्चय नहीं कि किस क्षण उसका अन्त हो जाय (दूसरी बार प्रणाम करनेको समय रहे या नहीं) इसलिये मैंने एक साथ ही सबको प्रणाम किया। यह बात बड़े महत्त्वकी है। हमें सावधान हो जाना चाहिये। मनुष्य मरणशील है। उसे उन सब दुःखों और शोकोंको भोगना ही पड़ेगा जो प्रारब्धने उसके लिये नियत कर रक्खा है। किंतु यदि वह खोजे तो उसे पता लगेगा कि घोर अंधकारमें भी प्रकाशकी रेखा वर्तमान रहती है। भगवन्नाम-जप करनेवालेका मन शान्ति और सान्त्वनासे भर जाता है। जीवनकी भौतिक सुविधाओंसे प्राप्त होनेवाला आनन्द क्षणिक और अवास्तविक है। इसलिये हमें भगवन्नाम-जप और कीर्तनमें लगकर भगवत्प्राप्तिरूप मोक्षको प्राप्त कर लेना चाहिये। यही जीवनका एकमात्र परम साध्य है।

---

* जो लोग इस दिव्य भगवदीय ओषधिसे पैसा कमाना चाहेंगे, वे सर्वथा असफल होंगे।

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी सरल, सुन्दर, सस्ती, धार्मिक पुस्तकें

पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेसे पहले अपने गाँवके विक्रेतासे माँगिये। इससे आप भारी डाकखर्चसे बच सकेंगे। यदि आपके यहाँ ये पुस्तकें न मिल सकें तो पेशगीसहित यहाँ आर्डर भेजिये।

श्रीमद्भागवत-महापुराण

के

विभिन्न पाँच संस्करण

(१)

सटीक, दो खण्डोंमें

(सम्पूर्ण)

सरल हिंदी-व्याख्यासहित, पृष्ठ २०३२, चित्र तिरंगे २५, सुनहरा १, दो जिल्दोंमें सजिल्द, मूल्य १५)

(२)

श्रीमद्भागवत-सुधा-सागर

(सम्पूर्ण)

'शुकोक्तिसुधासागर' तथा 'सुखसागर' की भाँति पूरे ग्रन्थका केवल हिंदी-अनुवादमात्र, पृष्ठ १०१६, चित्र तिरंगे २५, सुनहरा १, सजिल्द, मूल्य ८॥)

(३)

मूल-मोटा-टाइप

(सम्पूर्ण)

केवल मूलमात्र, पृष्ठ ६९२, चित्र रंगीन १, सजिल्द, मूल्य ६)

(४)

मूल-गुटका

(सम्पूर्ण)

केवल मूलमात्र, पृष्ठ ७६८, चित्र रंगीन १, सजिल्द, मूल्य ३)

(५)

श्रीप्रेम-सुधा-सागर

(केवल दशम-स्कन्ध-भाषा)

केवल दशम स्कन्धका हिंदी-अनुवादमात्र, पृष्ठ ३१६, चित्र रंगीन १४, सुनहरा १, सजिल्द, मूल्य ३॥)

डाकखर्च अलग ।

पता—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

९—

॥ श्रीराम ॥

गोस्वामी तुलसीदासजी कृत श्रीरामचरितमानस

के विभिन्न संस्करण

(१)

मोटा टाइप, सटीक

टीकाकार—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

पृष्ठ १२००, चित्र रंगीन ८,

कपड़ेकी जिल्द,

मूल्य ७॥)

(२)

मझला साइज, सटीक*

टीकाकार—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

महीन टाइप, पृष्ठ १००८,

चित्र रंगीन ८, सजिल्द,

मूल्य ३॥)

(३)

मूल, मोटा टाइप

बड़े अक्षरोंमें केवल मूल पाठ,

पृष्ठ ५१६, चित्र रंगीन ८,

सजिल्द, मूल्य ४)

(४)

मूल, पाठभेदवाली

मोटा टाइप, पृष्ठ ७९६,

सजिल्द, मूल्य ३॥)

(५)

मूल, मझला साइज†

मध्यम टाइप, पृष्ठ ६०८,

सजिल्द, मूल्य २)

(६)

मूल-गुटका

महीन अक्षर, पृष्ठ ६८०

एक रंगीन और ७ लाइन

चित्र, सजिल्द, मूल्य ॥।)

डाकखर्च अलग।

पता—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर**

---

* नं० २ मझला साइज, सटीककी तरहके अलग-अलग प्रत्येक काण्डका मूल्य इस प्रकार है—बाल० १=) अयोध्या० ।।।-) अरण्य० ।) किष्किन्धा० =) सुन्दर० ।) लङ्का० ॥) उत्तर० ॥)

† नं० ५ मूल, मझला साइजकी तरहके अलग-अलग प्रत्येक काण्डका मूल्य इस प्रकार है—बाल० ॥ अयोध्या० ॥) अरण्य० ≡) किष्किन्धा० =) सुन्दर० [illegible]) लङ्का० ।) उत्तर० ।)

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके २४१ लेखोंका एक संग्रह

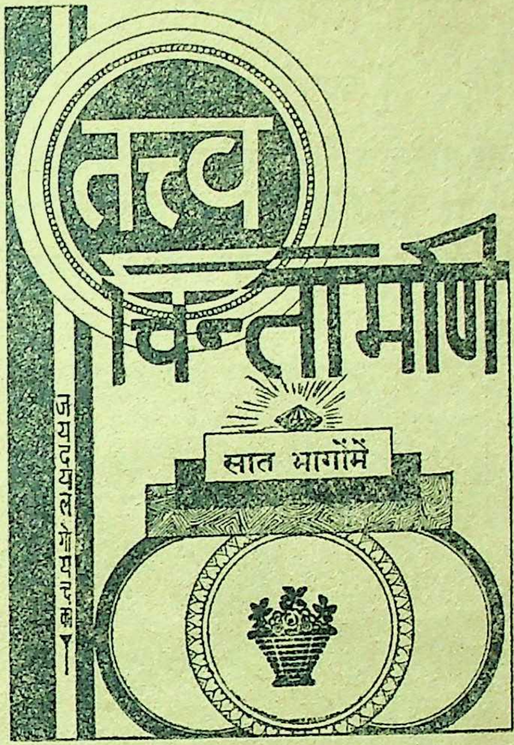

भाग १—में २९ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ३५२, चित्र तिरंगा १, मूल्य ॥=) सजिल्द १)
भाग २—में ४८ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५९२, चित्र तिरंगा १, मूल्य ॥।=) सजिल्द १।)
भाग ३—में ३३ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४२४, चित्र तिरंगे २, मूल्य ॥≡) सजिल्द १-)
भाग ४—में ३१ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५२८, चित्र तिरंगे ५, मूल्य ॥।-) सजिल्द १≡)

(चौथे भागके छोटे आकारके संस्करणका मूल्य ।=) सजिल्द ॥=)

भाग ५—में ३४ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४९६, चित्र तिरंगे ४, मूल्य ॥।-) सजिल्द १≡)
भाग ६—में ३४ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४५६, चित्र तिरंगा १, मूल्य १) सजिल्द १।=)
भाग ७—में ३२ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५२०, चित्र तिरंगा १, मूल्य १=) सजिल्द १॥)

इन सातों भागोंमें कुल लेख २४१, पृष्ठ ३३७८, चित्र तिरंगे १५, सातोंका मूल्य ५॥।≡) सजिल्द ८॥-) डाकखर्च अलग ।

इन लेखोंमें लौकिक, पारलौकिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक, नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक सर्वतोमुखी उन्नति करानेमें सहायक एवं सभी वर्ण-आश्रम, स्त्री-पुरुष और बालक-बालिकाओंके कामकी यथेष्ट सामग्री है । वस्तुतः ये लेख परमात्म-तत्त्वका यथार्थ ज्ञान करानेके लिये 'चिन्तामणि'के समान हैं ।

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

'कल्याण'में प्रकाशित ४१६ पत्रोत्तरोंका एक संग्रह

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

"लोक-परलोकका सुधार"

[कामके पत्र]

'इन पत्रोंमें सभी वर्गके नर-नारियोंके लिये परमोपयोगी, इस लोक और परलोककी उन्नतिमें सहायक अनेक विभिन्न प्रश्नोंके उत्तर दिये गये हैं। ये पत्र विद्यार्थी, गृहस्थ, संन्यासी, बाल, युवा, वृद्ध, सभीकी घरेलू, व्यावहारिक और पारमार्थिक—सभी तरहकी उलझनोंको सुलझाकर परम शान्ति देनेवाले हैं।

लोकपरलोकका सुधार
(काम के पत्र)
५
हनुमान प्रसाद पोद्दार

प्रथम भाग

६८ पत्रोंके उत्तर, पृष्ठ २२०,
मूल्य ।=)

द्वितीय भाग

६५ पत्रोंके उत्तर, पृष्ठ २४४,
मूल्य ।=)

तृतीय भाग

९३ पत्रोंके उत्तर, पृष्ठ २९०,
मूल्य ॥)

चतुर्थ भाग

९४ पत्रोंके उत्तर, पृष्ठ २८८,
मूल्य ॥)

पञ्चम भाग

९६ पत्रोंके उत्तर, पृष्ठ २८०,
मूल्य ॥)

इन पाँचों भागोंमें कुल ४१६ पत्रोंके उत्तर, पृष्ठ १३२२,
पाँचोंका
मूल्य २।)

डाकखर्च अलग।

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

स्त्रियोंके लिये कुछ उपयोगी पुस्तकें

१. सुखी जीवन—लेखिका—श्रीमैत्रीदेवी, पृष्ठ २०८, मूल्य .... ॥)

२. नारी-शिक्षा—लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ १६८, मूल्य .... ।≈)

३. भक्त नारी—सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ ६८, १ रंगीन, ५ सादे चित्र, मूल्य .... ।–)

४. भक्त-महिलारत्न—सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ १००, चित्र ७, मूल्य .... ।≡)

५. आदर्श नारी सुशीला—लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ५६, मूल्य ≡)

६. स्त्रीधर्म-प्रश्नोत्तरी—लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ ५६, सचित्र मूल्य .... –)॥

७. नारी-धर्म—लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४८, सचित्र, मूल्य .... –)॥

८. गोपी-प्रेम—लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ ५२, सचित्र, मूल्य –)॥

९. श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा—लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४०, सचित्र, मूल्य .... –)॥

१०. स्त्रियोंके कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग—लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ २०, मूल्य ....)॥

डाकखर्च अलग ।

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

गीताप्रेससे प्रकाशित वेदान्तके सतरह ग्रन्थ

श्रीमद्भगवद्गीता–शाङ्करभाष्य–[हिंदी-अनुवादसहित] इसमें मूल श्लोक, श्रीशङ्कराचार्यजीका भाष्य, हिंदीमें भाष्यका अर्थ, टिप्पणी तथा गीताके श्लोकोंकी शब्दानुक्रमणिका भी दी गयी है। पृष्ठ ५२०, तिरंगे ३ चित्र, मूल्य ... . २॥।)

श्रीमद्भगवद्गीता–रामानुजभाष्य–[हिंदी-अनुवादसहित] इसमें भी मूल श्लोक, भाष्य और उसका हिंदीमें अर्थ दिया गया है। पृष्ठ ६०८, तिरंगे ३ चित्र, सजिल्द, मूल्य .... २॥)

ईशावास्योपनिषद्–मूलमन्त्र, शाङ्करभाष्य और हिंदीमें भाष्यका अर्थ, श्रीशङ्कराचार्यका तिरंगा चित्र, पृष्ठ ५२, मूल्य .... ≡)

केनोपनिषद्–मूलमन्त्र, शाङ्करभाष्य और हिंदीमें भाष्यका अर्थ, उमा और इन्द्रका तिरंगा चित्र, पृष्ठ १४२, मूल्य ... ... ॥)

कठोपनिषद्–मूलमन्त्र, शाङ्करभाष्य और हिंदीमें भाष्यका अर्थ, यम-नचिकेताका तिरंगा चित्र, पृष्ठ १७८, मूल्य ... . ॥-)

प्रश्नोपनिषद्–मूलमन्त्र, शाङ्करभाष्य और हिंदीमें भाष्यका अर्थ, पिप्पलादके आश्रममें सुकेशादिका तिरंगा चित्र, पृष्ठ १२८, मूल्य .... ।≡)

मुण्डकोपनिषद्–मूलमन्त्र, शाङ्करभाष्य और हिंदीमें भाष्यका अर्थ, आङ्गिरस और शौनकके संवादका तिरंगा चित्र, पृष्ठ १२२, मूल्य .... ।≡)

माण्डूक्योपनिषद्–मूलमन्त्र, गौडपादीयकारिका, शाङ्करभाष्य और हिंदीमें उनका अर्थ, प्रणवका तिरंगा चित्र, पृष्ठ २८४, मूल्य .... १)

ऐतरेयोपनिषद्–मूलमन्त्र, शाङ्करभाष्य और हिंदीमें उसका अर्थ, श्रीशङ्कराचार्यका तिरंगा चित्र, पृष्ठ १०४, मूल्य ... . ।=)

तैत्तिरीयोपनिषद्–मूलमन्त्र, शाङ्करभाष्य और हिंदीमें उसका अर्थ, वरुण और भृगुका तिरंगा चित्र, पृष्ठ २५२, मूल्य ... . ॥।-)

श्वेताश्वतरोपनिषद्–मूलमन्त्र, शाङ्करभाष्य और हिंदीमें उसका अर्थ, जगत्कारणमीमांसाका तिरंगा चित्र, पृष्ठ २६८, मूल्य .... ॥=)

वेदान्त-दर्शन—मूल ब्रह्मसूत्र, उनकी सरल हिंदीमें व्याख्या, व्याख्याकार—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका, पृष्ठ ४१६, सचित्र, सजिल्द, मूल्य .... २)

उपनिषदोंके चौदह रत्न—उपनिषदोंमें कथित १४ कथाओंका सरल हिंदीमें संग्रह, लेखक—श्री-हनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य .... ।≈)

विवेक-चूडामणि—श्रीशङ्कराचार्यकृत, हिंदी-अनुवादसहित, पृष्ठ १८४, सचित्र, मूल्य ... ।-)

अपरोक्षानुभूति—श्रीशङ्कराचार्यकृत, हिंदी-अनुवादसहित, पृष्ठ ४०, सचित्र, मूल्य .... ≈)॥

शारीरकमीमांसा-दर्शन—ब्रह्मसूत्र सम्पूर्ण, मूलमात्र, मूल्य ....)॥।

ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन—वेदान्त-सिद्धान्तका सारभूत विवेचन; लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, मूल्य ... ...)॥

डाकखर्च अलग !

पता—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

“कल्याण”का हिंदू-संस्कृति-अङ्क

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६॥), साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य, ५ प्रतियाँ एक साथ लेनेसे १५) प्रतिशत कमीशन।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। इसमें वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण, श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियाँ, हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप तथा महत्त्व, हिंदू-धर्म, वर्णाश्रम, दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, परलोकवाद, श्राद्धतत्त्व, हिंदू-संस्कृतिमें त्याग और भोगका समन्वय, समाजरचना, ज्ञान, भक्ति, योग, मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र, यज्ञानुष्ठान, पीठ-विज्ञान, रामराज्यका स्वरूप, शिष्टाचार और सदाचार, आहार-विवेक, आयुर्वेद, विज्ञान, अङ्कगणित, कर्मविज्ञान, उपासनातत्त्व, तीर्थ-व्रत, पर्व-त्योहार, शिक्षा, विभिन्न सम्प्रदाय, स्थापत्यकला, मन्दिर, मूर्तिकला, शिल्प, चित्रकला, नाट्यकला, चौसठ कला, गान्धर्व-विद्या, वाद्ययन्त्र, क्रीडा, अस्त्र-शस्त्रादि, वैमानिककला, नौनिर्माणकला, काल-विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, ज्यौतिष, सामुद्रिक, नक्षत्र-विज्ञान, रत्न-विज्ञान, गोरक्षा, जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख हैं।

इसके अतिरिक्त भगवान्‌के अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श ऋषि-महर्षियोंके, परोपकारी भक्त, राजा तथा सत्पुरुषोंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत-से पवित्र चरित्र हैं।

थोड़ी-सी प्रतियाँ बची हैं। जिनको आवश्यकता हो, तुरंत ६॥) भेजकर मँगा लें, या वी० पी० से भेजनेका आदेश करें।

व्यवस्थापक—**‘कल्याण’, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

'कल्याण'का सन् १९५२ का 'भक्त-चरिताङ्क'

(पूरी फाइलसहित)

पृष्ठ ११५२, लेख-संख्या ६८७, कविताएँ ५२, तिरंगे चित्र ३६, तथा इकरंगे चित्र २०१; ११ साधारण अङ्कोंके सहित पूरी फाइलका मूल्य ७॥) मात्र ।

इस 'भक्त-चरिताङ्क'में वैदिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, देश और विदेशके भी प्राचीन और अर्वाचीन सभी सम्प्रदाय और जातियोंके भक्तोंके शिक्षाप्रद, मधुर, लोक-मङ्गलकारी, पावन, भावपूर्ण जीवनचरित्र और उनके चुने हुए उपदेश भी हैं । भक्तितत्त्वसम्बन्धी थोड़े-से लेखोंके अतिरिक्त सम्पूर्ण ग्रन्थ केवल जीवनचरित्रोंसे पूर्ण है । इसे भक्तोंका एक विशाल सचित्र चरित-कोष ही समझना चाहिये । यह अङ्क अत्यन्त रोचक, शिक्षाप्रद, आनन्ददायक और लोक-परलोकमें कल्याण करनेवाली सामग्रियोंसे सम्पन्न है । इसमें ऐसी-ऐसी सुरुचिपूर्ण सुन्दर भक्तगाथाएँ हैं, जिन्हें पढ़-सुनकर बालक, वृद्ध, युवा सभी नर-नारियोंका मन सहज ही भगवद्भक्तिकी ओर लग सकता है । वास्तवमें यह एक अत्यन्त नवीन सुन्दर 'भक्तमाल' ही है । देशके सभी श्रेणीके व्यक्तियोंने इसे बहुत ही पसंद किया है तथा प्रमुख एवं प्रसिद्ध समाचारपत्रोंने भी इसकी महत्त्वपूर्ण समालोचना प्रकाशित की है ।

जो सज्जन इसका पठन-पाठन एवं संग्रह करना चाहते हों, वे शीघ्र ही ७॥) भेजकर अथवा वी० पी० द्वारा भेजनेका आदेश देकर मँगवा लें ।

'कल्याण'का सन् १९५३ का नया विशेषाङ्क

'बालक-अङ्क'

—जनवरीमें प्रकाशित हुआ है । पृष्ठ-संख्या ८१६, तिरंगे तथा सादे बहुसंख्यक चित्र, मूल्य ७॥) पूरे सालके ग्राहकोंको इसी चन्देमें ११ साधारण अङ्कोंसहित मिलेगा ।

इस बालक-अङ्कमें (१) बालकोंके स्वभाव, सदाचार, आहार-विहार, शिष्टाचार, पालन-पोषण तथा शिक्षणके सम्बन्धमें बहुत-से उपयोगी लेख हैं । (२) बालकोंके माता-पिता, गुरु, अभिभावकोंके कर्तव्य-सूचक कई लेख हैं । (३) बालकोंके संस्कारसम्बन्धी लेख हैं । (४) बालकोंके खेल-सम्बन्धी लेख हैं । (५) भगवान् श्रीरामका सुन्दर बालचरित्र है । (६) भगवान् श्रीकृष्णका सुन्दर बालचरित्र है । (७) प्राचीन कालके बहुत-से आदर्श बालकोंके ज्ञान-भक्ति-सदाचार-प्रधान चरित्र हैं । (८) देश-विदेशके ईश्वरभक्त बालक, वीर बालक, मातृपितृभक्त बालक, परोपकारी बालक, सत्यप्रेमी बालक, सेवाव्रती बालक, विश्वासी बालक, त्यागी बालक, चतुर बालक—यों आदर्श बालकोंके बहुत सुन्दर चरित्र हैं । (९) बालकोंको ऊँचा उठानेवाली तथा उनका मनोरञ्जन करनेवाली कहानियाँ हैं । (१०) भगवान् श्रीराम तथा भगवान् श्रीकृष्णकी बाललीलाके बहुत सुन्दर-सुन्दर रंगीन तथा सादे चित्र हैं । (११) संसारके प्राचीन और अर्वाचीन आदर्श बालक-बालिकाओंके बहुत सुन्दर चित्र हैं ।

ग्राहकोंको सूचना

(१) मनीआर्डर भेजनेवाले सब ग्राहकोंको रजिस्ट्रीसे विशेषाङ्क जा चुका है । शेष ग्राहकोंको वी० पी० से जा चुका है । किसी भी पुराने ग्राहकको अवतक न मिला हो तो तुरंत सूचित करें ।

(२) सजिल्द विशेषाङ्कके साथ ही फरवरीका अङ्क भी जिल्दमें बँधा है ।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

चार नयी पुस्तकें

स्वर्ण-पथ

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

आकार २०×३०=१६ पेजी, पृष्ठ २१६, मूल्य केवल ।।।) आना ।

प्रस्तुत पुस्तकमें लेखकके कल्याणमें एवं अन्यत्र प्रकाशित 'जीवनकी निद्रासे उठ जाइये, तुम महान् हो, अपने-आपके साथ सद्व्यवहार, हमारे मनका आरोग्य, आत्मसुधारकी एक नवीन योजना, आजके मानवकी सबसे बड़ी आवश्यकता, निराशाका अन्त, अपने कामको ईमानदारीसे पूर्ण करना ही प्रभुकी पूजा है, भगवान्‌को जगाओ, मानवता ही सर्वोत्तम धर्म है'—आदि बयालीस महत्त्वपूर्ण लेखोंका संग्रह है । सभी लेख आध्यात्मिक जीवनके पथ-प्रदर्शक और ईश्वरीय मार्गपर अग्रसर करनेमें बड़े ही सहायक हैं ।

पिताकी सीख

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल)

आकार २०×३०=१६ पेजी, पृष्ठ १५२, मूल्य केवल ।=) आना ।

इस पुस्तिकामें बाल-मनोविज्ञानके पण्डित श्रीगोयलजीके 'सृष्टिका कारीगर, हमारी स्वास्थ्य-रक्षक सेना, सिगरेट, बीड़ी या तम्बाकूकी लत, व्यायाम और खेल-कूद, फोटोका दैवी कैमेरा, पाचन और परिपुष्टि, भोजन-व्यवस्था, पानी, स्वच्छ वायुसेवन तथा शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शुद्धि'—इन दस लेखोंका संग्रह है । ये लेख सरल भाषामें लिखे गये हैं । इनमें खान-पान और स्वास्थ्यके विषयमें सभीके लिये बड़ी ही महत्त्वपूर्ण जानने योग्य बातें हैं । खास करके बालकोंके लिये यह परम उपयोगी पुस्तक है ।

चोखी कहानियाँ

आकार २०×३०=८ पेजी, पृष्ठ ५२, मूल्य केवल ।-) आना ।

इस छोटी-सी पुस्तिकामें ३२ छोटी-छोटी रोचक कहानियाँ हैं, जो कि छोटे बालक-बालिकाओंके लिये सरल भाषामें लिखी गयी हैं । इनके पढ़नेसे मनोरञ्जनके साथ ही विविध जानने योग्य विषयोंकी जानकारी बढ़ती है तथा जीवनको पवित्र बनानेकी प्रेरणा मिलती है ।

गीताप्रेस-बाल-पाठ-मालाकी चौथी पुस्तक

हिंदी बाल-पोथी—दूसरी पोथी

(कक्षा २ के लिये)

आकार २०×३०=८ पेजी, पृष्ठ ८८, मूल्य केवल ।=) आना ।

यह गीताप्रेस-बाल-पाठ-मालाकी चौथी पुस्तक है और वैसे 'बाल-पोथी' की दूसरी पोथी है । इसके पहले 'शिशुकक्षा' के लिये 'शिशु-पाठ' दो भाग तथा प्रथम कक्षाके लिये 'पहली पोथी'—यों तीन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं । यह पोथी दूसरी कक्षाके लिये है ।

पता—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

राज० स० ए० १७

राम-भक्त

हित सों हित, रति राम सों, रिपु सों बैर बिहाउ ।
उदासीन सब सों सरल तुलसी सहज सुभाउ ॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि रामभक्तका ऐसा सहज स्वभाव होना चाहिये कि श्रीराममें उसका प्रेम हो, मित्रोंसे मैत्री हो, वैरियोंसे वैरका त्याग कर दे, किसीमें पक्षपात न हो और सबसे सरलताका व्यवहार हो ।

तुलसी ममता राम सों समता सब संसार ।
राग न रोष न दोष दुख दास भए भव पार ॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि जिनकी श्रीराममें ममता और सब संसारमें समता है, जिनका किसीके प्रति राग, द्वेष, दोष और दुःखका भाव नहीं है, श्रीरामके ऐसे भक्त भवसागरसे पार हो चुके हैं ।

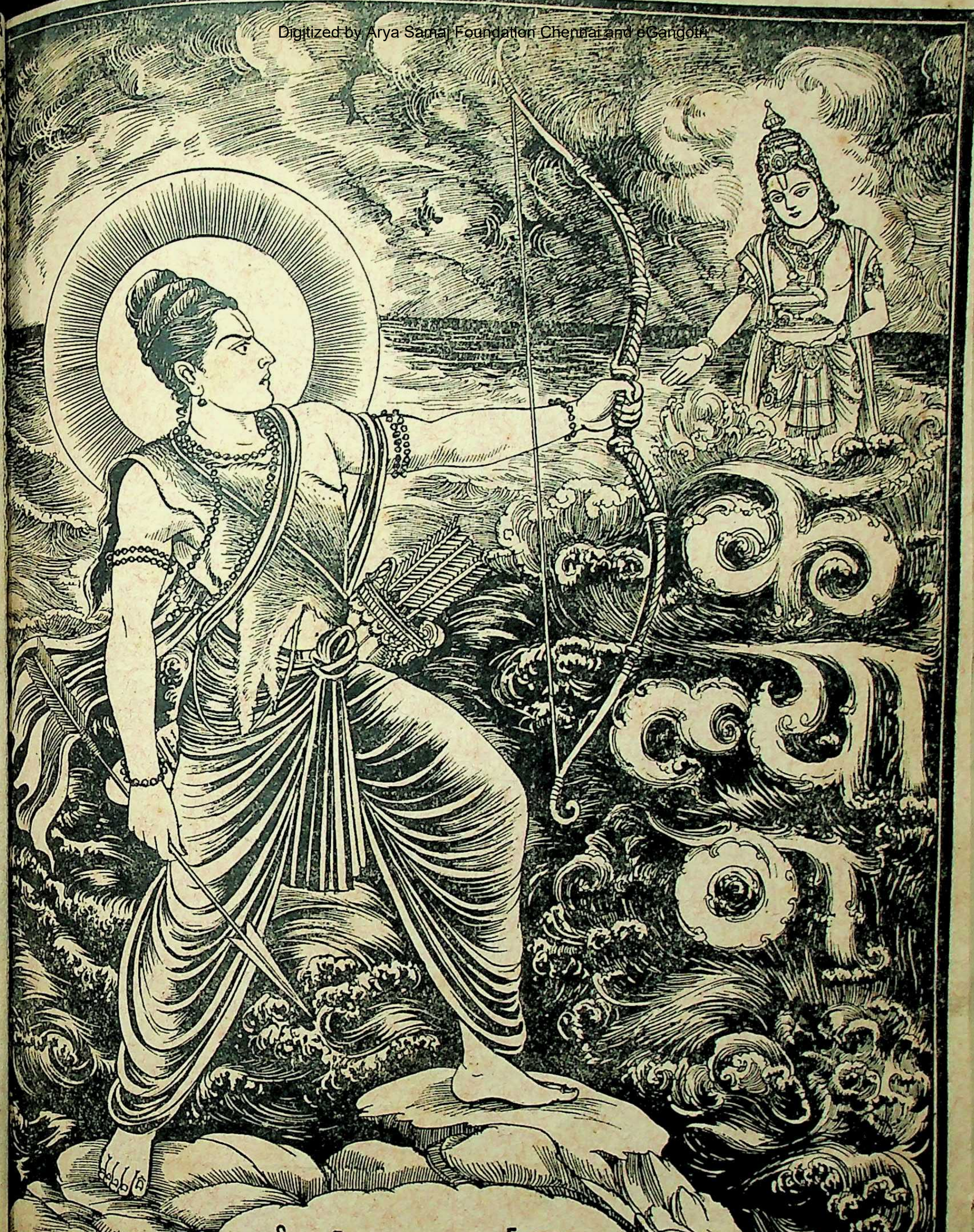
वर्ष २७]
[अङ्क ५
भगवान

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

चित्र-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ २०१०, मई १९५३

विषय पृष्ठ-संख्या
१–हृदय-कमलमें भगवान् [कविता] … … … ९९३
२–कल्याण ('शिव') … … … ९९५
३–एक महात्माके सत्सङ्गसे … … … ९९६
४–युगल-उपासना-रहस्य (श्रीश्रीकान्तशरणजी) … … … ९९७
५–स्त्रियोंके लिये कर्तव्यशिक्षा और पातिव्रत्यका प्रभाव (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … १००३
६–श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन … … … १०१०
७–परम भागवत श्रीमदाद्यशंकराचार्य (पं० श्रीगयाप्रसादजी शुक्ल, बी० ए०; एल्-एल्० बी०,एडवोकेट) १०१७
८–मुमुक्षुताकी महिमा (साधुवेषमें एक पथिक) … … … १०२५
९–रामप्रेमकी महत्ता [कविता] … … … १०२७
१०–आत्मभावनाकी अनिवार्यता (प्रो० पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल) … … १०२८
११–रुद्रमूर्तिकृत शिवस्तुति-चालीसा [कविता] … … … १०३१
१२–ब्रह्मचर्य (श्रीरामावतारजी विद्याभास्कर) … … … १०३२
१३–रामके विना सब व्यर्थ है [कविता] (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी) … … १०३४
१४–कानून और मनुष्यत्व (श्रीशेषनारायणजी चन्देल) … … १०३५
१५–शरीर और आत्मा [कहानी] (श्री 'चक्र') … … … १०३६
१६–परमार्थ-पत्रावली (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) … … … १०४१
१७–दयालु दीनबन्धुके बड़े विशाल हाथ हैं (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) … … १०४८
१८–फकीर कौन है ? [कहानी] (श्रीजहूरबख्श) … … १०४९
१९–धर्मधुरन्धर श्रीभरतजी (श्रीकमलासहायजी) … … … १०५१
२०–काल [कविता] (श्रीकबीरदासजी) … … … १०५२
२१–गोरक्षाकी आवश्यकता और उसके उपाय (गो-सेवक-परिषद्, नयी दिल्लीमें सभापति-पदसे
दिये हुए श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके भाषणका अधिकांश) … … १०५३

* * *

चित्र-सूची

तिरंगा

१–हृदयकमलमें ध्यान … … … ९९३

* * *

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्र
भारतमें
विदेशमें ॥
(१० पैं

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

उपासतामात्मविदः पुराणाः परं पुमांसं निहितं गुहायाम् ।
वयं यशोदाशिशुबाललीलाकथासुधासिन्धुषु लीलयामः ॥

वर्ष २७ } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ २०१०, मई १९५३ { संख्या ५
पूर्ण संख्या ३१८

हृदय-कमलमें भगवान्

बहुरौ हृदयकमल को ध्यावै,
अष्ट पाँखड़ी सो बिगसावै ।
अधोमुखहि ते ऊर्द्धहि करै,
ताके मध्य सूर्य ही धरै ॥
सूरज में पूरन ससि आनै,
ससि में अनल तेजमय मानै ।
अनल मध्य मम रूपहि ध्यावै,
प्रेम प्रीति सौं मनहिं लगावै ॥

अंगुष्ट समान चतुर्भुज रूपा,
अति सीतल सुखदानि अनूपा ।
नूतन सजल मेघ तन स्यामा,
तडित तुल्य अंबर रुचि धामा ॥
मंद हाँस सोभानिधि आनन,
मकराकृत कुंडल सुभ कानन ।
कंठ कौस्तुभ मनि बनमाला,
और जु उर भृगुलता बिसाला ॥
संखरु चक्र गदा अरु पद्मा,
चारि भुजा सोभित अति सद्मा ।
हेम मुकुट हीरा मनि जरौ,
अति सोभायमान सिर धरौ ॥
भाल तिलक अरु अंबुजनयना,
भक्ति प्रसाद सुधा को अयना ।
कर कंकन अंगुरिन मुद्रिका,
पग नूपुर कटि छुद्र घंटिका ॥
अंकुस, बज्र, ध्वजा, अरबिंदा,
चिह्न जु चरन हरन दुखद्वंदा ।
नखमनिगन अति प्रभा प्रकासै,
उर अग्यान अंधतम नासै ॥
और सकल अंगन बहु भूषन,
जिनके ध्यान मिटै सब दूषन ।
बयस किसोर परम सुकुमारा,
नख सिख ध्यावै बारंबारा ॥
चरनन ते प्रति अंगहि ध्यावै,
एक गहै एकहि छिटकावै ।
जोलौं नख ते सिखपरजंता,
निस दिन हिरदय ध्यावै संता ॥
अवर बासना सब परिहरै,
मेरो रूप अखंडित धरै ।

दुनियाके लोग तुम्हें अच्छा मानते हैं, तुम्हारा बड़ा यश हो गया है, तुम्हारी जहाँ-तहाँ पूजा—अभ्यर्थना होती है, इसीसे कभी यह मत मान बैठो कि तुम वास्तवमें अच्छे हो गये हो। अच्छे तो तुम तब होओगे, जब तुम्हारा मन निर्मल हो जायगा। मनमेंसे कुविचार और कुभावोंका सर्वथा अभाव हो जायगा। सद्विचार तथा सद्भावोंसे मन भर जायगा।

याद रक्खो—सद्विचारों और सद्भावोंको भी यदि भगवान्का आश्रय न देकर स्वतन्त्र रखना चाहोगे तो उनमेंसे एक अहंकाररूप बड़ा भारी दोष उत्पन्न होगा, जो समस्त सद्विचारों और सद्भावोंका नाश कर डालेगा।

आत्मनिरीक्षण करो, अपने जीवनके बीते हुए तथा वर्तमान कार्योंकी ओर देखो; तुम यदि अच्छी तरह देखोगे तो तुम्हें स्पष्ट दिखायी देगा कि तुम जो अपनेको—दूसरोंके कहनेपर ही बहुत अच्छा मान रहे थे, वह तुम्हारी भूल थी। तुम्हारे अंदर इतनी बुराई, इतनी गंदगी भरी हुई है कि उसको देखकर दूसरे सभीका जीवन तुम्हें अच्छा प्रतीत होने लगेगा। तुम्हारे अंदर एक नम्रता आयेगी और तब तुम परम पावन भगवान्की ओर देखोगे—उनके चरणोंमें लुटकर आर्तभावसे कातर स्वरसे उन्हें पुकारोगे।

याद रक्खो—तुममें कितने ही दुर्विचार, दुर्गुण और दुराचार क्यों न हों, भगवान् उनको नहीं देखेंगे। भगवान् देखेंगे तुम्हारे वर्तमान हृदयको, भगवान् सुनेंगे तुम्हारी करुण पुकारको।

याद रक्खो—भगवान्पर, एकमात्र भगवान्पर भरोसा आते ही, भगवान्की अकारण कृपा, उनके अहैतुक स्नेह, उनके सुहृद्-स्वभावपर विश्वास करते ही तुम्हारे दुर्विचार, दुर्गुण और दुराचार वैसे ही नष्ट हो जायँगे, जैसे सूर्यके उदय होते ही अमावास्याकी रात्रिका घोर अन्धकार कट जाता है।

याद रक्खो—भगवान् अकारणकरुण हैं, वे प्राणिमात्रके सहज सुहृद् हैं, उनका हृदयद्वार सबके लिये सर्वदा उन्मुक्त है, निर्भय होकर उनके चरणोंमें जा सकते हो; पर नहीं जा रहे हो, इसका यही कारण है कि तुम्हें अपने दुर्गुण, दुर्विचार और दुराचारोंसे घृणा नहीं है, उनको तुमने अपने जीवनक्षेत्रमें बसा ही नहीं लिया है, तुम्हारा उनमें अनुराग है, तुम उनको अपना साथी मानते हो। उनको आदरपूर्वक रखना चाहते हो, उनके साथ रहनेपर गौरवका अनुभव करते हो।

याद रक्खो—जब जिस क्षण तुम्हें वे बुरे प्रतीत होने लगेंगे, उनका साथ रहना तुम्हें दुःखदायी दीखने लगेगा, उनके साथ रहनेमें गौरवका नहीं, पर एक महान् यन्त्रणाका अनुभव तुम्हें होगा, पर तुम अपना उनसे पिण्ड छुड़ानेमें असमर्थ पाओगे, तब बस, उसी क्षण तुम्हें किसी सहायककी, किसी ऐसेकी, जो मित्रका स्वाँग धारण करके तुम्हारे साथ बसे हुए इन घोर शत्रुओंसे छुटकारा दिलानेमें तुम्हारी सहायता करे, आवश्यकता प्रतीत होगी। तुम्हारा हृदय रो उठेगा, तुम सबसे निराश होकर आर्तत्राणपरायण एकमात्र शरण्य भगवान्की शरण ग्रहण करोगे, उन्हें पुकारोगे—'नाथ! तुम्हारे सिवा कोई भी ऐसा नहीं है, जो मुझ-सरीखे पामर, पापजीवन, महान् दुराचारी, दुर्विचार और दुर्गुण आदिको अपने जीवन-संगी मानकर उन्हींको जीवनका स्वरूप-स्वभाव बना लेनेवाले, समस्त सद्गुणोंसे रहित और सबके द्वारा परित्यक्त, घृणित, व्यक्तिको अपना ले। दयामय! तुम अपने सहज सुहृद्भावसे ही मुझे बचा लो—मेरा इन दुष्टोंसे पिण्ड छुड़ाओ।' बस, तुम्हारी अनन्य पुकार सुनते ही भगवान्की कृपाके तुम्हें दर्शन होंगे। भगवान्का वरद हस्त तुम्हें दिखायी देगा और भगवान्की दिव्य वाणी तुम्हें सुनायी देगी—'मत डरो, तुम्हारे पाप नाश हो गये, तुम्हारे ये पाप-ताप, दुर्गुण, दुर्विचार, दुराचार सब नष्ट हो गये; तुम मेरे भक्त हो गये। तुम्हारा कभी पतन नहीं हो सकता। तुम मेरे हो—मेरे रहोगे।'

'शिव'

एक महात्माके सत्सङ्गसे

(१)

'दु:ख किसे कहते हैं ?'

दु:ख चार प्रकारके होते हैं—

१. अभावका भय, २. वियोगका भय, ३. अपमानका भय और ४. हानिका भय।

अविवेकके कारण अभावका भय होता है।

मोहके कारण वियोगका भय होता है।

अभिमानके कारण अपमानका भय होता है।

लोभके कारण हानिका भय होता है।

इसके अतिरिक्त वस्तुत: दु:ख और किसी प्रकारका नहीं होता। दु:ख वस्तुत: अभावका नाम नहीं है, अपनेमें कमी स्वीकार करना ही दु:ख है।

दु:खमें वासना अपेक्षित होती है, कोई परिस्थिति नहीं।

आज दुखियोंमें तृष्णाका बल है, सुखियोंमें संग्रहका बल है।

(२)

साधनमें तीन बातें अवश्य होनी चाहिये—

१. नि:संदेहता—समझ संदेहरहित हो।

२. रुचि—हृदय प्यारयुक्त हो।

३. विश्वास—मन विश्वासयुक्त हो।

यह कैसे हो ?—

१. समझ संदेहरहित होती है—सत्सङ्गसे।

२. हृदय प्यारयुक्त होता है—अपनेपनसे।

३. मन विश्वासयुक्त होता है—भक्तोंके सङ्ग और भगवान्‌की कृपासे।

साधनका ऊपरी रूप उसकी 'भाषा' है और ये तीनों बातें हैं उसका 'अर्थ'। जैसे कागज चेकका ऊपरी रूप है और रुपया है उसका 'अर्थ'।

(३)

भगवान्‌की कृपा कैसे हो ?

लाभ उठानेसे—जैसे आँख बंद करनेवालेके लिये सूर्यका प्रकाश होते हुए भी निरर्थक हो जाता है, उसी प्रकार न माननेवालेके लिये भगवान्‌की कृपा।

(४)

मौनका तात्पर्य क्या है ?

सही बोलो और चुप हो जाओ।

जो करो, सही करो और चुप हो जाओ।

जब मनमें खयाल आता है तो मौन कहाँ हुआ!

तो फिर मौन कैसे हो—खयालको निकाल दो।

एक बार किसीने संतसे पूछा—'बाबा! क्या किया करते हो ?'

बाबाने कहा—जो संकल्प उठ चुके हैं, उन्हें तो पूरा करता हूँ और नये संकल्प नहीं करता।

संकल्प न उठे, इसका उपाय क्या है ?

जो हैं, उन्हें दबाओ मत, उठने दो, निकलने दो और तुम उन्हें देखते रहो कि उठ रहे हैं।

मनमें संकल्प अधिक इसीलिये उठते हैं कि हम अपने जीवनमें घंटे, दो घंटे ही साधन करते हैं, शेष जीवनको साधन नहीं मानते। यदि सारे जीवनको साधन मान लिया जाय तो फिर संकल्पोंका अन्त हो जाय।

युगल-उपासना-रहस्य

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी)

भगवत्तत्त्व, भगवान्‌का स्वरूप एवं उनकी उपासनाका रहस्य उनकी ही उपासना करनेपर उनकी कृपासे ही साधक पुरुष जान पाते हैं; यथा—

'मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई । भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥'
(रामचरितमानस बाल० १९९)

'जानें बिनु भगति न, जानिबो तिहारे हाथ,
समुझि सयाने नाथ ! पगनि परत ॥'
(विनयपत्रिका २५१)

'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई ।'
(रामचरितमानस, अयो० १२६)

श्रीगोस्वामीजीने उपासना करके भगवत्कृपासे ही भगवत्तत्त्वका साक्षात्कार किया है—

'रामनाम को प्रभाउ, पाउ, महिमा, प्रतापु,
तुलसी-सो जग मनिअत महामुनी-सो ॥'
(कवितावली रा० उ० ७२)

अतः श्रीगोस्वामीजीकी सूक्तियोंका मुख्याधार लेकर युगल-उपासनापर कुछ लिखनेकी चेष्टा की जाती है ।

श्रीसीता और श्रीरामकी तात्त्विक एकता

(क) श्रीसीतारामजीके तात्त्विक स्वरूपका दिग्दर्शन श्रीरामचरितमानसके मङ्गलाचरणमें श्रीगोस्वामीजीने कराया है—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥
यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः ।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥

अर्थात् उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाली, दुःखोंका हरण करनेवाली, सबके लिये सब प्रकारके कल्याणोंका विधान करनेवाली श्रीरामजीकी प्रियतमा श्रीसीताजीको मैं प्रणाम करता हूँ । जिनकी मायाके वशमें ब्रह्मा आदि देवता, असुर और अखिल विश्व है, जिनकी सत्यतासे समस्त (नानात्वरूप) जगत् सत्य-सा जान पड़ता है, जैसे रस्सीमें साँपका भ्रम हो, भवसागरसे तरनेकी इच्छावालोंके लिये जिनके चरण ही एकमात्र नाव हैं, सम्पूर्ण कारणोंसे परे, दुःख हरण करनेवाले ईश्वरकी, जिनका 'राम' (यह) नाम है, मैं वन्दना करता हूँ ।'

इन श्लोकोंकी विशेष व्याख्या टीकाओंमें हो चुकी है, अब यहाँ श्रीसीतारामजीकी तात्त्विक एकतापर कुछ विचार करें । यथा—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न ।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न ॥
(रामचरितमानस बाल० १८)

अर्थात् श्रीसीताजी और श्रीरामजी वाणी और अर्थ, तथा जल और जलकी तरङ्गके समान कहनेमें तो भिन्न-भिन्न हैं, पर (तत्त्वतः) भिन्न नहीं हैं । मैं उनके चरणोंकी वन्दना करता हूँ, जिन्हें दीन परम प्यारे हैं ।

इस दोहेमें 'गिरा-बीचि' और 'अर्थ-जल' उपमान हैं, क्रमशः श्रीसीताजी और श्रीरामजी 'सीताराम-पद' इस वाक्यखण्डसे उपमेय कहे गये हैं । 'कहिअत भिन्न न भिन्न' यह वाक्यखण्ड धर्म है और 'सम' यह पद वाचक है । अतः यहाँ पूर्णोपमा है । इसमें धर्मके द्वारा दोनों रूपोंकी तात्त्विक एकता दिखाना ग्रन्थकारका प्रयोजन है ।

'वाणी' और 'अर्थ' तत्त्वतः एक हैं, जैसे 'पय' वाणी है और 'दूध' इसका अर्थ है । इसमें 'पय' और दूध एक ही वस्तु हैं । ऐसे ही 'जल' और 'जलकी लहर' दोनों जलरूपसे एक ही वस्तु हैं; इसी प्रकार श्रीसीताजी और श्रीरामजी एक ही वस्तु हैं, दोनों मिलकर अखण्ड एक ब्रह्मतत्त्व हैं ।

'गिरा-अरथ' मात्र कहा गया होता तो 'गिरा' स्त्रीलिङ्ग है, इससे 'अरथ' प्रकट होता है । अतः श्रीसीताजी कारण और पुँल्लिङ्ग पद 'अरथ' रूप श्रीरामजी कार्य समझे जाते । ऐसे ही 'जल' भाषामें पुँल्लिङ्ग है, इससे श्रीरामजीके लिये है और 'बीचि' पद स्त्रीलिङ्ग है, इससे श्रीसीताजीके लिये है । जल से बीचि प्रकट होती है । अतः श्रीरामजी कारण और श्रीसीताजी कार्य समझी जातीं । दो बार हेर-

फेरकर कहनेमें दोनों रूपोंमें कार्य-कारणका निषेध किया गया है।

(ख) महर्षि पराशरने भी दोनोंकी एकतामें ऐसा ही कहा है; यथा—

नित्यैवैषा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी ।
यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम ॥
अर्थो विष्णुरियं वाणी नीतिरेषा नयो हरिः ।
बोधो विष्णुरियं बुद्धिर्धर्मोऽसौ सत्क्रिया त्वियम् ॥

से

किंचातिबहुनोक्तेन सङ्क्षेपेणेदमुच्यते ॥
देवतिर्यङ्मनुष्यादौ पुन्नामा भगवान् हरिः ।
स्त्रीनाम्नी श्रीश्च विज्ञेया नानयोर्विद्यते परम् ॥ तक

(श्रीविष्णु० १ । ८ । १७, १८, ३४, ३५)

अर्थात् हे द्विजोत्तम (मैत्रेयजी) ! जिनका कभी अदर्शन नहीं होता, वे जगज्जननी श्रीजी (लक्ष्मीजी या सीताजी) नित्या ही हैं और जिस प्रकार विष्णु (श्रीरामजी) सर्वव्यापक हैं, उसी प्रकार ये भी (सर्वव्यापिका) हैं। विष्णु अर्थ हैं और ये वाणी हैं, हरि न्याय हैं और ये नीति हैं । विष्णु बोध हैं और ये बुद्धि हैं तथा वे (विष्णु) धर्म हैं और ये सत्क्रिया हैं । यहाँसे लेकर—अधिक क्या कहा जाय, संक्षेपमें यही कहा जाता है कि देव, तिर्यक् और मनुष्य आदिमें पुरुषवाची भगवान् हरि हैं और स्त्रीवाची श्रीलक्ष्मीजी हैं, इन दोनोंके परे और कोई नहीं है । यहाँतक इन १८ श्लोकोंमें दोनोंकी तात्त्विक अभिन्नता कही गयी है । देवराज इन्द्रने श्रीजीकी स्तुति करते हुए कहा है—

त्वं माता सर्वलोकानां देवदेवो हरिः पिता ।
त्वयैतद्विष्णुना चाम्ब ! जगद्व्याप्तं चराचरम् ॥

(श्रीविष्णु० १ । ९ । १२६)

अर्थात् (हे श्रीजी !) आप सब लोकोंकी माता हैं और भगवान् हरि पिता हैं, आपसे और विष्णु भगवान्से यह चराचर जगत् व्याप्त है ।

शङ्का—यहाँ उपर्युक्त पुराणरत्न विष्णुपुराणके प्रमाणोंसे दो स्थानपर श्री (सीता) जीको भगवान् विष्णुके समान ही व्यापिका कहा गया है, यहाँ व्यापक-द्वय होनेका दोष होगा; क्योंकि व्यापक तत्त्व तो एक ब्रह्म ही है।

समाधान—जहाँ शास्त्रोंमें केवल ब्रह्मका परत्व कहा गया हो, वहाँ श्रीतत्त्वको ब्रह्ममें ही अन्तर्भूत समझना चाहिये ।

'तदन्तर्भावात्त्वां न पृथगभिधत्ते श्रुतिरपि ।'

(श्रीगुणरत्नकोश २८, भट्टार्कस्वामी)

अर्थात् श्रुतिने स्थान-स्थानपर श्रीजीका भगवत्तत्त्वमें अन्तर्भाव कर लेनेके कारण ही उन स्थानोंपर उनका पृथक् उल्लेख नहीं किया ।

श्रीभरतजीने भी दोनोंका अन्तर्यामित्व साथ-साथ कहा है—

'अन्तरजामी राम सिय, ...।'

(रामचरितमानस, अयो० २५६)

लीलाव्यापारमें भी श्रीजी सदा सहायिकारूपमें हरिके साथ रहती हैं—

एवं यदा जगत्स्वामी देवदेवो जनार्दनः ।
अवतारं करोत्येषा तदा श्रीस्तत्सहायिनी ॥
राघवत्वेऽभवत् सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि ।
अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषानपायिनी ॥
देवत्वे देवदेहेऽयं मनुष्यत्वे च मानुषी ।
विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषाऽऽत्मनस्तनुम् ॥

(श्रीविष्णु० १ । ९ । १४२, १४४, १४५)

अर्थात् इस प्रकार संसारके स्वामी देवाधिदेव श्रीविष्णु भगवान् जब-जब अवतार धारण करते हैं, तब-तब श्रीलक्ष्मीजी उनके साथ रहती हैं,........श्रीहरिके श्रीराम होनेपर ये श्रीसीताजी हुईं और श्रीकृष्णावतारमें श्रीरुक्मिणीजी हुईं । इसी प्रकार अन्य अवतारोंमें भी ये भगवान्से कभी पृथक् नहीं होतीं। भगवान्के देवरूप होनेपर ये दिव्य शरीर धारण करती हैं और मनुष्य होनेपर मानवी रूपमें प्रकट होती हैं। विष्णुभगवान्के अनुरूप ही ये अपना शरीर भी बना लेती हैं।

श्रुतिका भी यही अभिप्राय है—

'सीतारामौ तन्मयावत्र पूज्यौ......'

(श्रीरामतापनीयो० पू० १७)

अर्थात् श्रीसीताजी और श्रीरामजी, इन दोनोंको तत (उपर्युक्त रेफ 'र्') के अर्थमें जानना चाहिये । दोनों एक ही हैं, इससे एक 'र्' के अर्थमें दोनोंका बोध कराया गया है । इसी 'र्' का अर्थ एकाक्षर कोषमें 'रश्च रामेऽनिले

वहौ' इस वाक्यसे केवल 'राम' का ही है, वहाँ श्रीजी 'राम' पदमें ही अन्तर्भूत हैं ।

(ग) श्रीरामचरितमानस, बाल० १४१–१५२ में मनु-शतरूपाके प्रसङ्गमें चरितार्थरूपमें भी देखिये । वहाँ मनु-शतरूपाने केवल भगवान्‌के लिये तपस्या की है, श्रीजीकी चर्चा नहीं है । उनके हृदयमें निरन्तर यही अभिलाषा होती थी कि हम उस परम प्रभुको आँखोंसे देखें । आगे उस परमप्रभुके लक्षण कहते हैं—

अगुन अखंड अनंत अनादी । जेहि चिंतहिं परमारथबादी ॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा । निजानंद निरुपाधि अनूपा ॥
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना । उपजहिं जासु अंस तें नाना ॥
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई । भगत हेतु लीलातनु गहई ॥
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा । तौ हमारि पूजिहि अभिलाषा ॥

इसपर आकाशवाणी हुई—'माँगु माँगु बर ।' तब इन्होंने यही माँगा—

जो सरूप बस सिव मन माहीं । जेहि कारन मुनि जतन कराहीं ॥
जो भुसुंडि मन मानस हंसा । सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन । कृपा करहु प्रनतारति मोचन ॥

इस याचनापर भगवान् श्रीजीको साथ लिये हुए ही प्रकट हुए—

बाम भाग सोभति अनुकूला । आदिसक्ति छबिनिधि जग मूला ॥
जासु अंस उपजहिं गुन खानी । अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई । राम बाम दिसि सीता सोई ॥

इस प्रसङ्गसे अत्यन्त स्पष्ट हो गया है कि 'अखण्ड' ब्रह्म श्रीजीको लेकर ही हैं, इसीसे श्रीसीताजीको साथ लेकर ही वे प्रकट हुए । इसमें त्रिदेवकारणता आदि प्रभाव भी दोनोंका तुल्य ही कहा गया है ।

ब्रह्म नित्य सर्वशक्तिमान् है । अतः वह आदि शक्तिके साथ ही अखण्ड है । यही सभी दार्शनिकोंका सिद्धान्त है कि शक्ति-शक्तिमान् अभिन्न हैं ।

(घ) महाराज दशरथने ऐसा वरदान प्राप्त किया था, जिससे वे श्रीरामजीके दर्शनोंके बिना जलके बिना मीनके समान नहीं जी सकते थे । उन्होंने श्रीसुमन्त्रजीके द्वारा कहलाया है—

जेहि बिधि अवध आव फिरि सीया । सोइ रघुबरहि तुम्हहि करनीया ॥
नतरु निपट अवलंब बिहीना । मैं न जिअब जिमि जल बिनु मीना ॥
(रामचरितमानस अयो० ९५)

यदि श्रीजानकीजी श्रीरामजीसे भिन्न तत्त्व होतीं, तो राजा दोनोंका नाम कैसे लेते ।

(ङ) श्रीसीताजी श्रीरामजीकी पत्नी हैं, इन दोनोंका यह पति-पत्नी-सम्बन्ध भी नित्य है—

रामस्य दयिता भार्या नित्यं प्राणसमा हिता ॥
जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता ।
(वाल्मीकि० १ । १ । २६-२७)

अर्थात् श्रीरामजीकी प्रियतमा स्त्री श्रीसीताजी, जो नित्य ही उन्हें प्राणोंके समान प्यारी थीं, जिनका जन्म श्रीजनकजीके कुलमें हुआ था और जो देवमायाके समान थीं ।

तथा—

'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ ।' (तै० आ० ३ । १३ । ४१)

अर्थात् श्रीजी और लक्ष्मीजी दोनों आपकी पत्नियाँ हैं ।

'अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी ।' (तै० सं० ४ । ४ । १२)

अर्थात् विष्णुपत्नी इस जगत्‌की ईश्वरी हैं ।

पत्नी पतिकी अर्द्धाङ्गिनी कही जाती है, इससे दोनों मिलकर पूर्ण रूप होते हैं, तथा दोनों एक रूप हैं—

'विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्त्ता सा स्मृताङ्गना ।'
(मनु० ९ । ४५)

अर्थात् वेदज्ञ ब्राह्मण ऐसा कहते हैं कि जो भर्त्ता है, वही भार्या है, भर्त्ता और भार्यामें कुछ अन्तर नहीं है ।

(च) ऐश्वर्यमें भी दोनों समान ही हैं—

(१) ऊपर प्रमाणमें यह लिखा जा चुका है कि जैसे अनन्त त्रिदेव श्रीरामजीके अंशसे होते हैं, वैसे ही उन त्रिदेवोंकी शक्तियाँ श्रीसीताजीके अंशसे होती हैं; तथा दोनों ही चराचर जगत्‌में व्यापक-व्यापिका हैं ।

(२) रामचरितमानस (बाल० ५३-५४) में श्रीसतीजीने श्रीसीताजी और श्रीरामजीका नित्य संयोग एवं नित्य ऐश्वर्य देखा था, वहाँ अपनी-अपनी शक्तियोंके साथ अनन्त त्रिदेव दोनोंकी वन्दना एवं चरण-सेवा करते थे ।

तथा—

'बिधि हरि हर बंदित पद रेनू ।' (रामचरितमानस बाल० १४५)
'उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता । जगदंबा .... ॥'
(रामचरितमानस उ० २३)

(३) दोनों ही सब प्राणियोंके ईश्वर-ईश्वरी हैं—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।'

(गीता १८ । ६१)

अर्थात् ईश्वर (श्रीरामजी) सब प्राणियोंके हृदय-देशमें रहकर उनपर शासन करता है । तथा—

'ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम् ।'

(श्रीसूक्त ९)

अर्थात् सब प्राणियोंकी ईश्वरी श्री (सीता) जीको यहाँ आह्वान (आवाहित) करता हूँ ।

(४) दोनों ही मुमुक्षु जीवोंके उपाय और उपेय हैं—

लक्ष्म्या सह हृषीकेशो देव्या कारुण्यरूपया ।
रक्षकः सर्वसिद्धान्ते वेदान्तेऽपि च गीयते ॥

(लक्ष्मीतन्त्र २८ । २४)

अर्थात् सर्वशास्त्रसिद्धान्तमें तथा वेदान्तमतमें यही कहा गया है कि करुणामयी देवी श्रीलक्ष्मीजीके साथ ही भगवान् रक्षक हैं ।

'प्राप्यं मिथुनमेवेति श्रीमते पदतो मतम् ।'

(वैष्णवमताब्जभास्कर)

अर्थात् (रहस्यत्रयमें द्वयमन्त्रके) 'श्रीमते' इस पदसे 'श्रीसीता-रामजीही प्राप्य हैं, यह कहा गया है। तथा—

'स्वर्गे ते सङ्गमो भूयो भविष्यति न संशयः ।'

(वाल्मीकि० ७ । ९८ । १५)

अर्थात् (श्रीसीताजीके पाताल-प्रवेशपर श्रीब्रह्माजीने श्रीरामजीसे कहा है—) स्वर्ग (त्रिपाद्विभूति-श्रीसाकेतधाम) में पुनः आपका (श्रीसीताजीसे) साथ होगा, इसमें संशय नहीं है ।

इससे सिद्ध है कि साकेतधाममें भगवान् श्रीरामजी श्रीसीताजीके साथ ही मुक्तात्माओंके प्राप्य एवं सेव्य रहते हैं। तथा—

'नारायणं सलक्ष्मीकं प्राप्तुम् ।'
'वैकुण्ठे तु परे लोके श्रिया सार्धं जगत्पतिः । आस्ते…'

अर्थात् 'श्रीलक्ष्मीजीके साथ श्रीनारायणको प्राप्त करनेके लिये…।' 'परलोक वैकुण्ठमें श्रीजीके साथ जगत्पति भगवान् हैं ।' इन शास्त्र-प्रमाणोंको भी आचार्योंने उद्धृत किया है । आचार्य श्रीअग्र-स्वामीनें रहस्यत्रयमें लिखा है—

'ममेति भगवच्छेषत्वज्ञानानन्दत्वाद्युक्तलक्षणस्य जीवस्य मम उक्तगुणविशिष्टया सीतया सहितो वात्सल्यादिगुणविशिष्टः श्रीराम एव स्वप्राप्तेरुपाय उपेयश्च ।'

अर्थात् (मन्त्रद्वय, अष्टाक्षर-शरणागति-मन्त्रके) 'मम' इस पदसे मुझ भगवत्-शेषत्व एवं ज्ञानानन्दत्व आदि लक्षणयुक्त जीवके लिये उपर्युक्त गुणयुक्त श्रीसीताजीके साथ वात्सल्य आदि गुणयुक्त श्रीरामजी ही अपनी प्राप्तिमें उपाय (साधन) और उपेय (प्राप्य एवं फल) हैं ।

इन सब प्रकारके ऐश्वर्योंकी तुल्यता भी दोनोंको एक तत्त्व सिद्ध करती है; अन्यथा ब्रह्ममें प्रतिद्वन्द्वित्व होगा और यह हो नहीं सकता—

'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।' (श्वेता० ६ । ८)

अर्थात् उस ब्रह्मके समान और उससे अधिक कोई नहीं है । तथा—

'जेहि समान अतिसय नहिं कोई ।' (रामचरितमानस अर० ५)

(छ) इस प्रकार भी दोनोंकी तुल्यता एवं एकता सिद्ध है । 'ब्रह्म' इस पदमें चार अक्षर हैं—ब, र, ह, म । इन्हें आदि वर्ण ककारसे* गिनना चाहिये । 'ब' कसे २३ वाँ, 'र' २७ वाँ, 'ह' ३३ वाँ और 'म' २५ वाँ है । इनको जोड़नेपर—२३+२७+३३+२५=१०८—इस प्रकार १०८ की संख्या आती है । जपमें १०८ मणियोंकी माला रहनेका एक यह भी हेतु है ।

यही १०८ संख्या 'सीता-राम' इस युगल नाममें भी उसी रीतिसे जोड़नेपर आती है—

'सीता'=स, ई, त, आ । इनमें 'स' क से ३२ वाँ, 'ई' असे ४ था, 'त' कसे १६ वाँ और 'आ' असे २रा है—

३२+४+१६+२=५४, इस प्रकार 'सीता' पदमें आधी संख्या है । 'राम'=र, आ, म । इसमें 'र' कसे २७ वाँ, 'आ' असे २ रा और 'म' कसे २५ वाँ है—

२७+२+२५=५४, इस प्रकार 'राम' पदमें आधी संख्या है । दोनों मिलकर (५४+५४=१०८) ही पूर्ण एवं अखण्ड ब्रह्म हैं, यह इस प्रक्रियासे सिद्ध है ।

इसी प्रकार 'राधिका-कृष्ण' इस नाममें भी आधी-आधी संख्याएँ आती हैं, और दोनोंकी संख्या जोड़नेपर ब्रह्मकी १०८ संख्या होती है ।

शङ्का—उपर्युक्त विवेचनसे श्रीसीताजी और श्रीरामजी दोनों ब्रह्मतत्त्व ही हैं, फिर श्रीसीताजीको माया क्यों कहा गया है ?

'आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया । सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ॥'

(रामचरितमानस, बाल० १५१)

---

* व्यञ्जनोंको ककारसे और स्वरोंको अकारसे गिनना चाहिये ।

समाधान—(क) ऊपर लिखा गया कि श्रीरामजीके अंशसे नाना त्रिदेव होते हैं, वैसे ही श्रीसीताजीके अंशसे उन त्रिदेवोंकी शक्तियाँ (मायाएँ) होती हैं। और फिर यह भी प्रमाण है—

'माया सब सिय माया माहूँ ।' (रामचरितमानस अयो० २५१)

अर्थात् सभी मायाएँ श्रीसीताजीकी मायामें हैं। इस प्रमाणसे सृष्टिकी उत्पत्तिकी मुख्य कारणरूपा मूलप्रकृति भी श्रीसीताजीकी इच्छासे प्रादुर्भूत होती है। यथा—

'यत्कटाक्षेण वै जाता मूलप्रकृतिसंज्ञिता ।'

अर्थात् जिन श्रीसीताजीके कटाक्षसे मूलप्रकृति उत्पन्न है वे ही माया जगत्-रचनामें कारण हैं। इसीसे ऊपर श्रीसीताजीके प्रति 'जग उपजाया' एवं 'जगमूला' आदि कहा गया है। श्रीरामजीकी सृष्टि-इच्छा होनेपर आप अपने कटाक्षसे मूलप्रकृति (माया) द्वारा जगत्-रचना आदि करती हैं, इससे श्रीरामजीने इन्हें अपनी माया कहा है; अन्यत्र भी—

................................'माया जानकी ।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥
(रामचरितमानस अयो० १२५)

अर्थात् श्रीजानकीजी आप (श्रीरामजी) की माया (आदि शक्ति) हैं; हे कृपानिधान ! वे आपका रुख पाकर जगत्को रचती, पालती और संहार करती हैं। सृष्टि-रचना आदि लीलाएँ जीवोंपर कृपा करके होती हैं, इससे सृष्टिके रुखपर प्रभुको 'कृपानिधान' कहा गया है।

(ख) त्रिगुणात्मिका माया जड है, वह अचित्-तत्त्वके नामसे कही जाती है। श्रीसीताजी वह माया नहीं हैं, प्रत्युत चिद्रूपा हैं। यथा—

'हेमाभया द्विभुजया सर्वालङ्कारया चिता ।'
(रामतापनीय उ० पू० २७)

अर्थात् स्वर्णवर्णा, दो भुजावाली, सर्वभूषणभूषिता और चिद्रूपा श्रीजानकीजीके द्वारा। तथा—

एकान्तेऽवहितां सीतां दिव्यरूपां मनोरमाम् ।
विश्वाद्यां विश्वजननीं स्वर्णरूपां चिदात्मकाम् ॥
(सुन्दरीतन्त्र, प्रथम पटल)

अर्थात् विश्वमूला, विश्वमाता, स्वर्णवर्णा और चिद्रूपा, सुन्दर दिव्य रूपवाली श्रीसीताजी एकान्तमें विराजमान हैं, एवं—

योऽसावयोध्याधिपतिः स परब्रह्मशब्दितः ।
तस्य या जानकी देवी साक्षात्सा चिन्मयी स्मृता ॥
(पद्म० पाताल रा० २९ । ६३)

अर्थात् अयोध्यापति श्रीरामजी परब्रह्म हैं, और उनकी पत्नी श्रीसीताजी ज्ञानमय विग्रहवाली कही गयी हैं।

(ग) श्रीजानकीजीमें कृपारूप गुणकी प्रधानता है; यथा—

कृपारूपिणि कल्याणि रामप्रेयसि जानकि ।
कारुण्यपूर्णनयने कृपादृष्ट्यावलोकय ॥

अर्थात्—कृपारूपिणी, कल्याणी, करुणा-गुणपूर्ण नेत्रवाली श्रीराम-प्रिया श्रीजानकीजी ! कृपादृष्टिसे मेरी ओर देखिये।

श्रीजानकीजीकी कृपापर आगे कुछ विशेष रूपसे लिखा जायगा। 'कृपा' का ही पर्यायी 'माया' शब्द भी है; यथा—

'माया दम्भे कृपायां च ।'

अर्थात् 'माया' पद कृपा और दम्भके अर्थमें आता है, इस कोष-प्रमाणसे कृपारूप गुणकी प्रधानतासे भी श्रीसीताजीको माया कहा जाता है, जैसे आनन्द-गुणकी प्रधानतासे ब्रह्म 'आनन्द' नामसे कहा जाता है।

शङ्का—श्रीजानकीजी कृपामयी हैं और श्रीरामजी परमकृपालु हैं। फिर यह भी लिखा गया है कि श्रीरामजीका रुख पाकर श्रीजानकीजी जगत् रचना करती हैं, इससे 'जगमूला' कही गयी हैं। संसार तो दुःखमय है, इससे मुक्त होकर ही जीव सुखी होते हैं; यथा—

अनविचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी ।
(विनयपत्रिका १२१)

ऐसे दुःखमय संसारकी रचना इन्होंने क्यों की ?

समाधान—रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दो० ७७–८२ में विद्यामायाके द्वारा काकभुशुण्डिजीके प्रति इसका रहस्य प्रकट किया गया है। वहाँ श्रीरामजीने हँसकर माया-द्वारा अपने उदरमें ले जाकर काकजीको अनन्त कालतक करोड़ों ब्रह्माण्डोंका भ्रमण कराया है, उनमेंसे एक-एक ब्रह्माण्डमें एक-एक सौ वर्ष काकजीका रहना हुआ था। जब कृपालु श्रीरामजीने काकजीको श्रमित एवं प्रेममें व्याकुल देखा, तब हँसकर उन्हें बाहर निकाल दिया। बाहर आनेपर काकजीको जान पड़ा कि यह सब दृश्य तो मैंने दो ही घड़ीमें देखे हैं।

इस कौतुकका पारमार्थिक रहस्य यह है कि श्रीरामजीने हँसकर काकजीपर माया प्रेरित की है। अतः उनकी हँसी मायामूलक है। यथा—

'माया हास बाहु दिगपाला ।'
(रामचरितमानस लंका० १४)

हँसना प्रसन्नतासे होता है; जिसपर प्रभु प्रसन्न होते हैं, उसपर कृपा करके अपनी विद्यामाया प्रेरित कर उसके द्वारा उसे अपने ऐश्वर्यका ज्ञान कराते हैं। वह माया भगवान्के शरीरमें अनन्त ब्रह्माण्डोंका ज्ञान कराती है। यथा—

हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा । सूचत किरन मनोहर हासा ॥
(रामचरितमानस बाल० १९७)

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
(गीता ११ । ४७)

श्रीकौसल्याजीको ऐश्वर्य दिखानेमें भी हँसकर ही लीला प्रारम्भ की है; यथा—

'प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी ॥
देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड ।'
(रामचरितमानस बाल० २०१)

इस ऐश्वर्य-ज्ञानसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जगत् भगवान्‌का शरीर है, वे अपने विविध अङ्ग-रूप चराचर जीवोंका उनके कर्मानुसार पारस्परिक सम्बन्धोंसे उन सबका पालन करते हैं। सभी उनके शरीर हैं। अतएव हस्त-पाद आदि सेवक-रूप अङ्गोंके समान सभी जीव अपने शरीरी भगवान्‌के सेवक हैं, इससे सबको उन हरिका भजन करना चाहिये।

उक्त दृश्यमें यह देखा गया कि भगवान् अपनी संतानोंको दो घड़ीसे अधिक पृथक् नहीं रहने देते। दो ही घड़ीमें अनन्त काल एवं अनन्त ब्रह्माण्डोंका चक्कर लगवाकर संसारकी भयङ्करता दिखा, इनका अपनेमें गाढ़ प्रेम उत्पन्न कर फिर इन्हें अपने पास बुला लेते हैं। इस जगत्-रचनामें कृपालुता भी कही गयी है—

जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की ।

इससे जगत्-रचनाका यह तात्पर्य जान पड़ता है कि त्रिपाद-विभूतिमें जीवोंकी स्वाभाविक स्थितिसे उन्हें विशेष सुख देनेके लिये श्रीसीतारामजी इस जगत्‌की रचना करके उन जीवोंको उनके अनादि कर्मानुसार अपनी मायासे मोहित कर देते हैं। जैसे माता बच्चेको अधिक सुख देनेके लिये शय्यापर शयन करा देती है कि बच्चा सोकर उठेगा, तब इसे भूख लगेगी; उसपर मैं इसे दूध पिलाकर विशेष सुखी करूँगी। इससे मेरा बच्चा विशेष सुखी एवं पुष्ट होगा। बच्चे (शिशु) प्रायः दो ही घड़ी सोते हैं। उनके अधिक विलम्बतक सोते रहनेपर माता चिन्तित हो उनको जगानेका प्रयत्न करती है।

ब्रह्म श्रीसीताजीके रूपमें मातृत्व और श्रीरामजीके रूपमें पितृत्व करता है—

'त्वं माता सर्वभूतानां देवदेवो हरिः पिता ।'

यह प्रमाण ऊपर लिखा गया है। लीलाव्यापार विशेषकर माता श्रीजानकीके द्वारा होता है, इसीसे इन्हें ऊपर 'जगमूला' एवं 'जग उपजाया' आदि कहा गया है। माता ही बच्चेको शयन कराती है। अतः श्रीसीताजीने जगत्-रचना करके जीवोंको मोहवश कर शयन करा दिया है। मोहवश होना इनका सोना और नानात्वरूप जगत्‌के व्यवहारोंका अनुभव करना उस निद्रामें इनका स्वप्न देखना है। यथा—

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा । देखिअ सपन अनेक प्रकारा ॥
(रामचरितमानस अयो० ९२)

नित्य-धामकी दो ही घड़ियोंमें जीव यहाँके सैकड़ों कल्पोंका चक्कर लगा लेता है। फिर माता श्रीसीताजी ही चिन्तित हो अपनी अंशभूता मूल प्रकृतिके द्वारा इसे जाग्रत् होनेकी प्रेरणा करती हैं; यथा—

जानिअ तबहिं जीव जग जागा । जब सब बिषय बिलास बिरागा ॥
(रामचरितमानस अयो० ९२)

तब यह नाना साधनोंके द्वारा मुमुक्षुताका सम्पादन करता है और माताके दिये हुए सदसद्विवेक (निर्मलमति) से जगत्‌की करालताका अनुभव करता है। नाना योनियोंके दुःखोंसे एवं मनुष्य-शरीरमें भी गर्भवास, जरा, व्याधि एवं मृत्यु आदिके दुःखोंसे ऊबकर यह इस जगत्‌से मुक्त होना चाहता है और फिर इसमें आना नहीं चाहता।

ज्ञानोपासनाके द्वारा उत्कृष्ट प्रेमसे भगवान्‌की प्राप्तिकी चाह करना इसका भूखसे रोना है। अत्यन्त प्रेम ही भगवान्‌के लिये क्षुधाका वास्तविक रूप है, यही सच्ची चाह है, इससे भगवान् अवश्य मिलते हैं; यथा—

निगम अगम साहेब सुगम राम साँचिली चाह ।
अंबु असन अवलोकियत सुलभ सबै जग माह ॥
(दोहावली ८०)

तथा—

रामहि केवल प्रेम पियारा । जानि लेउ जो जाननिहारा ॥
(रामचरितमानस अयो० १३६)

उत्कृष्ट चाहपर जब यह आनन्दनिधि भगवान्‌को पाता है, तब इसे अत्यन्त सुख होता है। तत्क्रतुन्यायसे वही अवस्था इसकी नित्य रहती है, यह उसी परमानन्दमय अवस्थामें सदा रहता है, फिर कभी संसारमें नहीं आता; यथा—

स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते ॥
(छान्दो० ८ । १५ । १)

अर्थात् आयुकी समाप्तितक इस प्रकार बर्तता हुआ (अन्तमें) वह निश्चय ही ब्रह्मको प्राप्त होता है, फिर नहीं लौटता, फिर नहीं लौटता।

स्त्रियोंके लिये कर्तव्यशिक्षा और पातिव्रत्यका प्रभाव

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[गताङ्कसे आगे]

भगवान् श्रीकृष्ण श्रीनन्दरायजीसे स्त्रियोंका आदर्श सदाचार बतलाते हुए कहते हैं—

सा शुद्धा प्रातरुत्थाय नमस्कृत्य पतिं सुरम् ।
प्राङ्गणे मङ्गलं दद्याद् गोमयेन जलेन च ॥
गृहकृत्यं च कृत्वा च स्नात्वाऽऽगत्य गृहं सती ।
सुरं विप्रं पतिं नत्वा पूजयेद् गृहदेवताम् ॥
गृहकृत्यं सुनिर्वर्त्य भोजयित्वा पतिं सती ।
अतिथिं पूजयित्वा च स्वयं भुङ्क्ते सुखं सती ॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ८४ । १५–१७)

‘उस सती स्त्रीको चाहिये कि प्रातःकाल उठकर हाथ-मुँह धोकर पति एवं इष्टदेवको प्रणाम करके अपने आँगनको जलसे धोकर और गोबरसे लीपकर माङ्गलिक वस्तुओंसे सुसज्जित करे । फिर घरका कार्य करके स्नानके अनन्तर घरपर आकर देवता, ब्राह्मण और पतिको नमस्कार करके घरके देवताओंकी पूजा करे । उसके बाद घरके काम भलीभाँति करके पतिको भोजन कराके अतिथि-सेवा करे और उसके बाद स्वयं भी सुखपूर्वक भोजन करे ।’

वाराहपुराणमें यमराज नारदमुनिसे पतिव्रताका प्रभाव बतलाते हुए कहते हैं—

एकदृष्टिरेकमना भर्तुर्वचनकारिणी ।
तस्या बिभीमहे सर्वे ये तथान्ये तपोधन ॥
(वाराह० २०९ । ६)

‘हे तपोधन नारदजी ! जो पतिव्रता एकमात्र अपने पतिमें ही दृष्टि और मनको लगाये रहती है तथा उसीकी आज्ञाका पालन करती है, उससे हम (यमराज) तथा और जो दूसरे हैं, वे सब डरते रहते हैं ।’

देवानामपि सा साध्वी पूज्या परमशोभना ।
भर्त्रा चाभिहिता यापि न प्रत्याख्यायिनी भवेत् ॥
(वाराह० २०९ । ७)

‘वह परम शोभना पतिव्रता साध्वी स्त्री देवताओंके द्वारा भी पूजा करनेके योग्य है, जो पतिके द्वारा अपमानित की जानेपर भी उनको प्रत्युत्तर नहीं देती ।’

एवं या तु भवेन्नित्यं भर्तुः प्रियहिते रता ॥
अनुवेष्टनभावेन भर्त्तारमनुगच्छति ।
सा तु मृत्युमुखद्वारं न गच्छेद् ब्रह्मसम्भव ॥
(वाराह० २०९ । ११-१२)

‘इस प्रकार जो नित्यप्रति पतिके प्रिय कार्य और हितमें लगी रहती है तथा उनकी अनुचरीके भावसे पतिके साथ-साथ चलती है, हे ब्रह्मपुत्र ! वह यमराजके मुखद्वारको नहीं देखती ।’

एष माता पिता बन्धुरेष मे दैवतं परम् ।
एवं शुश्रूषते या तु सा मां विजयते सदा ॥
(वाराह० २०९ । १३)

‘जो सती स्त्री ऐसा समझकर कि ये पतिदेव ही मेरे माता, पिता, बन्धु हैं, ये ही मेरे परमदेव हैं, उनकी सेवा करती है, वह सदा मुझ (यमराज) को जीत लेती है ।’

पतिव्रता तु या साध्वी तस्यां चाहं कृताञ्जलिः ।
भर्त्तारमनुध्यायन्ती भर्त्तारमनुगच्छती ॥
भर्त्तारमनुशोचन्ती मृत्युद्वारं न पश्यति ।
(वाराह० २०९ । १४-१५)

‘जो साध्वी पतिव्रता स्त्री है, उसके सामने मैं हाथ जोड़े रहता हूँ । जो अपने पतिका ही ध्यान करती है और पतिके ही पीछे चलती है, पतिके हितकी चिन्ता करती रहती है, वह यमराजके द्वारको नहीं देखती ।’

स्नान्ती च तिष्ठती वापि कुर्वन्ती वा प्रसाधनम् ॥
नान्यं या मनसा पश्येन्मृत्युद्वारं न पश्यति ।
(वाराह० २०९ । १५,१७)

‘जो स्नान करती हुई, खड़ी हुई या शृङ्गार करती हुई अपने पतिको छोड़कर किसी दूसरेकी ओर मनसे भी नहीं देखती, वह यमराजका द्वार नहीं देखती ।’

चक्षुर्देहश्च भावश्च यस्या नित्यं सुसंवृतम् ॥
शौचाचारसमायुक्ता सापि मृत्युं न पश्यति ।
(वाराह० २०९ । १७-१८)

‘जिसके नेत्र, शरीर और भाव सदा ही भलीभाँति ढँके

हुए रहते हैं, जो शौचाचारसे सम्पन्न रहती है, वह भी यमराजका दर्शन नहीं करती ।’

भर्तुर्मुखं प्रपश्येद् या भर्तुश्चित्तानुसारिणी ॥
वर्त्तते च हिते भर्तुर्मृत्युद्वारं न पश्यति ।
(वाराह० २०९ । १८-१९)

‘जो स्त्री पतिका मुख देखती रहती है, जो पतिके मनके अनुकूल चलती है, जो पतिके हितमें बर्तती है, वह यमराजके द्वारको नहीं देखती ।’

पतिव्रता नारीके पातिव्रत्यके प्रभावसे उसे तथा उसके पतिको भी मृत्युका भय नहीं रहता । उसके तेजसे समस्त देवता भय मानते हैं । पतिव्रताकी शक्ति बड़ी विलक्षण होती है । श्रीकृष्णभगवान् नन्दरायजीसे कहते हैं—

नास्ति तेषां कर्मभोगः सतीनां व्रततेजसाम् ।
तया सार्धं च निष्कर्मी मोदते हरिमन्दिरे ॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ८३ । १२२)

‘पातिव्रत्यके तेजसे विभूषित उन सती स्त्रियोंके लिये कर्मोंका फल भोगना शेष नहीं रहता, बल्कि उनका पति भी कर्मसंस्कारोंसे रहित होकर उसीके साथ भगवान्के परम धाममें सुखपूर्वक निवास करता है ।’

पृथिव्यां यानि तीर्थानि सतीपादेषु तान्यपि ।
तेजश्च सर्वदेवानां मुनीनां च सतीषु च ॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ८३ । १२३)

‘पृथ्वीमें जितने भी तीर्थ हैं, वे सब-के-सब सती स्त्रियोंके चरणोंमें विराजमान रहते हैं तथा समस्त देवताओंका और मुनियोंका तेज भी सती स्त्रियोंमें रहता है ।’

तपस्विनां तपः सर्वं व्रतिनां यत् फलं व्रज ।
दाने फलं यद् दातॄणां तत् सर्वं तासु सम्मतम् ॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ८३ । १२४)

‘हे व्रजेश्वर ! तपस्वियोंका सम्पूर्ण तप, व्रत करनेवालोंका समस्त फल तथा दान देनेका जो फल दान देनेवालोंको मिलता है, वह सब उनको सदा मिलता रहता है ।’

स्वयं नारायणः शम्भुर्विधाता जगतामपि ।
सुराः सर्वे च मुनयो भीतास्ताभ्यश्च संततम् ॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ८३ । १२५)

‘स्वयं नारायण, जगत्स्रष्टा ब्रह्मा और शिव तथा समस्त देवता और मुनिजन (पतिव्रताओंका अप्रिय करनेमें) सदा उनसे डरते रहते हैं ।’

सतीनां पादरजसा सद्यः पूता वसुन्धरा ।
पतिव्रतां नमस्कृत्वा मुच्यते पातकान्नरः ॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ८३ । १२६)

‘सतियोंकी चरणधूलिसे पृथ्वी तत्काल पवित्र हो जाती है । (पापी) मनुष्य पतिव्रता स्त्रीको प्रणाम करके पापोंसे छूट जाता है ।’

सतीनां च पतिः साधुः पुत्रो निश्शङ्क एव च ।
न हि तस्य भयं किञ्चिद् देवेभ्यश्च यमादपि ॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ८३ । १२८)

‘सती स्त्रियोंका पति साधु-स्वभाववाला हो जाता है, उनका पुत्र भी निर्भय हो जाता है । उसको देवताओंसे या स्वयं यमराजसे भी कुछ भय नहीं रहता ।’

इस विषयमें पतिव्रता सावित्रीका आख्यान प्रसिद्ध ही है । अतः उसका अनुशीलन करना चाहिये ।

मद्रदेशमें अश्वपति नामके एक बड़े ही धार्मिक और ब्राह्मणसेवी राजा थे । वे अत्यन्त उदार-हृदय, सत्यनिष्ठ, जितेन्द्रिय, दानी, चतुर, पुरवासी और देशवासियोंके प्रिय, समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले और क्षमाशील थे । उनके सावित्री देवीकी उपासना करनेपर सावित्रीकी कृपासे एक कन्या हुई, जिसका नाम ब्राह्मणों और राजाने ‘सावित्री’ रक्खा । सावित्रीको युवती देखकर उसके गुणोंके अनुरूप कोई वर न मिलनेपर राजा अश्वपतिने एक दिन उससे कहा—‘बेटी ! तू अपने योग्य वरको स्वयं ही खोज ले ।’ क्योंकि धर्मशास्त्रकी आज्ञा है कि विवाहके योग्य हो जानेपर जो कन्यादान नहीं करता, वह पिता निन्दनीय है; ऋतुकालमें जो स्त्री-समागम नहीं करता, वह पति निन्दाका पात्र है और पतिके मर जानेपर उस विधवा माताकी सेवा और जो पालन नहीं करता, वह पुत्र निन्दनीय है । अतः तू शीघ्र ही वरकी खोज कर ले ।’ पुत्रीसे यों कहकर उन्होंने अपने बूढ़े मन्त्रियोंको आज्ञा दी कि ‘आपलोग सवारी लेकर सावित्रीके साथ जायँ ।’

तपस्विनी सावित्रीने कुछ सकुचाते हुए पिताकी आज्ञा स्वीकार की और उनके चरणोंमें नमस्कार करके सोनेके रथमें चढ़कर बूढ़े मन्त्रियोंके साथ वरकी खोज करनेके लिये चल दी । वह राजर्षियोंके रमणीय तपोवनोंमें गयी और उन माननीय वृद्ध पुरुषोंके चरणोंकी वन्दना करके फिर क्रमशः अन्य सब वनोंमें भी विचरती रही ।

एक दिन मद्रराज अश्वपति अपनी सभामें बैठे हुए

देवर्षि नारदसे बातें कर रहे थे, उसी समय मन्त्रियोंके सहित सावित्री समस्त तीर्थोंमें विचरकर अपने पिताके घर पहुँची। उसने पिताजी तथा नारदजीको भी प्रणाम किया। उसे देखकर नारदजीने पूछा—'राजन्! यह युवती हो गयी है, फिर भी आप इसका विवाह क्यों नहीं करते?' अश्वपतिने कहा—'इसे मैंने वर खोज लेनेके लिये ही भेजा था और यह आज ही लौटी है। आप इसीसे पूछिये, इसने किसको चुना है।' फिर पिताके यह कहनेपर कि तू अपना वृत्तान्त सुना, सावित्रीने कहा—'शाल्व देशके राजा द्युमत्सेन राज्य छिन जानेसे वनमें तपस्या कर रहे हैं, उनके कुमार सत्यवान् मेरे अनुरूप हैं और मैंने मनसे उन्हींको अपने पतिरूपसे वरण किया है।'

राजाने नारदजीसे पूछा—'राजकुमार सत्यवान् तेजस्वी, बुद्धिमान्, क्षमावान् और शूरवीर तो है न?' नारदजी बोले—'वह द्युमत्सेनका पुत्र सूर्यके समान तेजस्वी, बृहस्पतिके समान बुद्धिमान्, इन्द्रके समान वीर, पृथ्वीके समान क्षमाशील, रन्तिदेवके समान दाता, उशीनरके पुत्र शिबिके समान (शरणगतरक्षक), ब्रह्मण्य और सत्यवादी, ययातिके समान उदार, चन्द्रमाके समान प्रियदर्शन और अश्विनीकुमारोंके समान अद्वितीय रूपवान् है। वह जितेन्द्रिय, मृदुलस्वभाव, शूरवीर, मिलनसार, ईर्ष्याहीन, लज्जाशील और तेजस्वी है।' अश्वपतिने कहा—'आप उसे सभी गुणोंसे सम्पन्न बता रहे हैं; यदि उसमें कोई दोष हों तो वे भी बताइये।' नारदजी बोले—'उसमें एक दोष है, जिससे उसके सारे गुण दबे हुए हैं। वह दोष यह है कि आजसे ठीक एक वर्ष बीतनेपर सत्यवान् देह त्याग देगा।'

तब राजाने सावित्रीसे कहा 'बेटी! तू पुनः जाकर दूसरे वरकी खोज कर।' इसपर सावित्री बोली—'पिताजी! भाई-भाईके हिस्सेका बँटवारा एक बार ही होता है, कन्यादान एक बार ही किया जाता है और 'मैंने दिया' ऐसा संकल्प भी एक बार ही होता है। ये तीन बातें एक-एक बार ही हुआ करती हैं। अब तो जिसे मैंने एक बार वरण कर लिया—वह दीर्घायु हो अथवा अल्पायु तथा गुणवान् हो अथवा गुणहीन—वही मेरा पति होगा, किसी अन्य पुरुषको मैं नहीं वर सकती। पहले मनसे निश्चय करके फिर वाणीसे कहा जाता है और उसके बाद कर्मद्वारा किया जाता है। अतः इसमें मेरे लिये मेरा मन ही प्रमाण है।'*

नारदजी बोले—'राजन्! सावित्रीकी बुद्धि निश्चयात्मिका है। इसे किसी भी प्रकार इस धर्मसे विचलित नहीं किया जा सकता। अतः इसका सत्यवान्के साथ विवाह कर देना ही ठीक जँचता है।' यह कहकर नारदजी चले गये।

नारदजीकी आज्ञा मानकर राजा अश्वपति वैवाहिक सामग्री तथा ब्राह्मणोंको साथ लेकर कन्याके सहित राजा द्युमत्सेनके आश्रममें गये। वहाँ उन्होंने नेत्रहीन राजा द्युमत्सेनको सालवृक्षके नीचे कुशासनपर बैठे देखा और उनकी यथायोग्य पूजा की तथा विनीत शब्दोंमें अपना परिचय दिया। राजा द्युमत्सेनने अर्घ्य और आसनादिसे राजाका सत्कार किया और पूछा—'कहिये; किस निमित्तसे पधारनेकी कृपा की?' तब अश्वपतिने कहा—'राजर्षे! मेरी यह सावित्री नामकी रूपवती कन्या है, इसे आप धर्मानुसार पुत्रवधूके रूपमें स्वीकार कीजिये।'

द्युमत्सेनने कहा—'हम राज्यसे भ्रष्ट हो चुके हैं और यहाँ वनमें रहकर संयमपूर्वक तपस्वियोंका जीवन व्यतीत करते हैं। आपकी कन्या तो यह सब कष्ट सहन करने योग्य है नहीं।' अश्वपति बोले—'राजन्! सुख-दुःख तो आने-जानेवाले हैं, इस बातको मैं और मेरी पुत्री दोनों जानते हैं। मैं तो सब प्रकार निश्चय करके ही आपके पास आया हूँ।'

तब राजा द्युमत्सेनने उनकी बात स्वीकार कर ली और आश्रमके सब ब्राह्मणोंको बुलाकर दोनों राजाओंने विधिवत् विवाह-संस्कार कराया। राजा अश्वपतिने वर-कन्याको आभूषण आदि भी दिये। फिर राजा अश्वपति बड़े आनन्दसे अपने भवनको लौट आये। उस सर्वगुणसम्पन्ना भार्याको पाकर सत्यवान्को बड़ी प्रसन्नता हुई और अपना मनमाना वर पाकर सावित्रीको भी बड़ा आनन्द हुआ।

पिताके चले जानेपर सावित्रीने सब वस्त्राभूषण उतार दिये और वल्कल वस्त्र पहन लिये। उसकी सेवा, गुण, विनय, संयम और सबके मनके अनुसार काम करनेसे सभीको बहुत संतोष हुआ। उसने सेवा और वस्त्राभूषणोंके

---

* सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ॥
दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा ।
सकृद् वृतो मया भर्त्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम् ॥
मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते ।
क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः ॥
(महा० वन० २९४ । २६-२८)

द्वारा सासको और देवताके समान सत्कार करते हुए अपनी वाणीका संयम करके ससुरजीको संतुष्ट किया। इसी प्रकार मधुर भाषण, कार्यकुशलता, शान्ति और सेवा करके पतिदेवको प्रसन्न किया। इस प्रकार वह उन सबकी सेवा करने लगी।

जब बहुत दिन बीत गये, तब अन्तमें वह समय भी आ गया, जिस दिन सत्यवान् मरनेवाला था। जब चार दिन शेष रह गये, तब सावित्रीने तीन दिनका व्रत किया और चौथे दिन सूर्योदयके साथ ही सब आह्निक कृत्य समाप्त किया तथा सभी ब्राह्मण, बड़े-बूढ़े, सास और ससुरको प्रणाम किया। जब सत्यवान् कंधेपर कुल्हाड़ी रखकर वनसे समिधा लानेके लिये तैयार हुआ, तब सावित्रीने कहा—'आज मैं भी आपके साथ चलूँगी।' सत्यवान् बोला—'प्रिये! तुम उपवासके कारण भूखी हो और वनका रास्ता बड़ा कठिन होता है।' सावित्रीने कहा—'उपवासके कारण मुझे थकान नहीं है, मेरे मनमें उत्साह है।' सत्यवान् बोला—'अच्छा, यदि तुम्हें चलनेका उत्साह है तो चल सकती हो; किंतु माताजी और पिताजीकी आज्ञा ले लो।'

तब सावित्रीने अपने सास-ससुरको प्रणाम करके कहा—'मेरे स्वामी वनमें जा रहे हैं। यदि आपलोग आज्ञा दें तो आज मैं भी इनके साथ जाना चाहती हूँ।' इसपर द्युमत्सेन बोले—'जबसे तू हमारे आश्रममें आयी है, तबसे मुझे तुम्हारे किसी भी बातके लिये याचना करनेका स्मरण नहीं है। अतः बेटी! तू जा सकती है।' इस प्रकार सास-ससुरकी आज्ञा पाकर सावित्री अपने पति सत्यवान्के साथ चल दी।

वीर सत्यवान्ने पहले तो अपनी पत्नीके सहित फल बीनकर एक टोकरी भर ली और फिर वह लकड़ियाँ काटने लगा। उस समय श्रमके कारण उसके सिरमें दर्द हो गया। उसने सावित्रीके पास जाकर कहा—'मेरे सिरमें दर्द हो रहा है, सारे शरीरमें दाह-सा होता है; अतः मैं सोना चाहता हूँ।' यह सुनकर सावित्री पतिके पास आयी और उसका सिर गोदीमें रखकर पृथ्वीपर बैठ गयी। इतनेमें ही उसने वहाँ सूर्यके समान तेजस्वी, मुकुटधारी, श्यामशरीर, लाल वस्त्र पहने और हाथमें पाश लिये हुए एक पुरुषको देखा। सावित्री पतिका सिर जमीनपर रखकर खड़ी हो गयी और बोली—'आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं?'

यमराजने कहा—'सावित्री! मैं यमराज हूँ। तेरे पतिकी आयु समाप्त हो चुकी है, अतः मैं इसे ले जाऊँगा।' सावित्री बोली—'भगवन्! मनुष्योंको लेनेके लिये तो आपके दूत आया करते हैं। यहाँ स्वयं आप ही कैसे पधारे?' यमराजने कहा—'सत्यवान् धर्मात्मा और गुणोंका समुद्र है। यह मेरे दूतोंद्वारा ले जाये जाने योग्य नहीं है। इसीसे मैं स्वयं आया हूँ।'

इसके बाद यमराजने सत्यवान्के शरीरसे अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाले सूक्ष्मशरीरधारी जीवात्माको निकालकर पाशमें बाँधा और दक्षिणकी ओर चल दिये। तब सावित्री भी उनके पीछे-पीछे चली। यह देखकर यमराजने कहा—'सावित्री! तू लौट जा और इसका और्ध्वदेहिक संस्कार कर। तू पति-सेवाके ऋणसे मुक्त हो गयी है।' सावित्री बोली—'मेरे पतिदेव जहाँ जायँगे, वहीं मुझे भी जाना चाहिये, यही सनातन धर्म है। तपस्या, गुरुभक्ति, पतिप्रेम, व्रताचरण और आपकी कृपासे मेरी गति कहीं भी नहीं रुक सकती।'

यमराज बोले—'सावित्री! तेरी युक्तियुक्त बात सुनकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तू सत्यवान्के जीवनके सिवा कोई भी वर माँग ले।' सावित्रीने कहा—'मेरे ससुर राज्यभ्रष्ट होकर वनमें रहते हैं और उनकी आँखें भी जाती रही हैं। वे आपकी कृपासे नेत्र प्राप्त करें तथा बलवान् और तेजस्वी हो जायँ।' यमराज बोले—'सावित्री! तूने जो कुछ कहा है, वैसा ही होगा। अब तू लौट जा, जिससे तुझे विशेष श्रम न हो।' सावित्रीने कहा—'पतिदेवके समीप रहते हुए मुझे श्रम कैसे हो सकता है। जहाँ मेरे प्राणनाथ रहेंगे, वहीं मैं रहूँगी। इसके सिवा एक बात यह है कि सत्पुरुषोंका तो एक बारका समागम भी अत्यन्त अभीष्ट होता है, उससे भी बढ़कर उनके साथ प्रेम हो जाना है। संत-समागम निष्फल कभी नहीं होता, अतः सर्वदा सत्पुरुषोंके ही साथ रहना चाहिये।'

यमराज बोले—'सावित्री! तूने जो हितकी बात कही है वह मुझे बड़ी अच्छी लगती है। अतः इस सत्यवान्के जीवनके सिवा तू दूसरा वर और माँग ले।' सावित्रीने कहा—'मेरे ससुरजीका राज्य छीन लिया गया है, वह उन्हें स्वयं ही प्राप्त हो जाय और वे अपने धर्मपर डटे रहें।' यमराज बोले—'ऐसा ही होगा, अब तू लौट जा।' सावित्रीने कहा—'देव! इस सारी प्रजाका आप नियमन

करते हैं, इसीसे आप यम कहे जाते हैं तथा मन, वचन और कर्मसे समस्त प्राणियोंके प्रति अद्रोह, सबपर कृपा करना और दान देना—यह सत्पुरुषोंका सनातन धर्म है ।'

यमराज बोले—'कल्याणी ! तेरी बात मुझे बड़ी प्रिय लगती है । तू सत्यवान्के जीवनके सिवा तीसरा अभीष्ट वर और माँग ले ।' सावित्रीने कहा—'मेरे पिता राजा अश्वपति पुत्रहीन हैं, उनके सौ औरस पुत्र हों ।' यमराज बोले—'तेरे पिताके सौ पुत्र होंगे; अब तू लौट जा, बहुत दूर आ चुकी है ।' सावित्रीने कहा—''पतिदेवकी सन्निधिके कारण मुझे कुछ भी दूरी नहीं जान पड़ती। आप शत्रु-मित्रादिके भेदभावको छोड़कर सबका समानरूपसे न्याय करते हैं, इसीसे सब प्रजा धर्मका आचरण करती है और आप 'धर्मराज' कहलाते हैं । इसके सिवा, सुहृद् होनेके कारण सत्पुरुषोंके प्रति लोग अपनेसे भी अधिक विश्वास और प्रेम करते हैं ।''

यमराज बोले—'सावित्री ! तूने जैसी बात कही है, वैसी मैंने तेरे सिवा और किसीके मुँहसे नहीं सुनी । इससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ । तू सत्यवान्के जीवनके सिवा कोई भी चौथा वर माँग ले ।' सावित्रीने कहा—'सत्यवान्के द्वारा मेरे सौ औरस पुत्र हों ।' यमराज बोले—'तेरे भी सौ पुत्र होंगे । राजपुत्री ! अब तू लौट जा ।' तब सावित्रीने कहा—'सत्पुरुषोंकी वृत्ति निरन्तर धर्ममें ही लगी रहती है, वे कभी दुःखित या व्यथित नहीं होते तथा यह सनातन सदाचार सत्पुरुषोंद्वारा सेवित है—यह जानकर सत्पुरुष परोपकार करते हैं और प्रत्युपकारकी ओर कभी दृष्टि नहीं डालते ।'

यमराज बोले—'पतिव्रते ! जैसे-जैसे तू मुझे गम्भीर अर्थसे युक्त एवं चित्तको प्रिय लगनेवाली धर्मानुकूल बातें सुनाती जाती है, वैसे-वैसे ही तेरे प्रति मेरी अधिकाधिक श्रद्धा होती जाती है । अब तू मुझसे कोई अनुपम वर माँग ले ।' सावित्रीने कहा—'देव ! आपने मुझे जो पुत्र-प्राप्तिका वर दिया है, वह बिना दाम्पत्यधर्मके पूर्ण नहीं हो सकता । अतः अब यही वर माँगती हूँ कि मेरे पतिदेव जीवित हो जायँ; क्योंकि पतिके बिना मैं जीवित रहना भी नहीं चाहती । आपने ही मुझे सौ पुत्र होनेका वर दिया है और फिर भी आप मेरे पतिदेवको लिये जा रहे हैं ! अतः मैं जो यह वर माँग रही हूँ कि सत्यवान् जीवित हो जायँ, इसे देनेसे ही आपका वचन सत्य होगा ।'

यह सुनकर सूर्यपुत्र यम बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने 'तथास्तु' कहते हुए सत्यवान्का बन्धन खोल दिया और कहा—'यह जीवित होकर सर्वथा नीरोग हो जायगा और तेरे साथ चार सौ वर्षतक जीवित रहेगा ।' इस प्रकार सावित्रीको वर देकर धर्मराज अपने लोकको चले गये ।

फिर सावित्रीने सत्यवान्के पास आकर उसका सिर अपनी गोदमें रख लिया । थोड़ी ही देरमें सत्यवान् उठ खड़ा हुआ और बोला—'मैं बड़ी देरीतक सोया रहा । यह काले रंगका मनुष्य कौन था, जो मुझे लिये जाता था ?' सावित्रीने कहा—'वे श्यामवर्णके पुरुष प्रजाका नियमन करनेवाले यमराज थे, अब वे अपने लोकको चले गये हैं । सूर्य अस्त हो चुका है और रात्रि गाढ़ी होती जा रही है । इसलिये ये सब बातें फिर सुनाऊँगी । इस समय तो आश्रमपर चलकर माता-पिताके दर्शन कीजिये ।'

सत्यवान्ने उत्तर दिया—'ठीक है; चलो । मेरा शरीर अब स्वस्थ है; किंतु मुझे इस समय अपने अन्ध पिताकी और माताकी जितनी चिन्ता हो रही है, उतनी अपने शरीरकी भी नहीं है । मेरे परम पूज्य पवित्रतम माता-पिता मेरे लिये आज कितना संताप सह रहे होंगे । जबतक मेरे माता-पिता जीवित हैं, तभीतक मैं भी जीवन धारण किये हूँ ।' पतिकी बात सुनकर सावित्री सत्यवान्को साथ लेकर आश्रमकी ओर चल पड़ी ।

इसी बीचमें द्युमत्सेनको दृष्टि प्राप्त हो गयी और उन्हें सब वस्तुएँ दिखायी देने लगीं । पुत्रके न आनेसे उन्हें बड़ी चिन्ता हुई और रानी शैब्याके सहित वे उसे सब आश्रमोंमें घूम-घूमकर देखने लगे । तब आश्रमवासी सब ब्राह्मणोंने उन्हें धीरज बँधाया और उन्हें उनके आश्रमपर ले जाकर समझाया। इसके कुछ देर बाद सत्यवान्के सहित सावित्री आ गयी । उन्हें देखकर ब्राह्मणोंने कहा—'लो, राजन् ! तुम्हें पुत्र मिल गया और नेत्र भी प्राप्त हो गये ।' फिर ब्राह्मणोंने सत्यवान्से पूछा—'तुमने इतनी रात कैसे कर दी ? ऐसी क्या अड़चन आ गयी थी ?'

सत्यवान्ने कहा—'मैं पिताजीकी आज्ञा लेकर सावित्रीके सहित वनमें गया था । वहाँ जंगलमें लकड़ी काटते-काटते मेरे सिरमें दर्द हो गया । उस वेदनाके कारण ही मैं बहुत देरतक सोया रहा । इसीसे आनेमें देर हो गयी ।' तब गौतम बोले—'सत्यवान् ! तुम्हारे पिता द्युमत्सेनको आज अकस्मात्

दृष्टि प्राप्त हो गयी है । तुम्हें वास्तविक कारणका पता नहीं है, ये सब बातें तो सावित्री बता सकती है ।' फिर उन्होंने सावित्रीसे कहा—'सावित्री ! तुझे हम प्रभावमें साक्षात् सावित्री (ब्रह्माणी) के समान समझते हैं, तुझे भूत-भविष्यकी बातोंका भी ज्ञान है । तू देर होनेका कारण हमें सुना ।'

सावित्री बोली—'श्रीनारदजीने मुझे यह बता दिया था कि अमुक दिन तेरे पतिकी मृत्यु होगी । वह दिन आज आया था, इसीसे मैंने इन्हें वनमें अकेले नहीं जाने दिया । जब ये सिरदर्दके कारण सोये हुए थे, तब साक्षात् यमराज आये और इन्हें बाँधकर दक्षिण दिशाकी ओर ले चले । मैंने सत्य और प्रिय वचनोंसे उन देवश्रेष्ठकी स्तुति की । इसपर इन्होंने मुझे पाँच वर दिये; ससुरजीको नेत्र और राज्य प्राप्त हों—दो वर तो ये थे; मेरे पिताजीके सौ पुत्र उत्पन्न हों और मेरे भी सौ पुत्र हों—दो ये थे तथा पाँचवें वरके अनुसार मेरे पतिदेवको जीवन और चार सौ वर्षकी आयु प्राप्त हुई । पतिदेवकी जीवनप्राप्तिके लिये ही मैंने यह व्रत किया था ।'

ऋषियोंने कहा—'साध्वी ! तू सुशीला, व्रतशीला और पवित्र आचरणवाली है । राजा द्युमत्सेनका दुःखाक्रान्त परिवार आज अन्धकारमय गड्ढेमें डूबा जाता था, तूने उसे बचा लिया ।' इसके बाद सब अपने-अपने आश्रमोंमें चले गये ।

दूसरे दिन शाल्वदेशके राजकर्मचारियोंने आकर द्युमत्सेनसे कहा—'वहाँ जो राजा था, उसे उसीके मन्त्रीने मार डाला है तथा उसके किसी सहायक और स्वजनको भी जीवित नहीं छोड़ा है । शत्रुकी सारी सेना भाग गयी है और सारी प्रजाने आपके विषयमें एकमत होकर यह निश्चय किया है कि वे ही हमारे राजा होंगे । आपका मङ्गल हो, अब आप प्रस्थान करनेकी कृपा कीजिये । नगरमें आपकी जय घोषित कर दी गयी है ।'

फिर राजा द्युमत्सेनको नेत्रयुक्त और स्वस्थशरीर देखकर उन सभीके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे और उन्होंने उनको सिर झुकाकर प्रणाम किया । राजाने आश्रममें रहनेवाले वृद्ध ब्राह्मणोंको अभिवादन किया और उनसे सत्कृत हो अपनी राजधानीको चल दिये । वहाँ पहुँचनेपर पुरोहितोंने बड़ी प्रसन्नतासे द्युमत्सेनका राज्याभिषेक किया और उनके पुत्र महात्मा सत्यवान्‌को युवराज बनाया । इसके बहुत समय बाद सावित्रीके सौ पुत्र हुए, जो संग्राममें पीठ न दिखानेवाले और यशकी वृद्धि करनेवाले शूरवीर थे । इसी प्रकार मद्रराज अश्वपतिकी रानी मालवीके गर्भसे भी सावित्रीके वैसे ही सौ भाई हुए । इस प्रकार सावित्रीने अपनेको तथा माता-पिता, सास-ससुर और पतिके कुल—इन सभीको संकटसे उबार लिया ।

पतिव्रता सावित्रीकी कथा महाभारतके वनपर्वके २९३वें से २९९वें अध्यायतक विस्तारसे कही गयी है । यहाँ उसे संक्षेपसे लिखा गया है ।

इस इतिहासमें सुहागिन माता-बहिनोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि पति और सास-ससुरकी विशेषरूपसे सेवा करें । पति-सेवाकी महिमा बतलाते हुए और्वमुनि अपनी कन्यासे कहते हैं—

स्वकान्तश्च परो बन्धुरिह लोके परत्र च ।
न हि कान्तात्परः प्रेयान् कुलस्त्रीणां परो गुरुः ॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० २४ । ३४)

'कुलीन स्त्रियोंके लिये इस लोकमें और परलोकमें भी अपना पति ही परम बन्धु है; क्योंकि उनके लिये पतिसे बढ़कर न तो कोई प्रियतम है और न कोई परम गुरु ही है ।'

देवपूजाव्रतदानं तपश्चानशनं जपः ।
स्नानं च सर्वतीर्थेषु दीक्षा सर्वमखेषु च ॥
प्रादक्षिण्यं पृथिव्याश्च ब्राह्मणातिथिसेवनम् ।
सर्वाणि पतिसेवायाः कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० २४ । ३५-३६)

'देवोंका पूजन, व्रत, दान, तप, उपवास, जप, समस्त तीर्थोंका स्नान तथा समस्त यज्ञोंकी दीक्षा और सम्पूर्ण पृथ्वीकी प्रदक्षिणा एवं ब्राह्मण और अतिथियोंकी सेवा—ये सब-के-सब मिलकर भी पतिसेवाकी सोलहवीं कलाकी बराबरी नहीं कर सकते ।'

पतिसेवा परो धर्मः सर्वशास्त्रेषु पठ्यते ।
स्वप्रज्ञानेन सततं कान्तं नारायणाधिकम् ॥
दृष्ट्वा तच्चरणाम्भोजसेवां नित्यं करिष्यति ।

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० २४ । ३७-३८)

'स्त्रियोंके लिये समस्त शास्त्रोंमें पतिसेवा ही परमधर्म बतलाया जाता है । जो सती स्त्री होगी, वह अपने पतिको अपने विचारसे नारायणसे भी अधिक समझकर उसके चरणकमलोंकी सेवा नित्य-निरन्तर किया करेगी ।'

परिहासेन कोपेन भ्रमेणावज्ञया मुने ।
कटूक्तिं स्वामिनः साक्षात् परोक्षाच्च करिष्यति ॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्णजन्म० २४ । ३९)

श्रीनारायणने नारदजीसे कहा—'मुने ! पतिव्रता स्त्री अपने स्वामीके सामने अथवा परोक्षमें परिहाससे, क्रोधसे, भ्रमसे या अवज्ञापूर्वक कभी भी कठोर वचन नहीं कहेगी ।'

जिस स्त्रीका पति विदेशमें हो उसे शृङ्गार, खेल-तमाशा, हँसी-मजाक आदि नहीं करना चाहिये । श्रीयाज्ञवल्क्यजीने भी कहा है—

क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम् ।
हास्यं परगृहे यानं त्यजेत् प्रोषितभर्तृका ॥
(१ । ८४)

'जिसका पति विदेशमें हो, उसे खेल, शरीरका शृङ्गार, सामाजिक उत्सवोंका दर्शन, परिहास और दूसरेके घरमें जाना—इनका त्याग कर देना चाहिये ।'

व्यासस्मृतिमें भी बतलाया है—

विवर्णा दीनवदना देहसंस्कारवर्जिता ।
पतिव्रता निराहारा शोष्यते प्रोषिते पतौ ॥
(२ । ५१-५२)

'पति परदेशमें हो तो स्त्री शरीरके शृङ्गार आदि संस्कार न करे, मुखको उदास रक्खे, उबटन आदिसे वदनको कान्तियुक्त न बनाये और पतिके प्रति एक निष्ठा रक्खे तथा निराहार रहकर अपने शरीरको सुखा डाले ।'

परदेश जाते समय पतिका कर्तव्य है कि—

विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत् कार्यवान्नरः ।
अवृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत् स्थितिमत्यपि ॥
(मनु० ९ । ७४)

'कर्तव्यपरायण पुरुष पत्नीको पोषणयोग्य वृत्ति देकर विदेश जाय; क्योंकि जीविकाका साधन नहीं रहनेपर मर्यादामें स्थित हुई स्त्री भी (आपत्तिके कारण) दूषित हो सकती है ।'

इसलिये पुरुषोंको **विदेश** जाते समय अपनी स्त्रीके निर्वाहके लिये भोजन-वस्त्र आदिका प्रबन्ध करके ही जाना चाहिये । यदि पति ऐसा न करके ही चला जाय तो फिर स्त्रीको न्यायोचित शिल्प (कारीगरी) के कार्योंद्वारा अपना जीवननिर्वाह करना चाहिये ।

श्रीमनुने भी कहा है—

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता ।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥
(९ । ७५)

'निर्वाहयोग्य वृत्ति देकर जबतक पति विदेशमें रहे तबतक स्त्री नियमपूर्वक अपना निर्वाह करे और यदि पति जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध किये बिना ही परदेश चला जाय तो स्त्री सीना-पिरोना आदि अनिन्दित शिल्प (कारीगरी) के कार्योंसे अपना निर्वाह करे ।'

इस विषयमें दमयन्तीका उपाख्यान आदर्श है । दमयन्तीने वनमें पतिके द्वारा निराधार त्याग दी जानेपर भी अपने धर्मकी रक्षा की, बहुत कष्टपूर्वक अपना जीवन दासीका काम करके बिताया । इसलिये आपत्तिकालमें स्त्रियोंको दमयन्तीकी भाँति अपना जीवन बिताना चाहिये । उसमें पाँच बातें बहुत अलौकिक थीं, जो कि अनुकरणीय हैं । एक तो वह प्रतिज्ञामें बड़ी दृढ़ थी; राजा नलके साथ विवाह करनेकी प्रतिज्ञा करनेके कारण उसने देवताओंकी भी अवहेलना कर दी । दूसरे, उसने भारी आपत्ति पड़नेपर भी पतिके सङ्गका त्याग नहीं किया, पतिके संकेत करनेपर भी अपने पिता राजा भीमके यहाँ नहीं गयी तथा पतिसङ्गके लिये पिताके राज्य-ऐश्वर्यकी अवहेलना करके वनके घोर क्लेशोंको सहन किया । तीसरे, पतिव्रतधर्ममें उसकी ऐसी अलौकिक निष्ठा थी कि अपनेपर अश्लील दृष्टि डालनेवाले व्याधको पातिव्रत्यके प्रभावसे क्षणमें भस्म कर दिया । चौथे, उसमें ऐसी महान् तितिक्षा थी कि आपत्तिकालमें भी उसने मौसीके यहाँ अपना परिचय नहीं देकर दासीका काम किया तथा पतिसे विछोह होनेपर भी बिना बुलाये वह माता-पिताके यहाँ भी नहीं गयी, बल्कि भारी कष्टोंका सामना करके रही । पाँचवें, उसका पतिमें ऐसा अलौकिक और अद्भुत प्रेम था कि पतिके विरहमें व्याकुल होकर उसने पतिको खोज लानेके लिये कूटनीतिको भी काममें लिया ।

ये तो प्रधान-प्रधान बातें हैं । इनके सिवा उसमें और भी अनेक गुण थे, जिनको उसके चरित्रसे ग्रहण करना चाहिये । महाभारतके वनपर्वमें ५२वेंसे ७८वें अध्यायतक नल-दमयन्तीका उपाख्यान बड़े विस्तारसे कहा गया है । विस्तार देखना चाहें तो वहाँ देख सकते हैं । यहाँ उसका सारमात्र लिखा गया है । (शेष आगे)

* * *

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(६१)

उस समयकी बात है जब गोपेन्द्र नन्दका व्रजपुर बृहद्वनमें बसा था। श्रीकृष्णचन्द्र वृन्दाकानन नहीं पधारे थे। कलिन्दकन्याके उस पार ही लीला-रसका प्रवाह सीमित था। पुर-सुन्दरियोंके प्राङ्गणमें ही वे खेला करते थे। स्वभावमें चञ्चलता अवश्य आ चुकी थी।

अचानक एक दिन जब भुवनभास्कर वृक्षोंसे ऊपर उठ आये थे—वे खेलते हुए अपने गोष्ठमें जा पहुँचे। वहाँ अभी गोदोहन समाप्त नहीं हुआ था। पंक्तिबद्ध गायोंके थनोंसे क्षरित दुग्धका 'घर-घर' नाद उन्हें आकर्षित करने लगा। कौतूहलभरी दृष्टिसे देखते हुए वे दूर—बहुत दूरतक चले गये। एक वृद्ध गोप गाय दुह रहा था। साथ ही मंद-मंद स्वरमें उनके ही बालचरितके गीत उसके कण्ठ-निर्झरसे झर-से रहे थे। पर अब गाय सहसा चिहुँक उठी। नीलसुन्दरको देखकर हम्बारव करने लग गयी। वृद्ध गोपने भी पीछेकी ओर दृष्टि डाली। नन्दनन्दन उसे भी दीख गये। फिर तो गोदोहन हो सके, यह सम्भव ही कहाँ था। बस, निर्निमेष नयनोंसे वह नन्दनन्दनकी ओर देखता ही रह गया।

यह गोप व्रजराजका बालसखा है। ब्याह इसने किया नहीं। आजीवन नन्दरायके साथ ही इसके दिन बीते तथा व्रजेशने भी आदर्श प्रेम निभाया। मित्रके रूपमें तो क्या, सदा अपने ज्येष्ठ भ्राताके समान ही वे इसे सम्मानका दान करते आये हैं। पर नन्दनन्दनके जन्म-दिनसे ही यह अर्द्धविक्षिप्त-सा रहने लगा था और व्रजेन्द्रको इसकी स्नेहोचित चिन्ता-सी लग गयी थी। गोसेवाके कार्य तो इसके द्वारा ज्यों-के-त्यों सम्पन्न हो जाते थे। पर इसके अतिरिक्त उसे अपने शरीरका भान नहीं-सा ही है, ऐसा ही लगता था। अस्तु, नन्दनन्दन उसीके पास आकर बैठ गये। इतना ही नहीं, अपने हस्तकमलोंसे उसके स्कन्ध एवं चिबुकका स्पर्श कर बोले—'ताऊ! मुझे भी दुहना सिखा दो।'

वृद्धके कर्णपुटोंमें पीयूषकी धारा बह चली। श्रीकृष्णचन्द्रके इस मधुभरे कण्ठस्वरका उन्मादी प्रभाव देखने ही योग्य था। दूधसे आधी भरी हुई दोहनी हाथोंसे छूटकर पृथ्वीपर जा गिरी तथा नन्दनन्दनको भुजपाशमें बाँधकर वह गोप बेसुध हो गया। और जब चेतना आयी—कहना कठिन है कि बाह्य दृष्टिमें दो ही क्षण बीतनेपर भी सचमुच वह कितने समयके पश्चात् जागा—उस समय भी उसकी प्रेमविवश आँखें झर रही थीं तथा श्रीकृष्णचन्द्र अपनी छोटी-छोटी अँगुलियोंसे उसके नेत्र पोंछते हुए कह रहे थे—'क्यों ताऊ! मुझे नहीं सिखा दोगे?'

किंतु आज तो अबतक सभी गौएँ दुही जा चुकी थीं। गोपके ध्यानमें एक भी गाय दुहनेको अवशिष्ट नहीं। गोदोहनकी शिक्षा आज सम्भव नहीं। गद्गद कण्ठसे गोपने कहा—'मेरे लाल! कल सिखा दूँगा।' अब भला, श्रीकृष्णचन्द्रके उल्लासका कहना ही क्या था! आनन्द-विह्वल-से हुए वे बोल उठे—'ताऊ! बाबाकी सौंह है, कल अवश्य सिखला देना, भला! मेरे आनेतक कम-से-कम एक गाय बिना दुहे अवश्य रखना।' गोपने नीलसुन्दरके इस प्रेमिल आदेशका कोई उत्तर न दिया। उसकी वाणी अश्रुके आवेशमें रुद्ध थी। स्थिर पलकोंसे वह देख रहा था अपने प्राणधन नन्दनन्दनकी ओर ही। श्रीकृष्णचन्द्र पुनः बोले—'ताऊ! अब तो मैं सयाना हो गया! अपनी गायें अपने आप दुह लूँगा!' गोप प्रस्तरमूर्तिकी भाँति निश्चल रहकर सुनता जा रहा था और श्रीकृष्णचन्द्र तनिक-सा रुककर फिर कहने लगे—'अच्छा, ताऊ! आज संध्याको सिखा दो तो कैसा रहे?' अब तो वृद्ध गोपके प्राण बरबस मचल-से उठे नीलसुन्दरके इस प्रस्तावका उत्तर दे देनेके लिये। किंतु ओह! उमड़े हुए स्नेहाश्रुको भेदकर वाणी कण्ठसे बाहर आ जो नहीं पाती थी। विचित्र-सी दशा हो गयी उसकी। इतनेमें व्रजराजनन्दनने चटपट स्वयं ही अपना समाधान कर लिया, वे बोल उठे—'नहीं ताऊ! सायंकाल तो मैया आने नहीं देगी, कल ही सिखा देना। कल तुम गोशाला दुहने जब आओ तो मुझे पुकार लेना।'—यह कहकर वे कुछ सोचने-से लग गये तथा फिर बोले—'नहीं, पुकारनेकी आवश्यकता नहीं, मैं अपने-आप ही आ जाऊँगा; पर तुम भूलना मत, ताऊ!'—इस बार अपनी सारी शक्ति बटोरकर गोपने उन्हें पुचकार मात्र दिया। पुचकारके द्वारा ही उसने सिखा देनेकी स्वीकृति दे दी और श्रीकृष्णचन्द्र अत्यन्त उल्लसित होकर लौट आये—

धेनु दुहत देखत हरि ग्वाल।
आपुन बैठि गए तिनके ढिग, सिखवौ मोहि कहत गोपाल॥

कालि देहौ गोदोहन सिखवै, आज दुहीं सब गाय ।
भोर दुहौ जिन नंद दुहाई, उन सों कहत सुनाय सुनाय ॥
बड़ो भयो अब दुहत रहौंगो, आप आपनी धेनु निबेर ।
सूरदास प्रभु कहत सीख दै मोहि लीजिये टेर ॥

इसके दूसरे दिन; जितना शीघ्र सम्भव हो सका, वे उस गोपके समीप पहुँचे । आज उनके साथ बलराम भी थे । आते ही उन्होंने गोपकी दोहनी थाम ली और बड़ी उत्सुकतासे बोले—‘चलो, ताऊ, गाय कहाँ है ? सिखा दो ।’—तथा अग्रज श्रीरोहिणीनन्दन भी अपने अनुजका अनुमोदन करने लगे—‘हाँ हाँ, ताऊ, इसे आज अवश्य सिखा दो ।’

वृद्धका रोम-रोम एक अभिनव विशुद्ध स्नेहावेशसे पूरित हो उठा । नीलसुन्दरको अपने स्निग्ध हृदयसे लगा लिया उसने, मानो वात्सल्यमसृण हृदयकी प्रथम भेंट समर्पण कर दी । तदनन्तर उसने उनके हस्तकमलोंमें एक छोटी-सी दोहनी दे दी । नीलसुन्दर भी उसी गोपका अनुकरण करते हुए दुहनेकी मुद्रामें गायके थनके पास जा बैठे । गोपकी शिक्षा आरम्भ हुई । श्रीकृष्णचन्द्रकी अँगुलियोंको अपनी अँगुलियोंमें धारणकर उसने थनको दबाना सिखाया । थनसे दुग्ध तो तभी क्षरित होने लगा था, जिस क्षण श्रीकृष्णचन्द्र गायके समीप आकर बैठे मात्र थे । और अब तो दूधकी धारा बड़े वेगसे निकलने लगी थी । अवश्य ही वह दोहनीमें न गिरकर गिर रही थी कभी तो नीलसुन्दरके उदर-देशपर और कभी पृथ्वीपर । बड़ी तत्परतासे वे दोहनीको कभी पृथ्वीपर रख देते, कभी घुटनोंमें दबा लेते तथा इस चञ्चल प्रयासमें एक-दो धार दोहनीमें गिरती, एक-दो नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंका अभिषेक करती तथा एक दो धरतीपर बिखर जा रही थी । फिर भी कुछ दूध तो दोहनीमें एकत्र होकर ही रहा । श्रीकृष्णचन्द्रके हर्षका पार नहीं । दोहनी लेकर वे उठ खड़े हुए । नाच-नाचकर वे अपने दाऊ दादाको यह दिखा रहे थे—‘देखो, मैं दुहना सीख गया ।’

इसके पश्चात् क्रमशः दिवस-रजनीका अवसान होकर पुनः प्रभात हुआ, तीस घड़ीके अनन्तर जब श्रीकृष्णचन्द्रकी दैनन्दिनी लीलाका आरम्भ होने चला, प्रातः समीरका स्पर्श पाकर जननीने उन्हें जगाया और वे जागे तो उस समय जननीका अञ्चल धारण कर मचल उठे—

दे मैया री दोहनी, दुहि लाऊँ गैया ।
माखन खाय बल भयो, ताहि नंद दुहैया ॥
सेंदुर काजरि धूमरी धौरि मेरी गैया ।
दुहि लाऊँ तुरतहि तबै, मोहि कर दे धैया ॥
ग्वालनके सँग दुहत हौं, बूझौ बल भैया ।
सूर निरखि जननी हँसी, तब लेत बलैया ॥

व्रजरानीने समझाया, शत-शत मनुहारके द्वारा अपने नीलमणिको आप्यायित करके इस गोदोहनके प्रस्तावको भुला देनेकी चेष्टा की, ‘अरे मेरा नीलमणि तो अभी निरा अबोध शिशु है, किसी गायने दुहते समय लात मार दी तो ?’—इस भावनासे भयभीत हुई जननीने बहुत कुछ कहा, किंतु हठीले मोहन बात पकड़ लेनेपर छोड़ना जानते जो नहीं । बाध्य होकर जननीने अन्तिम निर्णय यह दिया—‘मेरे प्राणधन नीलमणि ! पहले अच्छी तरह बाबाके पास जाकर दुहना सीख ले, तब मैं दोहनी दूँगी और तब तू दूध दुह लाना !’ ठीक है, बाबाकी शिक्षा भी सही ! श्रीकृष्णचन्द्र व्रजेन्द्रके समीप चले आये, उनसे बारंबार हठ करने लगे—

बाबा जू ! मोहि दुहन सिखावौ ।
गाय एक सूधी सी मिलवौ, हौहुँ दुहौं बलदाउ दुहाऔ ॥

महाराज नन्दने किसी शुभ मुहूर्तमें सिखा देनेका वचन दिया । पर इतना धैर्य नन्दलाडिलेमें कहाँ । वे तो गोदोहन करेंगे, और इसी दिन, इसी समय करेंगे । आखिर उपनन्दके परामर्शसे यह निश्चित हुआ कि नारायणका स्मरण करके नीलमणिकी साध पूरी कर दी जाय । अस्तु, श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय उमंगमें भरकर जननीके पास दोहनी लेने आये—

तनक कनक की दोहनी मोहि दे री मैया ।
तात दुहन सिखवन कह्यौ मोहि धौरी गया ॥

मुखचन्द्रपर स्वेदकण झलमल कर रहे थे एवं नेत्र-सरोजोंमें भरी थी दोहनी लेकर गोष्ठमें पहुँच जानेकी त्वरा । जननीने अञ्चलसे मुख पोंछा, हृदयसे लगाया, फिर छोटी सुवर्णकी दोहनी हाथमें दे दी और स्वयं साथ चल पड़ीं । उनके पीछे यूथ-की-यूथ व्रजपुरसुन्दरियाँ एकत्र हो गयीं—नीलसुन्दरकी गोदोहनलीला देखनेके लिये । जो हो, अपने इष्टदेव नारायणका स्मरण करके व्रजेन्द्रने पुत्रका सिर सूँघा और फिर गोदोहनकी शिक्षा—शिक्षाका अभिनय सम्पन्न हुआ । गोपेन्द्रतनय गौ दुहने बैठे —

हरि बिसमासन बठि कै मृदुकर थन लीनो ।
धार अटपटी देखि कै व्रजपति हँसि दीनो ॥

गृह गृह ते आयीं देखन सब ब्रज की नारी ।
सकुचत सब मन हरि लियो हँसि घोषबिहारी ॥

उस दिन व्रजेशके आदेशसे नन्दप्रासाद सजाया गया था । मङ्गलगान, मङ्गलवाद्यसे सम्पूर्ण व्रजपुर नादित होने लगा था । मणिदीपोंसे उद्भासित हुई व्रजपुरकी वह रजनी दिन-सा बन गयी थी ।

इस प्रकार चार-पाँच दिनोंके लिये बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रकी क्रीड़ामन्दाकिनीका यह नवीन स्रोत प्रसरित होता रहा । पर सहसा मानो उनके अद्भुत शैशवकी चञ्चल लहरियोंने, नवनीत-हरणलीलाके प्रबल प्रवाहने इसे आत्मसात् कर लिया और वे इस गोदोहनके खेलको कुछ समयके लिये भूल-से गये, इस ओर उनका आकर्षण नहीं रहा । अचिन्त्य लीलामहाशक्तिने उद्देश्यविशेषसे—आगे पौगण्ड आ जानेपर उनकी गोचारणलीलाकी भूमिका प्रस्तुत करनेके लिये—इसपर एक क्षणिक आवरण डाल दिया ।

अस्तु, यह हुआ बृहद्वनमें विराजित रहते हुए व्रजराजकुमारकी उल्लासमयी गोदोहनक्रीड़ाका एक संक्षिप्त चित्र । और अब इस समय तो वे वृन्दावनविहारी हैं । उनकी आयुका प्रवाह भी आगेकी ओर बढ़कर कौमारकी सीमाको पार कर चुका है, वे पौगण्डवयस्में अवस्थित हैं । तदनुरूप ही मेधा एवं बलका विकास हो चुका है । वक्षःस्थल पहलेकी अपेक्षा विस्तीर्ण हो चुका है । नेत्रसरोजोंमें एवं महामरकतश्याम शरीरके समस्त अवयवोंमें पौगण्डोचित चिह्न स्पष्ट परिलक्षित होने लगे हैं । स्वभावका सूक्ष्म परिवर्तन भी स्वयं व्रजमहाराज्ञी यशोदा मैयासे छिपा न रह सका । उस दिनकी बात है, श्रीअभिनन्दपत्नी आकर मैयासे बोलीं—

कृष्णमातरद्य सद्यः प्रातरेव कुत्र वा भवज्जातः प्रयातः ।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'कृष्णजननि ! आज अत्यन्त प्रातःकाल ही आपके लाल कहाँ चले गये ?'

इसका उत्तर मैयाने हँस-हँसकर यह दिया—

हन्त ! तदेतद् वर्तमानसमयपर्यन्तं तस्योद्वर्तनस्नानपरिधानमयानि कर्माणि मया निर्मीयन्ते स्म । सम्प्रति मदपि लज्जामासज्जन् स्वकसवयः सेवकप्रियः पृथगेव कृततत्तत्क्रियः स मा समया समायाति । आगत्य च प्रत्यहं मां पितरं यथायथमितरं च गुरुजनं पुरुगौरवं नमस्कारेण पुरस्करोति । किञ्च तदवधि यदा संध्यायां मया ध्यायमानागमनः सहवत्सः समागच्छति तदा तदुपरि वारि वारत्रयं भ्रामयित्वा पिबन्ती जीवन्ती भवामि स्म । सम्प्रति तु सशपथमेधमानयत्नवता तत्प्रतिषेधता तेन मम हस्तौ विहस्तौ क्रियेते । एवमेव रौहिणेयश्चेति ।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'अजी ! क्या कहूँ, अबतक तो उसके उबटन, स्नान, वस्त्रपरिधान आदि कार्योंको मैं स्वयं अपने हाथों किया करती थी । पर इधर वह मुझसे भी लजाने लगा है । और इस कारण सेवकोंसे बहुत ही हिल-मिल गया है, तथा सखाओंके साथ जाकर अलग ही इन नित्यकर्मोंका समाधान कर लेनेके अनन्तर निश्चित समयपर मेरे पास आता है । आकर प्रतिदिन ही मुझे, अपने बाबाको तथा यथायोग्य अन्य गुरुजनोंको अतिशय गम्भीरतापूर्वक प्रणाम करके सम्मानित करता है । इतना ही नहीं, और सुनो, पहले तो यह बात थी—संध्या होने लगती, मैं उसके वनसे लौटनेकी प्रतीक्षामें रहती और जब गोवत्सोंके साथ वह आ जाता, तब उसपर तीन बार जल औंछकर पी लेती तथा मुझमें नवजीवनका सञ्चार हो जाता । किंतु अब तो वह मुझे शपथ दे डालता है, उत्तरोत्तर अनेकों उपाय रचकर ऐसा करनेसे रोक देता है; उसके द्वारा मेरे दोनों हाथ इस क्रियाके लिये अक्षम कर दिये जाते हैं और मैं वह सञ्जीवन जल पी नहीं पाती ! तथा ठीक यही दशा रोहिणीनन्दन बलरामकी हो गयी है ।'

जननीका यह उत्तर सुनकर अभिनन्दपत्नी तथा वहाँ उपस्थित अन्य पुरवनिताएँ हँसने लगीं । इधर व्रजेशकी दृष्टि भी श्रीकृष्णचन्द्रमें आयी हुई इन अस्फुट संकोचवृत्तियोंको भाँप लेती है । एक दिन राजसभामें मन्द-मन्द हँसते हुए वे भी सन्नन्द एवं नन्दनसे बोले—

भो ! आयुष्मन्तावद्यजात इव युष्मद्भ्रातृजातः स यथा सम्प्रति युवां प्रति वर्तते न तथा मामिति लक्ष्यते । यतः किञ्चित्सङ्कुचितविलोचनेन मामवलोचन्नालोच्यते । युवाभ्यां सह तु मधुरवार्त्तां वर्त्तयन्नेव दृश्यते ।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'मेरे आयुष्मान् लघु भ्राताओ ! तुम्हारे बड़े भाईका यह पुत्र (श्रीकृष्णचन्द्र)—सच पूछो तो—ऐसा ही लगता है कि मानो आज ही उत्पन्न हुआ हो । पर देखो सही, आजकल तुम दोनोंके प्रति जैसी उसकी निर्बाध चेष्टाएँ

होती हैं, वैसी अब मेरे प्रति नहीं—ऐसा प्रतीत हो रहा है । क्योंकि जब वह मेरे समक्ष आता है, तब उसके नेत्रोंमें कुछ संकोच भरा होता है, किञ्चित् संकुचित नेत्रोंसे ही वह मेरी ओर देखता है । पर तुम दोनोंके साथ तो वह अभी भी उसी प्रकार मधुर वार्ता—मीठी बातें करता रहता है—मैं ऐसा ही देखता हूँ ।'

व्रजेन्द्रकी यह उक्ति गोपसदस्योंको हर्षोत्फुल्ल बना देती है । नीलसुन्दरके दोनों पितृव्य (चाचा) तो उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगते हैं । सब सुन लेनेके अनन्तर व्रजराजने पुनः प्रेममसृण स्वरमें कहना आरम्भ किया—'भैया सन्नन्द एवं नन्दन ! अहो ! परसोंकी ही तो बात है । तुम दोनों जा रहे थे एवं तुम्हारे पीछे थे राम-श्याम । जब मेरे उन दोनों पुत्रोंने यह देख लिया कि अब एकान्त है, तब तुमसे प्रार्थना-सी करने लगे । अहा ! उनकी सुन्दर आँखोंमें दीनता भरी थी और वे दोनों बार-बार—प्रातःसे आरम्भकर न जाने कितनी बार—तुमसे कुछ निवेदन-सा कर रहे थे । मैं बहुत दूरसे चारों ओर घूम-घूमकर उन दोनोंको देख रहा था । वह क्या बात थी हो ! बताओ तो सही—

भवन्तावेकान्तमनुभवन्तावनुगम्य तौ रम्यकातराक्षिप्रान्तावसकृत् प्रातरारभ्य प्रार्थितवन्तावित ह्यः पूर्वेऽहनि समन्ताद्भ्रातरावतिदूराददृक्षाताम्; तत्किमुच्यताम् ?

(श्रीगोपालचम्पूः)

तथा लघुभ्राता श्रीनन्दनगोपने भी व्रजराजकी इस जिज्ञासाका समाधान इस प्रकार किया—

तदानीमेवेति किं वक्तव्यम् । किंतु चिरादेव तयोस्तदभिरुचितमुपचितमस्ति । सङ्कुचितभावाभ्यामावाभ्यां तु भवत्सु न श्रावितम् ।

'यह केवल उस समयकी ही बात थोड़े है, यह तो उन दोनोंकी चिरकालीन लालसा है, जो निरन्तर बढ़कर दृढ़-दृढ़तर हो चुकी है । हम दोनोंको ही संकोच घेर लेता और इसीलिये आपको अबतक सूचित न कर सके ।'

फिर तो महाराज नन्दने स्पष्टतया जान लेना चाहा तथा उपयुक्त अवसर देखकर श्रीसन्नन्दने भी मन्द-मन्द मुसकाकर बात खोल दी—

स्वयमेव गवां सेवनमिति यत् ।

'और तो क्या, वे दोनों समस्त गायोंकी सेवा स्वयं ही करना चाहते हैं ।'

परम गम्भीर उपनन्दजीके पूछनेपर सन्नन्दने इतना और कह दिया कि राम-श्याम कहते हैं—

आवयोः प्रथमवयोऽतीतयोस्तातचरणानां स्वयं गोचारणमनाचारतामाचरतीति ।

'अब जब हम दोनोंकी प्रथम आयु—कौमारका अवसान हो चुका है, तब स्वयं पितृचरणोंके द्वारा गोचारणका कार्य सम्पादित होते रहना अनुचित है ।'

अपने पुत्रोंकी यह भावना सुनकर व्रजेशका मुख विस्मयसे पूर्ण हो उठता है । वे कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं देते, मौन हो जाते हैं; किंतु उपस्थित गोपसमाज उल्लासमें भरकर कहने लग जाता है—

यद्यप्यद्यजाताविव सुजातावमू तथापि क्रमं विना बुद्धिनिष्क्रमस्य बलसम्वलनस्य च सद्भावादस्माकं विस्मापकावेव भवतः । इतस्तु न विस्मायकौ भवतस्तपःप्रभाव एव खल्वेवं भावमावहतीति । न खलु तत्तत्खलानां यत्परिमलनं जातं तत्र सहायतानां सहायता काचिदपि परिचिता । तस्मान्मङ्गलमेव सङ्गतं भविष्यतीति ।

'व्रजराज ! यद्यपि ये दोनों सुकुमार बालक सचमुच लगते तो ऐसे हैं कि मानो आज ही इनका जन्म हुआ है, फिर भी इनमें—क्रमशः नहीं, विना किसी क्रमके ही—कुछ ऐसी विलक्षण बुद्धि उत्पन्न हो गयी है, इतने बलका सञ्चार हो गया है कि ये दोनों हम सभीको आश्चर्यमें भर दे रहे हैं । एक दृष्टिसे तो यह बात है । उधर पुनः विचारनेपर इनको लेकर कोई आश्चर्य भी नहीं होता; क्योंकि निश्चितरूपसे यह तो आपके तपका ही प्रभाव है जो ऐसा सम्भव हो गया है । देखिये न, उन-उन दुष्ट राक्षसोंका जो संहार हुआ है, उसमें इन अगणित साथियोंकी कोई भी सहायता ली गयी हो, यह बात भी नहीं है । इसलिये आगे भी मङ्गलके ही दर्शन होंगे ।'

यह कहकर गोपमण्डलने नीलसुन्दरके प्रस्तावका प्रकारान्तरसे अनुमोदन कर दिया । अवश्य ही गोपराज तो मौन ही रहे । इसके दो-तीन दिन पश्चात् महाराजने एकान्तमें व्रजरानीसे भी इस प्रस्तावपर मन्त्रणा की; पर व्रजदम्पतिका वात्सल्य-रस-यन्त्रित हृदय इसे सहजमें ही स्वीकार कर ले,

यह कहाँ सम्भव है । दोनोंने मिलकर यही स्थिर किया कि अवसरविशेषकी प्रतीक्षा की जाय—

निजगृहिण्यापि सह रहसि श्रीव्रजराजस्य स एष प्रस्तावविशेष आसीत् । यत्र च तौ पुत्रप्रेमयन्त्रिततया तदेतन्सन्त्रितवन्तौ । पश्यामः समयविशेषमिति ।

किंतु श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिको अब इसमें अधिक विलम्ब अपेक्षित नहीं है । अतएव उन्होंने तो उपक्रम कर ही दिया—सर्वथा स्वाभाविक ढंगसे ही । जिस असंख्य गोवत्सराशिका सञ्चारण आरम्भ हुआ था, नन्दलाल वत्सपाल बनकर गोपशिशुओंके साथ वनमें जिसे ले जाया करते थे, वह वत्सश्रेणी अबतक अधिकांशमें नवप्रसूता गौएँ जो बन चुकी है । उनकी सेवा-शुश्रूषा, दोहन आदि कार्य तो राम-श्यामके द्वारा ही सम्पन्न होते हैं । भला, जिसने अपने शैशवमें नीलसुन्दरके करपल्लवोंसे चयन किये हुए हरित सुकोमल तृणराजिका ग्रास पाया है, जिसके अङ्ग सदा सम्मार्जित होते आये हैं नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके हस्तकमलोंसे ही, जिसका अबतक सतत संवर्द्धन हुआ है व्रजेशतनयके रसमय संरक्षणमें ही, मूकवाणी व्यक्त न कर सके, इससे क्या—पर जिसके अन्तस्तलमें व्रजराजकुमारके द्वारा पाये हुए प्यारकी असंख्य स्मृतियाँ सुरक्षित हैं—वह वत्सराशि आज अपने प्रथम यौवनके उन्मेषमें स्वयं भी वत्स प्रसव करनेपर श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त किसी अन्य गोपकी सेवा स्वीकार कर ले, यह भी कभी सम्भव है ? उन-उन नवप्रसूता गायोंने किसी गोपसेवकको अपने शरीरका स्पर्शतक करने नहीं दिया है । अपने पार्श्वमें किसी भी गोपको देखते ही वे बिझुक जातीं । तथा जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र आये कि 'हम्बारव'से गोष्ठको निनादित करने लगतीं, उनके थनसे दूध बरसने लगता, दोहनी नीचे रख भर देनेकी बात थी, क्षणोंमें वह कण्ठतक पूरित हो जाती और फिर एक सुन्दर धवल प्रवाह नीचेकी ओर बह चलता । सुरभि-थनमें इतना दुग्ध कहाँसे सञ्चित हो जाता—इसे कौन बताये । और वह अभी-अभी व्रजपुरमें भूमिष्ठ हुआ वत्स भी तो भूल जाता अपनी जननीको । वह तो सरल भोली चितवनसे केवल नीलसुन्दरकी ओर देखता रहता । अपने करपल्लवमें वत्सका मुख लेकर नन्दलाल उसे थनसे सटा देते, फिर भी वह दृष्टि फेर लेता, नन्दलाड़िलेके श्यामल अङ्गोंमें ही उसकी आँखें उलझी रहतीं । यदि अघटन-घटन-पटीयसी योगमायाके अञ्चलकी छाया यथासमय उनकी स्मृतिको आवृत न कर लेती तो कोई वत्सतर अपनी जननीका स्तनरस पान कर सके, यह नवीन धेनुसमूह श्रीकृष्णचन्द्रका संग त्याग सके—यह सर्वथा असम्भव है । जो हो, इस प्रकार इनकी सेवा तो एकमात्र राम-श्यामके द्वारा ही होने लगी है । इन्हें तृणदान आदिका भार रोहिणीनन्दन रामपर है और दोहनकी क्रिया सम्पन्न होती है नीलसुन्दरके द्वारा । कौमारका वह गोदोहन-खेल—लीलासुरधुनीका वह सुन्दर स्रोत इतने कालतक मूलके विभिन्न प्रवाहोंमें ही विलीन रहकर अब पुनः पृथक् होकर प्रसरित होने लगा है—व्रजेशका ध्यान आकर्षित करनेके लिये, उन्हें सूचित कर देनेके लिये कि 'व्रजेश्वर ! अब विलम्ब मत करो, नीलसुन्दरकी योग्यताका इससे अधिक प्रमाण और क्या चाहते हो ? अपने संरक्षणमें अवस्थित इस अपार नवीन गोधनका तनिक-सा भी बिझुके बिना ही दोहनकर्म समाधान कर लेनेकी कलामें निज तनय नीलमणिकी निपुणता देख लो । अब क्यों नहीं इन्हें अपने राजकुलके अधिकृत समस्त गोधनके ही संरक्षणका भार सौंप देते ? लीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रकी अभिलाषा पूर्ण हो जाती !'—पर व्रजराजके श्रीकृष्णरसभावित प्राणोंमें तो झङ्कृति है—पश्यामः समयविशेषम्—'अवसरविशेषकी बाट देखें ।' वे गोपोंसे सुनते हैं, स्वयं देखते भी हैं, अनुभव करते हैं—'सचमुच मेरे पुत्रकी योग्यता—गोसंरक्षणकी कुशलता गोपवंशकी परम्परामें अद्वितीय ही है ।' फिर भी उनका वात्सल्यपरिभावित हृदय विलम्ब करनेमें ही रस ले रहा है और इसलिये वे इस प्रश्नपर मौन ही रह जाते हैं ।

आखिर सीमा आ गयी, लीलाशक्तिका निर्धारित क्रम सामने जो आ गया । अबतक श्रीकृष्णचन्द्र वन जाते थे उन अपने अधिकृत नवीन गोधनको लेकर ही । उनमें कुछ गोवत्स थे, कुछ प्रथम प्रसवोन्मुख थीं और अधिकांश थीं नवीन वत्सवती । गोवत्स इसलिये कि समय-समयपर मुक्तस्तन्य वत्स श्रीकृष्णचन्द्रके संरक्षणमें सम्मिलित होते आये हैं । और वत्सवती तो श्रीकृष्णचन्द्रका संरक्षण परित्याग करनेसे रही । गोपरक्षकोंने अथक चेष्टा की कि भले ही गोष्ठमें इनकी सेवा राम-श्याम कर लें, गोदोहन आदि भी वे ही करें; पर इनका सञ्चारणकार्य तो हम सबोंके ही द्वारा हो, ये सब भी वयस्क गोधनकी टोलीमें ही परिगणित हो जायँ । किंतु वे सर्वथा असफल रहे । ये गायें किसी भी

परिस्थितिमें श्रीकृष्णचन्द्रके बिना वन जानेको प्रस्तुत न हुईं। अतएव सदासे आया हुआ दो विभाग अबतक चलता ही रहा। गोपरक्षक अपने अधिकृत व्रजेशके अपार गोधनका सञ्चारण करते एवं श्रीकृष्णचन्द्र उसीके अंशभूत अपने अधिकृत गो-गोवत्समिश्रित समूहका। अस्तु, आज सहसा प्रातःकाल एक विशेष घटना घटी। उपक्रम तो कल ही हुआ था, आज सबोंने प्रत्यक्ष देख लिया। वनसे लौटते हुए कल गोचारकवर्गके दोनों ही दल मिल गये। अन्यथा इससे पूर्व रक्षकोंका वर्ग तो श्रीकृष्णचन्द्रसे पूर्व ही प्रस्थान कर जाता एवं श्रीकृष्णचन्द्र लौटते थे उस वर्गके गोष्ठमें प्रविष्ट होनेके अनन्तर। विगत संध्याके समय गोपरक्षकोंने गायोंकी उस अभूतपूर्व प्रेमसम्पुटित आर्ति—श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति अद्भुत आकर्षणको देखा अवश्य, पर देखकर भी वे रहस्यभेद न कर सके। किंतु आज प्रातःकाल वह स्पष्ट हो गया—इस अपार समस्त गोधनराशिने वन जाना सर्वथा अस्वीकार कर दिया। वे वनकी ओर तभी चलीं जब श्रीकृष्णचन्द्र उन्हें आगे खड़े होकर पुकारने लगे। व्रजेशकी राजसभामें आज चर्चाका विषय बस एकमात्र यही था। गोपवर्गने विस्मयसे पूर्ण होकर यह सूचना व्रजेन्द्रको दे दी—

सर्वं गोजातं न तु भवज्जातमन्तरापदमपि पदः प्रददाति।
कथञ्चित्तेनैवाग्रावस्थितेनाद्य ताः प्रस्थापिताः सन्ति ॥

'व्रजराज! देख लें, समस्त गायोंकी ही यह दशा हो गयी है कि आपके पुत्रके बिना वे अब एक पद भी वनकी ओर अग्रसर नहीं होतीं। आज जब वह स्वयं उनके आगे जाकर खड़ा हो गया तब कहीं—उसकी सहायतासे ही वे किसी प्रकार वनमें भेजी जा सकी हैं।'

गोवेश सुनकर आश्चर्यसें भर गये। उन्होंने इस आकस्मिक परिवर्तनका कारण जानना चाहा। फिर तो समस्त सभासद् एक स्वरसे पुकार उठे—

भवत्पुत्रः कुत्रचिद्यत्र स्नेहं व्यञ्जयति तत्र सर्वत्र चैवं दृश्यते।

'यह तो जानी हुई बात है व्रजेश्वर! जहाँ कहीं जिसके प्रति भी आपका पुत्र प्रेम प्रदर्शित करता है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र यही परिणाम सामने आता है।'

उस दिन अनेक युक्तियोंसे गोपमण्डलने व्रजेशको समझा-बुझाकर नीलसुन्दरपर ही समस्त गोसंरक्षणका भार सौंप देनेके लिये उन्हें बाध्य कर दिया। सबकी एक ही राय, एक ही माँग थी—

तस्माद्भवताद्भवतामनुज्ञा।

'अतएव, अब आपकी आज्ञा हो जाय।'

तथा व्रजराजने भी—वाणीसे तो नहीं—अपनी हर्षभरी दृष्टिसे ही प्रस्तावका समर्थन कर दिया। उपनन्दजी तुरंत ही ज्योतिर्विदोंका परामर्श ले आये। उन सबोंने भी संनिकट योगका ही आदेश किया—'पण्डितजनोंके कर्णपुटोंके लिये सुखप्रद, मङ्गलयशपूर्ण, बुधवार श्रवण-नक्षत्र-विशिष्ट कार्तिक शुक्लपक्षकी अष्टमी गोपालनके लिये परम सुन्दर मुहूर्त है।'—

तैरपि बुधश्रवणसुखप्रदमङ्गलश्रवणसङ्गतबुधश्रवण-विशिष्टायामबहुलबाहुलाष्टम्यां बहुलापालनं बहुलमेतदिष्ट-मित्यादिष्टम्।

अस्तु, अंशुमाली जब उस दिन प्राचीको रञ्जित करने आये, क्षितिजकी ओटसे व्रजपुरके आकाशको झाँककर देखने लगे, उस अष्टमीके दिन व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके प्रथम गोचारण-महोत्सवके उपलक्ष्यमें वहाँ क्या-क्या हुआ, इसे कौन बताये। वाग्वादिनी स्वयं विथकित जो हो रही हैं। लीलादर्शीकी रसनाके अन्तरालमें हंस-वाहिनीके प्राणोंकी इतनी-सी झंकृति कोई भले ही सुन ले—'अरे! इस महा-महोत्सवका वर्णन करना चाहते हो? नहीं, नहीं कर सकोगे। सुनो, एक नहीं, इसके लिये अनेकों वक्ता चाहिये। उनमें प्रत्येक वक्ताके ही अयुत—दस सहस्र मुख हों; सभीकी आयु सर्वदा बनी रहे, कभी क्षय न हो, वे निरन्तर गाते ही रहें—तब वर्णन करनेका विचार करना भला!'

एकस्यैकस्य चेद् वक्तुर्वक्त्राणि स्युः सदायुतम्।
तदा तद् वक्तुमिच्छन्तु यद्यायुः सर्वदायुतम् ॥

इससे पूर्व नीलसुन्दरके कौमारवयस्में—शिशिर-वसंतकी सन्धिपर—होनेवाले वत्सचारण-महोत्सवकी शोभा भी निराली ही थी; प्रायः उसके कार्यक्रमका ही अनुसरण आज इस गोचारण-प्रसंगमें भी हुआ है। अट्टालिका, गृहतोरण, गृह-द्वार, अलिन्द, वीथी, चतुष्पथ—इन सबका साज-शृङ्गार एवं देवपूजन आदि शास्त्रीय कर्म भी उस पूर्वकी अनुक्रमणी-के साँचेमें ही ढले हैं; पर आजका रागरंग, पारावारविहीन आनन्दसिन्धुका यह अभूतपूर्व उद्वेलन—ओह! किसीके श्रीकृष्णचरणनखचन्द्रसे आलोकित दृगोंमें भले ही यह क्षण

भरके लिये झलमल कर उठे, पर वाणी तो इसे व्यक्त करनेसे रही ! केवल दिग्दर्शनमात्र सम्भव है—'देखो, श्रीकृष्णचन्द्र 'गोपाल' बननेके योग्य नवीन वेषभूषासे सुसज्जित हैं, उनका रक्षा-विधान सम्पन्न हुआ है, ब्राह्मण एवं गुरुजनोंके आशीर्वादसे उनके श्रीअङ्ग सिक्त हो चुके हैं, पुण्याहवाचन कर्म भी साङ्गोपाङ्ग समापित हो चुका है। व्रजरानी, श्रीरोहिणी एवं असंख्य व्रजरामाओंके द्वारा इनका वनगमनोचित नीराजनका मङ्गलकृत्य भी पूरा हो गया। अरे ! सुन लो—असंख्य पुरसुन्दरियोंके कण्ठसे निर्गत मङ्गलगानकी सुमधुर ध्वनि, दुन्दुभि, ढक्का, पटह, मृदङ्ग, मुरज, आनक, वंशी, सन्नहनी, कांस्य आदि वाद्यसमूहोंका दिग्दिगन्तव्यापी नाद; आनन्दमत्त गोपोंके, गोपबालाओंके नर्तनका झंकार— 'नन्दकुलचन्द्रकी जय ! रोहिणीनन्दन बलरामकी जय !! राम ! राम ! श्याम ! श्याम ! चिरञ्जीव ! चिरञ्जीव !' आदिका तुमुल घोष। और अब देखो, अहा ! वे चले अपने अग्रज बलरामसे संवलित श्रीमान् गोपमहेन्द्रतनय श्रीकृष्णचन्द्र गायोंके पीछे-पीछे। ओह ! कैसी अनिर्वचनीय शोभा है !

गोपालोचितनव्यवेषवलनै रक्षाविधानैर्द्विजा-
द्याशीर्भिः सुदिनादलभ्य रचनैर्व्रज्यार्हनीराजनैः।
सङ्गानान्वितवाद्यनृत्यनिकरैः शश्वज्जयाद्यारवैः
श्रीमान् गोपमहेन्द्रसूनुरगमद्रामेण धेनूरनु ॥

'ओह ! बलिहारी है श्रीकृष्णचन्द्रके इस अप्रतिम सौन्दर्यकी।

सखा साथ, बल भैया साथ। राजत रुचिर मंगली माथ ॥
बीच अछत सु कवन छबि गनौं। मोती जमे चंद मधि मनौं ॥

'अरे ! धेनुसमूहका श्रृङ्गार, चमक-दमक देखो—

गाइन की छबि नहिं कहि परै। रूप अनूप सबके हिय हरै ॥
कंचन भूषन सब के गरै। घनन घनन घंटागन करै ॥
उज्ज्वल बरन सु को है हंस। कामधेनु सब जिनकौ अंस ॥
दरपन सम तन अति दुति देत। जिन मधि हरि झाँई झुकि लेत ॥

'ओह ! केवल दो अक्षिकोणोंमें, अत्यन्त लघु युग्म कर्णरन्ध्रोंमें एक साथ दिग्दर्शनमात्र विवरणको भी सम्पूर्णतया कैसे धारण कर सकोगे। इसलिये ऊपर दृष्टि डालो, अन्तरिक्षचारी अमरवृन्दके नेत्र-गोलकोंमें समाकर देखो, वे इस समय क्या देख रहे हैं। अहा ! उनके दृगञ्चलमें अभी भी वह चित्र वर्तमान है—श्रीकृष्णचन्द्र उस अपार गोधनके समीप गये हैं। उन्होंने पाद्य आदि अर्पण करके प्रत्येककी ही अर्चना की है। तृण, यवस एवं मोदक आदिके मधुर ग्राससे सबको परितृप्त किया है। उनका स्तवन किया है, अपने कुञ्चित कुन्तलराशिमण्डित मस्तकसे उनके खुरोंका स्पर्श करके अभिवन्दना की है, उनका मानवर्द्धन किया है। अनन्तर ब्राह्मण एवं पुरोहितकुलको अपरिमित दान, दक्षिणा समर्पण करके उन्हें अक्षय आनन्दमें निमग्न कर दिया है। पितृचरण एवं गुरुजनवर्गको अपने मञ्जु-अञ्जलिपुटोंके संकेत-से उन्होंने पुरोभागमें विराजित किया है और स्वयं उनकी ओर मुखारविन्द किये अपने अग्रज बलरामके सहित अवस्थित हो रहे हैं। व्रजराजने एक मणिमय लकुटी उनके हस्तकमलमें दे दी है—

'धेनूः संनिधाय ताश्च पाद्यादिभिरर्चिता विधाय मधुरग्रासैस्तासां समग्राणां तृप्तिमाधाय तासु नतिप्रभृतिभिर्मानमुपधाय पुनश्च प्रदानदक्षिणाभिः पुरोहितादीनक्षीणानन्दान् संधाय श्रीमत्पितृचरणादीन् मञ्जुलाञ्जलिवलितमग्रतो निधाय स्थितवति साग्रजे तस्मिन्नवरजे श्रीमांस्तत्पिता व्रजराजस्तावन्मणिमयलकुटीं तत्करे घटयामास।'

'अहो ! जननी यशोदाका प्रेमावेश तो देखो ! वे पुकार रही हैं—बलराम ! बेटा ! तू नीलमणिके आगे हो जा। अरे सुबल ! तू मेरे लालके पीछे हो जा। अरे ओ श्रीदाम ! ओ सुदाम ! पुत्रो ! तुम दोनों इसके दोनों पार्श्वमें अवस्थित हो जाओ। अरे शिशुओ ! सुनते हो, देखो, तुम अपने इन आत्मीय सुहृद् नीलसुन्दरको सब ओरसे आवृत करके चलो ! इस भाँति स्नेहविह्वल मैया प्रत्येक शिशुका हाथ पकड़कर आदेश दे रही हैं, साथ ही प्रत्येकको यथायोग्य श्रीकृष्ण-सेवासम्बन्धी उन-उन कार्योंका निर्देश करके सौभाग्य दान कर रही हैं। और यह सब करते समय भी उनकी आँखें निरन्तर झर झर बरसती रहती हैं।

राम ! प्रागस्य पश्चाद्भव सुबल ! युवां श्रीलदामन् ! सुदामन् दोः पार्श्वस्थौ भवेतं दिशि विदिशि परे सन्तु चात्मीयबन्धोः इत्थं हस्ते विधृत्य प्रतिशिशु दिशती तत्र कृष्णस्य माता तत्तत्कर्माधिकारश्रियमपि ददती नेत्रनीरैरसिक्ता।

बस, इससे अधिक वाणीकी सामर्थ्य नहीं जो और कह सके।

इस प्रकार पौगण्डवयस्क बलराम एवं नीलसुन्दर वृद्ध गोपोंका अनुमोदन पाकर आज वत्सपालसे गोपाल बन ग

है। और अब वे असंख्य सखाओंके साथ गोचारण करते हुए जा रहे हैं वृन्दाकाननकी ओर । काननके उस भूभाग—वनस्थलीके प्रत्येक अंशपर ही अबसे—किसी अन्य पशुपालका नहीं—एकच्छत्र इन अनोखे गोपालका ही साम्राज्य है। और इसीलिये आज वनभूमि उनके ध्वज, वज्र, अङ्कुश आदि चिह्न-समन्वित पदाङ्कोंसे पूर्वकी अपेक्षा भी अत्यधिक समलंकृत हो रही है—

ततश्च पौगण्डवयःश्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदैर्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १५ । १)

जब पौगण्ड अवस्था आई । पसुपालन संमत दोउ भाई ॥
निज गोधन लै भ्रात समेता । सखन संग नृप कृपा निकेता ॥
बन बन धेनु चराइ प्रवीने । बृंदाबन भू पावन कीने ॥
निज पद अंकित करि जदुनंदा । महापुन्यतम छिति सुखकंदा ॥

परम भागवत श्रीमदाद्यशंकराचार्य

(लेखक—पं० श्रीगयाप्रसादजी शुक्ल, बी० ए०, एल्-एल्० बी०, एडवोकेट)

प्रस्तावना

भगवदंशभूत कुमारिल, शंकर, श्रीधर, रामानुज, मध्व, वाचस्पति, उदयन, भास्कर, जयन्त, विज्ञानभिक्षु तथा रघुनाथ प्रभृति आचार्योंमें श्रीमदाद्यशंकराचार्यका स्थान सर्वप्रथम माना जाता है—जैसे भगवत्परायणतार्थ श्रीरामानुजाचार्य शेषावतार माने जाते हैं, वैसे ही वैदिक-धर्मोद्धारक तथा अद्वैतमत-प्रवर्तक श्रीमदाद्यशंकराचार्य रुद्रावतार माने जाते हैं। समस्त संसार—विशेषतया हिंदूजाति किसी कालमें इन आचार्यसे उऋण नहीं हो सकती और यह परम कर्तव्य है कि ऐसे महापुरुषके परिचयसे प्रत्येक पुरुष अपने जीवनको पवित्र बनाये ।

जन्म

श्रीआचार्यका जन्म दक्षिण भारत, मलावारप्रान्तके कालड़ी ग्राममें नम्बूदरी ब्राह्मणकुलमें प्रायः ढाई हजार वर्ष पूर्व हुआ था—पाश्चात्त्य विद्वान् मैक्समूलर, मैकडॉनेल, कीथ प्रभृति आचार्यका जन्मकाल ईसाके अनन्तर सप्तम शताब्दीके अन्त तथा अष्टमके प्रारम्भमें रखते हैं। पाश्चात्त्य-शिक्षा-परिष्कृत भारतीय विद्वान् श्रीभाण्डारकर तथा श्रीतैलंग भी प्रायः अँगरेज विद्वानोंकी ही हाँ-में-हाँ मिलाते हैं, जो सर्वथा भ्रमात्मक तथा एकपक्षीय है। वास्तवमें उनका जन्म ईसाके बहुत पूर्व हुआ था—जैसा कि 'शंकर-विजय'-कर्ता आनन्दगिरि तथा 'शंकरदिग्विजय'के प्रणेता माधव प्रमाणित करते हैं। इन लेखकोंके मतकी पुष्टि शृंगेरि, शारदा और पुरी मठोंकी आचार्य-क्रमावली तथा उनकी गद्दीके कालसे होती है। निम्नश्लोक आचार्यजीकी महासंक्षिप्त जीवनी बतलाता है—

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित् ।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात् ॥

अर्थात् आठ वर्षकी ही अवस्थामें मुनिजीने चारों वेदोंको पढ़ लिया और बारह वर्षकी आयुमें सम्पूर्ण शास्त्रोंमें पारङ्गत हो गये, सोलह वर्षकी अवस्थामें आपने भाष्य लिख डाला तथा तैंतीसवें वर्षमें महाप्रयाण किया। परंतु इतनी सूक्ष्मतासे कार्यकी पूर्ति नहीं होती।

उपनयन और रचना

आचार्यजीका उपनयन-संस्कार तथा वेदारम्भ पाँचवें वर्षमें हुआ था। वैदिक शिक्षाके अनन्तर अध्यात्मविद्याकी शिक्षा गौडपादाचार्यशिष्य नर्मदातटस्थ गोविन्दाचार्यसे तीन,चार वर्ष ग्रहण की। गुरुसे विदा लेकर आचार्यजीने काशीमें आकर श्रीविश्वनाथजीका दर्शन किया। विश्वनाथजीने आचार्यजीको ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखनेकी आज्ञा दी। तदनुसार बदरिकाश्रममें बारह वर्षकी अवस्थासे सोलह वर्षकी अवस्थातक रहकर ब्रह्मसूत्र, गीता, प्रधान-प्रधान उपनिषद्, विष्णुसहस्रनाम तथा सनत्सुजातीयपर भाष्य लिखे तथा उपदेश-साहस्री, विवेकचूड़ामणि, आत्मबोध, मोहमुद्गर, दशश्लोकी, अपरोक्षानुभूति इत्यादि ग्रन्थोंकी रचना की।

शास्त्रार्थ तथा प्रचार

इस समय सम्पूर्ण भारतवर्षमें बौद्धोंकी दुंदुभि बज रही थी। वेदोंके निन्दकोंका प्रचण्ड वेग था। इधर स्वनामधन्य श्रीकुमारिल भट्ट बौद्धगुरुओंसे छलद्वारा विद्या प्राप्तकर उन्हें परास्त कर रहे थे। उधर अद्वितीय मीमांसक मण्डनमिश्र कर्मकाण्डपर सूर्यवत् प्रकाश डाल रहे थे।

श्रीकुमारिल भट्टने जिन बौद्ध-गुरुओंसे शिक्षा प्राप्त की थी, उन्हींको शास्त्रार्थमें हरानेके पापका प्रायश्चित्त जलती हुई धानकी भूसीपर बैठ धीरे-धीरे अपना शरीर जलाकर कर रहे थे । ऐसी स्थितिमें वैदिक धर्मके प्रचार तथा बौद्ध-मतके बहिष्कारके कार्यको सौंपनेके लिये श्रीकुमारिल भट्टने शंकराचार्यजीका ध्यान किया । आचार्यमहोदय सशिष्य-मण्डल उनसे मिलनेके हेतु प्रयागराज पधारे । जब आचार्यजीने भट्टजीको तुषानलमें अपने शरीरको होमते देखा, तब बड़ी उत्कण्ठासे उनको ऐसा करनेसे रोका । परंतु भट्टजी अपने दृढ़ संकल्पसे किंचिन्मात्र भी विचलित नहीं हुए । बल्कि महाप्रयाणके पूर्व भट्टजीने आचार्यजीसे यह अनुरोध किया कि वे उनके शिष्य मण्डनमिश्रको शास्त्रार्थ तथा बौद्धमत-बहिष्कारके निमित्त अपने साथ ले लें ।

जब भट्टजी स्वर्गको पधारे, तब आचार्यजीको मण्डन-मिश्रसे मिलनेकी तीव्र लालसा हुई । शीघ्रताके कारण वे प्रयागराजसे माहिष्मती नगरीको मण्डनमिश्रसे मिलनेके निमित्त आकाशमार्गसे चले । आनन्दगिरिने इस यात्राको निम्न रीतिसे वर्णन किया है—

ततः प्रतस्थे भगवान् प्रयागात् तं मण्डनं पण्डितमाशु जेतुम् ।
गच्छन् खसृत्या पुरमालुलोके माहिष्मतीं मण्डनमण्डितां सः ॥

आचार्यजी नगरीके एक उद्यानमें आकर ठहरे ही थे कि एक पनिहारी कुएँसे पानी लेने आयी । आचार्यने उससे मण्डनमिश्रके स्थानका पता पूछा, तब उसने इस प्रकार वर्णन किया—

जगद् ध्रुवं स्याज्जगदध्रुवं स्यात्
कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति ।
द्वारस्थनीडान्तरसंनिरुद्धा
जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः ॥
स्वतःप्रमाणं परतःप्रमाणं
कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति ।
द्वारस्थनीडान्तरसंनिरुद्धा
जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः ॥
फलप्रदं कर्म फलप्रदोऽजः
कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति ।
द्वारस्थनीडान्तरसंनिरुद्धा
जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः ॥

अर्थात् जिसके द्वारपर पिंजरेमें बंद तोता और तोती यह शास्त्रार्थ करते हों कि (१) यह संसार मिथ्या है या नित्य है (२) तथा दूसरा जोड़ा कह रहा हो कि वेद स्वयं प्रमाणरूप हैं या उनकी प्रामाणिकता किसी दूसरेपर अवलम्बित है (३) तथा तीसरा यह शास्त्रार्थ करता हो कि कर्म ही फल देनेवाला है या ईश्वर, उसको मण्डन मिश्रका गृह समझना चाहिये । यह सुनकर आचार्यजी मिश्रजीके प्रकाण्ड पाण्डित्य-की कल्पना करके चकित हुए । अस्तु, आचार्यजी तथा मिश्रजीका शास्त्रार्थ निर्धारित हुआ और ऐसे शास्त्रार्थके मध्यस्थ-पदके लिये भारतवर्षमें केवल मण्डनमिश्रकी धर्मपत्नी सरस्वती ही योग्य समझी गयी । अखिल-भारतीय विद्वान् इस शास्त्रार्थको देखने-सुननेके निमित्त एकत्रित हुए । शास्त्रार्थ सोलह दिन चला । जब मण्डन मिश्र हारते हुए प्रतीत हुए, तब सरस्वतीने कहा कि मण्डनमिश्र गृहस्थ हैं, उनको पूर्णतया पराजित करनेके हेतु उनकी अर्धाङ्गिनीसे भी आचार्यजीको शास्त्रार्थ करना होगा । यह कहकर सरस्वती देवीने आचार्यजीसे कामशास्त्र-विषयक विवाद प्रारम्भ कर दिया । संन्यासी शङ्कर इस विषयमें अनभिज्ञ थे । उन्होंने छः मासका अवकाश माँगा, जो दिया गया । संन्यासी होते हुए आचार्यजी गृहस्थ-धर्ममें अनधिकारी थे । इससे समाधि लगाकर छः मासके लिये उन्होंने मृत राजा अमरुके शरीरमें अपनी आत्माका प्रवेश कराया और इस कालमें काम-शास्त्र-मर्मज्ञता प्राप्त की और पुनः शास्त्रार्थके निमित्त उद्यत हुए । सरस्वती देवीने समाधिद्वारा सारा मर्म जान लिया था । आते ही श्रीआचार्यजीको 'जयति' पत्र दे दिया—और दोनों उनके शिष्य हो गये । मण्डनमिश्रका नाम अब सुरेश्वराचार्य पड़ा, जिनके द्वारा रचित 'नैष्कर्म्यसिद्धि' जगत्को चकित कर रही है ।

भारतवर्षमें उस समय पूर्वमीमांसामें मण्डनमिश्र वैसे ही अद्वितीय थे, जैसे आचार्यजी उत्तरमीमांसा (वेदान्त) में अनुपम थे । मण्डनमिश्रने आचार्यजीको बालकमात्र मानकर धोखा उठाया और पूर्वपक्ष उनको दे दिया । आचार्यजीने इससे लाभ उठाया और मिश्रजीको अपने वेदान्त-विषयमें, जिसमें वे अद्वितीय थे, लाकर डाल दिया । मण्डनमिश्र यदि पूर्वमीमांसामें आचार्यजीको ले आते तो शास्त्रार्थ सम्भवतः दूसरा रूप धारण करता और मिश्रजी विजयी होते; परंतु भगवदिच्छाके अनुरूप ही हुआ ।

श्रीशंकरकी इस विजय-वैजयन्तीने समस्त आकाशको व्याप्त कर लिया और अखिल भारत-खण्डको आच्छादित कर

दिया । बौद्ध-गुरुवृन्द तथा अन्यान्य मत-मतान्तर आचार्यके चरणोंमें झुक गये । तैंतीसवें वर्ष आचार्यने अपना कार्य सम्पन्न करके परमपदको प्रयाण किया ।

यह संक्षिप्त जीवनी वैदिक-धर्मोद्धारक महापुरुषके परिचयार्थ दी गयी है । इस लेखका मुख्य तात्पर्य इस बातको सिद्ध करना है कि आचार्यजी परम भागवत थे और वे बालरूप श्रीकृष्णके अनन्य उपासक थे । संन्यासके नाते वे शिवोपासक भी थे ।

इसके विपरीत यह धारणा भी प्रचलित है कि आचार्यजी निरे ब्रह्मवादी थे, न कि उपासक । परंतु यह विचार ठीक नहीं प्रतीत होता । इस विचारका आधार उनके रचे हुए कुछ वेदान्त-ग्रन्थ तथा भाष्य ही हैं—

(१) विज्ञाननौकामें आचार्यजीने कहा है—

तपोयज्ञदानादिभिः शुद्धबुद्धि-
विरक्तो नृपादौ पदे तुच्छबुद्ध्या ।
परित्यज्य सर्वं यदाप्नोति तत्त्वं
परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥

अर्थात् नित्य परब्रह्म जो है, वही मैं हूँ । यही चौथा पाद आठ श्लोकोंका अन्तिम पद है । इसके नवें श्लोकमें इस स्तोत्रके पढ़नेका फल बताया है—जो पुरुष नित्यप्रति चित्त लगाकर आदरपूर्वक भक्तिभावसे अपने स्वरूपकी अनुसंधानरूपा इस स्तुतिको पढ़ेगा या सुनेगा, वह इस संसारमें ही विष्णु हो जायगा और इस बातका प्रमाण वेद हैं ।

(२) दशश्लोकीमें आचार्यजीने नौ श्लोकोंमें पूर्ववत् कहा है—

न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायु-
र्न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः ।
अनैकान्तिकत्वात् सुषुप्त्येकसिद्ध-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥

अर्थात् न मैं पृथ्वी हूँ, न पानी; न तेज, न वायु; न आकाश, न इन्द्रिय; न उनका समूह हूँ; क्योंकि ये सब अनित्य हैं (और मैं सदा रहनेवाला हूँ) । सुषुप्तिकालमें रहनेवाला ब्रह्मरूप अवशिष्ट तत्त्व मैं हूँ—यही अन्तिम पद आठ श्लोकोंमें है । ये दोनों स्तोत्र अति मनोहर तथा अद्वैतवादके मणिरूप हैं । विस्तारभयसे उद्धृत नहीं किये जाते । पाठकगण इनको अवश्य देखें—

(३) हस्तामलक-स्तोत्रमें आचार्यजी यह घोषणा करते हैं—

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षौ
न ब्राह्मणः क्षत्रियवैश्यशूद्रः ।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो
भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः ॥

अर्थात् मैं केवल बोधस्वरूप हूँ । उपरिलिखित वस्तुओंमेंसे कोई नहीं हूँ ।

(४) विवेकचूडामणिमें आचार्यजीने ब्रह्मभावनाका उपदेश तेरह श्लोकोंमें दिया है । उदाहरणार्थ केवल एक उद्धृत किया जाता है—

जातिनीतिकुलगोत्रदूरगं
नामरूपगुणदोषवर्जितम् ।
देशकालविषयातिवर्ति यत्
ब्रह्म तत् त्वमसि भावयात्मनि ॥

अर्थात् जो जाति, नीति, कुल, गोत्रसे दूर है; नाम, रूप, गुण, दोषसे वर्जित है; तथा देश, काल, वस्तुसे भी परे है, तुम वही ब्रह्म हो—ऐसी अपने अन्तःकरणमें धारणा करो । यह ग्रन्थ भी परमाद्भुत है और आत्मविद्याका भंडार है—

(५) आत्मपञ्चकमें भी 'शिवोऽहम्' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ, कहा है ।

(६) धन्याष्टकमें आचार्यजीने ज्ञानकी गरिमा कही है तथा संन्यासियों और त्यागियोंको धन्य माना है ।

(७) आत्मबोध भी आचार्य महोदयका अद्वैत-मार्गपर एक बड़ा अनुपम तथा विशाल ग्रन्थ है ।

(८) 'वाक्यवृत्ति' 'आत्मबोध' की मर्यादासे मिलता-जुलता है । इसमें गुरु-शिष्य-संवादरूपमें 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सोऽहं' एवं 'ब्रह्मधारणा' का विवेचन तथा प्रतिपादन किया गया है । और यही केवल-पद-प्राप्तिके साधन बताये गये हैं ।

(९) ब्रह्मसूत्र (शारीरक-भाष्य), गीता तथा कठ, केन, प्रश्न, ऐतरेय, श्वेताश्वतर इत्यादि प्रधान उपनिषदोंपर जो भाष्य आचार्यजीने किये हैं, उनमें अद्वैत-मतका ही निरूपण किया है; परंतु ये सब रचनाएँ श्रीचरणने तेरह वर्षकी आयुसे सोलह वर्षकी आयुतक बदरिकाश्रममें निवास करके की हैं । यह आचार्यजीके जीवनका तृतीय काल समझना चाहिये । प्रथम काल वैदिकाध्ययनका आठ वर्षका होता है । द्वितीय काल नौ वर्षसे बारह वर्षतक

वेदान्ताध्ययनका होता है और चतुर्थ काल शास्त्रार्थ तथा वैदिक धर्मोद्धारका बत्तीस वर्षकी आयुतकका है।

अब थोड़ी अपनी बात लिखकर प्रसङ्गपर आता हूँ। उपनयन-संस्कारके कुछ काल बाद भगवान्‌ने इस वाक्यको मेरे निमित्त चरितार्थ किया—'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता' और मेरी भेंट एक महात्मासे करा दी, जिन्होंने मुझमें भगवान्‌की ओर प्रवृत्ति जाग्रत् कर दी। नवधा भक्तिके प्रति उत्तरोत्तर श्रद्धा तथा रतिका विकास होता गया। इस मार्गमें आनेपर श्रीआचार्यका भी मेरे हृदयमें उदय हुआ। इनके वेदान्तिक विचार इतने महत्त्वके तथा परमादरणीय थे कि इनके प्रति मेरी श्रद्धा-भक्ति अबाध्य थी। परंतु इस द्वन्द्वमें पड़कर मुझे श्रीकाकभुशुण्डिकी दशाका अनुभव होने लगा—

बारंबार सकोप मुनि करइ निरूपन ग्यान।
मैं अपनें मन बैठ तब करउँ बिबिधि अनुमान॥
क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अग्यान।
मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान॥
लाभु कि किछु हरि भगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना॥
हानि कि जग एहि सम किछु भाई। भजिअ न रामहि नर तनु पाई॥

एक ओर तो यह; दूसरी ओर श्रीरामगीता तथा श्रीमद्भगवद्गीताके निम्न भगवद्वाक्योंके दृढ़ बन्धनोंमें जकड़ा था—

यावच्छरीरादिषु माययाऽऽत्मधी-
स्तावद् विधेयो विधिवादकर्मणाम्।
नेतीतिवाक्यैरखिलं निषिध्य तज्-
ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेत् क्रियाः॥

अर्थात् जबतक मायाके कारण शरीरादिकोंमें मैं-पन रहे, तबतक उसको वेदोंके बताये हुए कर्मोंको करते रहना चाहिये। फिर 'नेति-नेति' महावाक्योंसे उन सबका निषेध करके परमात्माको जाननेके बाद कर्मोंको छोड़ देना चाहिये।

आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः
कृत्वा समासादितशुद्धमानसः।
समाप्य तत् पूर्वमुपात्तसाधनः
समाश्रयेत् सद्गुरुमात्मलब्धये॥

अर्थात् सबसे प्रथम अपने वर्ण तथा आश्रमके लिये (शास्त्रोंमें) वर्णित क्रियाओंको करके चित्तकी शुद्धि प्राप्त कर ले। तब उन सब कर्मोंका त्याग करके शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न होकर आत्मज्ञानके लिये श्रेष्ठ गुरुके पास जाय।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(गीता १२। ५)

अर्थात् देहाभिमानियोंका निराकार ब्रह्ममें चित्त लगाना महान् कठिन है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(गीता १८। ६५)

अर्थात् मुझमें ही मन लगाओ, मेरे ही भक्त बनो, मेरा ही पूजन करो, मुझे ही नमस्कार करो तो मुझे ही प्राप्त होगे—यह तुम्हारे लिये मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ।

इस उपसंहारात्मक गीताके भगवदादेश और प्रतिज्ञासे 'अहं ब्रह्मास्मि' अथवा 'शिवोऽहम्' कल्याणके साधन नहीं जँचते थे और आचार्यस्मृतिके साथ-ही-साथ यह श्लोक उठता था—

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक-
व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
रुक्माङ्गदार्जुनवशिष्ठविभीषणादीन्
पुण्यानिमान् परमभागवतान् नमामि॥

इसमें ब्रह्मसूत्रके रचयिता वेदव्यास तथा योगवासिष्ठके कर्ता वशिष्ठ मुनि परमभागवतोंमें आये हैं। तब शङ्का होती थी कि आचार्यजी कैसे परमभागवत नहीं हुए। इस जिज्ञासामें प्रायः पैंतालीस वर्ष रहा। आखिर भगवान्‌की कृपासे मेरी समझमें जो कुछ आया, उसे मैं यहाँ उपस्थित करता हूँ। मैं ऐसा मानता और विश्वास करता हूँ कि श्रीआचार्यजी बालरूप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दके परमोपासक थे।

बदरिकाश्रममें चार-पाँच वर्ष रहकर श्रीआचार्यजी वाराणसी पधारे। बदरिकाश्रममें ही वेदान्तपर भाष्य तथा अन्य वेदान्तकी रचनाएँ समाप्त कीं। अब आचार्यजीका भक्ति तथा उपासनाकाल प्रारम्भ होता है, जैसा कि निम्न रचनाओंसे स्पष्टतया भासित होता है—

(१) विष्णुसम्बन्धी निम्न स्तोत्र बड़े ही रोचक तथा भक्तिभाव और सेव्य-सेवक-सम्बन्धसे ओतप्रोत हैं—

(क) श्रीमदच्युताष्टकम्, (ख) अच्युताष्टकम्,

(ग) षट्पदी, (घ) नारायणस्तोत्रम्, (ङ) विष्णुपादादिकेशान्तवर्णनके स्तोत्र।

(२) शिवसम्बन्धी निम्न मनोहर स्तोत्र प्रेमसे भरे हैं—

(क) शिवमानस-पूजा, (ख) शिवभुजंगप्रयात-स्तोत्रम्, (ग) शिवापराधक्षमापनस्तोत्रम्, (घ) वेदसारशिवस्तव, (ङ) शिवनामावल्यष्टकम्।

(३) देवी-सम्बन्धी स्तोत्रोंमें अपनी शाक्त-कुल-परम्पराकी पूरी झलक दिखायी है और विशेष भक्तिका उद्गार है—

(क) देव्यपराधक्षमापनस्तोत्रम्, (ख) आनन्दलहरी, (ग) कनक (लक्ष्मी) स्तोत्रम्, (घ) त्रिपुरसुन्दरीस्तोत्रम्, (ङ) अम्बाष्टक। ये शक्तिकी परमोपासना बताते हैं।

(४) तीर्थ-सम्बन्धी निम्न ललित स्तोत्र हैं—

(क) गङ्गाष्टकम्, (ख) काशीपञ्चकम्, (ग) यमुनाष्टकम्, (घ) नर्मदाष्टकम्, (ङ) श्रीमणिकर्णिकाष्टकम्।

(५) प्रकीर्ण स्तोत्रोंमें (क) लक्ष्मीनृसिंहस्तोत्रम्, (ख) पाण्डुरङ्गाष्टकम्, (ग) दक्षिणामूर्तिस्तोत्रम्।

इन सब स्तोत्रोंके पढ़नेसे यह स्पष्ट होता है कि आचार्यजी बड़े संगीतप्रेमी थे। इनका छन्दोलालित्य तथा शब्द-माधुर्य पाठकोंको मुग्ध कर देता है। भक्तिभावके आनन्द-स्रोतमें बहकर आत्मा प्रफुल्लित हो जाता है और मन परम शान्ति प्राप्त करता है।

मैंने उपरिलिखित रचनाओंके नमूने नहीं दिये। लेख बढ़नेका भय था। परंतु दो-तीन इनमें बड़े महत्त्वके और विचारणीय हैं और उनसे यह विदित होता है कि आचार्यजी अपनी वैदान्तिक 'अहं ब्रह्मास्मि' धारासे भक्तिकी मधुर धारामें आये थे।

आचार्यजी शाक्तवंशीय थे। अतः देवीजीके प्रति भक्ति उनका पैतृक उद्गार है। आचार्यजीने 'आनन्दलहरी' में जगन्माताके सम्बन्धमें यह पद कहा है—

'भजामि त्वां गौरीं नगपतिकिशोरीमविरतम्।'

अर्थात् हिमाचलकी कन्या तुम गौरीको मैं निरन्तर भजता हूँ।

'निरालम्बो लम्बोदरजननि कं यामि शरणम्।'

हे गणपतिकी माता! मैं निराश्रित किसकी शरण जाऊँ (यदि आपका चित्त मेरी ओर न गया)।

अयः स्पर्शे लग्नं सपदि लभते हेमपदवीं
यथा रथ्यापाथः शुचि भवति गङ्गौघमिलितम्।
तथा तत्तत्पापैरतिमलिनमन्तर्मम यदि
त्वयि प्रेम्णाऽऽसक्तं कथमिव न जायेत विमलम्॥

अर्थात् जैसे पारस पत्थरके छूनेसे लोहा तुरंत सोना हो जाता है और जैसे गलीका पानी (मोहरीका पानी) गङ्गाजीमें मिलकर पवित्र हो जाता है, उसी प्रकार विविध पापोंसे यदि मेरा अन्तःकरण अति मलिन हो गया हो तो वह आपके प्रेममें लगा हुआ क्यों न निर्मल हो जायगा।

श्रीकनक (लक्ष्मी) स्तवके माहात्म्यमें आचार्यजी कहते हैं—

स्तुवन्ति ये स्तुतिभिरमूभिरन्वहं
त्रयीमयीं त्रिभुवनमातरं रमाम्।
गुणाधिका गुरुधनभाग्यभागिनो
भवन्ति ते भुवि बुधभाविताशयाः॥

अर्थात् वेदत्रयीरूपा तथा तीनों जगत्की माता लक्ष्मीकी जो नित्यप्रति इन स्तुतियोंके द्वारा स्तुति करते हैं, वे अधिक गुणवान्, बड़े धनी, भाग्यशाली और प्रतिष्ठित होते हैं। इस स्तोत्रके विषयमें यह कहा जाता है कि आचार्यजीने एक दिन एक महादरिद्र ब्राह्मणीसे भिक्षा माँगी। कुछ न होनेके कारण उसने एक आँवलेका फल उनके हाथपर रख दिया और रोने लगी। आचार्यजीको बड़ी करुणा उत्पन्न हुई। उस समय उन्होंने यह स्तोत्र उच्चारण किया। फल यह हुआ कि सोनेके आँवलोंकी वर्षासे उसका घर भर गया।

शिवापराधक्षमापनस्तोत्रमें दस श्लोकोंमें आचार्यजीने अन्तमें यही पद कहा है—

'क्षन्तव्यो मेऽपराधः शिव शिव
शिव भोः श्रीमहादेव शम्भो।'

अर्थात् हे शिव, हे शिव, हे महादेव, हे शम्भो! मेरा अपराध क्षमा कीजिये। और अन्तमें जय-जय करते प्रार्थना-की है—

आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं याति क्षयं यौवनं
प्रत्यायान्ति गताः पुनर्न दिवसाः कालो जगद्भक्षकः।
लक्ष्मीस्तोयतरङ्गभङ्गचपला विद्युच्चलं जीवितं
तस्मान्मां शरणागतं शरणद त्वं रक्ष रक्षाधुना॥

अर्थात् देखते-देखते नित्यप्रति आयु घटती जाती है, जवानी

क्षीण होती जाती है, बीते हुए दिन फिर नहीं लौटते, काल जगत्‌को खाये जाता है,धन पानीकी लहरके समान चलायमान एवं नाशवान् है–जीवन बिजलीकी भाँति अदृश्य हो जाता है; इससे हे शरणके देनेवाले ! आप मुझ शरणमें आये हुएकी रक्षा करें ! रक्षा करें !

यहाँ यह प्रश्न होता है कि आचार्यकी निष्ठामें यह परिवर्तन किस कारण हो गया ? इसके उत्तरमें कई कारण बताये जाते हैं, पर तथ्यातथ्यका निश्चित प्रमाण नहीं मिलता । परिवर्तन हुआ अवश्य । किसी भी कारणसे हुआ हो ।

अन्नमयादन्नमयं ह्यथवा चैतन्यमेव चैतन्यात् ।
द्विजवर दूरीकर्तुं वाञ्छसि किं ब्रूहि गच्छ गच्छेति ॥
किं गङ्गाम्बुनि बिम्बितेऽम्बरमणौ चाण्डालवाटीपयः-
पूरे चान्तरमस्ति काञ्चनघटीमृत्कुम्भयोर्वाम्बरे ।
प्रत्यग्वस्तुनि निस्तरङ्गसहजानन्दावबोधाम्बुधौ
विप्रोऽयं श्वपचोऽयमित्यपि महान् कोऽयं विभेदभ्रमः॥

इन दो श्लोकोंका यह भाव है–हे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ ! अन्नमयको अन्नमयसे अथवा चैतन्यको चैतन्यसे अलग करनेके निमित्त क्या 'हट-हट' कह रहे हो ! क्या गङ्गाजलमें, सूर्यकी छायामें तथा चाण्डालके कुएँके पानीमें पड़े हुए प्रतिबिम्बमें कोई भेद है अथवा सोने और मिट्टीके घड़ेमें पड़े प्रतिबिम्बमें कोई भेद है ? जैसे प्रशान्त समुद्रमें तरङ्ग इत्यादिका भेद नहीं होता, उसी प्रकार सहज आनन्द एवं ज्ञानरूप वस्तुके तत्त्वमें 'यह चाण्डाल है या ब्राह्मण' इस प्रकारका कोई भेद-भाव नहीं रह जाता । इन दोनों घटनाओंसे स्वतःप्रमाण मिलता है कि आचार्यजीकी पूर्वकालीन निराकारिक प्रवृत्ति उत्तरकालीन परम भागवती प्रवृत्तिमें कैसे परिणत हुई और 'परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि' तथा 'भज गोविन्दम्' के वैषम्यका समाधान होता है ।

अब आचार्यजीके इष्टदेवता या उपासनाका परिचय कराया जाता है । भगवान् श्रीकृष्ण उनके उपास्यदेव थे—

(१) संन्यास लेनेके बाद आचार्यजीकी माताकी मृत्यु हुई । श्रीचरणने उनकी क्रिया की । संन्यासीमण्डल तथा नम्बूदरी ब्राह्मणवृन्द उनकी अनधिकारितापर रुष्ट हुए । आचार्यजीने माताके मोक्षके निमित्त भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका प्रगाढ़ प्रेमसे आवाहन किया । चतुर्भुजी भगवान् प्रकट हुए और आचार्यजीको दर्शन दिया, श्रीकृष्णाष्टक इसका प्रमाण है—

श्रियाऽऽश्लिष्टो विष्णुः स्थिरचरगुरुर्वेदविषयो
धियां साक्षी शुद्धो हरिरसुरहन्ताब्जनयनः ।
गदी शङ्खी चक्री विमलवनमाली स्थिररुचिः
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः ॥

यही अन्तिम पद भगवान्‌की महिमा गाते हुए आठ श्लोकोंके अन्तमें कहा है । नवम श्लोकमें भगवान्‌का प्रकट होना तथा माताके मोक्षका वर्णन है ।

इति हरिरखिलात्माऽऽराधितः शङ्करेण
श्रुतिविशदगुणोऽसौ मातृमोक्षार्थमाद्यः ।
यतिवरनिकटे श्रीयुक्त आविर्बभूव
स्वगुणवृत उदारः शङ्खचक्राब्जहस्तः ॥

(२) यही नहीं, जब बदरिकाश्रमसे आचार्यजी काशीमें मणिकर्णिकाघाटपर आये, तब गङ्गास्तोत्रमें भगवदाराधन कहा है—

भगवति तव तीरे नीरमात्राशनोऽहं
विगतविषयतृष्णः कृष्णमाराधयामि ।
सकलकलुषभङ्गे स्वर्गसोपानसङ्गे
तरलतरतरङ्गे देवि गङ्गे प्रसीद ॥

अर्थात् हे भगवति गङ्गे ! आपके तटपर केवल आपका जल पीकर विषय-तृष्णासे रहित हुआ मैं भगवान् कृष्णका आराधन करता हूँ । सब पापोंका नाश करनेवाली, स्वर्गकी सीढ़ी तरल तरङ्गोंवाली हे गङ्गे देवि ! प्रसन्न हो ।

गङ्गाजलकी महिमा कहते हुए कहा है––

'त्वसापीता पीताम्बरपुरनिवासं वितरसि ।'

अर्थात् गङ्गाजल पीनेवालेको हे गङ्गे ! तुम वैकुण्ठवास देती हो ।

(३) आचार्यजीने इसके अनन्तर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीकी मानसपूजा मानस सामग्रियोंसे विधिवत् पूर्णतया की है । प्रथम श्लोक 'भगवन्मानसपूजा'का कितना हृदयग्राही है—

हृदम्भोजे कृष्णः सजलजलदश्यामलतनुः
सरोजाक्षः स्रग्वी मुकुटकटकाद्याभरणवान् ।
शरद्राकानाथप्रतिमवदनः श्रीमुरलिकां
वहन् ध्येयो गोपीगणपरिवृतः कुङ्कुमचितः ॥

अर्थात् पानीवाले मेघके समान श्यामवर्ण शरीर एवं कमलके सदृश नेत्र, वनमाला पहिने हुए, मुकुट-कटक इत्यादि आभूषण धारण किये हुए, शरद् ऋतुके चन्द्रमाके समान मुखारविन्द, मुरली लिये हुए, गोपीगणोंसे घिरे और केसर लगाये हुए, ऐसे श्रीकृष्ण भगवान्‌का

ध्यान करना चाहिये । आचार्यजीने भगवान्‌का अपने हृदयमें आवाहन किया है । अर्घ्य-पाद्य कराके रत्नजटित आसनपर बिठाया है । स्नान कराकर यज्ञोपवीत तथा सुन्दर वस्त्र अर्पण किये हैं । तिलक करके तुलसीकी माला पहनायी है । धूप तथा आरती की है, व्यञ्जनोंका नैवेद्य लगाया है । ताम्बूल तथा पुष्प अर्पण किया है । प्रदक्षिणा करके साष्टाङ्ग प्रणाम किया है और अपनेको दास कहकर यह श्लोक उच्चारण किया है—

सदा सेव्यः कृष्णः सजलघननीलः करतले
दधानो दध्यन्नं तदनु नवनीतं मुरलिकाम् ।
कदाचित् कान्तानां कुचकलशपत्रालिरचना-
समासक्तं स्निग्धैः सह शिशुविहारं विरचयन् ॥

अर्थात् पानीवाले मेघके समान श्यामवर्ण, हाथोंमें दही-भात, माखन और मुरली लिये हुए तथा साथियोंके साथ स्त्रियोंमें शिशु-लीला करते हुए श्रीकृष्णभगवान्‌का सदैव सेवन करना चाहिये ।

(४) पूजनानन्तर आचार्यजीने 'गोविन्दाष्टक'का गान किया है, जिसमें आदिसे अन्ततक भगवान्‌के बालरूपका ही ध्यान है । इससे उत्तम मुझे कोई दूसरा स्तोत्र भगवान्‌के ध्यानमें मग्न होनेका नहीं मिला । उदाहरणार्थ श्लोक है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं नित्यमनाकाशं परमाकाशं
गोष्ठप्राङ्गणरिङ्गणलोलमनायासं परमायासम् ।
मायाकल्पितनानाकारमनाकारं भुवनाकारं
क्ष्मामानाथमनाथं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥

अर्थात् 'सत्य, ज्ञान, अनन्त, नित्य, अनाकाश, एवं परमाकाशरूपको तथा गोशालाके आँगनमें रेंगनेमें परम आयासको दिखाते हुए अनायासरूपको, मायासे विविध रूप धारण करनेवालेको, निराकारको तथा संसाररूपको, लक्ष्मी तथा पृथ्वीके स्वामीको, तथा जिसका कोई स्वामी नहीं, ऐसे परमानन्द गोविन्द भगवान्‌को प्रणाम हो। इसके दूसरे श्लोकमें आचार्यजीने भगवान्‌के उस समयके रूपका ध्यान किया है, जब यशोदाजी उनको मिट्टी खानेका दण्ड देने चली हैं और भगवान् अपना मुँह खोलकर यशोदा मैयाको अनेकानेक ब्रह्माण्ड दिखलाते हैं । तीसरे श्लोकमें गोवर्धनधारी रूपका, चौथेमें रासलीलाका, पाँचवेंमें गोपियोंके वस्त्र लेकर वृक्षपर चढ़ जानेका एवं छठेमें कालियनागके मस्तकपर नृत्य करनेके रूपका ध्यान किया है । इस स्तोत्रकी विलक्षणता यह है कि इसमें निर्गुण रूपका सगुण रूपके साथ-साथ समन्वय होता चला गया है । इस प्रकार यह एक अमूल्य अद्भुत रचना है ।

(५) 'चर्पटपञ्जरिका'में ध्रुवपदमें 'भज गोविन्दम्' १७ श्लोकोंमें गाया है और कहा है—

भगवद्गीता किञ्चिदधीता
गङ्गाजललवकणिका पीता ।
सकृदपि यस्य मुरारिसमर्चा
तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम् ॥

अर्थात् भगवद्गीताका थोड़ा-सा भी अध्ययन, गङ्गाजलका थोड़ा-सा भी पान तथा एक बार भी श्रीकृष्ण-पूजन करनेवाले पुरुषकी यमराज कैसे चर्चा कर सकते हैं ।

'इह संसारे खलु दुस्तारे कृपयापारे पाहि मुरारे ।'

अर्थात् 'हे मुरारि श्रीकृष्ण ! इस अपार दुस्तर संसारमें कृपया मेरी रक्षा करो ।'

'गेयं गीतानामसहस्रं ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम् ।'

अर्थात् 'गीता तथा विष्णुसहस्रनामको गाये और श्रीकृष्णका ध्यान निरन्तर करे ।'

(६) 'प्रश्नोत्तरी'में आचार्यजीने शिष्योंको निम्न उपदेश किया है—

(क) अपारसंसारसमुद्रमध्ये
निमज्जतो मे शरणं किमस्ति ।
गुरो कृपालो कृपया वदैतद्
विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका ॥

अर्थात् 'अपार संसाररूपी समुद्रमें मुझ डूबते हुएको कौन बचानेवाला है—हे कृपालु गुरु ! दया करके मुझको यह बताइये । आचार्यजीने उत्तर दिया—भगवान्‌के चरणारविन्द ही एक बड़ी नाव हैं ।'

(ख) कार्या प्रिया का शिवविष्णुभक्तिः ।

अर्थात् करने योग्य प्यारी क्रिया क्या है—

उत्तर—शिव तथा विष्णुकी भक्ति ।

(ग) मुमुक्षुणा किं त्वरितं विधेयं
सत्सङ्गतिर्निर्ममतेशभक्तिः ।

प्रश्न—मोक्ष चाहनेवालेको शीघ्र क्या करना चाहिये ?

उत्तर—सत्सङ्ग, ममताका त्याग और भगवान्‌की भक्ति ।

(घ) किं कर्म कृत्वा नहि शोचनीयं
कामारिकंसारिसमर्चनाख्यम् ।

अर्थात्—

प्रश्न–कौन काम करके पछताना नहीं पड़ता ?

उत्तर–शिव तथा श्रीकृष्णका पूजनरूप कर्म ।

(ङ) उपस्थिते प्राणहरे कृतान्ते
किमाशु कार्यं सुधिया प्रयत्नात् ।
वाक्कायचित्तैः सुखदं यमघ्नं
मुरारिपादाम्बुजचिन्तनं च ॥

अर्थात्—प्राण लेनेवाले यमराजके आनेपर सद्बुद्धिवाले पुरुषोंको यत्नपूर्वक तुरंत क्या करना उचित है ?

उत्तर–सुखके देनेवाले, मृत्युके मारनेवाले भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके चरणारविन्दोंका तन-मन-वचनसे ध्यान करना चाहिये । इसमें ध्यान देने योग्य एक वस्तु यह है कि कोई शिववाची शब्द नहीं प्रयुक्त हुआ है, जिससे अनन्यता-भाव भासित होता है ।

(च) 'किं कर्म यत् प्रीतिकरं मुरारेः ।'

अर्थात् कर्म क्या है ?

उत्तर–जो भगवान् श्रीकृष्णको प्रिय हो । इसमें भी पूर्ववत् अनन्यताका भाव है ।

(७) 'साधनपञ्चक'में आचार्यजीका आदेश है—

'सङ्गः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढा धीयताम् ।'

अर्थात् सज्जनोंकी संगति और भगवान्‌में दृढ़ भक्ति करो ।

आचार्यजीकी कोई रचना भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके सम्बन्धमें इस प्रकारकी नहीं मिलती । जहाँ कहीं आचार्यजीने भगवान्‌के अवतारोंका वर्णन किया, वहाँ मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान्‌का भी मनोहर छन्दोंमें कुछ श्लोकोंमें किया है । इससे यह परिणाम निकलता है कि आचार्यजी पूर्णावतार महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके अनन्य भक्त थे । अद्वैतमतप्रवर्तक तथा वैदिक-धर्मोद्धारक उपरिलिखित महात्माकी जीवनी, इष्ट तथा उपासना अनन्य भगवद्भक्ति-के देदीप्यमान अनुकरणीय दृष्टान्त हैं । भगवद्भक्ति ही एक क्रियात्मक ज्ञान है । योगदर्शनके रचयिता महात्मा पतञ्जलिने भी महाकठिन योगक्रियाकी अपेक्षा ईश्वरप्रणिधानको ही सरल रीति बताया है, जिससे भगवत्प्राप्ति निःसन्देह होती है—

'ईश्वरप्रणिधानाद् वा ।' (पातञ्जलयोगदर्शन, समाधिपाद, सूत्र २३)

'तज्जपस्तदर्थभावनम् ।' (पात० १ । २८)

अर्थात् उसका जप तथा उसके स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये ।

'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।'

अर्थात् उक्त साधनसे विघ्नोंका अभाव और आत्माके स्वरूपका ज्ञान भी होता है ।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

(१ । १०)

अर्थात् व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व-यह नौ चित्तके विक्षेप हैं, ये ही विघ्न हैं ।

सांख्यशास्त्रकर्ता भगवान् कपिलमुनिने भी भक्तिकी भूरि प्रशंसा तथा उसे सर्वोत्तम ईश्वरप्राप्तिका साधन श्रीमद्भागवत-के तृतीय स्कन्धमें अपनी माता देवहूतिको बताया है। महायोगेश्वर पूर्ण सच्चिदानन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्द-कन्दने भी गीतामें आद्योपान्त भक्तिकी ही सर्वश्रेष्ठता बतायी है । वेदभगवान्‌ने श्रीश्वेताश्वतरोपनिषद्‌में ईश्वरभक्तिका प्रतिपादन किया है । यह अमूल्य रत्न केवल भगवान्‌के तथा उनके भक्तोंके अनुग्रहसे मिलता है । केवल यही भगवान्‌को वशीभूत करनेका अमोघ उपाय है, इसके अमोघ फलके ज्वलन्त दृष्टान्त भगवद्भक्त-गाथाओंमें मिलते हैं । पतित-पावनी जाह्नवी सबको तारती हैं, परंतु भगवद्भक्त उनको भी पवित्र करते हैं—ऐसा शास्त्रोंका कथन है । हे भगवद्भक्तगण! अपनी कृपासे इस संसारका उद्धार करो और कल्याण करो।

◆

भाव बस्य भगवान सुख निधान करुना भवन ।
तजि ममता मद मान भजिअ सदा सीता रवन ॥

◆

मुमुक्षुताकी महिमा

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

अहंकारसे लेकर देहपर्यन्त जितने भी अज्ञान-भूमिमें कल्पित अथवा माने हुए बन्धन हैं, उनको सत्स्वरूपके ज्ञानद्वारा मिटानेकी इच्छा ही मुमुक्षुता है। सुख तथा दुःख दोनों ही संसारसे जीवको बाँधते हैं। समग्र हृदयसे व्याकुल होकर बन्धनोंसे जो छूटना चाहता है, वह मुमुक्षु है। छूटनेकी चाह जितनी ही प्रबल होगी, उतनीही साधन-पथमें प्रगति भी अच्छी होगी। जिसके साधनमें शिथिलता है, उसकी चाहमें कमी है।····जो सुखासक्त है, सांसारिक वस्तुओंको पाकर हर्षित हो रहा है और खोकर शोकग्रस्त है, वह मुमुक्षु नहीं है।

जहाँतक संसारमें किसी वस्तुको अपनी मानकर आसक्त हो रहे हो, वहाँतक तुमने विचारपूर्वक उसकी वास्तविकताका दर्शन नहीं किया है। तुम्हारे सारे बन्धन अज्ञानके ही कारण हैं, ज्ञानसे ही मिटेंगे। ज्ञान प्राप्त करनेके लिये विचार-शक्तिका सदुपयोग करो, इससे मुमुक्षुता प्राप्त होगी। परमानन्दका योग सुलभ होगा।····तुम्हारा प्रत्येक विचार अपनी शक्तिसे अनुकूल दिशामें फैलकर प्रभाव डालता है। अपने रूपके अनुसार, उधरसे वह उसी प्रकारका बल लाता है, जिससे तदनुरूप गुणधर्मकी पुष्टि होती है। पवित्र और स्वार्थरहित विचार शान्ति और प्रसन्नताके दूत हैं।···· नरक और स्वर्गके पथ केवल तुम्हारे विचार हैं। पाप या पुण्य, प्रकाश या अन्धकारकी ओर तुम अपने विचार-पथद्वारा ही यात्रा करते हो।···तुम्हारे विचारोंसे ही अपवित्रतारूपी दुर्गन्ध और पवित्रतारूपी सुगन्ध फैलती है। दुर्गन्धसे आस-पासके लोगोंके मस्तिष्कको गंदा करनेके तुम्हीं अपराधी बनते हो और सुगन्धसे स्वस्थ बनानेका पुण्य बटोरते हो। आज तुम अपने भीतर जैसा स्वभाव, गुण पाते हो, वह तुम्हारे ही किसी समयके विचारोंका फल है।···तुम अपने विचारोंसे अलग नहीं हो सकते, मनका विचारोंके साथ अभिन्न सम्बन्ध है। पर विचारोंके परिवर्तनसे तुम भिन्न-भिन्न पथके यात्री बन सकते हो। अज्ञानी तो बिना सोचे-समझे अपने विचारोंके पथसे चलता है, पर ज्ञानी विवेक-दृष्टिसे अच्छे पवित्र विचार-पथपर यात्रा करता है।

तुम उसी पदार्थको (वह किसी भी क्षेत्रका हो) अपनी ओर आकृष्ट करते हो, जिसके लिये तुम्हारे अन्तरमें विचार होते रहते हैं। प्रेममय विचारोंसे तुम अपने प्रेमास्पदको आकृष्ट करते हो और भ्रम एवं द्वेषपूर्ण विचारोंसे शत्रुको अपनी ओर पथ देते हो। किसी भी प्रकारके विचार गुप्त नहीं रखे जा सकते, वे अपनी गतिसे शीघ्र ही स्वभाव-रूपमें परिणत होते हैं और स्वभाव क्रिया-कर्म-रूपमें प्रकट होकर तदनुसार तुम्हारे आगे फल ला देते हैं, तुमको उनका भोक्ता बना देते हैं। तुम्हारे विचारोंसे ही शत्रुता अथवा मित्र-भावका जन्म होता है। विचारोंके प्रभावसे ही तुम मित्रताको शत्रुता और शत्रुताको मित्रतामें परिणत कर सकते हो। किसीके प्रति सद्विचारपूर्वक सद्भावना रखना ही उसकी भलाईका आरम्भ है। किसीके प्रति अनिष्टकर बुरे विचार रखना उसकी हानिकी तैयारी है। तुम अपने विचारों, शब्दों और कर्मोंकी शक्तियोंसे संसारका हित या अहित करते रहते हो; इसलिये सावधान होकर निरन्तर केवल पवित्र विचारोंको ही हृदयमें स्थान दो। बुरे, अनिष्टकारी विचारोंका अपनी पूरी शक्तिसे विरोध करो कि वे मनमें किञ्चित् भी स्थान न पायें, उनकी झलक आते ही तेजीसे ललकारकर सामना करो कि तुरंत चले जायें। अनुभवी महात्माओंका कहना है कि यदि कोई भी अशुद्ध भाव अथवा विचार मनमें आकर दस मिनट भी

रुक जाय तो उसका प्रभाव सूक्ष्मशरीरपर अड़तालीस घंटे रहा करता है। विचारोंकी उत्तम प्रवृत्तिसे ही शान्तिपूर्ण भविष्य बनता है; इसलिये तुम अनुचित, दोषपूर्ण विचारोंका दमन करो। अपने विचारोंसे स्वयं नियन्त्रित होकर मूर्ख मत बनो; विचारोंपर नियन्त्रण रक्खो, यही तुम्हारी बुद्धिमानी होगी। यदि तुम अपने मनमें स्वार्थपरतासे भरे हुए अपवित्र कुविचारोंको स्थान देते रहोगे तो इनके दुष्परिणामको किसी प्रार्थना, दान और यज्ञसे दूर नहीं कर सकते, कुविचारके कुफलका केवल सद्विचारोंसे निराकरण करते हुए तुम अपना भविष्य उज्ज्वल बना सकोगे। कुपथगामी जीवनका उद्धार पवित्र विचारोंद्वारा ही हो सकेगा। जिनके विचारोंमें सद्गुणोंकी सचेतन मूर्ति खेलती है, विजयी जीवन केवल उन्हींका देखा जाता है। निरन्तर पवित्र विचारोंद्वारा ही जीवनमें सद्गति होती है और विवेक-दृष्टि बढ़ती जाती है। जिस प्रकार मनुष्य अपने विचारोंसे सम्बद्ध सांसारिक पदार्थोंको कभी-न-कभी प्राप्त ही कर लेता है, उसी प्रकार अन्य लोकोंके अलौकिक पदार्थोंको अपने विचार-पथद्वारा ही प्राप्त करता है। देवलोककी अदृश्य दैवी शक्तियोंसे भी भक्तिके विचारोंद्वारा ही सम्बन्ध स्थापित होता है। वे शक्तियाँ इसी पथसे अपने भक्तकी सहायता करती रहती हैं। विचारोंका रूप होता है और रंग भी होता है। यह रूप तथा रंग दिव्य दृष्टिवाले महापुरुषको स्पष्ट दीखता है। सुन्दर विचारोंका रूप मनोहर होता है। भयानक विचारोंका रूप-रंग भी भयानक और भद्दी आकृति-प्रकृतिका होता है।

तुम्हारे विचार जबतक देह, इन्द्रिय और मनके स्तरमें केवल विषय-सुख-अभिलाषासे भरे हैं, तबतक वे अत्यन्त कुरूप भद्दे पशुओंकी-सी आकृतिके होते हैं—जो तुम्हारी शक्तिसे पुष्ट होकर तुमपर बुरा प्रभाव डालते हैं। तुम्हारे विचारोंमें दया, करुणा और सहानुभूति जितनी मात्रामें बढ़ती जाती हैं, तुम जितना ही परोपकारपरायण भक्ति, श्रद्धा-भावसे अपने हृदयको पूर्ण पाते हो, उतने ही अंशोंमें तुम्हारे ऐसे विचारोंके देवरूप संसारके हितकारी सिद्ध होते हैं, जिससे तुम अनायास ही परम पुण्यके भागी होते जाते हो। तुम अपने विचारोंद्वारा ही या तो स्थूल विनाशी जीवनकी सेवा कर रहे हो या इससे विरक्त होकर अपने आन्तर शरीरोंको, जो देवलोककी प्रकृतिके बने हैं, बलवान् बना रहे हो। यदि तुमने मानवरूपमें अपने आन्तर शरीरोंको विचारों, सद्भावनाओं, सद्गुणों और सद्ज्ञानसे पुष्ट नहीं कर लिया तो उच्च लोकोंमें तुम्हारी पहुँच न हो सकेगी। अन्तरके मनोमय, विज्ञानमय शरीरके बलवान् होनेपर ही जीवात्मा उच्च लोकोंमें पहुँच पाता है। अपनी भौतिक व्यक्तिगत लालसाओं तथा इच्छाओंपर विजयी होकर परोपकारपूर्ण सत्कृत्यों, सद्भावनाओंद्वारा अपने आपको इस भौतिक देह और इन्द्रियसुख-वासनाके कारागारसे मुक्त कर लो।……'तुम गुप्त रहस्य समझ लो कि जहाँ-कहीं भी, किसीके प्रति भी तुम्हारे विचार श्रद्धा और भक्तिका रूप धारण कर लें, वहीं, उसी व्यक्तित्वमें तुम्हें महानताके दर्शन होते जायँगे। जिस व्यक्तित्वमें सर्वसाधारण लोगोंको कुछ भी विशेषता नहीं दृष्टिगोचर होती, उसीमें तुम्हें ईश्वरीय दिव्यताका बोध होगा। सत्य सर्वत्र पूर्ण है, उसे तुम श्रद्धा-भक्तिके विचारोंसे कहीं भी अवगत कर सकते हो। ……कोई भी मानव सद्विचार-पथसे मानवताके ऊँचे-ऊँचे सोपानोंपर चढ़ता हुआ देवत्वकी सीमामें पहुँच सकता है। तुम इस सद्विचार-पथमें ही धर्ममय पवित्र आचरण बना सकोगे। जबतक कुछ करना है, तबतक धर्मका, जिसके धारण करनेमें भयरहित शान्ति-बल मिलता है, आश्रय पकड़ना होगा।

तुम अधिकतर मौन रहो; जब बोलो, तब विवेक-दृष्टिसे देखकर सत्य, प्रिय और हितकर शब्द बोलो।

जिस तरह पुष्पके सौन्दर्यका मूल्य सुगन्धसे बढ़ता है, उसी तरह मनुष्यमें सौन्दर्य-सुगन्ध उसका सच्चरित्र है। तुम स्वयं सत्य-असत्यका विवेचन करो, सत्यको न देख सकनेके कारण ही तुम मिथ्या अहंकी भावनाओंसे भयभीत होते रहते हो। इस अहंकी रक्षाके लिये ही आवश्यकताओंका संग्रह होता है। प्रत्येक दृश्यका अपना प्रभाव होता है। दृश्यके प्रभाव द्रष्टाके मनपर पड़ते रहते हैं। जबतक तुम दृश्यके वास्तविक स्वरूपको न समझोगे, तबतक दृश्यके बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकते, न क्लेश ही मिट सकते हैं। दृश्यके प्रभावसे बचनेके लिये या तो विवेकदृष्टिद्वारा दृश्यके असार रूपके ज्ञाता बन जाओ या ऐसे परम आदर्शके दर्शन-सुखसे अपने-आपको भर दो कि किसी दृश्यको देखनेका अवकाश ही न रह जाय।···देहाभिमानको मिटानेके लिये निरन्तर आत्म-चिन्तन दृढ़ करना होगा। आत्मस्थ होनेपर शक्तियोंका विकास होता है। इन्द्रिय-सुखोपभोगसे शक्तियोंका विनाश अथवा क्षय होता है। सत्य-योग-लाभके लिये तुम स्वतन्त्र हो, पर भोगके लिये परतन्त्र हो। जिस प्रकार सदाचारसे शारीरिक और दूसरेकी सेवासे मानसिक उन्नति होती है, उसी प्रकार वैराग्य और त्यागसे आत्मिक उन्नति निश्चित है। परम लक्ष्य—सत्ययोगकी सहायक कामनाके अतिरिक्त और सभी प्रकारकी कामनाओंका बहिष्कार करो। केवल इन्द्रिय-विषय-सुखोंके ही त्यागसे काम न चलेगा। पूर्णरूपसे अहंकारकी वृत्तियों तथा उसे प्रिय लगनेवाली समस्त वासनाओं और तज्जनित अभावोंकी चिन्ताके त्यागसे ही इस अहंकारमय जीवनके बन्धनसे मुक्ति पाओगे। सर्वाङ्गोंको बल, तेज, सौन्दर्य, शक्ति और प्रतिभासे सुसज्जितकर तुम इस मानवतामें देवत्वको प्रतिष्ठित देखोगे।

जब तुम सांसारिक सुखोंके लिये इच्छा होनेपर पङ्गुवत् बन जाओगे, तभी परमानन्दके पथपर चल सकोगे; जब तुम सांसारिक दृश्य देखनेके लिये अन्धवत् बन जाओगे, तभी तुम प्रेम-सौन्दर्यसे सुशोभित परमानन्द-स्वरूपको देख सकोगे; जब तुम सांसारिक बातोंको सुननेमें बधिरवत् हो जाओगे, तभी परमानन्दमय दिव्य वाणी, आन्तर सत्य एवं ईश्वरीय आदेशको सुन सकोगे। जब तुम संसारके सामने सर्वाङ्ग मौन धारण करोगे, तभी उस परमानन्दमय परमाधार परमात्माको सर्वाङ्गद्वारा पकड़ सकोगे। जब तुम संसारके लिये जडवत् बन जाओगे, तभी अपने-आपको परम मुक्तिलाभके लिये सदा चैतन्यवत् पाओगे।····निष्काम भावसे समबुद्धि रखकर कुशलतापूर्वक कर्म करना जिस प्रकार कर्मयोग है तथा पवित्र, निश्छल, सरल और सद्भावमय परम प्रेमकी शैली भक्तियोग है, उसी प्रकार असङ्गता, निरीहता और निस्संकल्पताकी साम्यस्थिति ज्ञानयोग है। यथार्थ ज्ञानीको न कहीं हानि है, न बन्धन है, न दुःख है। अज्ञानी ही संसार और विषयमें आसक्त है। जबतक उसका मन विषय-विरक्त होकर पवित्र नहीं हो जाता, तबतक वह चाहे जितना शास्त्र पढ़े या बड़ा विद्वान् बन जाय, आत्मज्ञानके सत्य-प्रकाशमें स्थिर नहीं हो सकता। सर्वमय परमाधार तत्त्वमें मनोवृत्तियोंका समाहित होना ही समस्त साधनका लक्ष्य है।

रामप्रेमकी महत्ता

स्वारथ परमारथ रहित सीताराम सनेहँ।
तुलसी सो फल चारि को फल हमार मत पहँ॥

आत्मभावनाकी अनिवार्यता

(लेखक—प्रो० पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल)

देश, काल और कार्य-कारणभावके परे एक तत्त्व प्रत्येक व्यक्तिमें उपस्थित है। यह तत्त्व सभीका आत्मा है। देश, काल आदिके परे होनेके कारण वह एक ही है। यह तत्त्व बुद्धिके परे इसलिये है कि बुद्धिके व्यापार द्वैत जगत्में होते हैं। परंतु बुद्धिको उसमें समर्पित करनेसे वह प्राप्त होता है, अर्थात् बुद्धिकी निश्चयात्मिका वृत्ति उससे आती है। मनकी गति उसीसे है, परंतु वह मनके संकल्प-विकल्पका विषय नहीं है। मनके संकल्प-विकल्प हीन कर देनेपर शान्तिभावमें वह प्राप्त होता है। अपने-आपमें वह जिस प्रकार विद्यमान है, उसी प्रकार वह सभी प्राणियोंमें भी विद्यमान है। एक व्यक्तिसे दूसरे व्यक्तिके प्रति प्रेमका आधार उन दोनोंमें एकत्वका भाव है जो आत्माकी ही देन है। प्रत्येक जन अपनेको ही प्रेम करता है।

उक्त प्रकारके आत्मभावके चिन्तनसे साधारण मानसिक चिन्ताएँ नष्ट हो जाती हैं। मनुष्य जब बाहरी जगत्का चिन्तन करता है, तब उसके हानि-लाभके व्यापारमें उसका मन फँस जाता है। पहले तो मनुष्य चिन्तनके विषयको पकड़ता है, पीछे यह विषय ही उसको पकड़ लेता है। इस बातका अनुभव साधारण मनुष्यको नहीं होता; मनको वशमें करनेकी चेष्टा करनेवाले व्यक्तिको ही होता है। जब हम अपने विचारोंको काबूमें लानेकी चेष्टा करते हैं, तब जिन विषयोंको हम पहले सोचते थे वे बार-बार मनमें आते हैं; जितना ही हम उन्हें छोड़नेकी चेष्टा करते हैं, वे उतना ही अधिक आते हैं। चिन्तन करनेसे मानसिक शक्तिका ह्रास होता है और जैसे-जैसे मानसिक शक्तिका क्षय होता है, मानसिक अशान्ति बढ़ती जाती है।

प्रत्येक मनुष्यका मन विषयोंका चिन्तन करनेसे थकावटका अनुभव करता है। साधारण व्यक्ति सोकर इस थकावटसे मुक्त होता है। सोना प्राकृतिक रूपसे अपने-आपको विषय-चिन्तनसे मुक्त करना है। जो मनुष्य सो नहीं पाता, वह अपनी मानसिक थकावटको दूर नहीं कर पाता। अतएव ऐसा मनुष्य किसी-न-किसी प्रकारके रोगका शिकार बन जाता है। जो व्यक्ति सो लेता है, वह धीरे-धीरे स्वस्थ हो जाता है। विषयसे अति अनुराग मनुष्यकी नींदमें बाधक बन जाता है। जान-बूझकर चित्तको विषय-चिन्तनसे हटाते रहनेसे मनुष्यको मानसिक थकावट नहीं आ पाती। उसकी मानसिक शक्ति संचित रहती है। मानसिक शक्तिके संचित रहनेपर ही मनुष्यको शान्ति रहती है।

जो व्यक्ति जितना अधिक लेन-देनके संसारमें पड़ा रहता है, दुनियादारीके विषयमें जितना अधिक सोचता है, वह उतना ही अधिक अपनी मानसिक शक्तिको खो देता है। मनको रोकनेकी चेष्टासे मानसिक शक्ति बढ़ती है और मनको विषय-चिन्तनकी छूट दे देनेसे मानसिक शक्तिका ह्रास हो जाता है। इसीसे इच्छा-शक्तिकी दुर्बलता आ जाती है। फिर मनुष्य करना चाहता है कुछ और तथा कर डालता है कुछ और ही। उसके निश्चय सदा बदलते रहते हैं। उसे अपने-आपपर विश्वास नहीं रहता। जिस मनुष्यको अपने-आपपर विश्वास नहीं रहता, उसपर दूसरे लोग भी विश्वास नहीं करते। अपने ही विचार दूसरे लोगोंमें जाकर उनके मनको विशेष प्रकारका बनाते हैं। निश्चयात्मिका वृत्तिका मनुष्य ही संसारमें कुछ कर पाता है। ऐसा व्यक्ति ही अपने-आपका और दूसरोंका कल्याण करता है। यह निश्चय करनेकी शक्ति मनुष्यकी इच्छा-शक्तिमें है। निर्बल इच्छा-शक्ति मनुष्यको सदा डावाँडोल

बनाये रखती है। अतः जो व्यक्ति अपने चिन्तायुक्त विचारोंसे मुक्त नहीं हो सकता, वह सदा दुखी ही रहता है।

मनुष्यका मन अभ्यासका दास है। यदि हम सदा अपने-आपको गुलाम बनाये रखना चाहते हैं और इसीका अभ्यास किये हुए हैं, तब गुलामी कष्टदायक हो जानेपर भी मनुष्यका मन उसीमें रमता है। गुलामीसे मुक्त होना उसे भयदायक प्रतीत होता है। जिन लोगोंको सदा विषय-चिन्तन करनेका ही अभ्यास हो गया है, वे अपने मनको प्रयत्न करनेपर भी खाली नहीं रख पाते। मन खाली हो जानेकी कल्पना उन्हें भयावनी लगती है। इस प्रकार उनका मानसिक क्लेश बढ़ता ही जाता है।

मनकी दो प्रकारकी वृत्तियाँ होती हैं—एक प्रलोभनकी और दूसरी भयकी। ये एक दूसरेकी पूरक हैं। प्रलोभनके कारण मनुष्य किसी विषयचिन्तनमें पड़ता है, फिर भय-वृत्ति अपने-आप आ जाती है। इस समय सोची गयी बातमें संशय अपने-आप ही उत्पन्न हो जाता है। यही संशय चिन्ताका रूप धारण कर लेता है। मनुष्यको बाहरी घटनाएँ त्रास नहीं देतीं, उसका मन ही उसे त्रास देता है। बाह्य घटनाएँ कितनी ही अच्छी क्यों न हों, यदि हम उन्हें अपने प्रतिकूल सोचते हैं तो वे दुःख ही देंगी। जिस मनुष्यका मन अपने वशमें नहीं है, वह अनुकूल परिस्थितियोंको भी अपने प्रतिकूल ही सोचता है। दुर्बल मनके मनुष्यको सुखदायी विचार कम आते हैं, दुःखदायी विचार ही अधिक आते हैं। इच्छा और उत्सुकता ही दुःखदायी विचारोंकी सृष्टि करती है और उदासीनता सुखदायी विचारोंकी।

मनको शून्यावस्थामें सदा ले जानेके अभ्याससे अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ अपने-आप विनष्ट हो जाती हैं। शून्य भावनाका अभ्यास करनेवाला व्यक्ति कठिन-से-कठिन परिस्थितिमें भी सुखकी नींद सोता है। यह शून्यावस्था ही आत्मावस्था है। इसमें विषय-वृत्तियोंकी शून्यता रहती है, परंतु यह सभी प्रकारकी चित्तवृत्तियोंकी जन्मदात्री है। इस अवस्थामें पहुँचनेपर मन अपनी गतिको बदल देता है। यदि मनुष्य अपने किसी जटिल विचारसे मुक्त होना चाहता है तो उसे शून्यभावका अभ्यास करनेसे लाभ होता है। इस अवस्थाकी प्राप्तिके प्रयत्नमात्रसे मनुष्यका कल्याण होता है। अनेक प्रकारके मानसिक रोग इससे शान्त हो जाते हैं।

जर्मनीके एक विख्यात मनोवैज्ञानिकका कथन है कि संसारके सभी डाक्टर मिलकर जितने रोगोंको हटाते हैं, उससे अधिक रोगोंको संसारका धर्म हटाता है। कोई भी धर्म मनुष्यमें कल्याणभावनाको दृढ़ करता है। जो कुछ होता है, सब भलेके लिये ही होता है—इस भावनाको मनमें दृढ़ करनेसे मनुष्य व्यर्थके संशय और चिन्ताओंसे मुक्त हो जाता है। मनुष्यका मन ही बाह्य सृष्टिको बनाता और बिगाड़ता है। जिस व्यक्तिका मन संसारके चलानेवाले अन्तिम तत्त्वकी भलाईमें विश्वास नहीं करता, वह कभी भी सुखी नहीं रह सकता।

मनुष्यको ईश्वरपर विश्वास रखकर सदा आशावादी होना चाहिये। स्वार्थी मनुष्य अनायास ही निराशावादी बन जाता है और परमार्थी व्यक्ति आशावादी बन जाता है। धर्म मनुष्यको अपनी आत्माका व्यापक रूप दिखाकर व्यक्तिगत बातोंकी चिन्तासे मुक्त करता है। जब वही धर्म संकुचित होकर स्वार्थमें परिणत हो जाता है, तब अधर्म बन जाता है। कर्तव्यमात्रकी पवित्र भावनासे कार्य करना मनुष्यको चिन्तासे मुक्त करता है। साधारणतः कार्य फल पानेकी भावनासे किया जाता है। मनुष्यको फल उसकी कल्पनाके अनुसार ही मिलता है। कार्य करनेकी शक्ति भी मनुष्यकी आशावादी कल्पनाके ऊपर निर्भर करती है। परंतु फलका अधिक चिन्तन करनेवाला व्यक्ति अनायास ही संशययुक्त मनवाला बन जाता है। उसके नकारात्मक विचार उसके कार्यमें विघ्नकारी बन जाते हैं। इस प्रकार वह

अपनी इच्छाके विरुद्ध ही परिस्थिति तैयार कर लेता है। उसे इससे विफलता मिलती है। इच्छा और संशय एक दूसरेके पूरक हैं। चेतन मनकी इच्छा अचेतन मनमें उसके निराकरणकी परिस्थिति उत्पन्न करती है। इसीलिये संशय उत्पन्न होते हैं। इच्छाकी प्रबलता संशयको प्रबल बनाती है और इच्छाकी कमी संशयको भी कम कर देती है। कर्तव्यका भाव इच्छाको कम करता है। इससे इच्छाके फलित होनेमें सहायता मिलती है। सभीकी भलाईके लिये किया गया कार्य जितनी सरलतासे फलित होता है, अपनी व्यक्तिगत भलाईके लिये किया गया कार्य उतनी सरलतासे फलित नहीं होता। मनुष्यकी इच्छा-शक्तिका बल व्यक्तिगत स्वार्थसे सीमित हो जाता है। जितने लोगोंके स्वार्थकी सिद्धि किसी कार्यसे होती है, उन सबकी इच्छाशक्तिका बल उस कार्यके करनेवालेको मिलता है। सर्वात्मभावसे किये गये काममें सभी लोगोंकी इच्छाशक्तिका बल मनुष्यको मिलता है।

अपने दुःखद विचारोंसे मुक्त होनेके लिये किसी भी भले काममें लग जाना लाभदायक होता है। दूसरेकी भलाईका चिन्तन करनेसे अपने-आपकी भलाई सहजमें ही हो जाती है। मनुष्य जिस प्रकारका चिन्तन दूसरेके लिये करता है, उसी प्रकारका चिन्तन अपने-आपके लिये भी करने लगता है। सभीकी भलाईका चिन्तन करनेवाला व्यक्ति अपने लिये अकल्याणके विचार मनमें नहीं ला सकता। सभीकी भलाईका चिन्तन करना आत्मभावनाका अभ्यास करना है।

मनुष्यका जगत् विचारोंका बना हुआ है। अपनेसे भिन्न वस्तु अथवा व्यक्तिकी कल्पना करना और फिर उसके विनाशका चिन्तन करना वास्तवमें अपने ही विनाशका चिन्तन करना है। सबकी भलाईका चिन्तन करना अपने-आपका भला बनाना है। आत्मभाव व्यापक तत्त्वका भाव है। एक ओर आत्मा सूक्ष्म-से-सूक्ष्म है और दूसरी ओर वह महान्-से-महान् है। वह मनका उद्गमस्थान है। मनमें सोची गयी वस्तु देश और कालमें होती है। परंतु मनका जन्मदाता इन भावोंके परे है, अतएव वह सूक्ष्म है। परंतु जिस प्रकार वह मनका जन्मदाता है, उसी प्रकार वह देश और कालका भी जन्मदाता है। अतएव देश और काल उसके भीतर हैं। देश-कालकी सभी वस्तुएँ अनेक होते हुए भी एक आत्माद्वारा व्याप्त हैं। हमारा मन वास्तवमें जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ उसका स्वरूप ही है। सभी चिन्तनकी वस्तुएँ ज्ञानके ही अनेक रूप हैं। सभी भेद कल्पनासे उत्पन्न हैं। अनेकमें एकताका ज्ञान मनुष्यको भय और चिन्तासे मुक्त कर देता है।

मनुष्य तबतक सुखी नहीं हो सकता, जबतक वह अपने-आपमें किसी प्रकारकी अपूर्णता देखता है। इस अपूर्णताको जब बाहरी वस्तुकी प्राप्तिसे पूर्ण करनेकी चेष्टा की जाती है, तब वह और भी बढ़ती जाती है। अपूर्णताकी पूर्ति वस्तुतः ज्ञानसे हो सकती है। यह ज्ञान आत्माको सबसे सूक्ष्म और सबमें पूर्णरूपसे व्यापक जाननेका नाम है। सभी पदार्थोंसे अपने-आपको खींचना और वासनारहित होकर सभी पदार्थोंका चिन्तन करना मनुष्यको सुखी और शान्त मनवाला बनाना है। सभी वस्तुएँ, सभी बातें एक ही तत्त्वके प्रकाशन हैं और सभी पदार्थोंमें एक ही तत्त्व व्यक्त हो रहा है। इस प्रकारका विचार मनुष्यको अनेक प्रकारके असंतोष और उससे उत्पन्न होनेवाले मानसिक रोगोंसे मुक्त कर देता है।

* * *

रुद्रमूर्त्तिकृत शिवस्तुति-चालीसा

शीश जटा सुरसरि छटा, भूषण भूति भुजंग।
मुंड माल शशि भालवर, जय शिव गिरिजा संग॥
जय जय जय दाता शिव शंकर। आशुतोष सुखकर अभयंकर॥
माथ सुधाकर सुरधुनि धारे। हाथ त्रिशूल त्रिशूल निवारे॥
पाप ताप सब शाप सँहारक। भुवन-भक्त-भव-भीति-विदारक॥
जयति त्रिलोचन ! जय त्रिपुरारी। कुमति-काम-हर मंगलकारी॥
जय हिमांग हिमगिरि के वासी। हिमगिरिसुता सहित सुखरासी॥
कालकूट कर घूँट उतारा। नीलकंठ हर हर औंकारा॥
मौलि चंद्र चिह्नित विशाल वर। जटा जूट सिर जटिल जाल धर॥
गर्वित गंग तरंग ताप हर। भाल त्रिपुंडित मुंडमाल गर॥
भस्म विभूति भुजग आभूषण। विजया अर्क धतूर समर्पण॥
कटि कराल व्यालित बाघंबर। कर डमरू डिमडिम प्रलयंकर॥
नमः शिवाय जपउँ बहु बारा। शंभु ! काज सब करहु हमारा॥
जय गज-तुंड-जनक त्रिपुरारी। विघन-विदारक भव-भय-हारी॥
समरथ सतत समाधि लगाये। योग-निरत माया बिलगाये॥
आगम निगम पंथ सब हारे। अंत गहे शिव ! चरन तुम्हारे॥
शिव सुमिरत नासत तन पीरा। शिव सुमिरत भाजत भव भीरा॥
शिव सुमिरत अघ ओघ अपारा। काम-चाम सम जरत न बारा॥
शिव सुमिरत रिन-रोग नसाई। शिव सुमिरत बल बुधि विकसाई॥
शिव सुमिरत रिधि सिधि नियराई। शिव सुमिरत रिपु करत मिताई॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा। शिव सुमिरत सपनेहुँ नहिं व्यापा॥
बेल पत्र, अक्षत, पय-धारा। धूप-धतूर तुमहिं अति प्यारा॥
नंदी गन शिव सम्मुख राजे। जेहि पद परसि सकल दुख भाजे॥
कर त्रिशूल नंदी असवारी। तुम त्रिभुवन-त्राता त्रिपुरारी॥
मेटत पाप ताप की ज्वाला। कालकूट कल कंठ कराला॥
आदि शक्ति अर्धांग भवानी। जेहि जपि जगत लहत सुख-खानी॥
हर हर कहत हरत सब पीरा। शंभु कहत सुख लहत शरीरा॥
शंकर कहत सकल कल्याना। रुद्र कहत मेटत भय नाना॥
तुम देवन महँ सब बिधि पूरे। आशुतोष, दानी अति रूरे॥
अर्चन सुगम सुगम अति पूजा। महादेव सम देव न दूजा॥

मन क्रम वचन ध्यान जो लावै। तुरतहिं मनवांछित फल पावै ॥
स्नान ध्यान अभिषेक तुम्हारा। सब फल प्रद जानत संसारा ॥
जो विधि-रची भीति-भव-बाधा। शंभु सुमिरि सब मिटत विषादा ॥
रंक लहत निधि, सिधि लह जोगी। पावत विभव विगत-रुज रोगी ॥
'शंभु' नाम पतवार बनाई। भव सागर तरनी तर जाई ॥
सुनु शिव विनत विनय अब मोरी। करहु विमल मति, जग-रति थोरी॥
काटहु संकट-कटक विशाला। करि रिन-रुंड धरहु गर माला ॥
पाप ताप वेधहु तिरसूला। स्रवहु सकल सिधि मंगलमूला ॥
जे जग-जाल विकलता-रासी। ते छन छारि करहु सुखरासी ॥
ईति-भीति रिन-रुज विनसाई। होहु दास हित शंभु सहाई ॥
अन्तर अमल विवेक विचारा। सोचहु उर-सुर-सरिता-धारा ॥
रचेउँ सकल हित शिव चालीसा। करिहहिं कृपा सुनत सिव ईसा ॥

ब्रह्मचर्य

(लेखक—श्रीरामावतारजी विद्याभास्कर)

मनुष्य स्वभावसे विचारशील प्राणी है। वह जो कुछ करता है, आगा-पीछा सोच-समझकर आवश्यकता हो तो करता है, नहीं तो नहीं करता। कुछ लोग अपने इस विचार-धर्मको काममें नहीं लाते। वे दूसरोंकी देखा-देखी परम्परामें पड़कर, प्रथाओंमें बँधकर, शारीरिक उत्सुकताओंसे उत्सुक होकर, उत्तेजनाओंसे उत्तेजित होकर, निर्बलताओंसे प्रेरित होकर कर्म किया करते हैं। इस प्रकारके कर्म इन लोगोंकी दासता या विचार-दरिद्रताके सूचक होते हैं। यही उन लोगोंका 'अब्रह्मचर्य' कहलाता है। इस प्रकारके लोग अपने जीवनको दुःखके गड्ढेमें फेंक देते हैं।

ये दोनों प्रकारके लोग संसारके पदार्थोंको, जिनमें इनके तथा स्वजनोंके देह भी सम्मिलित हैं, दो प्रकारकी वृत्तियोंसे अपनाते हैं। इनमेंसे एक तो वे हैं, जो पदार्थोंके यथार्थ रूपको नहीं समझे होते और उन्हें यों ही अपनाया करते हैं। ऐसे लोग संसारी पदार्थोंको ममत्व-बुद्धिसे अपनाते, उनपर अपना अधिकार मानते, उनमें आसक्त रहते, उन्हींके आगे-पीछे जीवनभर घूमते और इस अविचारित प्रवृत्तिके फलस्वरूप जीवनभर दुःख भोगते अर्थात् 'बद्धजीवन' बिताते हैं। दूसरे प्रकारके वे लोग हैं, जो बड़ी कुशलतासे जीवन बिताते और अपने-आपको, पदार्थों, अपने तथा स्वजनोंके देहोंसे व्यवहार करते हुए भी इनकी मोह-ममतामें नहीं बँधने देते। ये लोग जीवनके उपकरणोंकी मोह-ममताके बन्धनोंसे मुक्त रहते हुए उन्हें केवल कर्तव्य-बुद्धि, निःस्पृहता, निःस्वार्थता और उदात्ततम भावनाओंसे अपनाते हुए भी न अपनाते हुए-से बने रहते हैं।

मनुष्यके मनकी सारी चतुराई इसी बातमें है कि वह संसारके पदार्थों और घटनाओंको अपने मानसिक उतार-चढ़ावरूपी कष्टका कारण न बनने दे; किंतु इस अनुकूल-प्रतिकूल उभयविध संसारको अपने अमर-सुखका कारण बना डाले। जबतक मनुष्य अविचार-

शील रहेगा, तबतक उसे पदार्थोंमेंसे ही दुःख उत्पन्न होता दीखा करेगा। ज्ञानी मनुष्यके जीवनका सबसे पहला काम यही होता है कि उसे संसारके पदार्थोंमेंसे दुःख उत्पन्न होता दीखना बंद हो जाता है। संसारके किसी भी बाह्य पदार्थको अपने सुखका कारण न मानना मनुष्यकी उच्चतम ज्ञानावस्था है। तब यह अनुकूल-प्रतिकूल सारा ही संसार उसे परम सुख देनेका कारण बन जाता है। इस प्रकारकी विचारमयी स्थिति मनुष्यकी मुक्ति भोगनेकी अवस्था है। बाहरवाले पदार्थोंको अपने सुखका आधार बनाकर रहना मनुष्यकी बन्धनदशा और महा अज्ञानमयी अब्रह्मचारिणी स्थिति है।

अज्ञानी मनुष्य सबसे पहले अपने देहके साथ अहंभावसे बँधता है। वह सबसे पहले देहको अपना देह माननेके भ्रममें पड़ता है। अपने समझे हुए देहके साथ अहंभावके बन्धनमें बँधना समस्त बन्धनोंका मूल है। यहींसे मनुष्यका संसार ईश्वरके संसारसे अलग होता है। ऐसा मनुष्य विश्वपरिवारका पारिवारिक न रहकर अपना स्वतन्त्र परिवार बनाना चाहता है और अपनी डेढ़ चावलकी खिचड़ी अलग पकाना चाहकर विराट् सत्यका उपहास करता है। जब मनुष्य अपने देहके साथ अहंभावके बन्धनमें बँध जाता है अर्थात् जब वह अपने-आपको इस देहके साथ अहंभावके बन्धनमें बँधनेसे रोक नहीं पाता, तब वह इस देहसे सम्बद्ध दूसरे देहोंके साथ भी ममत्वके बन्धनमें बँधता है। तब वह अपने उन स्वजन-देहोंमें भी अपने ही देहकी-सी ममता कर लेता है। किंतु जो मनुष्य अपने देहके साथ अहंताके बन्धनमें नहीं बँधता, वह अपने देहसे सम्बद्ध दूसरे देहोंके साथ भी अहंता-ममतासे अबद्ध रहकर अपने-पराये समस्त देहोंके बन्धनोंसे मुक्त रहता है। न तो अपने देहके बन्धनमें आना और न दूसरे देहोंके बन्धनमें रहना, यही मनुष्यकी स्वतन्त्र तथा स्वाभाविक स्थिति है और यही ब्रह्मचर्य है। प्रत्येक विचारशील व्यक्तिको इसी स्थितिमें रहना चाहिये। इसके विपरीत समस्त दशाएँ अब्रह्मचर्यमयी, बद्ध मनोवृत्तिकी सूचक हैं।

मनुष्य दो प्रकारसे कर्म करता पाया जाता है। कुछ लोग तो अपने कामरूपी शत्रुको संतुष्ट करने अर्थात सुख पानेके लिये कर्म करनेवाले होते हैं। परंतु विचारशील लोग सुखके लिये कोई कर्म कभी नहीं करते। इसलिये नहीं करते कि ये लोग तो पहलेसे ही सुखमें रह रहे होते हैं। वे तो केवल ज्ञानी बने रहनेके लिये कर्म किया करते हैं।

मनुष्य अपने कर्मोंकी प्रेरक भावनाओंको स्वयं ही पहचान सकता है कि क्या मैं अपने मनमें छिपकर बैठे हुए काम-वासनारूपी शत्रुको संतुष्ट करनेके लिये कर्म कर रहा हूँ या सुखमयी स्थितिमें रहकर कर रहा हूँ। मनकी केवल ये ही दो प्रकारकी अवस्थाएँ होती हैं। इन दोनों अवस्थाओंमेंसे ही मनुष्यके ज्ञान-अज्ञान, विचार-अविचार, या शुद्ध-अशुद्ध मनोवृत्तिका पता मिल करता है। विचारवान् मनुष्य आठों पहर निर्मल मानसिक स्थितिके आनन्दमें निवास करता और इसीमें उसका जी लगा रहता है। विचारशील मनुष्य उन मिथ्या सुखोंमें कभी नहीं रम सकता, जो अपने-पराये शरीरोंके साथ मोहमय सम्बन्ध जोड़नेपर ही मिलते हैं। विचारशील मानवके मनमें तो पहलेसे ही निरपेक्षतारूपी सच्चे सुखका अथाह भंडार भरा हुआ है। वह दूसरे देहोंके मोहसे अपना जी नहीं लगाता। उसे अपना जी लगानेके लिये दूसरे देहोंकी आवश्यकता नहीं है। वह तो कर्तव्यसे ही अपना जी लगाता है। उसके जीवनके सम्पूर्ण कर्म ही उसके जी लगाने तथा उसके जीवनको सुखी बनाये रखनेके साधन होते हैं। कर्तव्य ही उसके जीवनका अभिन्न साथी होता है।

जिसका मन किसी एक वस्तु या व्यक्तिमें अटक जाता है, वह उस विशेष वस्तुके न होनेपर अपनेको दुखी मानता और उसे सुख देनेवाला साधन मानकर

उसीके अधीन, उसीका दास, उसीपर निर्भर और उसीपर अवलम्बित हो जाता है। मनुष्यकी यह परावलम्बिता 'अब्रह्मचर्य'की अवस्था है।

अपने स्वरूपको ही अपने सुखका एकमात्र साधन मानना तथा स्वरूपभिन्न किसी भी पदार्थको अपने सुखका साधन न मानकर आत्मतृप्तिकी अवस्थामें जीवन बिताना नैष्ठिक ब्रह्मचर्य है।

अव्यभिचारिणी आत्मनिष्ठा या आत्मतृप्तिकी अवस्था ही नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका अर्थ है। इसके विपरीत 'ब्रह्मचर्य' नामवाली जितनी परिस्थितियाँ हैं, उन सबमें ब्रह्मचर्य नाम पानेकी योग्यता नहीं है।

स्त्री-पुरुष—इन दो प्रकारके देहोंमें दो प्रकारका देही नहीं है। दोनों प्रकारके देहोंमें एक ही प्रकारका और एक ही विश्वात्मा देही विराज रहा है। जो इस सकल जगत्‌का आत्मा है, वही इन दोनोंका भी एकमात्र आत्मा है। ज्ञानीलोगोंने इन दोनोंके देहीका जो मूल रूप देखा है, वह इन दोनों देहोंमें एक समान पाया जानेवाला पौरुष या पुरुषार्थ है। उसे मोहबन्धनको काट फेंकनेकी स्थिति या शक्ति भी कह सकते हैं। दोनोंके भीतर मोहबन्धनको काट डालनेकी एक-सी शक्ति काम करती पायी जाती है। दोनोंका देहवासी आत्मा चाहे तो अपने जीवनमें सबसे ऊँचा यही काम करके दिखा सकता है कि इस संसारके मोहको निर्दय होकर काट डाले। ज्ञानीको दोनों देहोंमें एक ही देही दीखता है। उसे दोनोंमें मोहातीत रहनेकी शक्ति, पौरुष या पुरुषार्थ दिखायी देता है। उसे दोनों प्रकारके देहोंमें इस शक्तिके रूपमें एक ही देही समझमें आता है। मनुष्य-प्राणीमें मोह बन्धनमें न आनेकी एक भावना या शक्ति है। यह भावना या शक्ति स्त्री-पुरुष दोनोंके देहीका एक-जैसा एकमेवाद्वितीयम् रूप है।

ज्ञानी-देह स्त्री-देह हो या पुरुष-देह उसका इन दोनों देहोंमेंसे कोई-सा भी देह होनेसे उसके ज्ञान, उसके पौरुष या उसकी शक्तिमें कोई भेद नहीं पड़ता। ज्ञानीका देह स्त्रीदेह होगा, तब भी वह उसकी मानसिक स्थितिको अज्ञानातीत मानसिक स्थिति बनाये रखनेका साधन होगा। यदि ज्ञानीका देह पुरुष-देह होगा, तब भी वह केवल उसकी मानसिक स्थितिको अज्ञानातीत मानसिक स्थिति बनाये रखनेका साधन होगा। ज्ञानीकी दृष्टिमें देहोंके स्त्रीत्वकी और उनके पुरुषत्वकी यही सद्गति होगी, यही इन दोनों देहोंका उत्तमोत्तम उपयोग होगा और यही इन दोनोंका 'ब्रह्मचर्य' होगा।

जो जिसकी विशेषता है, वही उसका स्वरूप है। मनुष्यता ही पुरुषकी विशेषता है और मनुष्यता ही स्त्रीकी भी विशेषता है। इसलिये मनुष्यता ही इन दोनों देहोंके देहीका स्वरूप ठहरता है। मनुष्यताका अर्थ 'मोहमें न आकर कर्म करनेकी शक्ति' है। मोहमें न आकर कर्म करनेकी शक्ति ही 'ब्रह्मचर्य' है।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।

रामके बिना सब व्यर्थ है

गज-बाजि-घटा, भले भूरि भटा, बनिता सुत भौंह तकैं सब वै।
धरनी, धनु, धाम सरीरु भलो, सुरलोकहु चाहि इहै सुखु स्वै॥
सब फोकट साटक है तुलसी, अपनो न कछू सपनो दिन द्वै।
जरि जाउ सो जीवन जानकीनाथ ! जियै जगमें तुम्हरो बिनु ह्वै॥

—तुलसीदासजी

कानून और मनुष्यत्व

(लेखक—श्रीशेषनारायणजी चंदेल)

जजने पूछा—तुम्हारे कपड़े लाल कैसे हुए ?

गिरीश—महाराज ! उस घायल मनुष्यके दर्दने मेरे हृदयको द्रवित कर दिया। बहते हुए रक्तको मैंने कपड़ेसे रोक लेनेकी कोशिश की। इसीसे वह लाल हो गया।

जज—शहरकी ओर तुम दौड़े क्यों ?

गिरीश—बहता हुआ रक्त मुझसे न रुक सका। अतः शीघ्र ही डाक्टरको बुलाने दौड़ पड़ा।

जज—तुमने अपनी लाठी खेतमें ही क्यों छोड़ दी ?

गिरीश—वह मेरी लाठी न थी। उस घायल मनुष्यकी थी।

जज—गुलामने तुम्हें कहाँ पकड़ा ?

गिरीश—नगरके आरम्भमें।

जज—उस समय उसके कपड़े कैसे थे ?

गिरीश—कपड़े सादे और साफ थे।

जज—किंतु गुलामका तो कहना है कि तुम्हींने उसको मारा है ?

गिरीश—यह सर्वथा झूठा और मिथ्या आरोप है।

जज—उसकी तरफसे दो गवाह हैं।

गिरीश—वे भी झूठे होंगे।

जज—तो तुमने किसको मारते हुए देखा ?

गिरीश—मैंने किसीको नहीं देखा। मैं वहाँपर पहुँचा, तब वह घायल पड़ा था।

जज—तुम्हारी तरफसे कोई सबूत या गवाह है ?

गिरीश—नहीं है, महाराज ! न कुछ सबूत है, न कोई गवाह। वहाँ मैं अकेला था। गवाह किसे बनाऊँ ?

जज—गिरीश !…………।

गिरीश—महाराज, आपकी आत्मा गवाह दे रही होगी।

जज—चुप रहो। जाओ।

× × ×

जज साहब घर पहुँचते हैं। उदास मुखकी ओर देखकर पत्नीने पूछा—आज उदास कैसे हो ?

जज—न पूछो।

पत्नी—क्यों ?

जज—वह गिरीश ! कैसा निर्दोष-निष्कपट चेहरा था उसका। उसके मुखसे करुणा और हृदयसे सौहार्द फूट रहा था।

पत्नी—तो क्या हुआ ?

जज—धरतीका हृदय फट गया और क्या होगा।

पत्नी—कहनेका मतलब ?

जज—सबूतके अभावमें एक महात्माको कानूनने हत्यारा ठहराया है।

पत्नी—तो तुम छोड़ दो उन्हें।

जज—मैं जज हूँ।

पत्नी—पर मनुष्य भी तो हो ?

जज—नहीं, मनुष्यताको कुचल देना होता है। देवि ! उसको देखकर मेरा हृदय फट रहा था। कलेजा जल रहा था। मैं भी चाहता था कि उसके आँसूसे मिलकर मेरे आँसू एक हो जायँ। किंतु क्या करूँ, जहरका घूँट पीकर रह जाना होता है। देवि ! कानून कानून है; उसमें दया नहीं, करुणा नहीं और न सहानुभूति ही। वहाँ तो प्रमाणकी महत्ता है।

× × ×

आज दीपावली है। घर-घर दीप जल रहे हैं। फटाके और दनाकेकी आवाजसे आकाश गूँज रहा है।

किंतु आजके लिये दुनियाने गिरीशको न रहने दिया। पंद्रह दिन पूर्व वह फाँसीके तख्तेपर लटका दिया गया।

× × ×

शरीर और आत्मा

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

[१]

बात आजकी नहीं है। वैसे है कलियुगकी ही बात; किंतु इसे सत्ताईस चतुर्युगियाँ बीत चुकीं। अपने इस वैवस्वत मन्वन्तरके प्रारम्भमें तीन युग बीत जानेपर जब कलियुग आया था, उस कलियुगकी बात है। लेकिन वह भी कलियुग ही था, इसलिये बहुत कुछ अपने इस कलियुगसे उसकी समानता थी। लगभग ऐसे ही देश थे, ऐसे ही प्राणी थे, ऐसा ही समाज था।

उस समय अवन्तिका-नरेशके एक पुत्र था—बहुत सुन्दर, बहुत सुकुमार, बहुत सुखी। राजकुमार एक तो राजकुमार था, दूसरे अपने पिताका इकलौता पुत्र था। उसकी सेवामें बहुत-से सेवक सदा हाथ जोड़े खड़े रहते थे। उसे जिस वस्तुकी इच्छा होती थी, वह वस्तु तत्काल उसके पास पहुँच जाती थी। राजकुमार भद्रबाहु—यही उसका नाम था। वह बहुत कोमल मूल्यवान् वस्त्र पहिनता था, सारे शरीरमें और वस्त्रोंमें सुगन्धित इत्र लगाता था। स्वर्ण और मणियोंके आभूषण पहिनता था। उसके गलेमें और कलाइयोंमें ताजे सुगन्धित फूलोंकी माला पड़ी रहती थी। उसका बहुत-सा समय अपनेको सजानेमें ही बीतता था।

एक दिन राजकुमार भद्रबाहु राजभवनसे निकला। वह सुन्दर सजे हुए रथपर बैठा था। उसके साथ घोड़ोंपर बैठे बहुत-से सैनिक थे। बहुत-से सेवक उसके साथ चल रहे थे। नगरका मार्ग स्वच्छ किया गया था, सींचा गया था। पताकाओं और तोरणद्वारोंसे सजाया गया था। लेकिन राजकुमारने राजभवनसे निकलनेपर कहा—'मैं नगरमें नहीं जाऊँगा। सरिताके किनारे-किनारे मुझे घूमना है।'

सरिताके किनारे राजकुमारके घूमने जानेका किसीको पहलेसे कोई पता नहीं था। उधर कोई तैयारी नहीं हुई थी। लेकिन राजकुमारको रोकता कौन। उसका रथ उधर घूम गया। किनारे-किनारे कुछ दूर राजकुमारका रथ चलता गया। आगे सरिताके उस पार श्मशान था, वहाँ एक चिता जल रही थी। राजकुमारने पूछा—'वहाँ क्या हो रहा है? लोग इतनी अग्नि जलाकर क्या भून रहे हैं?'

राजकुमारने कभी किसीको मरते नहीं देखा था। उसके पास कोई रोगी व्यक्ति भी जाने नहीं पाता था। उसे पता ही नहीं था कि चिता क्या होती है। राजकुमारके साथ राज्यके मन्त्रीका पुत्र था। उसने कहा—'कुमार! वह चिता जल रही है। कोई मनुष्य मर गया है। उसके सम्बन्धी उसके देहको जला रहे हैं।'

'कोई बहुत कुरूप मनुष्य होगा!' राजकुमारको अपनी सुन्दरताका बड़ा गर्व था। उसे लगा कि कुरूप मनुष्य ही जलाये जाते होंगे।

मन्त्रीपुत्रने कहा—'यह तो पता नहीं कि वह कुरूप था या सुन्दर; किंतु जो भी मरेगा, उसे जलाया तो जायगा ही और मरना एक दिन सभीको है।'

'किसी सुन्दर व्यक्तिको कोई क्यों जलायेगा?' राजकुमारने मन्त्रीपुत्रको कुछ डाँटते हुए कहा।

'श्रीमान्! शरीरमें सुन्दरता तो चमड़ेके रूप-रंगकी है।' मन्त्रीकुमारने नम्रतासे कहा। 'मरनेपर शरीरको रखा रहने दिया जाय तो उसमेंसे दुर्गन्ध निकलने लगेगी। उसमें कीड़े पड़ जायँगे। उसकी ओर देखा तक नहीं जायगा।'

'क्या ? केवल चमड़ा ही सुन्दर होता है ?' राजकुमार भद्रबाहुने अपने गुलाबकी पंखुड़ी-जैसे सुन्दर सुकुमार शरीरकी ओर देखा और उसके नेत्र कुछ कड़े हो गये ।

'एक क्षण····' मन्त्रीका पुत्र अन्ततः मन्त्रीका ही पुत्र था । उसने संकेत किया । एक सेवक नदीके किनारे पड़ी एक मनुष्यकी सूखी खोपड़ी ले आया । मन्त्रीपुत्रने उसे हाथमें लेकर कहा—'कुमार ! आप इसे देखते हैं ?'

'छिः ! एक घिनौनी अत्यन्त कुरूप वस्तु !' राजकुमारने मुख फेरते हुए कहा । 'फेंको ! मेरे पाससे इसे दूर फेंक दो !'

'यह लीजिये !' मन्त्रीके पुत्रने वह खोपड़ी नदीके जलमें धप्से फेंककर कहा—'हम सबके सिर और मुख ऐसे ही हैं । भीतर तो सबका यही रूप है ।'

'मेरा मुख भी ऐसा ही है ?' राजकुमार चौंक पड़ा ।

'कुमार! मुझे क्षमा करें !' मन्त्रीपुत्रने दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुका दिया ।

राजकुमारके नेत्रोंसे टप-टप आँसूकी बूँदें गिरने लगीं । उसने अपना रथ राजभवन लौटा ले चलनेकी आज्ञा दे दी ।

× × ×

[२]

अवन्तिकाके नरेशकी चिन्ताका पार नहीं है । महाराजके एकमात्र पुत्र कुमार भद्रबाहुको पता नहीं क्या हो गया है । वे न ठिकानेसे भोजन करते हैं न स्नान करते हैं । माताके बहुत आग्रह करनेपर थोड़ा कुछ मुँहमें डाल लेते हैं । उनके सुन्दर घुँघराले बाल रूखे उड़ा करते हैं । सेवकोंको वे न अपने शरीरमें इत्र मलने देते हैं न सिरमें सुगन्धित तैल ही लगाने देते हैं, फूलोंकी माला और आभूषणोंसे उन्हें जैसे घृणा हो गयी है । कोई उनसे कुछ पूछता है तो राजकुमारके बड़े-बड़े नेत्रोंसे आँसूकी बूँदें गिरने लगती हैं ।

बड़ा विचित्र रोग है राजकुमारका । कोई मनुष्य उनके पास जाता है तो वे उसके मुखको एक बार कुछ क्षण एकटक देखते रहते हैं और फिर मुँह फेरकर रोने लगते हैं । जिन लोगोंको वे बहुत मानते थे, जिनसे मिलकर बहुत प्रसन्न होते थे, उनके आनेपर भी अब राजकुमारमें कोई उल्लास नहीं आता । अपने अत्यन्त प्रिय मित्रोंके आनेपर कभी-कभी वे बड़ी उमंगसे मिलनेको उठते हैं; किंतु उसी क्षण फिर धम्से आसन या पलंगपर गिर-से जाते हैं । उनकी सब उमंग, पता नहीं, कौन-सी दानवी निगल लेती है । वही एकटक मुख घूरना और फिर वही रोना·······।

महाराजने बड़े-बड़े चिकित्सक बुलवाये । रस, भस्म, पाक, चूर्ण, आसव, वटिका—पता नहीं, क्या-क्या दिया वैद्योंने । राजकुमारको आजकल जैसे स्वाद क्या होता है, यह पता ही नहीं लगता । पिताके आग्रह करनेपर वे चुपचाप औषध ले लेते हैं । औषध कड़वी या तीखी तो नहीं है, यह प्रश्न उनसे पूछना ही व्यर्थ है । वे पूछनेवालेका मुख इस प्रकार देखने लगते हैं, मानो उनके नेत्र कहते हों—'मैंने आज्ञाका पालन तो कर दिया । अब आप और क्या चाहते हैं ?'

ज्योतिषियोंने कुण्डली देखी, हाथ देखे और पता नहीं राहु-केतु, शनि-मङ्गलकी कितनी शान्ति करायी गयी । कितने अनुष्ठान-पूजन नित्य चल रहे हैं । कोई राजकुमारके ऊपर मन्त्र पढ़ता हुआ कुशसे जल छिड़क जाता है, कोई भस्म लगाता है । कभी कोई उनकी भुजामें कोई यन्त्र बाँधता है और कोई दूसरी कोई खटपट कर जाता है । लेकिन राजकुमारके लिये जैसे कुछ हो ही नहीं रहा है । वे तो एक मूर्तिकी भाँति हो गये हैं—जिसके जो मनमें आये, वह कर जाय ।

वैद्योंने महाराजसे कहा—'युवराज हमारी दृष्टिमें स्वस्थ हैं । उन्हें निद्रा ठीक आती है, पाचन ठीक होता है । हमने उनकी नाड़ी, हृदयकी गति, मल-मूत्रादिकी सब प्रकार परीक्षा कर ली । उन्हें कोई रोग नहीं है ।'

ज्योतिषियोंने बताया—'राजकुमारकी कुण्डलीमें सब ग्रह अनुकूल हैं । उनके हाथकी रेखाएँ और शरीरके लक्षण तो उलटे यह कहते हैं कि उनका परम मङ्गल होना चाहिये ।'

मन्त्र-तन्त्रके मर्मज्ञोंने कहा—'भूत-प्रेत-पिशाचकी, यक्ष-राक्षस-गन्धर्वकी तो चर्चा ही क्या, कोई देवता भी राजकुमारको कष्ट दे सके—ऐसा सम्भव नहीं है । हमलोगोंने सब प्रकारसे उन्हें सुरक्षित कर दिया है ।'

महाराजने सबकी बातें सुन लीं, सबको भरपूर दक्षिणा प्राप्त हुई; किंतु महाराजकी चिन्ता दूर नहीं हुई । उनके कुमारका रोना दूर नहीं हुआ, उनकी उदासीनता दूर नहीं हुई ! राजकुमार भद्रबाहुका सुन्दर शरीर पीला पड़ता जा रहा है । वे दिनोंदिन दुबले होते जा रहे हैं । महाराजकी चिन्ताका कोई समाधान नहीं ।

अन्तमें राज्यके वृद्ध एवं नीतिनिपुण महामन्त्रीने अपने ऊपर यह भार लिया कि वे राजकुमारको स्वस्थ एवं प्रसन्न बना देंगे । महाराजको तनिक आश्वासन मिला । अबतक कभी ऐसा नहीं हुआ कि महामन्त्रीने किसी कामका भार उठाया हो और वह अधूरा रह गया हो ।

× × ×

[२]

घंटे बीते, दिन बीते और सप्ताह बीतनेको आया । अवन्तिका-राज्यमें—नगर नहीं, पूरे राज्यमें हलचल मची हुई है । राज्यका एक-एक मनुष्य जिन्हें अपने पितासे भी अधिक आदर देता है, वे वयोवृद्ध दयालु महामन्त्री भगवान् महाकालके मन्दिरमें भूखे-प्यासे सात दिनोंसे बैठे हैं । वे सात दिन पहले बैठे थे अपने आसनपर और अबतक बैठे हैं । अभी वे जीवित हैं; क्योंकि उनके ओष्ठ हिल रहे हैं । लेकिन अन्न-जल और निद्राके बिना कबतक टिका रहेगा उनका बूढ़ा शरीर । प्रजाके लोग दल-के-दल नगरमें कोलाहल करते घूम रहे हैं—'हमारे महामन्त्री ! हमारे पिता !'

महाराज अब पश्चात्ताप कर रहे हैं । उन्हें क्या पता था कि महामन्त्री ऐसा कुछ करेंगे । महाराज गये और अपने शरीरतकसे उदासीन राजकुमार भद्रबाहुतक गये भगवान् महाकालके मन्दिरमें । लेकिन पुकारनेपर तो क्या, शरीर छूने और हिलानेपर भी महामन्त्री बोलते नहीं । उनके नेत्र खुलते नहीं । हाँ, वे जीवित हैं; क्योंकि उनके ओष्ठ हिल रहे हैं । मन्दिरके बाहर अपार जनसमूह कोलाहल कर रहा है और मन्दिरमें राजकुमार भद्रबाहु महामन्त्रीकी गोदमें सिर रखकर फूट-फूटकर रोते हुए जनताके साथ कह रहे हैं—'हमारे महामन्त्री ! हमारे पिता !'

'कुमार ! तुम आ गये ? अच्छा, अभी यहीं रहना, जाना मत ! भगवान् महाकालका दर्शन करने महर्षि लोमश पधार रहे हैं ।' महामन्त्रीने सहसा नेत्र खोले । उन्होंने बड़े स्नेहसे राजकुमार भद्रबाहुकी पीठपर हाथ फेरा । अब उनकी दृष्टि महाराजपर पड़ी और बाहरसे आती जनताकी पुकार उन्होंने सुनी । महाराजके सम्मानमें खड़े हो गये वे और बोले—'महाराज ! भगवान् महाकालने अपने इस अकिञ्चन दासकी प्रार्थना स्वीकार कर ली । मुझे राजकुमारके साथ अभी कुछ मुहूर्त यहाँ रहना है । बाहर पता नहीं क्यों लोग कोलाहल कर रहे हैं । आप पधारें और प्रजाका समाधान करें !'

'आप कुछ क्षणको मन्दिरसे बाहर नहीं चलेंगे ?' महाराजने बड़ी नम्रतासे कहा—'प्रजा अपने महामन्त्रीका दर्शन चाहती है ।'

महामन्त्री मन्दिरके द्वारपर आये । उन्होंने लोगोंको आश्वासन दिया। जनता जिसका सम्मान करती है, उसके आदेशका पालन करना भी जानती है । थोड़ी देर बाद वहाँ एक भी व्यक्ति नहीं था । अपने वयोवृद्ध महामन्त्रीका आदेश मानकर वे सब लोग अपने घरोंको लौट चुके थे । महामन्त्री मन्दिरमें पहुँचे और दूसरे ही क्षण उन्होंने द्वारसे आते एक तेजपुञ्जको पृथ्वीमें लेटकर प्रणाम किया ।

'कुमार ! भगवान् महाकालके अनुग्रहसे महर्षि लोमशने हमें दर्शन दिया है ।' राजकुमार इतने भौंचक्के रह गये थे कि उनकी समझमें ही नहीं आता था कि वे क्या करें । उन्होंने अपने दोनों हाथोंसे नेत्र बंद कर लिये थे । उन्होंने कभी स्वप्नमें भी नहीं सोचा था कि भगवान् सूर्य कभी पृथ्वीपर उतर सकते हैं । मन्दिरमें जो प्रकाशपुञ्ज आ रहा था, वह ऐसा ही था, जैसे सूर्य भूमिपर उतर आये हों । महामन्त्रीने राजकुमारको सचेत किया—'इस युगमें हम मनुष्योंके कलुषित नेत्र जिनका दर्शन नहीं कर पाते, वे महर्षि कृपा करके तुम्हारे सामने प्रकट हुए हैं ।'

राजकुमारका साहस नेत्र खोलनेका नहीं हुआ । उसने नेत्र बंद किये-ही-किये भूमिमें लेटकर प्रणिपात किया । वह जटाधारी तेजोमयी मूर्ति—महामन्त्रीने भी केवल इतना ही देखा कि वह मूर्ति भगवान् महाकालकी मूर्तिके पास पहुँच गयी है । महामन्त्रीके नेत्रोंमें भी चकाचौंध छा गयी थी । वे मस्तक झुकाकर मन्दिरमें एक किनारे खड़े हो गये । उन्हें तबतक प्रतीक्षा करनी थी, जबतक महर्षि भगवान् महाकालकी पूजा करें ।

× × ×

[४]

'महामन्त्रीजी ! चाचाजी !' राजकुमारने महामन्त्रीकी गोदमें सिर छिपा लिया । महामन्त्री स्वयं भी इस समय अपने-आपमें नहीं हैं । उन्हें भी पता नहीं कि वे कहाँ खड़े हैं । अनजानमें ही उनका हाथ राजकुमारकी पीठपर घूम रहा है ।

राजकुमारका हृदय धक्-धक् कर रहा है । उसने नेत्र बंद कर रक्खे हैं, पलकें दबा रक्खी हैं; किंतु अप्राकृत दृश्य नेत्रोंसे देखे जानेकी अपेक्षा कहाँ करते हैं । सब कुछ नेत्र बंद करनेपर भी ऐसा दीख रहा है, जैसे वह सब नेत्रोंमें ही बस गया हो । क्या है वह सब ? भगवान् महाकालके गण—भूत, प्रेत, पिशाच, योगिनियाँ, बेताल—लेकिन ये तो नाम हैं, महाकालके गण केवल नाम नहीं, वे संज्ञा नहीं हैं, वे देवता हैं—ज्वर, उन्माद, अपस्मार, हैजा, क्षय, शीतला आदि भयंकर रोगोंके, विपत्तियोंके, महामारियोंके साकार देवता और वे सब जैसे भगवान् महाकालके मन्दिरमें उस दिन मूर्तिमान् होकर महोत्सव मना रहे थे ।

बलवानोंका बल ज्वर पीता जा रहा है—मीठे पेयके समान वह गटागट पी रहा है । जो मत्त गजराजके सामने ताल ठोक सकते थे, दो दिनमें वे लाठी टेककर उठने लगे हैं, पीले पड़ गये हैं । पैर काँपते हैं उनके । उन्मादका देवता विद्वानों-बुद्धिमानोंकी विद्या, प्रतिभा मक्खनके गोलेके समान निगलता जा रहा है । गूँज रहा है उसका अट्टहास । बड़े-बड़े व्याख्याता, उद्भट शास्त्रार्थ-महारथी—बच्चे तालियाँ बजा रहे हैं और उन्हें पता नहीं है कि वे क्या बक रहे हैं—कितनी लज्जाजनक गंदी बातें वे कह रहे हैं । हैजा और क्षयके देवता—रूप जैसे उनका जलपान है, शक्ति और आयु जैसे उनकी मुख-शुद्धिके साधन हैं । सुन्दर स्वस्थ तरुण, फूल-सी खिली सुकुमार, सौन्दर्यकी पुतलियाँ—उनकी ओर देखातक नहीं जाता । गड्ढेमें धँसे उनके नेत्र, पीले-पीले मुख, मुखसे निकलता विषैला दुर्गन्धित········। राजकुमार चीख पड़ा । उसे लगा कि उसके भीतरकी आँतेंतक मुखके मार्गसे निकल जायँगी ।

कोई चीखे, कोई चिल्लाये, कोई कराहे—भगवान् महाकालके गणोंका महोत्सव बंद तो होनेसे रहा। भगवती शीतला रूपवानोंके रूपको झल्लाई-सी, नोचती-खसोटती जा रही हैं। उन्होंने राजकुमारको अपने लाल-लाल नेत्रोंसे देखकर डाँटा—'तू चीखता क्यों है ? हम तेरा क्या बिगाड़ते हैं ? हमने किसीका भी क्या बिगाड़ा है ? यह चमड़ा, मांस, रक्त, हड्डी, कफ, पित्त—यह सब तो हमारा है। तुमलोगोंने हमारी वस्तुओंको अपनी माना क्यों ? हम अपनी वस्तुएँ लेते हैं, उनसे खेलते हैं तो इतनी आह-कराह, चीख-पुकार क्यों ?'

बेचारा राजकुमार—उसने दोनों हाथोंसे महामन्त्रीको घबराकर पकड़ लिया। स्वयं महामन्त्रीने दोनों हाथोंसे भूमि पकड़ ली। ऐसे लगता था कि दिशाएँ फट रही हैं, तारे टूट रहे हैं, पृथ्वी चूर-चूर हो रही है। अग्नि हाहाकार कर रहे हैं, समुद्र उमड़-घुमड़कर छा गये हैं त्रिलोकीपर। पर्वतोंके समान राशि-राशि शव धू-धू करके जल रहे हैं और नाच रहे हैं भगवान् महाकाल अपनी जटाएँ बिखेरे, त्रिशूल उठाये। ब्रह्माण्डराशि उनके चरणोंके आघातसे इस प्रकार चूर्ण हो रही है, जैसे कोई पुष्ट तरुण कुम्हारकी हाँडियोंके ढेरपर उछल-उछलकर नाच रहा हो और हाँडियाँ फूट रही हों।

ज्वाला, धूम्र, हाहाकार, भयानक शब्द—कोई कल्पनातक न कर सके वह महाप्रलय और वह नृत्य है—उन्माद नृत्य है महाकालका। महर्षि लोमश हाथ जोड़े थर-थर काँप रहे हैं। भगवान् महाकालके चरणोंके नीचे एक ब्रह्माण्ड चूर्ण होता है और महर्षिके शरीरका एक रोम टूटकर गिर जाता है। गिरते जा रहे हैं महर्षिके रोम। वे पुकार रहे हैं, प्रार्थना कर रहे हैं—'रक्षा ! प्रभो ! रक्षा करो।'

दो क्षण—दो क्षण भी वे दो कल्प-जैसे थे। उतनी ही देरमें राजकुमारके हृदयकी गति बंद नहीं हुई, यही क्या कम आश्चर्य है। लेकिन दो क्षणमें राजकुमारने देखा एक शिशु—नवनीतसे भी सुकुमार, चन्द्रसे भी उज्ज्वल, सौन्दर्यसे भी सुन्दर शिशु। भूत, प्रेत, पिशाचोंने मस्तक झुका दिये। प्रलयाग्निकी लपटें काईकी भाँति फट गयीं, महाकालके चरण एक क्षणको ठिठक गये। उन्होंने शिशुको गोदमें उठा लिया।

वही प्रलयनृत्य, वही प्रकाण्ड-ताण्डव, वही पिशाचोंका अट्टहास, वही अग्निका हाहाकार; किंतु शिशु हँस रहा है। महाकालकी गोदमें वह शिशु—अपने बालकको गोदमें लिये कोई पिता जैसे उसे प्रसन्न करनेको उछाल रहा हो। शिशुके उन्मुक्त हास्यसे झरती ज्योतिर्मयी सुधाधारा। राजकुमारके मनसे भय, घबराहट, धुकपुकी सब दूर हो गयी है। शिशु—केवल शिशुका उज्ज्वल हास्य है उसके मनःपटपर।

'यही तू है। यही तेरा स्थान है। तुझे यहीं पहुँचना है। यह जो प्रेतों, पिशाचों, योगिनियोंका खिलौना है, उनका आहार है, तू उसे अपना बनाकर क्यों रोता है ?' महर्षि लोमश जैसे फिर अपने तेजोमय रूपमें प्रकट हो गये।

× × ×

महामन्त्री और राजकुमार भद्रबाहु मन्दिरसे उस दिन लौट आये। अब कोई राजकुमारकी सुन्दरताकी प्रशंसा करता है तो वह केवल हँस देता है। मन्त्रीपुत्रसे एक दिन उसने मनुष्यकी खोपड़ी मँगाकर देखी और हँसा—'यह बेतालोंकी गेंद ! एक ऐसी गेंद इस शरीरके भीतर भी छिपी है—यही तो। वह गेंद बेताल ले ले, इससे मेरा क्या होता-जाता है। मैं महाकालका अमर पुत्र—मुझे डर किसका ?'

भगवान् महाकालका एकनिष्ठ उपासक राजकुमार भद्रबाहु—उसे हुए सत्ताईस चतुर्युगियाँ बीत चुकीं।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर अभिवादनपूर्वक हरिस्मरण । आपका पत्र यथासमय मिल गया, समाचार मालूम हुए । आपने अपना परिचय और मुझसे स्वर्गाश्रममें मिलनेकी बात लिखी सो ठीक है ।

आपने श्रीमद्भगवद्गीताकी तत्त्व-विवेचनी टीकाको आद्योपान्त पढ़ा सो बहुत अच्छी बात है । उस टीकासे आपको बहुत लाभ हुआ सो भगवान्‌की दया है । भगवान् किसीको निमित्त बनाकर ही अपनी कृपाका विकास किया करते हैं ।

आपने सकाम भक्तिके विषयमें लिखा सो जो भगवान्‌पर विश्वास न होनेके कारण संसारकी वस्तुओंके लिये सांसारिक मनुष्योंकी खुशामद और सेवा करते रहते हैं, उनकी अपेक्षा तो भगवान्‌पर विश्वास रखनेवाले भगवान्‌के सकाम भक्त बहुत अच्छे हैं । पर जिनको भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वभावका अनुभव है, जो भगवान्‌को अपना मान चुके हैं, भगवान्‌को छोड़कर जिनका शरीर और सांसारिक भोगों या संसारमें अपने माने जानेवाले सम्बन्धियोंके प्रति प्रेम या आसक्ति नहीं रह गयी है, उनके मनमें सांसारिक वस्तुओंकी कामना आ ही कैसे सकती है; क्योंकि वे अपने लिये किसी भी सांसारिक वस्तुको आवश्यक नहीं समझते । उनके सारे-के-सारे आचरण प्रभुके लिये उन्हींकी सेवाके रूपमें होते हैं ।

उपासनासम्बन्धी ग्रन्थ देखनेके विषयमें पूछा सो श्रीतुलसीदासजीके रचे हुए सभी ग्रन्थ भक्तिकी शिक्षासे भरे हुए हैं तथा श्रीमद्भागवतमें भी उपासनाका विषय भरपूर है ।

भगवान् आपकी शङ्काओंको दूर करते हैं, आपके प्रत्येक कार्यको सफल करते हैं, स्वप्नमें आपको सब हाल बता देते हैं—यह सब भगवान्‌की कृपा है; परंतु आपको इतनेसे ही संतुष्ट होकर अपनेको सर्वोत्तम नहीं समझ लेना चाहिये । यह तो भगवान्‌का अपनी ओर आकर्षित करनेका साधारण तरीकामात्र है । इन सबको देखकर मनुष्यको उचित है कि अपनेको भगवान्‌का कृतज्ञ बनाये और उनके उपकारोंको बार-बार याद करके उनके प्रेममें विह्वल होता रहे और उनके प्रत्यक्ष दर्शनके लिये या उनका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेके लिये व्याकुल हो जाय ।

(२)

सादर नमस्कार । आपका पत्र मिला । समयाभावके कारण पत्रका उत्तर देनेमें देरी हुई, इसके लिये विचार न करें ।

आपके प्रश्नोंके उत्तर क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. आपने पूछा कि 'मैंने तालाबमें तैरती हुई मछलीको जलसे उठाते हुए एक पक्षीको देखा, मैं उसे बचानेके लिये हाथ फटकारनेको ही था कि पक्षीकी चोंचसे मछलीको घायल जानकर यह सोचने लगा कि अब इसे जिंदा रखनेका साधन नहीं है । ऐसी अवस्थामें मुझे क्या करना उचित था ? मछलीको छुड़ाकर पक्षीको भूखे रखना या इसकी उपेक्षा कर देना ?'

इसका उत्तर यह है कि हमें ऐसी चेष्टा करनी चाहिये जिससे कि पक्षी मछलीको पकड़े ही नहीं । यदि उसने पकड़ लिया और वह अधमरी हो गयी, तो भी जबतक उसके जीनेकी आशा हो, तबतक उसको बचानेका ही प्रयत्न करना चाहिये; किंतु जब ऐसी अवस्था हो कि वह जी ही न सके, तब फिर उसे पक्षीसे छुड़ानेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये ।

२. आपने लिखा कि 'दीपकके पास छिपकलीको अपना पेट भरनेके लिये जन्तुओंकी ताकमें देखा तो जन्तुओंके रक्षार्थ छिपकलीको हटाना चाहिये या नहीं, और छिपकलीको तो भक्ष्य मिलना ही चाहिये; ऐसी स्थितिमें क्या करना ठीक है ? दीन जन्तुओंके रक्षार्थ छिपकलीको बार-बार हटाना या उसे मार डालना चाहिये अथवा उदासीन रहना चाहिये ?' इसके विषयमें यह बात है कि जहाँ भक्ष्य और भक्षक दो हों, वहाँ भक्षककी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है, कमजोरकी ही बलवान्से रक्षा करनी चाहिये । यदि उसकी रक्षा दीपकके बुझा देनेसे हो तो दीपक बुझा दे और दीपक रखना आवश्यक ही हो तो फिर छिपकलीको हटाना चाहिये, किंतु छिपकलीको मार डालनेका हमें कोई अधिकार नहीं है ।

३. 'चलने-फिरनेवाले जीव-जन्तुओंकी हिंसासे हिंदू स्वाभाविक ही बचता है, किंतु वनस्पति आदि जीवधारियोंको तोड़नेमें और खानेमें किस तरह मनको समझाया जाय जब कि उससे बचा ही नहीं जा सकता; क्योंकि जीवन-निर्वाहके लिये कुछ तो खाना ही पड़ेगा ।' लिखा सो ठीक है । फल, मूल, साग, वनस्पति, अनाज आदि खाद्य पदार्थोंमेंसे सूखे अनाजको तो बिल्कुल कष्ट नहीं होता; क्योंकि उसमें पृथ्वी और जलका संयोग होनेपर ही अंकुर होता है तथा जीवका प्रादुर्भाव समझा जाता है । वह सूँघनी सुँघाये हुए-के समान होनेसे उसे कष्ट नहीं होता, अतः उसमें तो हिंसा नहीं है । रही फल, मूल, साग, वनस्पतिकी बात, सो उनको काटनेसे भी कोई उन्हें विशेष कष्ट नहीं होता । वे नशेमें सोये हुए-के समान हैं । अतः इसमें अल्प हिंसा है । अतः इनका व्यवहार मनुष्यको केवल शरीर-निर्वाहके लिये कम-से-कम मात्रामें करना चाहिये ।

४. 'रामः शस्त्रभृतामहम्' इसमें रामसे एक टीकाकारने 'परशुराम' अर्थ लिया है, दाशरथि भगवान् राम क्यों नहीं लिया ?' पूछा सो इसका उत्तर तो, जिन्होंने ऐसा किया है, वे ही दे सकते हैं ।

५. 'छलोंमें जुआ मैं हूँ' इस कथनसे आसुरी वृत्तिवालोंको प्रोत्साहन मिलता लिखा सो इसमें वस्तुतः प्रोत्साहनकी गुंजाइश नहीं है । इस कथनका तात्पर्य यही है कि जो कोई भी वस्तु तेजवाली, कान्तिवाली है, वह मैं (भगवान्) हूँ । इससे यह सिद्ध हुआ कि जो कुछ भली-बुरी वस्तु है, सब भगवान् ही है । विभूतियोंका वर्णन करते हुए भगवान्ने प्रधान-प्रधान वस्तुओंको अपनी विभूति बतलाकर अन्तमें यह सिद्ध किया है कि 'यह सब कुछ मेरे एक अंशकी अभिव्यक्ति ही समझनी चाहिये' (गीता १० । ४१) ।

६. 'भगवदर्पणकी युक्ति हृदयमें जमती नहीं,' लिखा सो ठीक है । इसके लिये सरलभावसे गद्गदवाणीमें विनयपूर्वक भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये ।

७. हृदयमें न जमनेपर भी आप अधिक समय 'हे सर्वस्व मेरे ! हरे कृष्ण हरे कृष्ण आदि वाक्योंके रटनेका अभ्यास करते हैं' लिखा तथा इसमें कोई गलती हो तो बतलानेको लिखा सो ये हृदयके उद्गार हैं । भगवद्विषयक जो कुछ भी भाव हो, वह अच्छा ही है । श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निरन्तर अभ्यास करनेपर कोई भूल होगी तो वह आगे चलकर स्वतः ही मिट सकती है । शेष भगवत्कृपा ।

(३)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार मालूम हुए । आपने लिखा कि 'जिसका जो इष्टदेव हो, उसको उसीका नाम जपना ठीक है—यह भाव बार-बार उठा करता है, मैं इसे निवारण नहीं कर पाता' सो इस भावका निवारण क्यों करना है, यह तो बहुत अच्छा भाव है । पूज्यपाद श्रीतुलसीदासजी भगवान् श्रीकृष्ण और भगवान् श्रीराममें कोई भेद नहीं

समझते थे, तो भी वे श्रीरामरूपकी ही उपासना करते थे। जब वे वृन्दावनमें भगवान् श्रीकृष्णके मन्दिरमें गये, तब भगवान्‌के सामने उन्होंने यह दोहा पढ़ा——

कहा कहौं छबि आजु की भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै जब धनुष बान लो हाथ॥

इससे यह स्पष्ट है कि श्रीतुलसीदासजीकी दृष्टिमें श्रीराम और श्रीकृष्णमें किसी प्रकारका भेद न होते हुए भी उनका इष्ट स्वरूप श्रीराम ही था।

आपने अपनी पहलेकी हालत लिखते हुए नाम और मन्त्रके विषयमें मेरी सम्मति पूछी सो श्रीविष्णुरूपके उपासकोंके लिये निम्नलिखित मन्त्रोंका विधान आता है। ध्रुवजी भगवान् श्रीविष्णुके शङ्ख-चक्र-गदा और पद्मधारी चतुर्भुज रूपका ध्यान करते थे और 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'—इस द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करते थे। ऐसा ही उपदेश उनको श्रीनारदजीसे मिला था। इसके सिवा 'ॐ नमो नारायणाय' तथा 'ॐ विष्णवे नमः' इन मन्त्रोंका भी उल्लेख मिलता है। इन तीनोंमें भी यदि आपकी रुचि 'ॐ विष्णवे नमः' इस मन्त्रकी ओर अधिक है तो मेरी सम्मतिमें वही आपके लिये अधिक लाभप्रद है। ऐसा निश्चय करके आपको निःशङ्कभावसे उसका जप करनेमें संलग्न हो जाना चाहिये। इस मन्त्रके जपसे आपको अष्टाक्षर मन्त्र और द्वादशाक्षर मन्त्रका जो फल शास्त्रोंमें बताया गया है, उसके मिलनेमें किञ्चिन्मात्र भी संदेह नहीं है।

श्रीविष्णु और श्रीकृष्ण तथा श्रीराम——इन तीनों नामोंमें कोई अन्तर नहीं है। प्रसङ्गवश जहाँ इन तीनोंमेंसे किसी भी एक नामके जपका फल बताया जाय, वहाँ उसे तीनोंके ही विषयमें समझ लेना चाहिये। आपने जो भागवतका श्लोक श्रीकृष्णके नामके विषयमें पढ़ा, उसे उतना ही श्रीविष्णुके नामके विषयमें भी समझना चाहिये। इस विषयमें जो आपकी धारणा है, वह बहुत ठीक है। आपके लिये 'ॐ विष्णवे नमः'——यह मन्त्र बहुत ही उपयोगी है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है——

(१) आर्यसमाजी और सनातनधर्मियोंके विचारोंमें मतभेद देखकर आपको खिन्न नहीं होना चाहिये। समय-समयपर मतभेदकी सृष्टि होती रहती है। इसमें कोई बुराई नहीं है। बल्कि इससे धार्मिक भावोंकी जागृति बनी रहती है। आर्यसमाज स्वामीजी दयानन्दजीके द्वारा प्रवर्तित है। श्रीस्वामीजीको पुराण मान्य नहीं हैं। तथापि भगवत्तत्त्व, सत्य आदि गुण जो उनको मान्य हैं या मान्य थे, उनका समर्थन पुराणोंके जिस अंशसे होता है, वे तो उनको मान्य हैं ही। पुराणोंमें बहुत-सी बातें बड़े ही कामकी हैं और सर्वमान्य हैं——इसमें कोई संदेह नहीं है।

रही देवी-देवताओंकी बात, सो मेरी समझसे उनका वर्णन पुराणोंकी भाँति वेदोंमें भी है; परंतु वेदोंमें जो बात संक्षेपमें कही गयी है, पुराणोंमें वही बात कथाके रूपमें विस्तारपूर्वक समझायी गयी है। उपनिषदोंमें अधिकांश उपनिषद् तो ब्राह्मणभागके हैं और कुछ उपनिषद् संहितामेंसे हैं, जैसे 'ईशावास्योपनिषद्' शुक्लयजुर्वेदका अन्तिम चालीसवाँ अध्याय ही है।

(२) अवतारवाद वेदोंके अनुकूल है——इस विषयके प्रमाण आपको पत्रमें कहाँतक लिखे जायँ। केनोपनिषद्‌में इन्द्रादि देवताओंके समक्ष यक्षरूपमें भगवान्‌के प्रकट होनेका प्रसङ्ग आया है।

(४)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। आपका पत्र यथासमय मिला, समाचार ज्ञात हुए।

जिनके चरणोंकी कृपासे पापी मनुष्योंके मन भी शुद्ध हो जाते हैं, ऐसे संतोंको मेरा नमस्कार है। मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ, अतः मुझे तो अपने एक

मित्रके समान समझकर राम-राम या हरिस्मरण लिखना चाहिये, प्रणाम आदि नहीं लिखना चाहिये । शरण लेनेके योग्य तो भगवान् हैं, उन्हींकी शरण ग्रहण करनी चाहिये ।

भगवान्‌के दर्शन भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे ही होते हैं और उनकी वह कृपा मनुष्यमात्रपर है । जो मनुष्य एकमात्र उन्हींके दर्शन चाहता है, जिसकी अभिलाषा ऐकान्तिक हो जाती है, उसपर भगवान्‌की कृपाका प्रकाश बिना हुए नहीं रहता । भगवान्‌के लिये विरह-व्याकुलता उनपर पूर्ण विश्वास होनेपर और उनको अपना समझनेपर ही होती है । प्रेमकी उत्पत्ति और वृद्धिमें एकमात्र सच्चा विश्वास ही कारण है ।

आपने लिखा कि 'नामजप मैं कभी करता हूँ और कभी नहीं । कभी मन नहीं लगता, कोशिश करनेपर भी सफलता नहीं मिलती । जप करते समय थोड़ी देरके बाद नींद आ जाती है ।' सो यह सब विश्वास और प्रेमकी कमीके लक्षण हैं; प्रेम हो जानेपर नामजप परिश्रमसाध्य नहीं होता, भगवान्‌का स्मरण अपने-आप होने लगता है । भगवान् हैं और वे ही मेरे हैं, उनके सिवा संसारमें मेरा कोई नहीं है—यह दृढ़ विश्वास हो जानेपर प्रेम अपने-आप हो जाता है । वे ही प्रेम कभी शिथिल नहीं होता, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है; असलमें वही प्रेम प्रेम है ।

आपने लिखा कि सांसारिक व्यवहारमें मेरी अरुचि है, सो यदि शरीर और संसारके भोगोंमें प्रेम रहते हुए यह बात है तब तो अच्छी चीज नहीं है । पर यदि इस अरुचिके साथ आपकी संसारके भोगोंमें और शरीरके आराममें भी आसक्ति नहीं है तो भगवान्‌की बड़ी कृपा है । जब मनुष्यका संसारमें प्रेम नहीं रहता, तब भगवान्‌में अवश्य हो जाता है । जब भगवान्‌में आपका प्रेम नहीं है तो इसका अभिप्राय तो यही होता है कि संसारमें प्रेम है; अन्यथा प्रमादमें प्रवृत्ति कैसे होती ? क्रोध और भय तो हो ही कैसे सकते थे ?

दुर्गुण दूर होकर भगवान् श्रीराममें अनन्य प्रेम होनेका उपाय पूछा सो श्रद्धापूर्वक भगवान्‌के गुण, प्रभाव और महत्त्वकी बातोंको सत्पुरुषोंसे सुनना, पुस्तकोंमें बार-बार पढ़ना तथा उनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करके उनको हृदयङ्गम करना, बार-बार इसीमें मनको लगाये रखना—मेरी समझमें अच्छा उपाय है ।

रामायणका मासपारायण करना बड़ा उत्तम है । उसके साथ-साथ प्रत्येक दोहे, छन्द, सोरठे और चौपाईके अर्थपर विशेष ध्यान देकर जहाँ-जहाँ भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपका वर्णन आये, उसपर स्थिरभावसे मन लगाकर भावान्वित हुआ जाय तो अधिक लाभ हो सकता है । रामायणके जिस किसी स्थलका पाठ करते समय उपर्युक्त प्रकारसे ही करना चाहिये ।

सर्दीकी अधिकतासे स्नान करना स्वास्थ्यके अनुकूल न पड़े तो रामायणका पाठ बिना स्नानके भी किया जा सकता है । उसके लिये पाठ बंद नहीं करना चाहिये ।

यज्ञोपवीतके बिना संध्या और गायत्रीजप नहीं करना चाहिये ।

गीताप्रेससे 'श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश' नामकी पुस्तक निकली है, उसमें पूजाकी विधि संक्षेपमें लिखी है ।

(५)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार मालूम हुए । जब-जब आप करुणस्वरसे रोते हुए भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं, तब-तब भगवत्कृपाका विशेष अनुभव होता है—यह बहुत ही उत्तम है । भगवान्‌की कृपा तो जीवोंपर बराबर ही रहती है; पर वह उसका आदर नहीं करता, इसलिये उसका अनुभव उसे निरन्तर नहीं होता । यदि साधक उसका आदर करने लगे—

जब-जब जिस-जिस रूपमें भगवान्‌की कृपाका दर्शन हुआ है, उस-उस बातको बार-बार याद करके अपने मनमें भगवान्‌के प्रति कृतज्ञताका भाव लाया जाय तो मेरी समझमें भगवान्‌की कृपाका निरन्तर अनुभव बना रह सकता है ।

आपने कामासक्तिकी बात लिखी सो भगवान्‌में प्रेम हो जानेपर यह अपने-आप शान्त हो जाती है । जबतक संसारके भोगोंको मनुष्य सच्चा और सुखप्रद समझता है, जबतक उनकी क्षणभङ्गुरता और परिणाम-दुःखताकी ओर उसका ध्यान नहीं जाता, तबतक न तो भगवान्‌का प्रेम मिलता है और न भोगासक्तिका ही नाश होता है । अतः मनुष्यको भगवान्‌के गुण, प्रभाव और तत्त्वकी बातोंको विश्वासपूर्वक सुन-समझकर भगवान्‌के भजन-ध्यानमें मन लगाना चाहिये तथा संसारके भोगोंसे मनको हटाना चाहिये ।

सत्सङ्गके लिये मनमें संकल्प उठना बहुत ही अच्छा है । सच्चा सत्सङ्ग मिलनेके बाद मनुष्यका भगवान्‌में प्रेम हो जाना अत्यन्त सुगम है । सत्सङ्गके बिना आप रह ही नहीं सकते, यह भाव बहुत अच्छा है । इसे और भी प्रबल तथा दृढ़ बनाइये, भाव सुदृढ़ होनेपर सफल हो जाया करता है ।

आप मुझे संत समझते हैं और मेरे ही सङ्गसे अपना निश्चित उद्धार मानते हैं, यह आपका सौजन्य है । मैं तो अपनेमें ऐसी कोई विशेषता देखता नहीं । भगवान् सर्वसमर्थ हैं और वे सभीमें हैं, अतः श्रद्धालुकी श्रद्धासे किसीके द्वारा किसीको कोई लाभ हो जाय तो इसमें श्रद्धालुकी श्रद्धा और भगवान्‌की कृपाकी ही विशेषता है ।

(६)

सादर सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार ज्ञात हुए । मेरे पत्रोंसे आपके भजन-साधनमें उत्साह और तत्परता बढ़ी है एवं आपको इनसे बड़ा सहारा मिलता लिखा सो यह आपके प्रेमकी बात है ।

आपने लिखा कि मैं घरकी जटिल परिस्थितियोंमें भी अपने भजन-साधनमें नदीके बाँधकी भाँति अटल रहा हूँ और भविष्यमें भी इससे ज्यादा प्रयत्नशील होऊँगा, ऐसी दृढ़ भावना है । सो आपकी यह भावना बहुत ही अच्छी है । इस भावनाको और भी बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

विरोधी विचारवाले व्यक्तियोंमें समय बिताना पड़ता है तथा उन बाधा डालनेवालोंके संसर्गमें जीवन-यापन करना कभी भी अभीष्ट नहीं हो सकेगा, लिखा सो ठीक है । आपकी उपासनामें जो बाधा दें, उन्हें आप मृदु शब्दोंमें विनयपूर्वक अनुरोध करके यह कह सकते हैं कि जब विभीषणने लंकामें रहकर प्रभुकी भक्ति करना नहीं छोड़ा, तब मैं कैसे छोड़ सकता हूँ । ऐसे वातावरणमें रहना पड़ता है, सो यह तो स्वतः ही वैराग्य करानेवाला है । इससे इस बातकी पुष्टि होती है कि संसार एक झंझटस्वरूप है, इससे वैराग्य करना चाहिये । इससे आपको, जो कुछ होता है, उसे भगवान्‌का विधान समझकर भगवान्‌की भक्ति और भी जोरसे करनी चाहिये ।

आपने लिखा कि 'अपने घरके गुरुजनोंसे उपासना-विरोधी बातें सुनकर चित्त खिन्न हो जाता है । क्या यह मेरी परीक्षा है या भगवान्‌को उपासना मंजूर नहीं है ?' सो भगवान्‌को उपासना मंजूर नहीं है, ऐसा नहीं सोचना चाहिये । हाँ, यह समझना अच्छा है कि यह मेरी परीक्षा है और भगवान् प्रतिकूल वातावरण सामने रखकर मुझे पूर्वके पापोंसे मुक्त कर रहे हैं । ऐसा समझते हुए इसे सहन करना चाहिये । सहन करनेमें बहुत लाभ है ।

सत्सङ्गकी विशेष त्रुटि लिखी तथा इसके लिये पश्चात्ताप किया सो सत्सङ्गके लिये चेष्टा तो बराबर रखनी चाहिये । पर न मिले तो पश्चात्ताप करके प्रयत्न चालू रखना चाहिये और सत्सङ्गके अभावमें सद्ग्रन्थों-

का स्वाध्याय करना चाहिये । और जब कभी सत्सङ्ग प्राप्त हो, उसे भगवान्‌की कृपा मानकर आनन्दित होना चाहिये ।

अब मोहि भा भरोस हनुमंता ।
बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता ॥

आपके ताऊके जीवनकालमें आपको प्रभु-आराधनामें उनका बड़ा सहारा था, किंतु अब उनका देहान्त हो जानेसे वह सहारा चला गया, सो यह तो निरुपाय बात है । मृत्युके सामने किसीका जोर नहीं चलता । अब आपने सबसे बड़ा सहारा श्रीहरिका लिखा सो यह बहुत ठीक है । यही पक्का सहारा है । इसे दृढ़तासे पकड़े रहना चाहिये । प्रभुका आश्रय लेकर खूब तेजीसे साधन करना चाहिये ।

आपने वैराग्यके प्रति अपना आग्रह दर्शाया सो यह बहुत ही उत्तम है, किंतु वैराग्य हो जानेके बाद संन्यासकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि यदि संसारमें वैराग्य है तो फिर गृहस्थमें भी कोई आपत्ति नहीं और यदि वैराग्य नहीं है तो फिर संन्यास लेनेसे भी बिना वैराग्यके दुर्गति ही है ।

आप माता-पिता आदि बड़ोंका आदर करना अभीष्ट समझते हैं और उनकी बातोंका जवाब न देनेके आदी हो गये हैं, लिखा, सो बहुत ठीक है ।

माता-पिता आपको जो यह कहते हैं कि 'अभी तुम्हारी अवस्था भजन-पूजनकी नहीं है, बादमें कर लेना' सो उनका यह कथन मोह प्रेरित है । बादमें कौन करता है तथा बादका पता भी किसे है, कौन कबतक जीनेवाला है । अतः बादपर न छोड़कर अभीसे भजन-ध्यानमें लगे रहना चाहिये । वे आमोद-प्रमोद करनेके लिये कहते हैं, सो ठीक कहते हैं; पर आमोद-प्रमोद भक्ति और धर्म विषयक ही करना चाहिये ।

आपने लिखा कि 'ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जो यह कह सके कि तुम्हारा रास्ता कल्याणकारी है, तुम जीवनका मूल्य चुकानेका प्रयत्न कर रहे हो,' सो कोई भी न कहे तो क्या है, प्रभु तो अन्तर्यामी हैं, वे तो सब कुछ जानते ही हैं । बल्कि ऐसा कोई कहे, इसकी आपको इच्छा भी क्यों होनी चाहिये । यह तो सकामभाव है, सकामभाव लाना ठीक नहीं । हम काम करें, उसे कोई सराह दे—इससे तो उल्टे उस कार्यका महत्त्व घट जाता है । अतः ऐसी इच्छा मनमें कभी नहीं रखनी चाहिये ।

बिना उपासनाके जीवन-धारण भारस्वरूप मालूम देता है, लिखा, सो यह बहुत अच्छी बात है । आप वित्तोपार्जनके काममें दस-ग्यारह घंटे लगे रहते हैं सो कोई हर्ज नहीं, इसे भी साधन बना लेना चाहिये । भगवान्‌के नाम, रूपका आश्रय लेकर भगवान्‌की सेवाके भावसे काम करना चाहिये । भगवान्‌ने कहा है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥
(गीता १८ । ५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है ।'

भगवान्‌की निरन्तर स्मृति और निष्कामभाव—ये दो बातें साथमें रहनेसे काम भी उच्चकोटिका साधन बन सकता है ।

मानसिक उपासनाके बारेमें पूछते हुए आपने लिखा कि 'राम-राम जपने लगेगा तो मन जायगा कहाँ १०८ बारमें ५ बार तो प्रेमपूर्वक राम निकलेगा ही' सो ठीक है । न करनेकी अपेक्षा तो ऐसा करना ही अच्छा है ।

मानसिक उपासनाके सम्बन्धमें यह बात है कि मनसे पूजा-जप-ध्यान करनेका नाम मानसिक उपासना है; किंतु संध्या-गायत्री—पूजा-पाठ क्रियारूपसे कर

ही अनिवार्य है । मनसे करना बहुत उत्तम है; पर यह बात नहीं है कि केवल मनसे ही करना चाहिये । मनसे करनेमें कठिनता होती है, सब लोग कर नहीं सकते, अतएव मनसे करनेको अनिवार्य नहीं बतलाया । संध्या-गायत्री, पूजा आदि नित्यकर्म हैं । इन्हें क्रियारूपसे करना अनिवार्य है, करना ही चाहिये, नहीं तो प्रत्यवाय-दोष लगता है ।

आपने लिखा कि केवल मनसे यह भावना करूँ कि मैं वहाँ जा रहा हूँ । रास्तेकी चीजें भी मुझे मिल रही हैं । तो क्या ऐसी स्थिति मुझे उस स्थानपर पहुँचा देगी ? ठीक है, नहीं पहुँचा सकती । पर यह बात सांसारिक विषयमें घटती है । ईश्वरके विषयमें यह बात नहीं है । ईश्वरके विषयमें ऐसी भावना मनसे दृढ़तापूर्वक हो तो ऐसा होना सम्भव है; क्योंकि ईश्वर चेतन और सर्वज्ञ हैं ।

आपने लिखा कि 'मानसिक कार्यसे प्रत्यक्ष तो कुछ मिलता नहीं' सो ठीक है । संसारके विषयमें तो मानसिकसे नहीं मिलता, किंतु ईश्वरके विषयमें मिलता है ।

रही संध्योपासनकी बात सो वह तो क्रियारूपसे ही करना चाहिये; क्योंकि वह अनिवार्य है । कभी सूतक-पातक हो, तब उसे मानसिक कर सकते हैं और यदि बन सके तो गायत्री-जप तो सदा ही मानसिक करना उत्तम है । जप मानसिक न बन सके तो वाणीसे ही करना चाहिये ।

'संध्या मानसिक हो सकती है क्या ?' पूछा, सो हो सकती है । उसका प्रकार यह है कि संध्याके मन्त्रोंको जीभ और होठ बंद किये हुए ही मनसे उच्चारण करे अथवा मन्त्रोंको मनसे कागजपर लिखा हुआ देखे और मनसे ही तदनुसार मार्जन आदि क्रियाएँ करता रहे ।

आपने लिखा कि 'शरीरसे जो काम किया जायगा, मन तो आप ही उधर चला जायगा ।' सो ठीक है, ऐसा ही करना चाहिये; पर हमने जो मनसे करनेकी बात लिखी है, वह इससे भी अधिक मूल्यवान् है । एकान्तमें बैठकर जो संध्या-गायत्री, पूजा-पाठ आदि नित्य-नियमित उपासना करते हैं, वह तो शौच-स्नानके अनन्तर पवित्र होकर विधिसहित नियमितरूपसे वैसे ही करनी चाहिये । वह चलते-फिरते करनेकी चीज नहीं है । इसके अतिरिक्त सामाजिक, नैतिक, व्यावहारिक या व्यापारके काममें अथवा चलते-फिरते जो समय बीतता है, उसे भी भगवान्‌के नाम-रूपका स्मरण करते हुए ही बिताना चाहिये तथा सभी कामोंमें निष्कामभाव रखना चाहिये । यह सब मानसिक करना चाहिये तथा ऐसा करनेसे वह समय एकान्त-उपासनाकालके समान ही बन सकता है । जैसे मनुष्य शौच, स्नान, आहार-विहार आदि कार्य करते समय शरीरसे वैसी क्रिया करता हुआ भी मनसे संसारका संकल्प-विकल्प करता रहता है, उसी तरह हमें संसारका काम करते हुए मनसे भगवान्‌के नाम-रूपका स्मरण करते रहना चाहिये । अभ्यास करनेसे ऐसा हो सकता है । फिर वह सब समय भी साधनके रूपमें परिणत हो सकता है ।

आपने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' वाक्य उद्धृत करते हुए लिखा कि 'संसारी बातोंमें उलझनके सिवा कुछ नहीं है, जो कुछ है सब नश्वर है,' सो ठीक है; अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार ऐसी मान्यता ठीक है ।

आप, 'ऐसी उलझनमें रहते हुए भी भजन-ध्यानसे विमुख' नहीं होते हैं, लिखा, सो इसे ईश्वरकी कृपा समझनी चाहिये ।

आपको ऐसे व्यक्ति प्रायः दिनभर मिलते रहते हैं, जो ईश्वरका अस्तित्व नहीं मानते और कहते हैं कि 'केवल भय दिखानेके लिये ही ईश्वर है ऐसा कहा जाता है ।' सो ठीक है । ऐसे आक्षेप करनेवालोंका जानकर तो कभी सङ्ग नहीं करना चाहिये । संयोगवश

प्राप्त हो जाय तो उनसे भी शिक्षा लेनी चाहिये । उनके प्रतिकूल भाव मनमें पैदा होने चाहिये और मानो ईश्वर परीक्षा कर रहे हैं; यह समझकर अपने कर्तव्यपर अटल रहना चाहिये । नास्तिक और विरोधी मनुष्य तो शंकाएँ उपस्थित करके हमें दृढ़ बनाते हैं। उनकी बातोंसे विचलित नहीं होना चाहिये । आपने लिखा कि 'मैं उनकी बातोंसे विचलित नहीं होता,' सो यह ईश्वरकी कृपा है ।

◆

दयालु दीनबन्धुके बड़े विशाल हाथ हैं

[एक सत्य घटना]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

महात्मा शिवरामकिंकरके सम्बन्धमें पढ़ा था कि एक बार डाकिया तारका मनीआर्डर लेकर उनके पास पहुँचा । तारमें लिखा था कि 'भगवान् शिवने स्वप्नमें मुझसे कहा है कि अमुक स्थानपर मेरा भक्त शिवरामकिंकर तीन दिनसे भूखा है ! उन्हींके लिये मैं तारसे यह रुपया भेज रहा हूँ । इस नामके कोई सज्जन हों तो उन्हें खोजकर उनके चरणोंमें यह तुच्छ भेंट पहुँचा दी जाय !'

× × ×

कहते हैं कि एक बार शिवाजी महाराजके मनमें यह भाव आ गया कि मैं इतने व्यक्तियोंको खिलाता हूँ।

अचानक उनके गुरुदेवने वहाँ प्रकट हो एक भारी पत्थर तुड़वाया । देखा उसके भीतर थोड़ी-सी तरीके बीचमें एक मेढक बैठा है ।

शिवाजी लाजसे कटकर रह गये । जब उन्होंने पूछा—'इस मेढकको भोजन कौन भेजता है ?'

× × ×

श्री म······· 'आकाशवाणी' में काम करते हैं ।

विवाहकी आयुवाली एक बहिनकी चिन्ता उन्हें ही नहीं, सभी घरवालोंको खाये जा रही है ।

जमीन है, पर उसपर कई हजारका कर्ज लदा है । नौकरीसे अपनी गुजर किसी कदर चल जाय, इतना ही बहुत !

× × ×

पारसाल बहिनकी शादी एक जगह तय हो गयी।

समयसे टीकेके लिये रकम एकत्र न हो सकी और वह सम्बन्ध टूट गया !

पैसेकी दुनियामें बिना पैसेवालोंको पूछता ही कौन है । गरीबोंकी बेबसीपर किसे तरस आता है। दहेजकी कौड़ी-कौड़ीको दाँतसे पकड़नेवाले लोगोंके हृदयमें दया कहाँ !

× × ×

दीनबन्धु बिन दीनकी को 'रहीम' सुधि लेय।

× × ×

अभी-अभी उस दिन श्री म·······को तार मिला—

'तुम्हारी बहिनका फलदान चढ़ गया है । तुम छुट्टी लेकर फौरन आ जाओ । सभी घरवालोंको लेकर तुम्हें काशी जाना है । वहीं विवाह होगा । कन्यादान तुम्हें ही करना है !'

× × ×

छुट्टीके लिये बड़ी दौड़-धूप की । अफसरोंने इनकार कर दिया । पर जिसकी अर्जी मालिकके दरबारमें मंजूर हो जाय, उसकी अर्जी यहाँपर मंजूर हुए बिना कैसे रह सकती है ।

'जरा देरको सोचिये कि आपकी बेटीकी शादी हो तो क्या आप ऐसे मौकेपर रुक जायँगे ?'—बाल-बच्चेदार अफसर पिघल ही तो गया म………के मुँहसे यह दलील सुनकर !

× × ×

विवाह सकुशल समाप्त हो गया । लड़का स्वस्थ, सुशील, पढ़ता भी है, कुछ पैदा भी करता है ।

दो हजार फलदानमें लगा और एक हजार अन्य सब फुटकर खर्चोंमें !

× × ×

पर, यह तीन हजार रुपया आ कहाँसे टपका ?

× × ×

श्री म………से एक सज्जनका मुकदमा चल रहा है। पानीके प्रश्नको लेकर फौजदारी हो चुकी है…… ।

उनके बेटेने एक दिन उनसे कहा—'बाबू, म………के पिताके आपपर बड़े उपकार हैं । उन्होंने आपके प्राणोंकी भी रक्षा की है । उनसे और आपसे बड़ी दोस्ती थी । उनकी बेटीकी शादी पैसेके अभावमें रुकी रहे, यह तो ठीक नहीं । यह तो इज्जतका सवाल है । पिताके मित्र होनेके नाते आपकी इज्जतका भी सवाल है । पानीका झगड़ा अपनी जगह है, उसे तो इसमें बाधक नहीं बनना चाहिये । इस मौकेपर तो आपको म………की मदद करनी ही चाहिये !………।

× × ×

बेटेके मुँहसे भगवान् बोले ।

पिताने खटसे तीन हजार रुपये निकालकर दे दिये !

फकीर कौन है ?

[कहानी]

(लेखक—श्रीजहूरबख्श)

दमिश्कके किसी फकीरने वर्षों जंगलमें रहकर और पेड़ोंके पत्ते खाकर अपना जीवन बिताया और देशव्यापी यश पाया । होते-होते उसका नाम बादशाहके कानोंतक जा पहुँचा । आखिर एक दिन बादशाह भी उसके दर्शनार्थ जंगलमें गया । उसे देखकर बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—'मेरा खयाल है कि अगर आपके रहनेके लिये शहरमें ही माकूल इंतजाम कर दिया जाय तो आप और भी सुभीतेसे अल्लाहकी इबादत कर सकेंगे । वहाँ आपके रहनेसे एक बहुत बड़ा फायदा यह होगा कि आपकी सोहबत—आपकी नसीहत न जाने कितने लोगोंपर असर डालेगी और वे बड़ी आसानीसे अपनी जिंदगी सुधार सकेंगे ।'

फकीरने होठोंकी मुसकानपर बादशाहका आग्रह उड़ा दिया । आखिर वजीरोंने उसे समझाया—'जहाँपनाहकी बात मान लेनेमें आपका हर्ज ही क्या हुआ जाता है । हम तो समझते हैं आप चलकर थोड़े दिन शहरमें रहिये और देखिये कि वहाँ आपकी तबीयत लगती है या नहीं ? अगर लोगोंकी सोहबतमें आपको अपना कीमती वक्त बरबाद होता हुआ जान पड़े, तो आप फिर बखुशी यहीं चले आइये । ऐसा तो है नहीं कि कोई आपको वहाँ बाँधकर रख लेगा ।'

फकीरकी समझमें यह बात आ गयी और वह शहरमें आकर रहने लगा । बादशाहने बड़ी खुशीसे उसकी आवभगत की और उसके रहनेके लिये खास अपने महलका बगीचा खाली करवा दिया । वह बगीचा कोई मामूली बगीचा तो था नहीं, था शाही बगीचा—मन-प्राण चुरा लेनेवाला और अतिशय सुख देनेवाला । पौधोंमें लाल-लाल फूल झूम रहे थे जो नेत्र-रञ्जक हरियालीके मध्य चमकते हुए अङ्गारोंके समान

प्रतीत होते थे । बादशाहने फकीरकी सेवा करनेके लिये फौरन एक बाँदी भेज दी । वह ऐसी रूपसी—ऐसी मनोहारिणी थी कि बड़े-बड़े तपस्वियोंको भी पथ-भ्रष्ट करनेमें समर्थ थी । उसके साथ एक दासी और थी—वह भी कुछ कम न थी, अतीव सुन्दरी थी ।

उन रूप-राशिसम्पन्न ललनाओंकी मनोमुग्धकारिणी स्वर-माधुरी और सरल सेवासे फकीर परम संतुष्ट हुआ । वह अपनी वास्तविकता भूल गया । अब नित्य-प्रति विविध भोज्य-पदार्थ खाने लगा, भाँति-भाँतिके बहुमूल्य वस्त्र पहनने लगा, नाना प्रकारके फूलों और सुगन्धित द्रव्योंका रस लेने लगा और अनेकानेक नारियोंके सहयोगका सुख लूटने लगा । महात्माओंने ठीक ही कहा है—मनमें दबे हुए विकार कुसङ्ग तथा विषयोंका निर्बाध सामीप्य पाकर उभड़ उठते हैं और संयमी माने हुए जीवनको सर्वथा पतनके गहरे गर्तमें गिरा देते हैं । सारांश यह कि फकीर यहाँ आकर पूर्णतया पतित हो गया । किसी अनुभवी मनुष्यका कथन है—'जब कोई वकील, शिक्षक, शिष्य, वक्ता या महात्मा सांसारिक विषय-वासनाओंमें उलझ जाता है, तब उसकी दशा उस अधम मक्खीके समान हो जाती है, जिसके पैर मधुमें लिपटकर रह जाते हैं ।'

कुछ दिन पश्चात् बादशाहके मनमें उस फकीरके दर्शन करनेकी इच्छा जाग्रत् हुई । वह बगीचेमें पहुँचा, तो देखता क्या है कि फकीरका रूप-रंग सर्वथा बदल गया है । वह खूब मोटा-ताजा हो उठा है और उसके शरीरसे गुलाबकी आभा फूटी पड़ती है । वह रेशमी तकियेके सहारे दुग्ध-फेनवत् कोमल शय्यापर लेटा हुआ है, परम सुगन्धकी महकमें डूब रहा है और एक स्वर्गीय सौन्दर्यसम्पन्न बालक हाथमें मोरछल लिये उसके पीछे विद्यमान है । फकीरको इस प्रकार सुखी देखकर बादशाह बहुत संतुष्ट हुआ । परंतु, फकीर तो असंतुष्ट ही दिखायी दिया । उसने जो शिकायतें कीं, उनका सारांश यही था—यह तकलीफ है, वह तकलीफ है, और यह चीज नहीं है, वह चीज नहीं है । इसपर अन्य लोग तरह-तरहकी बातें करने लगे । अन्तमें बादशाह बोला—'मुझे तो दुनियामें दो ही तरहके आदमी भले मालूम होते हैं—एक तो विद्वान् और दूसरे एकान्तवास करनेवाले फकीर ।'

उस मौकेपर वहाँ एक ज्ञानी और अनुभवी वजीर भी मौजूद था । उसने बादशाहकी बात सुनकर कहा—'बजा फरमाते हैं जहाँपनाह ! नेकीका कायदा यह कहता है कि आप इन दोनों तरहके आदमियोंकी सहायता करें । विद्वानोंको धन दें—आदर-मान दें, जिससे अन्य लोग भी उत्साहित होकर विद्याभ्यासमें मन लगावें और विरक्तोंको—एकान्त-वास करनेवाले फकीरोंको कभी भूलकर फूटी कौड़ी भी न दें, उन्हें विषयभोगोंसे एकदम अलग रक्खें, जिससे उनकी विरक्ति बराबर बढ़तीकी ओर चलती रहे । भला फकीरोंको दिरहमों और दीनारोंकी जरूरत क्यों पड़ने लगी । अगर कभी उन्हें धन मिल भी जाता है तो वे उसे दे डालनेके लिये दूसरे फकीरोंकी तलाश करते हैं । जिसका स्वभाव भला है, जिसका चित्त ईश्वरमें लगा हुआ है, वह न तो ईश्वरके नामपर निकाली हुई रोटी खाता है और न ईश्वरके नामपर टुकड़े-टुकड़े भीख ही माँगता फिरता है; और सच पूछिये तो वही सच्चा फकीर या महात्मा है । फकीर तो वही है, जो ज्ञानवान् हो, धर्माचरण करनेवाला हो; भले ही वह पवित्र रोटी या भिक्षाके टुकड़े खानेवाला न हो । मेरे पास अपना सामान है, फिर भी मैं दूसरेके मालपर नजर रखता या दूसरेके सामने हाथ पसारता हूँ; यदि ऐसी हालतमें आप मुझे फकीर न समझें, तो शायद यह आपकी गलती न होगी ।'*

---

* महात्मा शेखसादीकृत 'गुलिस्ताँ' के एक प्रसङ्गके आधारपर ।

धर्मधुरन्धर श्रीभरतजी

(ले०—श्रीकमला सहाय)

जौं न होत जग जनमु भरत को । सकल धरम धुर धरनि धरत को ॥

केवल इस एक अर्धालीमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने पुरुषश्रेष्ठ भरतजीकी पुण्यचरित्रमालाके समस्त पुष्पोंका मकरन्द संचित कर दिया है और फिर उस असीम गुण-सम्पन्न, उपमारहित, महापुरुषके निष्कलंक चरित्रकी व्याख्या कर सकनेमें अपनी भी अक्षमता किस खूबीसे प्रकट की है—

निरुवधि गुन निरुपम पुरुष भरतु भरत सम जानि ।
कहिअ सुमेरु कि सेर सम कबि कुल मति सकुचानि ॥

यदि विचारपूर्वक निरीक्षण किया जाय तो सभ्य संसारके किसी भी देश, जाति अथवा साहित्यमें इस प्रकारके व्यक्तित्वका चरित्र-चित्रण नहीं पाया जाता । इनके चरित्रमें धर्मनिष्ठा, कर्तव्यपरायणता आदि सद्गुणोंने मानो अपनी पूर्णताको प्राप्त किया है । अपने अत्यन्त सामान्य अथवा महान् उत्तरदायित्वपूर्ण कठोर कर्तव्य, दोनोंहीके पालन करनेमें उन्होंने जिस अपूर्व सौन्दर्यका परिचय दिया है वह अतुलनीय है । जिस समय महारानी कैकेयी उन्हें स्वागत करके राजभवनमें ले आती हैं, उस समय, माताके स्नेह-आदरपर नहीं, दुखित परिवारपर ही उनकी दृष्टि पड़ती है ।

भरत दुखित परिवारु निहारा । मानहु तुहिन बनज बनु मारा ॥

उसके बाद पिताका स्वर्गवास, रामका वनवास सुनकर उनका कोमल हृदय आघात-पर-आघात पाकर संज्ञाशून्य वज्राहत-सा हो जाता है । 'हेतु अपनपौ जानि जिय थकित रहे धरि मौन ।' इन सब अनर्थोंका कारण अपनेहीको जानकर, असहनीय मर्मभेदी यन्त्रणा और दारुण पश्चात्तापसे कुछेक क्षणोंके लिये उनका अटल धैर्य छूट जाता है, तब वे माताको कुछ कठोर वचन कहते हैं; किंतु दूसरे ही क्षण उनका शुभ्र निष्कलंक, उदार हृदय, समस्त दुःख और अपयशका भार अपने ऊपर लेकर माताको भी क्षमा कर देता है ।

राम बिरोधी हृदय तें प्रगट कीन्ह बिधि मोहिं ।
मो समान को पातकी बादि कहउँ कछु तोहि ॥

सब समाचार सुनकर राजकुमार शत्रुघ्न क्रोधसे जल उठते हैं, कुछ वश नहीं चलता कि किसे दण्ड दें, उसी समय मन्थरा सामने आ जाती है और वे उसीपर अपना सारा क्रोध उतारते हैं ।

कूबर टूटेउ फूट कपारू । दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू ॥

इतनेपर भी उन्हें संतोष नहीं होता । 'लगे घसीटन धरि धरि झोंटी ।' किंतु महात्मा भरत, उसे दण्ड देना तो दूर रहा एक शब्द भी नहीं कहते ।

भरत दयानिधि दीन्हि छड़ाई । कौसल्या पहिं गे दोउ भाई ॥

गुरुदेव वशिष्ठ, माता कौशल्या और सचिवगण, पुरवासी, सभी उनसे राजसिंहासन ग्रहण करनेकी प्रार्थना, अनुरोध करते हैं, किंतु उन सबकी प्रार्थनाका उस कर्तव्य-परायण, धर्मशील, महाप्राण व्यक्तिपर क्या प्रभाव होता है !

गुर के बचन सचिव अभिनंदनु । सुने भरत हिय हित जनु चंदनु ॥
सुनी बहोरि मातु मृदु बानी । सील सनेह सरल रस सानी ॥
सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरतु ब्याकुल भए ।
लोचन सरोरुह स्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नए ॥
सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहि सुधि देह की ।
तुलसी सराहत सकल सादर सीवँ सहज सनेह की ॥

अपरिसीम व्यथासे हृदय विदीर्ण हो रहा है; किंतु संयतबुद्धि और अविचलित-धैर्यका परिचय उन्हींके शब्दोंमें देखिये ।

पितु सुरपुर सिय रामु बन करन कहहु मोहिं राज ।
एहि तें जानहु मोर हित के आपन बड़ काज ॥
हित हमार सियपति सेवकाईं । सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाईं ॥
मैं अनुमानि दीख मन माहीं । आन उपाय मोर हित नाहीं ॥
जाउँ राम पहि आयसु देहू । एकहि आँक मोर हित एहू ॥

वन जानेका निश्चय करके सबसे प्रथम उन्हें यही चिन्ता होती है कि समस्त सम्पत्ति श्रीरामकी है, उसकी रक्षाकी उचित व्यवस्था किये बिना कैसे वन चल दूँ और विश्वास-पात्र सेवकोंको उचित शिक्षा देकर, जो जिस योग्य था उसे उसी कामपर नियुक्त करके तभी वनकी ओर कदम बढ़ाते हैं । श्रीराम-सीता पैदल ही वनको गये, इस कारण स्वयं पैदल ही वनयात्रा आरम्भ करते हैं यद्यपि माता कौशल्याके अनुरोधसे कुछ समयके लिये रथसे यात्रा करते हैं; किंतु गङ्गा पार करनेके बाद उन्होंने किसीका अनुरोध नहीं सुना ।

गवने भरत पयादेहि पाए । कोतल संग जाहिं डोरिआए ॥
कहहिं सुसेवक बारहिं बारा । होइहि नाथ अस्व असवारा ॥

किंतु उन्हें वे उत्तर देते हैं—

रामु पयादेहि पाय सिधाए । हम कहँ रथ गज बाजि बनाए ॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा । सब तें सेवक धरमु कठोरा ॥

त्रिवेणीमें स्नान करते समय उन्होंने तीर्थराजसे प्रार्थना की—

माँगउ भीख त्यागि निज धरमू । आरत काह न करइ कुकरमू ॥

अर्थात् क्षत्रियका धर्म भीख माँगना नहीं है फिर भी मैं भीख माँगता हूँ कि—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान ।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन ॥

स्वयं श्रीरामजी भले ही मुझे कुटिल समझें, संसारकी तो बात ही अलग है; किंतु—

सीताराम चरन रति मोरें । अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें ॥

उनके हृदयमें स्थित श्रीराम-प्रेमरूपी सागरने मानो यहाँ अपनी मर्यादा तोड़ दी है ।

भरद्वाज मुनिके आश्रममें पहुँचनेपर, मुनिने समस्त पुरवासियोंसहित उन्हें अपना आतिथ्य स्वीकार करनेको कहा, यद्यपि उनकी इच्छा नहीं है फिर भी मुनिकी आज्ञा पालन करनेके लिये स्वीकृति दे देते हैं । मुनिश्रेष्ठ अपने तपोबलसे ब्रह्माको भी चकित कर देनेवाला वैभव रचते हैं, किंतु उन अपरिमित भोग-विलासकी विभूतियोंके बीच रातभर रहनेपर भी श्रीभरतजीने मनसे भी उनका स्पर्श नहीं किया है ।

चित्रकूट पहुँचकर श्रीरामको लौटा ले चलनेके लिये अत्यन्त संकोचसहित सादर अनुरोध करते हैं—

देव एक बिनती सुनि मोरी । उचित होइ तस करब बहोरी ॥
तिलक समाजु साजि सबु आना । करिअ सुफल प्रभु जौं मनु माना ॥

सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ ।
नतरु फेरिअहि बंधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ ॥

नतरु जाहिं बन तीनिहु भाई । बहुरिअ सीय सहित रघुराई ॥
कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू । रहत न आरत के चित चेतू ॥

कैसी निश्छल, निःस्वार्थ, अलौकिक विनय है । 'मैं आर्त हूँ, उचित-अनुचित विचार कर सकनेकी शक्ति नहीं रह गयी है, केवल अपना स्वार्थ ही सूझता है ।' श्रीरामको लौटानेकी ऐसी तीव्र उत्कण्ठा और अदम्य अभिलाषा रहते हुए भी, उनकी असम्मति देखकर फिर अनुरोध नहीं किया। अयोध्या लौटकर श्रीरामकी चरणपादुकाएँ सिंहासनपर विराजित करके जिस व्रत-नियमादिका पालन करते हुए चौदह वर्षतक नन्दिग्राममें निवास करते हैं, वह अकथनीय है।

भूषन बसन भोग सुख भूरी । मन तन बचन तजे तिन तूरी ॥
अवध राजु सुर राजु सिहाई । दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई ॥
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा । चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥

श्रीरामचरितमानसमें अंकित श्रीभरत-चरित्रकी तुलना न तो प्राचीन कालके ग्रन्थोंमें कहीं मिलती है, न इस नवीन युगके इतिहासमें । गोस्वामी तुलसीदासके ये वचन सर्वथा सत्य हैं—

जौं न होत जग जनमु भरत को । सकल धरम धुर धरनि धरत को ॥

* * *

काल

झूँठे सुख को सुख कहत, मानत है मन मोद ।
जगत चबेना कालका कछु मुखमें कछु गोद ॥
सब जग सोया नींद भरि, मोहि न आवै नींद ।
काल खड़ा है बारनै, तोरन आया बींद ॥
लूट सकै तो लूटि लै रामनाम भंडार ।
काल कंठ ते पकरिहैं रोकै दसहूँ द्वार ॥

—कबीर

गोरक्षाकी आवश्यकता और उसके उपाय

(गो-सेवक-परिषद्, नयी दिल्लीमें सभापतिपदसे दिये हुए श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके भाषणका अधिकांश)

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥

गोरक्षण, गोपालन और गोसंवर्धनका प्रश्न भारतवर्षके लिये नया नहीं, गोसेवा और गोवंशकी उन्नति भारतीय संस्कृतिके अभिन्न अङ्ग हैं। भारतवर्षमें अत्यन्त प्राचीन कालसे बड़े-बड़े महापुरुषोंद्वारा गोसेवा और गोपालन होता आया है। रघुवंशी महाराज दिलीप नन्दिनी गौके लिये अपने प्राणतक देनेको प्रस्तुत हो गये थे। भगवान् श्रीकृष्णका समस्त बाल्य-जीवन गोसेवामें बीता। उन्होंने स्वयं वनोंमें घूम-घूमकर गो-वत्सोंको चराया। इसीलिये उनका नाम गोपाल पड़ा। युधिष्ठिरके यहाँ गायोंके दस हजार वर्ग थे। यहाँ गोतम नामके बड़े व्यापारी होते थे, जिनके बड़ी संख्यामें गायोंके दल-के-दल होते थे। यह थी हमारी गोसम्पत्ति और यह था हमारा गोपालन। गायोंको अब भी गाँवोंके लोग 'धन' कहते हैं। बड़े ही दुःखकी बात है कि उसी गोपालक देशका आज इतना पतन हो गया कि गोरक्षणकी सफल व्यवस्था सोचनेके लिये देशके शुभ-चिन्तकोंको बार-बार जहाँ-तहाँ एकत्र होना पड़ता है, प्रयत्न करना पड़ता है, परंतु अभीतक वह प्रयत्न सफल नहीं हो पाया!

गोरक्षा-आन्दोलन

अंग्रेजी शासनके पहले गोरक्षा-आन्दोलनकी कोई आवश्यकता ही नहीं थी, उस समय सर्वत्र पर्याप्त गोचर-भूमि थी। बहुत अधिक मात्रामें चारा उत्पन्न होता था। इसलिये पशुओंको जीवनभर चारा मिलता था। अच्छा चारा-दाना मिलने तथा सेवाकी सुव्यवस्था होनेके कारण पशु बीमार ही बहुत कम होते थे। अनुभवी चिकित्सक घरेलू दवाइयोंसे उनकी सफल चिकित्सा करते थे। चमड़े, मांस आदिके बाहर भेजे जानेका तो कोई प्रश्न ही नहीं था, कहीं कसाईखाने नहीं थे। लूले, लँगड़े, अपंग गौ-बैलोंके लिये शुद्ध सेवाकी दृष्टिसे स्थापित पिंजरापोल तथा गोशालाएँ थीं। खेतोंमें खादकी कमी नहीं थी, इससे प्रचुर अन्न पैदा होता था। दूध-दहीका मूल्य लेना पाप माना जाता था। मुसल्मानी शासनमें भी गायका कम महत्व नहीं समझा जाता था। बाबर, हुमायूँ और अकबरने गोवध बंद कर दिया था। कई मुसल्मान शासकोंने गायोंकी नस्लको उन्नत बनाया था।

अंग्रेजोंके आनेके बाद गोरोंके लिये गोमांसकी आवश्यकता हुई। व्यापारिक नीतिसे चमड़ेका निर्यात आरम्भ हुआ। कानूनी तौरपर जगह-जगह कसाईखाने खुले और उत्तरोत्तर गोहत्या बढ़ती गयी। सन् १९१७ई० में कलकत्ता हाईकोर्टके चीफ जज तथा गोसम्मेलनके प्रधान सर जॉन उडरफने प्रतिवर्ष एक करोड़ गोवधका अनुमान लगाया था। विशेषज्ञोंकी उस समयकी सम्मतिके अनुसार भी प्रतिवर्ष लगभग एकसे सवा करोड़ अर्थात् प्रति मिनट १९ से २४ तक गो-जातिके पशु काटे जाते थे।

इस भयानक गोहत्याको देखकर भारतीय राष्ट्रपुरुषका अन्तःकरण दहल जाता था और समय-समयपर इसीलिये किसी-न-किसी प्रकारसे गोरक्षणका प्रयास भी होता रहा। स्वामी दयानन्दजी सरस्वतीने गोरक्षाके लिये बड़ा प्रयास किया, उन्होंने 'गोकरुणानिधि' नामक एक पुस्तक प्रकाशित की। काशीके भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, गोभक्त श्रीहासानन्द-जी, श्रीकरसेटजी सोराबजी जस्सावाला, सर जॉन उडरफ, महामना पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय और महात्मा गांधीजी प्रभृति अनेकों महानुभावोंने अपने-अपने समयमें अपनी-अपनी योग्यता, पद्धति तथा सुविधाके अनुसार विभिन्न प्रकारसे गोरक्षाके लिये कार्य किये। अनेकों संस्थाएँ स्थापित हुईं, जिनमें बंबईका जीवदयामंडल, महात्मा गांधीजीद्वारा स्थापित गोसेवासंघ, भारत-गोसेवक-समाज आदि आज भी बड़ा सुन्दर कार्य कर रही हैं। पिछले दिनों महात्मा श्रीकरपात्रीजीके आदेशसे लाखों पत्र-तार भेजे गये। हजारों पुरुष जेल गये। अभी हालमें राष्ट्रिय स्वयंसेवक संघने लगभग पौने दो करोड़ हस्ताक्षर करवाकर भेजे। इससे जनताकी भावनाका पता लगता है।

सरकारके कार्य

हमारी सरकार स्थापित होनेके बाद महात्मा गांधीजी तथा राष्ट्रपति डा० श्रीराजेन्द्रप्रसादजीके प्रयत्नसे ता० १९ नवम्बर १९४७को भारतसरकारके कृषि-मन्त्रालयने गोरक्षण और गोपालनपर भलीभाँति विचार करके सम्मति देनेके लिये सर दातारसिंहजीकी अध्यक्षतामें गोरक्षण और गो-संवर्धन कमेटी बनायी। भारतसरकारद्वारा निर्मित इस विशेषज्ञ कमेटीने सम्पूर्ण गोवधबंदीके सिद्धान्तको स्वीकारकर ६ नवम्बर १९४८को अपनी रिपोर्ट दी। गोरक्षण तथा गोसंवर्धनकी योजना उपस्थित करते हुए सिफारिश की कि

१४ वर्षतककी आयुके पशुओंका वध तुरंत रोक दिया जाय और दो वर्षके अंदर-अंदर सम्पूर्ण गोवध बंद हो जाय। इसके अनुसार पूरा कार्य होता तो अबतक सम्पूर्णतया गोवध बंद हो जाना चाहिये था; परंतु कई कारणोंसे ऐसा नहीं हो सका। यद्यपि इस कमेटीकी योजनाके अनुसार भारतसरकारने निम्नलिखित कार्य किये और इसके लिये वह धन्यवादकी पात्र है—

(क) पहले केन्द्रीय गोशाला-विकास-बोर्ड, तदनन्तर मध्यस्थ गोसंवर्धन कौंसिलकी स्थापना की गयी, जिसमें विभिन्न राज्योंके गोशाला-पिंजरापोल-संघोंके प्रतिनिधि तथा पशुविभागके अधिकारियोंकी नियुक्ति की गयी।

(ख) इस कौंसिलको गोसंवर्धनकी योजना, गोसदनोंकी योजना, पशुओंके संक्रामक रोगोंका इलाज आदि कार्य सौंपे गये हैं।

(ग) गोसंवर्धन कौंसिलको उपर्युक्त योजनाके निमित्त सरकारने आर्थिक सहायता देनेका निश्चय किया है।

(घ) पंचवर्षीय योजनामें सवा तीन लाख अपंग तथा वृद्ध गोवंशको रखनेके लिये १६० गोसदन तथा नस्ल-सुधारके ७५० केन्द्र खोलनेका निश्चय हुआ।

(ङ) सरकारी स्तरपर गोपाष्टमीके दिनोंमें गोसंवर्धन-दिवस मनाया गया।

(च) गोशाला, पिंजरापोल-संघोंको व्यवस्थित करने और इन संस्थाओंद्वारा गोसंवर्धन-योजनाको सफल बनानेपर विचार किया गया।

(छ) जिन राज्योंमें पहले गोवध बंद था, उनके अतिरिक्त मैसूर, मध्यप्रदेशमें गायों, बछड़ों, दिल्ली नगर तथा उत्तर प्रदेशके कुछ म्युनिसिपल बोर्डोंकी सीमाओंमें गोवंशका वध बंद हुआ।

कितने ही प्रान्तोंमें आजतक भारतसरकारकी आज्ञा होनेपर भी उपयोगी १४ वर्षतक आयुके पशुओंका वध बंद नहीं किया गया। जहाँ कहीं उपयोगी पशु-वध बंद करनेके कानून बने भी हैं, वहाँ कानूनके अधूरेपनके कारण कोई लाभ नहीं पहुँचा। आज भी कलकत्ता, बंबई आदि बड़े नगरोंमें अधिक-से-अधिक दूध देनेवाली सर्वोत्तम नस्लकी नौजवान गायों, भैंसोंका वध जारी है। संसारके उन देशोंमें भी जहाँके लोगोंको गोमांस खानेसे परहेज नहीं, ऐसी गायोंका वध नहीं होता!

अबतकके अनुभवसे मालूम हुआ है कि जबतक सम्पूर्णतया गोवध बंद नहीं होगा, उपयोगी पशुओंका वध भी जारी रहेगा ही। उपयोगी पशुओंका वध जारी रहे तो नस्ल-सुधारसे लाभ नहीं। इस अवस्थाको दृष्टिमें रखते हुए ही भारतीय विधानकी धारा ४८ में गायों, बछड़े, बछड़ियोंका वध न करना राज्यकी नीति निर्धारित की गयी है। भारतसरकारके खाद्य तथा कृषिमन्त्री श्रीकिदवई साहबने पटनाके गोसेवा-सम्मेलनके उद्घाटन-भाषणमें कहा है कि गोवध-बंदीके प्रश्नको अधिक दिनोंतक नहीं टाला जा सकता। उन्होंने २५-२-५३ को गोसंवर्धन-कौंसिलके सभापतित्व-भाषणमें अनुपयोगी तथा अनुत्पादक पशुओंको रखनेकी जिम्मेवारी लेनेकी भी चर्चा की है।

पंचवर्षीय योजनामें सवा तीन लाख अनुपयोगी गोवंशको गोसदनोंमें रखनेकी योजना करके सरकारने गोवध कतई बंद करनेकी ओर एक प्रशंसनीय कार्यका आरम्भ किया है। हमारे प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहरलालजी नेहरूने यह स्पष्ट कहा है कि राज्य-सरकारें अपनी-अपनी स्थितिके अनुसार गोवध-बंदीके लिये आवश्यक कार्य कर सकती हैं।

सरकारद्वारा बनायी विशेषज्ञ कमेटीने सम्पूर्ण गोवध-बंदीकी सिफारिश की। हमारे विधानमें राज्यकी नीति निर्धारित हुई। खाद्यमन्त्री महोदयने गोवध-निषेधकी घोषणा कर दी। अब जनता तथा जनताद्वारा चुने हुए सभासदोंसे प्रार्थना है कि वे अपने-अपने प्रान्तमें कानून बनवायें और उन कानूनोंपर आचरण करवायें। गोहत्या-बंदीको सफल बनानेके लिये गोसदनोंको सफल बनाना अत्यन्त आवश्यक है। सरकारने १६० गोसदन खोलनेका निश्चय किया है; हमें चाहिये कि इन गोसदनोंको चलानेके लिये सरकारको सहयोग दें तथा जनता स्वयं भी सरकारसे सहयोग और सहायता प्राप्त करके अधिक-से-अधिक गोसदन खोले। सरकार जो गोसदन खोलेगी, उनके खर्चके लिये केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारें पचास-पचास प्रतिशत देंगी। पर यदि गैरसरकारी संस्था या गोशालाएँ गोसदन खोलें तो केन्द्रीय सरकार ७५ प्रतिशत देगी, शेष खर्च संस्था स्वयं करे या राज्य-सरकारसे ले। गोशालाओं तथा अन्य गोरक्षिणी संस्थाओंको चाहिये कि इस सरकारी सहायतासे लाभ उठायें। गोवध-निषेधके प्रश्नको हल करनेके लिये गोसदन-योजनाको सफल बनाना अत्यन्त आवश्यक है।

नस्ल-सुधार और चारेका उत्पादन

कानूनी रूपसे सम्पूर्णतया गोवध बंद होनेके साथ ही नस्ल-सुधारका कार्य भी व्यवस्थित रीतिसे अवश्य होना चाहिये। जबतक आर्थिक दृष्टिसे गौका महत्त्व नहीं समझ लिया जायगा, तबतक गोवध बंद होनेपर भी 'अकाल

गोमरण' बंद नहीं होगा । यद्यपि कानूनके द्वारा गोवध कतई बंद होनेपर उपयोगी तथा दूधवाली गायोंका वध बंद हो जायगा, इससे नस्ल-सुधारमें बहुत सुविधा होगी, पर इसीसे काम नहीं चलेगा । अनुपयोगी और अनुत्पादक गायोंकी व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है । हमारे देशमें जो गायोंकी दुर्दशा है, इसका मूल कारण गरीबी है । जो गृहस्थ अपना पेट नहीं भर सकता, वह अपनी गायको पेटभर कहाँसे खिलायेगा । इसलिये गायको अर्थकरी बनाना आवश्यक है और उसके दो ही उपाय हैं—गायोंकी नस्ल सुधरे जिससे वे अधिक-से-अधिक दूध अधिक-से-अधिक समयतक दे सकें, एवं दूध देनेवाले तथा कामके पशुओंके अतिरिक्त अन्य पशुओंके पालन-पोषणका समस्त भार गृहस्थपर न रह जाय । इसके लिये गोचरभूमिकी प्रचुरता, गोशालाओंका सुधार, गायके गोबर तथा गोमूत्रसे तथा मरी हुई गायके प्रत्येक अङ्गसे आर्थिक लाभ प्राप्त करने तथा अच्छी नस्लके साँड़ोंकी व्यवस्था और केवल उन्हीं साँड़ोंके द्वारा गायोंका गर्भाधान आवश्यक है । नस्ल-सुधारकी व्यावहारिक, उपयोगी, सस्ती और स्थायी व्यवस्था हुए बिना नस्ल-सुधारका कार्य सहज नहीं है ।

नस्ल-सुधारके साथ-साथ गायको पर्याप्त चारा-दाना भी मिलना चाहिये । विशेषज्ञोंके अनुमानानुसार हमारे पशुओंको आवश्यकतासे २२ प्रतिशत चारा और ७२ प्रतिशत दाना कम मिलता है । यदि खादके उपयोगमें लायी जानेवाली मूँगफली इत्यादिकी खली तथा जंगलोंमें व्यर्थ जानेवाली घासका सदुपयोग किया जाय तो बहुत सहायता मिल सकती है । लाखों एकड़ जमीन जो व्यर्थ पड़ी है, उसमें तरह-तरहके घास उत्पन्न किये जा सकते हैं । मालूम हुआ है कि भारतसरकारने घासकी जाँचके लिये किसी विशेषज्ञको लगाया है, आशा है, इससे लाभ पहुँचेगा । अन्नके उत्पादनके साथ-साथ चारेका उत्पादन भी बढ़ेगा । जनता और सरकार चारे, गँवार, खलीका उत्पादन बढ़ानेके लिये यत्न करें तथा उनका उपयोग केवल पशुओंके लिये ही किया जाय तो इस स्थितिमें सुधार हो सकता है ।

गोवंशके प्रतिपक्षी

ट्रैक्टरों, ट्रकों तथा रासायनिक खादका अनुचित व्यवहार, कत्ल की हुई गायके चमड़ेकी बनी चीजोंकी खपत, नकली दूध-दहीका तैयार करना, नकली घीका व्यापार तथा विदेशोंसे निर्घृत तथा सघृत दुग्ध-चूर्ण इत्यादिका आयात तथा चमड़े, हड्डी, मांसादिका निर्यात गोधनके लिये हानिकारक है तथा प्रतिपक्षी बनकर उसे निकम्मा बना रहा है । जनता और सरकार इनके अनुचित व्यवहार तथा व्यापारका नियन्त्रण करनेकी कोशिश करें ।

कुछ विचारणीय बातें

गोरक्षण एवं गोपालनके लिये आप सरकार तथा जनताके सम्मुख ऐसी योजना उपस्थित करें, जिससे गोरक्षण एवं गोपालनका ठोस और रचनात्मक कार्य हो । इस सम्बन्धमें मैं कुछ बातें आपकी सेवामें उपस्थित करता हूँ, आशा है कि आप इनपर विचार करेंगे ।

१. नस्ल-सुधारका प्रयत्न करना, जिससे गाय प्रचुर दूध देनेवाली हों, बैल मजबूत हों और मरे हुए गाय-बैलकी अपेक्षा जीवित गाय-बैलका मूल्य बढ़ जाय । इस प्रकारसे गायको आर्थिक दृष्टिसे स्वावलम्बी बनाना ।

२. कलकत्ते आदि शहरोंमें, जहाँ गायके रखनेके लिये पर्याप्त स्थान नहीं है, जहाँ कृत्रिम और निर्दय उपायोंसे दूध निकाला जाता है, बछड़े मरने दिये जाते हैं, दूध सूखते ही गाय कसाईके हाथ बेच दी जाती है, वहाँ जबतक ये बातें दूर न हों, बाहरसे गायको कतई न जाने देना । स्थानकी सुविधा कराना तथा सरकारके द्वारा ऐसी व्यवस्था कराना, जिसमें गायोंको दिये जानेवाले ये सब कष्ट दूर हों ।

३. गायको भरपेट चारा-दाना मिले, इसके लिये व्यवस्था करना । जगह-जगह गोचर-भूमि छुड़वाना । नये-नये चारेकी खेती कराना ।

४. बूढ़ी, बेकाम गायोंके लिये गोसदनोंकी स्थापना करना । जिनमें गायके अपनी मौत मरनेके समयतक उसके लिये आवश्यक चारे-पानी और चिकित्साकी सुव्यवस्था हो । नस्ल न बिगड़े, इस दृष्टिसे वहाँ गायोंको बरदाया न जाय । गोसदनोंका संचालन सरकारी तथा गैर सरकारी गोरक्षा प्रेमी लोगोंकी सम्मिलित कमेटीद्वारा होना आवश्यक है ।

५. वर्तमान पिंजरापोल-गोशालाओंका सुधार करना । परंतु पिंजरापोल-गोशालाओंको मुख्यरूपसे बूढ़ी, अपंग गायोंकी सेवाके लिये ही सुरक्षित रखना ।

६. गायोंका गर्भाधान विशेष दूध देनेवाली गौके पुत्र, बलवान् तथा श्रेष्ठ जातिके साँडसे ही कराना । ऐसे साँडोंका निर्माण तथा विस्तार करना । बुरे अयोग्य साँडोंसे गर्भाधानका काम कतई न लिया जाना ।

७. कसाईखानोंमें मारी हुई गायके चमड़े इत्यादिसे बनी हुई वस्तुएँ, जूते, कमरपट्टे, बिस्तरबंद, घड़ीके फीते, चश्मेके घर, पेटियाँ, हैंड बैग, बटुए आदिका व्यवहार न करनेकी शपथ करना-कराना ।

८. गोवधमें सहायक चमड़े, मांस आदिका व्यापार—जिनसे गोवध होता है—बिल्कुल न करना ।

९. गोसदनोंमें, पिंजरापोलोंमें और सर्वसाधारणके द्वारा भी मरे हुए पशुओंके चमड़े, हड्डी, सींग, केश आदिसे अर्थ उत्पन्न करना और उसे बूढ़ी, अपंग गायोंकी सेवामें लगाना ।

१०. ट्रैक्टरोंका व्यवहार न करके या कम करके, हल जोतनेका काम केवल बैलोंसे लेना तथा रासायनिक खादका उपयोग न करके गोबर-गोमूत्रकी खादसे ही काम लेना ।

११. वेजिटेबल (जमाये तेल) की घीमें मिलावट न हो; इसके लिये उसे अवश्य रंग देनेकी व्यवस्था सरकारसे कराना ।

१२. कतई गोवध-बंदीका कानून सब जगह शीघ्र बन जाय, इसके लिये सतत तथा सफल प्रयत्न करना ।

१३. चमड़ा, चर्बी, खून, हड्डी आदि जिन-जिन वस्तुओंके लिये गाय मारी जाती हैं तथा जिन कार्यों, कारखानों आदिमें ये चीजें बरती जाती हैं, उनका पता लगाकर, जनताको बतलाकर इन्हें काममें न लानेकी प्रार्थना करना ।

१४. यथासाध्य गायके ही दूध, दही, घीका व्यवहार करना ।

१५. सरकारने गोवध-निषेधके लिये जो कुछ किया तथा करती है उसके लिये कृतज्ञ होना, सरकारको धन्यवाद देना, सरकारको बार-बार उत्साहित करना, जिससे कतई गोवध-बंदीका कानून बने तथा गोवधमें सहायक अन्यान्य कारणोंका भी सर्वथा निवारण हो, नस्ल-सुधारके लिये भी यत्न हो ।

अन्तिम निवेदन

वस्तुतः भारत-सरीखे कृषिप्रधान देशमें गोवंशका आर्थिक तथा जीवन-यापनकी दृष्टिसे भी बड़ा महत्त्व है । यहाँकी जलवायुमें हल जोतनेके लिये बैल ही सर्वोत्तम और प्रधान साधन थे और हैं । गोबर, गोमूत्रकी खादसे जमीन अपने आप उपजाऊ रहती है तथा उसकी उपज बढ़ती है । देशके करोड़ों निरामिषभोजियोंके लिये तो गौका दूध, दही, घृत आदि ही सर्वश्रेष्ठ खाद्य हैं । मांसाहारियोंकी स्वास्थ्य-रक्षाके लिये भी दूध तथा दूधसे बने हुए पदार्थोंके बिना काम नहीं चल सकता । किसी भी दृष्टिसे देखें, गौ इस देशके लिये कामधेनु है और इसलिये सभी दृष्टियोंसे गौका रक्षण, पालन तथा संवर्धन करना प्रत्येक भारतीयके लिये परम कर्तव्य है ।

मैं न तो गोसेवक हूँ, न गोसम्बन्धी किसी विषयका विशेषज्ञ ही । मैंने जो कुछ कहा है, वह उन महानुभावोंकी वाणीकी जूठनमात्र है, जिन्होंने गौके सम्बन्धमें अनुशीलन, अध्ययन, सेवन तथा गोमाताके रक्षण, पालन और संवर्धनमें कार्य किये हैं । इसमें मेरा कुछ भी नहीं है । आप सबका हृदयसे आभार मानता हुआ मैं प्रार्थना करता हूँ कि गोधनके रक्षण, पालन और संवर्धनके लिये सभीको अपनी-अपनी शक्ति, सामर्थ्य तथा मति-गतिके अनुसार प्रयत्न करना चाहिये । मेरा विश्वास है कि किसीपर दोषारोपण करने, किसीकी तीव्रतर कटु समालोचना करनेसे वह लाभ नहीं होता, जो प्रेम तथा आदरयुक्त व्यवहारसे होता है । विनम्रता, प्रेम, आदर तथा सचाईके साथ शुद्धभाव तथा नेकनीयतसे अपनेद्वारा निश्चित निर्धारित नीतिका विनम्र प्रचार, प्रसार, अधिकारीवर्ग तथा सरकारके साथ हार्दिक सहयोगकी भावनासे सम्बन्ध स्थापन और उनको अपनी बात समझानेकी चेष्टा करनी चाहिये । मैं तो समझता हूँ कि भगवान्‌पर विश्वास रखकर भगवान्‌की सेवाके भावसे यदि हम गोमाताके सेवा-संवर्धनका कार्य प्रेमपूर्वक तथा निष्काम होकर करेंगे तो भगवान्‌की कृपासे हमें सफलता मिलेगी । गो-वध सम्पूर्णतया बंद होगा । गो दुग्धवती होकर सर्वथा लक्ष्मीकी मूर्ति बन जायगी ।*

* * *

---

* इस समय गोरक्षण तथा गो-संवर्धनके लिये देशमें जो विभिन्न रुचिके पुरुषोंद्वारा विभिन्न प्रकारके साधन हो रहे हैं, वे सभी आदरणीय हैं । वृन्दावनमें गोरक्षाके लिये भगवदाराधनका एक महान् अनुष्ठान श्रीहजारीमलजी सोमानीके द्वारा चलाया जा रहा है । कानपुरमें यज्ञ हो रहा है । हमारे आदरणीय भाई श्रीनिवासदासजी पोद्दार श्रीरामचरितमानसके अनुष्ठानका स्थान-स्थानमें आयोजन करवा रहे हैं । अन्य भी कई जगह अनुष्ठान किये जा रहे हैं । आर्यसमाजने बड़े जोरोंसे प्रयत्न आरम्भ किया है । 'गोसेवक समाज' भी जोरसे लगा है । सरकारी पक्ष तथा नेतागण भी सक्रिय हैं । सम्मान्य श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज आगामी आषाढ़ी पूर्णिमासे 'गो-सेवा-व्रत'का पवित्र अनुष्ठान आरम्भ करनेवाले हैं । उसकी योजना आगामी अङ्कमें प्रकाशित हो सकती है ।

—सम्पादक

नयी पुस्तकें ! श्रीहरिः प्रकाशित हो गयीं !!

जीवनका कर्तव्य

लेखक—स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी

आकार २०×३० सोलह पेजी, पृष्ठ-संख्या २००, मूल्य ।≡) मात्र ।

प्रस्तुत पुस्तकमें लेखकके ‘कल्याण’ में प्रकाशित ‘समयका मूल्य और सदुपयोग, कर्मयोग, वैराग्य, गीतामें भक्ति और उसके अधिकारी, भगवद्भक्तिका रहस्य, सब नाम-रूपोंमें एक ही भगवान्, भगवत्तत्त्व, भगवद्भजनका स्वरूप, गीता और रामायणके क्रियात्मक प्रचारकी आवश्यकता, संत और उनकी सेवा, सुख कैसे मिले ?’ बालहितोपदेश-माला, बार-बार नहिं पाइये मनुष जनमकी मौज—इन तेरह लेखोंका संग्रह है । ये लेख सरल भाषामें लिखे गये हैं तथा आध्यात्मिक जीवनके पथपर अग्रसर होनेवालोंके लिये बड़े ही सहायक हैं ।

बहुत दिनोंसे अप्राप्त तीन पुस्तकोंके नये संस्करण

विष्णुसहस्रनाम शांकरभाष्य (हिंदी-अनुवादसहित)

अनुवादक—श्रीभोलेबाबाजी महाराज

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या २८०, सचित्र, मूल्य ।।।=) मात्र ।

इस ग्रन्थमें भगवान्के विविध नामोंके रहस्य बतलाये गये हैं । भाव समझनेकी सुगमताके लिये एक ओर भाष्य तथा उसीके सामने उसका अर्थ छापा गया है । कई बातोंके भेद दिखानेके लिये छोटे-बड़े कई प्रकारके टाइपोंसे काम लिया गया है ।

तत्त्व-विचार

लेखक—श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया

आकार २०×३० सोलह पेजी, पृष्ठ-संख्या २०४, सचित्र, मूल्य ।=) मात्र ।

राम-कृष्ण-शिव-शक्ति-कर्म-योग-नाम-भक्ति-भक्त-भगवान् आदिके तत्त्वोंको समझकर यदि आप अपने जीवनको समुन्नत बनाना चाहते हों तो तत्त्व-विचारका मनन करना चाहिये ।

भक्त-भारती

लेखक—श्रीतुलसीरामजी शर्मा ‘दिनेश’

आकार २०×३० सोलह पेजी, पृष्ठ-संख्या १२०, ४ तिरंगे तथा ३ सादे चित्र, मूल्य ।≡)

इसमें ध्रुव, प्रह्लाद, गजेन्द्र, शबरी, अम्बरीष, अजामिल और कुन्तीके भक्तिपूर्ण उपाख्यान सुन्दर कवितामें लिखे गये हैं । पुस्तक बड़ी रोचक है ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

प्रार्थना

पापः खलोऽहमिति नार्हसि मां विहातुं
किं रक्षया कृतमतेरकुतोभयस्य ।
यस्मादसाधुरधमोऽहमपुण्यकर्मा
तस्मात्तवास्मि सुतरामनुकम्पनीयः ॥

(स्तुतिकुसुमाञ्जलि-जगद्धरभट्टकृत)

मैं पापी हूँ, मैं दुष्कर्मकारी हूँ—क्या यह समझकर ही आप मेरा परित्याग कर रहे हैं ? नहीं-नहीं । ऐसा करना तो आपको उचित नहीं; क्योंकि भयरहित, प्राज्ञ और सुकृतकारीको रक्षासे क्या प्रयोजन ? रक्षा तो पापियों, भयार्तों और खलोंकी ही की जाती है । जो स्वयं ही रक्षित है उसकी रक्षा नहीं की जाती । रक्षा तो अरक्षितोंकी ही की जाती है । मुझ महापापी, महान् अधम और महान् असाधुकी रक्षा आप न करेंगे तो फिर करेंगे किसकी ? मैं ही तो आपकी दया—आपके द्वारा की गयी रक्षाका सबसे अधिक अधिकारी हूँ ।

कल्याण

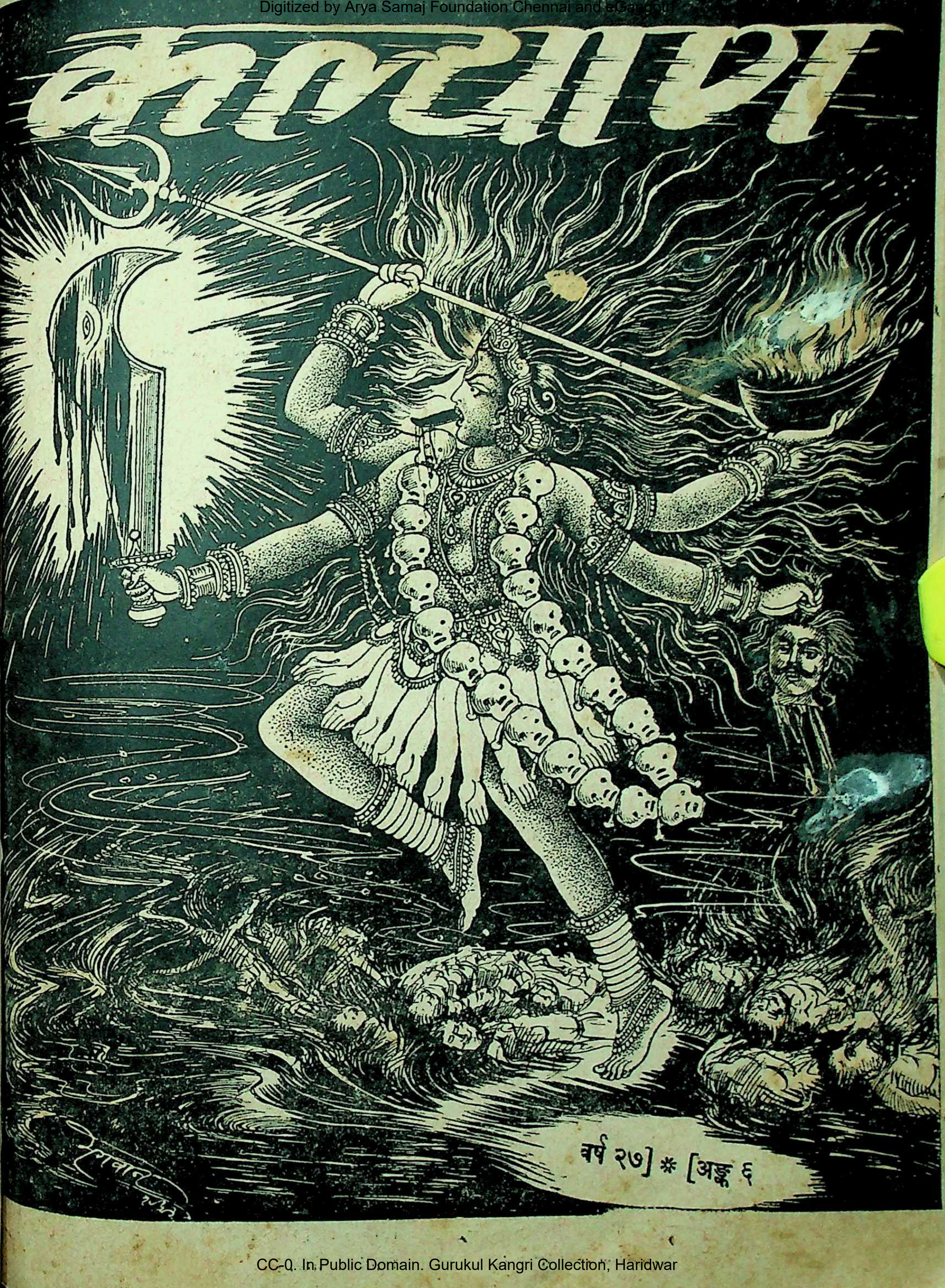

वर्ष २७] * [अङ्क ६

हर राम हर राम राम राम हर हर । हर कृष्ण हर कृष्ण कृष्ण कृष्ण हर हर ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ २०१०, जून १९५३

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–सत्ययुगके भगवान्‌का ध्यान [कविता] (श्रीमद्भागवत ११ । ५ । २१ के आधारपर) … १०५७
२–कल्याण ('शिव') … … … १०५८
३–युगल-उपासना-रहस्य (श्रीश्रीकान्तशरणजी) … … … १०५९
४–स्त्रियोंके लिये कर्तव्यशिक्षा और पातिव्रत्यका प्रभाव (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … १०६६
५–आनँद पूरि रही अँगनैया [कविता] (श्रीहरीशजी साहित्यालंकार) … … १०७४
६–निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) … … १०७५
७–श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन … … … १०७९
८–विचार (श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०) … … … १०८५
९–महारसायन (श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ) … … … १०८९
१०–कच (श्रीरघुनाथसिंहजी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, एम्० पी०) … … १०९०
११–भगवच्चरणोंकी शरणागति (पं०श्रीजानकीनाथजी शर्मा) … … … १०९२
१२–आप कितने भाग्यशाली हैं (प्रो० श्रीरामचरण महेन्द्र, एम्० ए०) … … १०९६
१३–समाजकी सेवा [कहानी] (श्री 'चक्र') … … … १०९८
१४–जैसा कर्म वैसा ही फल [कविता] (श्रीसूरदासजी) … … … ११०३
१५–सार वस्तु (महात्मा श्रीजयगौरीशङ्करजी सीताराम) … … … ११०४
१६–विश्व-शान्तिके अमोघ उपाय (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) … … … ११०५
१७–गो-सेवा-व्रत (श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) … … … ११०८
१८–गो-रक्षाके लिये मानसका अनुष्ठान और गोरक्षा-प्रश्नावली (श्रीश्रीनिवासदासजी पोद्दार) … १११०
१९–गोहत्याका कलंक कैसे दूर हो ? (लाला श्रीहरदेवसहायजी) … … ११११३
२०–प्रभु श्रीराधारमणदेव (अनुवादक तथा प्रेषक—श्रीव्रजगोपालदासजी) … … १११४
२१–एक सच्चा सफल व्यापारी श्रीगंडाराम भावड़ा (श्रीनिरञ्जनदासजी धीर) … … १११७
२२–भ्रम [कविता] (श्रीगौरीशङ्करजी गुप्त) … … … १११८
२३–नामकीर्तन-महिमा … … … १११९
२४–कामके पत्र … … … ११२०

चित्र-सूची

तिरंगा

१–सत्ययुगके भगवान्‌का ध्यान … … … १०५७

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।=)
विदेशमें ॥-)
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

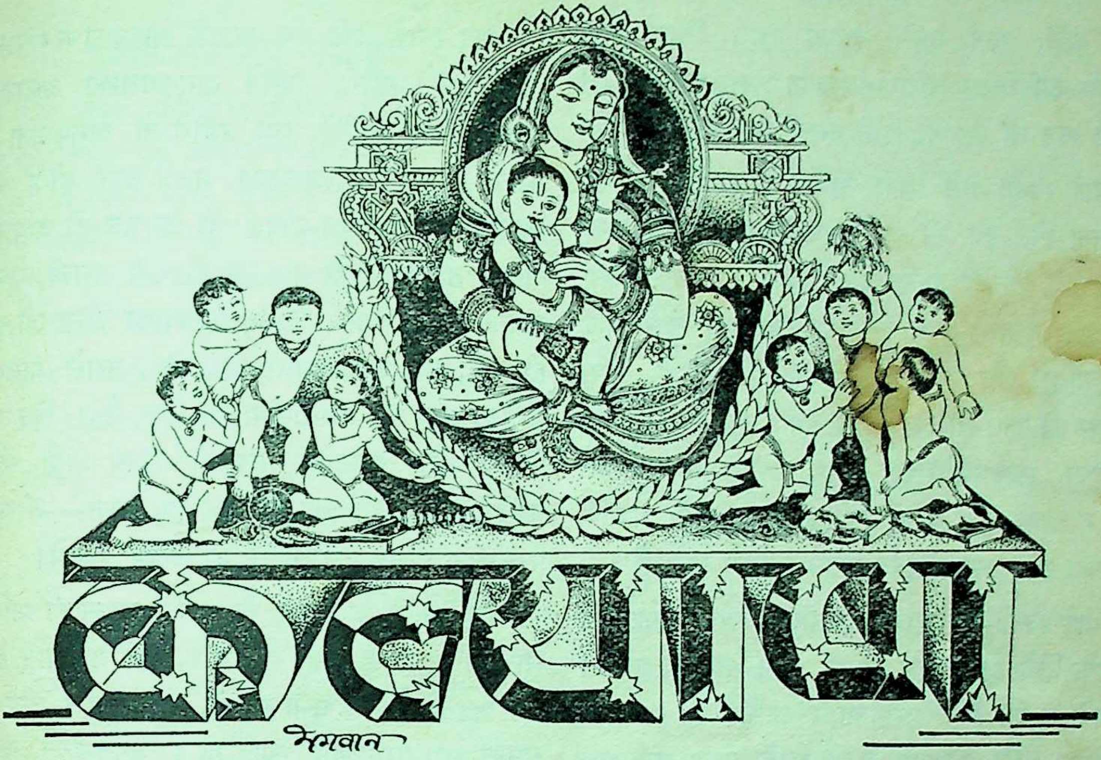

उपासतामात्मविदः पुराणाः परं पुमांसं निहितं गुहायाम् ।
वयं यशोदाशिशुबाललीलाकथासुधासिन्धुषु लीलयामः ॥

वर्ष २७ } गोरखपुर, सौर आषाढ २०१०, जून १९५३ { संख्या ६
पूर्ण संख्या ३१९

सत्ययुगके भगवान्का ध्यान

कृतजुग सुभ्र बरन भुज चारी ।
जटा सीस तन बल्कलधारी ॥
बर उपबीत धरें मृगछाला ।
दंड कमंडलु कर बर माला ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । २१)

याद रक्खो—परमात्मा सर्वातीत होते हुए भी सर्वमय हैं। ऐसा कोई देश नहीं, काल नहीं, पदार्थ नहीं, प्राणी नहीं, भाव नहीं, धारणा नहीं, जिसमें नित्य निरन्तर अविच्छिन्न रूपसे परमात्मा विराजमान न हों। सच्ची बात तो यह है, सभी वस्तुएँ वस्तुतः वे ही हैं।

याद रक्खो—ऐसे सदा सर्वत्र विराजमान सर्वमय परमात्मा होते हुए भी तुम उनको प्राप्त करने—उन्हें प्राप्त करके शाश्वती शान्तिलाभ करनेसे इसीलिये वञ्चित रहते हो, तुम्हारा लक्ष्य परमात्मा नहीं है। लक्ष्य यदि परमात्मा हो और परमात्मा इस प्रकार सर्वमय हैं, ऐसा विश्वास हो जाय तो फिर चाहे तुम किसी भी सविशेष-निर्विशेष, साकार-निराकार रूपको किसी भी भावनासे क्यों न देखो, तुम्हें परमात्माकी प्राप्ति होगी ही; क्योंकि परमात्मा ही एकमात्र सर्वत्र व्याप्त सर्वरूप सत्य हैं।

याद रक्खो—तुम्हारा मानव-जीवन केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही है और उनकी प्राप्ति तुम्हारी एकान्त इच्छाके अधीन है। परमात्माकी प्राप्तिमें ही जीवनकी सार्थकता और सफलता है। इसके बिना सभी कुछ व्यर्थ और अनर्थरूप है।

याद रक्खो—बनना-बिगड़ना, होना-मिटना, संयोग-वियोग——संसारका स्वरूप ही है। इसके पदार्थोंको यदि तुम नित्य बननेवाले, नित्य होनेवाले और नित्य संयोगरूप बनाना चाहोगे तो यह असम्भव है, ऐसा हो ही नहीं सकता,——जन्मके साथ मृत्यु यहाँ है ही। और यदि कहीं अपेक्षासे कोई वस्तु अधिक काल स्थायी हो भी गयी तो वह सुखरूप ही होगी, ऐसा नहीं मानना चाहिये। जबतक मनमें अभावकी अनुभूति और अभावपूर्तिकी कामना रहेगी, तबतक किसी भी पदार्थसे कभी सुख होगा ही नहीं। सच्ची बात तो यह है पूर्ण, नित्य, सत्य और चेतन परमात्माकी प्राप्तिके बिना जीवके अभावका नाश कभी होता ही नहीं; क्योंकि जीव परमात्माका ही सनातन अंश है, इसलिये स्वाभाविक ही वह पूर्ण, नित्य, सत्य और चेतनको ही चाहता है। अपूर्ण, अनित्य, असत् और जड पदार्थोंसे उसका अभाव कैसे मिट सकता है।

याद रक्खो—यदि तुम जगत्के स्वरूपको न समझकर उसीमें फँसे रहोगे, उसीमें अनुकूलताका अनुसंधान तथा निर्माण करनेमें लगे रहोगे तो अनुकूलता तो मिलेगी ही नहीं, परमात्माका भजन नहीं होगा और इसलिये तुम्हारा मानव-जीवन ही असफल हो जायगा। अतएव तनिक भी देर न करके जीवनके असली ध्येयकी प्राप्तिमें लग जाओ। यहाँ प्रारब्धवश जैसा जो कुछ होना है, उसे स्वच्छन्दतासे होने दो। उससे वास्तवमें तुम्हारा कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं है। फिर उसे मिटाने और बदलनेके प्रयत्नमें समय क्यों खोना चाहिये। इस जीवनका तो एक-एक क्षण——जीवनके परम लक्ष्य परमात्माकी प्राप्तिमें ही लगना चाहिये।

याद रक्खो—जीवनका जो क्षण परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें लगता है, वही सार्थक है, वही मूल्यवान् है। तुम अपना सौभाग्य तभी समझो, जब तुम्हारे जीवनके समस्त क्षण परमात्मामें लगते हों। उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, देखते-सुनते——सभी समय परमात्मामें ही मनको लगाये रखनेका प्रयत्न करो। परमात्माकी विस्मृति कभी न हो, उनकी याद करते हुए ही जीवनके सारे कार्य करो और यह निश्चय करो कि परमात्माका स्मरण ही परमात्माकी प्राप्तिका उपाय होनेसे—जीवनका सर्वप्रथम और सर्वोपरि कार्य है।

याद रक्खो—यदि तुम प्रमादवश जीवनको जगत्के व्यर्थ और अनर्थरूप दुःखयोनि भोगोंमें ही लगाये रक्खोगे तो तुम महामूर्ख हो और तुमको पीछे बहुत अधिक पश्चात्ताप करना पड़ेगा; पर उस समय कोई उपाय तुम्हारे हाथमें नहीं रह जायगा। इसलिये भगवत्कृपासे प्राप्त मानव-जीवनरूप इस सुअवसरको मत खोओ——इसका एक-एक क्षण परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें ही लगाओ, तुम धन्य हो जाओगे और सदाके लिये पूर्ण सुखको प्राप्तकर कृतार्थ हो जाओगे।

'शिव'

युगल-उपासना-रहस्य

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी)

[गताङ्कसे आगे]

युगल-उपासनामें उपायत्व

ऊपर लिखा गया है कि जीवोंको अधिक सुख देनेके लिये कृपानिधान ब्रह्म श्रीसीतारामजीने जगत्‌की रचना की है और फिर इनको सुलभ होनेके लिये माता-पिताके रूपमें उन्होंने अपनी स्थिति भी कर रक्खी है। इन दोनोंकी उपासनासे मुमुक्षुका कैसे कल्याण होता है, इसपर कई दृष्टियोंसे विचार किया जाता है—

(क) चरितके आधारपर उपास्यके गुणोंका परिचय श्रीगोस्वामीजीने इस प्रकार कराया है—

जनकसुता जग जननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥
ताके जुग पद कमल मनावउँ।
जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ॥
पुनि मन बचन कर्म रघुनायक।
चरन कमल बंदउँ सब लायक॥
राजिवनयन धरें धनु सायक।
भगत बिपति भंजन सुख दायक॥
(रामचरितमानस बाल० १७)

अर्थ—मैं श्रीजनकजीकी पुत्री, जगन्माता और करुणासागर श्रीरामजीकी अत्यन्त प्यारी श्रीजानकीजीके दोनों चरणकमलोंको मनाता हूँ। जिनकी कृपासे (मैं) निर्मल बुद्धि (सदसद्विवेकिनी बुद्धि) पाऊँ। फिर मैं मन, वचन और कर्मसे राजीवलोचन, धनुर्बाणधारी, भक्तोंके दुःख हरनेवाले और उन्हें सुख देनेवाले सब प्रकारसे योग्य श्रीरघुनाथजीके चरणकमलोंकी वन्दना करूँ एवं करता हूँ।

विशेष—'जनकसुता ········'—इसमें 'जानकी' यह पद विशेष्य है, शेष पद विशेषण हैं। 'जनकसुता' इस पदसे श्रीजनकजीके यहाँ प्रकट होनेका परिचय दिया गया है। 'जगजननि'—इस पदसे उपर्युक्त रीतिसे जगत्‌की रचना करनी एवं संतानरूप जीवोंके श्रेय-साधनमें उनकी स्वतः तत्परता प्रकट की गयी है। 'अतिसय प्रिय करुनानिधान की।' इस वाक्य-खण्डसे श्रीरामजीके समान सीताजीका भी करुण-स्वभाव सूचित किया गया; क्योंकि प्रकृतिसाम्यमें ही प्रियत्व होता है। अतिशय प्रियत्वसे श्रीरामजीका इनके वश रहना कहा गया है। 'ताके जुग पद कमल ········'—बालक जब करुण-स्वभाववाली माताके दोनों चरण पकड़ लेता है, तब अभीष्ट पा ही जाता है। यहाँ श्रीगोस्वामीजी माताके दोनों चरण पकड़कर अड़ गये हैं कि मुझे आपकी कृपासे निर्मल बुद्धि—सदसद्विवेकिनी बुद्धि—प्राप्त हो।

'पुनि मन बचन कर्म······'—'पुनि' इस पदका भाव यह कि जब मैं माताके द्वारा सदसद्विवेकिनी बुद्धि प्राप्तकर अधिकारी बन जाऊँ, तब। 'मन बचन कर्म रघुनायक चरन कमल बंदउँ'—यहाँ श्रीरामजीके भक्तोपयोगी कई विशेषण देकर 'चरन कमल बंदउँ' यह कहा गया है, इस वन्दना (नमस्कार) में शरणागत होनेका भाव है; यथा—

गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः॥
एवमुक्तास्तु ते पार्था यमौ च पुरुषर्षभौ।
द्रौपद्या सहिताः सर्वे नमश्चक्रुर्जनार्दनम्॥
(महा० वन० १८९। ५७-५८)

अर्थात् मार्कण्डेय मुनिने युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंसे कहा कि 'आपलोग इन भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें प्राप्त हों। इस वचनपर श्रीद्रौपदीजीके साथ पाँचों पाण्डवोंने भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार किया।' तब भगवान्‌ने इन्हें सान्त्वना दी और फिर उन्होंने इनके लोक-परलोकके उपाय बनकर इन्हें उभयलोकके सुख दिये।

इस प्रसङ्गमें 'शरणं गच्छध्वम्' इस वचनके प्रति 'नमश्चक्रुः' ऐसा कहा गया है। अतः 'नमः' का अर्थ 'शरणागति' होता है।

नमस्कारकी मुद्रासे भी उपायरूपमें वरण करनेका भाव स्पष्ट होता है, इसमें कर्मेन्द्रिय हाथको जोड़कर प्रभुसे प्रभुको ही उपायरूप माननेका भाव प्रकट किया जाता है कि 'मुझे इन हाथोंके पुरुषार्थका बल नहीं है। आप ही मेरे उपाय हैं।'

तात्पर्य यह कि जब श्रीजानकीजीसे सदसद्विवेकिनी बुद्धि प्राप्त होती है, तब श्रीरामजीके ऐश्वर्यका ज्ञान होता है, फिर जगत्‌से वैराग्य होता है और विश्वासपूर्वक मन, वचन और कर्मसे विधिवत् शुद्ध शरणागति होती है। उसपर श्रीरामजी इसके उपाय होकर इसके दुःख दूरकर उभयलोकके सुख देते हैं।

श्रीजानकीजीका सदसद्विवेकिनी बुद्धि प्रदान करना और उससे जीवका अधिकारी बनना एवं श्रीरामजीका

उपाय होना चरित्रके द्वारा विशेष रीतिसे इस प्रकार समझना चाहिये—

करुणानिधान श्रीरामजीने करुणा करके अपनी अतिशय प्रिया श्रीजानकीजीसे इस प्रकार परामर्श किया—

सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला ।
मैं कछु करबि ललित नरलीला ॥
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा ।
जौ लगि करौं निसाचर नासा ॥
जबहिं राम सब कहा बखानी ।
प्रभु पद धरि हियँ अनल समानी ॥
निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता ।
तैसइ सील रूप सुबिनीता ॥
(रामचरितमानस, अर० २३)

अर्थात्—करुणानिधान स्वामीकी रुचि जानकर श्रीजानकीजीने अपने प्रतिविम्ब (रूपिणी सदसद्विवेकिनी बुद्धि) को रख दिया । उन्हींको रावण लंका ले गया । वहाँ उन्होंने बंदीकी भाँति रहकर एकमात्र श्रीरामनामकी आराधना की; यथा—

जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम ।
सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम ॥
(रामचरितमानस, अर० २९)

रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या
विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव ।
तस्यानुरूपं च कथां तदर्था-
मेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि ॥
(वाल्मीकि० ५ । ३२ । १२)

अर्थात्—(अशोकवाटिकामें श्रीसीताजी मनमें कहती हैं कि) मैं सदा श्रीरामजीको बुद्धिसे सोचा करती हूँ और वाणीसे 'राम-राम' ऐसा कहा भी करती हूँ, इसीसे अपने विचारानुसार यह कथा सुन रही हूँ और देख रही हूँ (नाम-निष्ठाकी यही रीति है कि नाम-जपके साथ रूपका ध्यान करना और रूपके गुणोंका मनन करना; वही यहाँ करके दिखाया गया है)।

श्रीसीताजीकी उक्त निष्ठापर श्रीरामजी उनके प्राप्त्यर्थ व्याकुल थे । इन्होंने श्रीहनूमान्जीको भेजा, उनके द्वारा श्रीजानकीजीको धैर्य दिया । हनूमान्जीने अशोकवाटिका उजाड़ दी और लंकापुरीको जलाकर राख कर दिया । तब श्रीविभीषणने श्रीरामजीका तेज-प्रताप जाना और फिर उन्होंने पूर्ण विश्वासपूर्वक श्रीरामजीकी विधिवत् शरणागति की । इसपर श्रीरामजीने उन्हें सान्त्वना दी और फिर सागर बाँधकर वानरी सेनाके साथ धनुर्बाणसे उनके विरोधी राक्षसोंका संहारकर उन्हें वहाँका राज्य दिया ।

इधर परमार्थ-पक्षमें मुमुक्षु जीव जब पहले श्रीजानकीजीकी कृपासे अनुकूल प्रकृति पाकर सामान्य रीति एवं सरल भावसे श्रीसीतारामजीका भजन करता है, तब इसपर उनकी कृपा होती है; यथा—

मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई ।
भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥

कृपा कर वे श्रीसीताजीसे परामर्शकर उनकी प्रतिविम्बरूपा सदसद्विवेकिनी बुद्धि इसे देते हैं (यही इसका 'निर्मल मति' पाना है); परंतु उस समय मोहवश यह उसे अपने हृदयकी उपजी हुई बुद्धि समझता है, यही इसका मोह (देहाभिमान) के द्वारा श्रीरामजीकी शक्तिका हरण करना है । वह बुद्धि इसके हृदयकी प्रवृत्तिरूपी लंकापुरीको बंदीगृह समझती हुई एवं प्राकृत संकल्परूपिणी भयंकर राक्षसियोंसे डरती हुई श्रीराम-नाम जपती है; साथ ही मनरूपी मारीचके विषय-स्पृहारूपी मृगचर्मके लिये अन्तर्यामी श्रीरामजीको मैंने नाना योनियोंमें दौड़ाया है, यह इसका पश्चात्ताप भी करती है ।

इसके इस कृत्यपर उधर श्रीरामजी इसे मिलनेको व्याकुल रहते हैं, शीघ्र ही इसे प्रबल वैराग्य प्रदानकर सान्त्वना देते हैं । उस प्रबल वैराग्यसे देहासक्तिरूपी अशोकवाटिका उजड़ जाती है और प्रवृत्तिरूपी लंका जो पहले इसकी दृष्टिमें स्वर्णमयी अति मनोरम थी, अब जलकर राख होनेके समान कुरूपा एवं अप्रिय हो जाती है ।

तब जीवरूपी विभीषणको श्रीरामजीके तेज-प्रतापका ज्ञान एवं पूर्ण विश्वास होता है, यह अपने देहाभिमानरूपी रावणको अपने अनुकूल कर श्रीरामभक्तिमें लगाना चाहता है । असफल होनेपर यह मन, वचन और कर्मसे श्रीरामजीकी शुद्ध शरणागति करता है । तब श्रीरामजी इसके उपायरूप होकर विवेकसेनाद्वारा इसके देहाभिमानरूपी सागरको बाँधकर मोहकी सेनारूपी अहंकार एवं काम-क्रोध आदि राक्षसोंका संहारकर इसे अपने शुद्ध स्वरूपका राज्य देते हैं, इन रूपकोंके प्रमाण—

''बपुष ब्रह्मांड सुप्रवृत्ति लंकादुर्ग''.....कुणप अभिमान सागर भयंकर घोर''.....मोह दशमौलि, तद्भ्रात अहँकार पाकारिजित काम विश्रामहारी ।''.....जीव भवदंघ्रि सेवक विभीषण बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसितचिंता ।''.....कैवल्य-साधन अखिल भालु मर्कट विपुल ज्ञान-सुग्रीवकृत जलधिसेतू । प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन-तनय विषम वन भवनमिव धूमकेतू ॥''

(विनय-पत्रिका ५८)

पीछे वहाँ विभीषणजीने लंकामें स्थित प्रतिविम्ब-रूपिणी सीताजीको लाकर श्रीरामजीको सौंपा । वे अग्निपरीक्षाके व्याजसे नित्यश्री श्रीजानकीजीमें लीन हो गयीं । वैसे यह भी अपनी सदसद्विवेकिनी बुद्धिको श्रीरामजीकी नित्यश्री श्रीजानकीजीका अंशभूत ही निश्चित करता है कि श्रीरामजीने ही कृपा कर अपनी आदिशक्तिकी अंशभूता निर्मल मति मुझे दी थी, जिससे मेरी सभी कल्याण-व्यवस्थाएँ हुईं । यही परगत-स्वीकार-प्रपत्तिका शुद्ध स्वरूप है । फिर यह विभीषणजीकी भाँति श्रीराम-परिकररूपमें उनकी उपासना-वृत्तिसे रहता है ।

पीछे श्रीरामजीने श्रीविभीषणजीको श्रीलक्ष्मणजीके द्वारा प्रसादरूपमें भूषण-वस्त्र पहनवाकर शुद्ध लंका भेजा है कि जिससे वे वहाँ श्रीलक्ष्मणजीकी-सी वृत्तिसे राम-भजन करते हुए आयुपर्यन्त कालक्षेप करें; तथा—

आराधय जगन्नाथमिक्ष्वाकुकुलदैवतम् ॥
आराधनीयमनिशं देवैरपि सवासवैः ।
तथेति प्रतिजग्राह रामवाक्यं विभीषणः ॥

(वाल्मीकि० ७ । १०८ । २७-२८)

अर्थात् श्रीरामजीने (श्रीरंगजीकी अपनी अर्चामूर्ति देकर) विभीषणजीसे कहा कि इक्ष्वाकुकुलके देवता इन जगन्नाथ (भगवत्-विग्रह) की तुम सदा आराधना किया करो । इन्द्र आदि देवता भी इनकी आराधना करते हैं । विभीषणजीने स्वीकार किया ।

ऐसे ही इस मुमुक्षुको चाहिये कि अवशिष्ट आयुभर (प्रारब्धभोगतक) श्रीलक्ष्मणजीकी-सी वृत्तिसे श्रीराम-परिकररूपमें उनकी उपासना करता रहे ।

श्रीविभीषणजीके लिये श्रीरामजीने कहा है—

करेहु कल्प भरि राजु तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं ।
पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं ॥

(रामचरितमानस लंका० ११६)

ऐसे ही इसे भी परलोकका दृढ़ भरोसा रखना चाहिये कि आयुभर शरणागतिका उक्त रीतिसे निर्वाह करनेपर मुझे अवश्य श्रीरामधाम एवं श्रीरामजीकी प्राप्ति होगी ।

(ख) ऊपर सप्रमाण लिखा जा चुका है कि श्रीसीताजी जगत्‌की माता और श्रीरामजी जगत्‌के पिता हैं—

जगदंबा जानहु जियँ सीता ॥ जगत पिता रघुपतिहि बिचारी ।

(रामचरितमानस बाल० २४५)

अपने मातृत्व-स्वभावके द्वारा श्रीसीताजी वात्सल्याधिक्यसे आश्रित जीवोंका पुरुषकारत्व (घटकत्व=पैरवी) करती हैं; यथा—

मत्प्राप्तिं प्रति जन्तूनां संसारे पततामधः ।
लक्ष्मीः पुरुषकारत्वे निर्दिष्टा परमर्षिभिः ।
ममापि च मतं ह्येतन्नान्यथा लक्षणं भवेत् ॥

(श्रीनारदपाञ्चरात्र)

अर्थात् (भगवान् कहते हैं—) संसारमें अधःपतित तुच्छ जीवोंको मेरी प्राप्तिके लिये महर्षियोंने श्रीलक्ष्मीजीको पुरुषकार (घटक) कहा है । मेरा भी यही मत है, इसका और लक्षण नहीं हो सकता । तथा—

अहं मत्प्राप्त्युपायो वै साक्षाल्लक्ष्मीपतिः स्वयम् ।
लक्ष्मीः पुरुषकारेण वल्लभा प्राप्तियोगिनी ॥
एतस्याश्च विशेषोऽयं निगमान्तेषु शब्द्यते ।

अर्थात्—मैं लक्ष्मीपति अपनी प्राप्तिमें स्वयं उपाय हूँ और मेरी प्रिया लक्ष्मीजी अपने घटकत्वसे मेरी प्राप्तिका योग करानेवाली हैं, इनका यह वैभव वेदान्तोंमें कहा गया है । भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यने लिखा है—

सर्वाधीशेश्वरप्राप्तिहेतुस्तत्राभिधीयते ।
सीता पुरुषकारार्था श्रीत्यनेन पदेन तु ॥
मता पुरुषकारस्य नित्यसम्बन्ध उच्यते ।

(वैष्णवमताब्जभास्कर)

अर्थात् (मन्त्रद्वयके अर्थ-प्रसङ्गमें 'श्रीमत्' इस वाक्यका अर्थ करते हुए कहा है—) 'श्री' इस पदसे समस्त पदार्थोंके स्वामी भगवान् श्रीरामजीकी प्राप्तिके कारण-रूपी पुरुषकार प्रयोजनवाली श्रीसीताजीका वर्णन किया गया है और 'मत्' पदसे पुरुषकाररूपी श्रीसीताजीका उसके आगेके 'रामचन्द्र' पद-वाच्य श्रीरामजीसे नित्य सम्बन्ध कहा गया है । श्रीजानकीजीके पुरुषकारत्वकी रीति भी अभियुक्तोंने कही है; यथा—

पितेव त्वत्प्रेयाञ्जननि परिपूर्णागसि जने
हितस्रोतोवृत्त्या भवति च कदाचित्कलुषधीः ।
किमेतन्निर्दोषः क इह जगतीति त्वमुचितै-
रुपायैर्विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसि नः ॥

(श्रीगुणरत्नकोष—भट्टार्यस्वामीकृत)

अर्थात् हे माता ! परिपूर्ण पापी जीवके विषयमें हित करनेकी वृत्तिसे पिताके समान आपके स्वामी कभी कुपित होते हैं। उस समय आप 'यह क्या हुआ ?' 'इस जगत्में अपराधरहित कौन है ?' इस प्रकार उचित उपायोंसे इस जीवके अपराधोंको ईश्वरके चित्तसे भुलाकर इसे अपनाती हैं, इस कारणसे आप हमलोगोंकी माता होती हैं।

इन्द्रपुत्र जयन्त (काकासुर) ने भारी अपराध किया था; यथा—

जद्यपि द्रोह कियो सुरपति-सुत, कहि न जाय अति भारी ॥

(विनय-पत्रिका १६६)

उसपर श्रीरामजीने क्रुद्ध होकर ब्रह्मास्त्र चला दिया था, श्रीसीताजीने स्वयं तो उसके अपराधोंको कुछ माना ही नहीं, स्वामीसे भी क्षमा करा उसकी रक्षा की; यथा—

पुरतः पतितं देवी धरण्यां वायसं तदा ।
तच्छिरः पादयोस्तस्य योजयामास जानकी ॥
प्राणसंशयमापन्नं दृष्ट्वा सीताथ वायसम् ।
त्राहि त्राहीति भर्त्तारमुवाच दयया विभुम् ॥
तमुत्थाप्य करेणाथ कृपापीयूषसागरः ।
ररक्ष रामो गुणवान् वायसं दययैक्षत ॥

(पद्मपुराण)

अर्थात् श्रीजानकीजीने अपने आगे पड़े हुए काक (जयन्त) के सिरको श्रीरामजीके चरणोंमें लगा दिया और प्राणोंसे भयभीत उस कौएको देखकर दया करके अपने स्वामीसे 'इसकी रक्षा कीजिये' 'रक्षा कीजिये' इस प्रकार कहा। तब कृपानिधान श्रीरामजीने उस कौएको हाथसे उठाकर दयादृष्टिसे उसकी रक्षा की।

श्रीजानकीजीको प्रसन्न करनेके लिये किसी साधनकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि माताको अपनी संतानपर स्वभावतः दया होती है। अतः आप निष्कारण प्रसन्न होकर आश्रितकी रक्षा करनेवाली हैं।

देखिये, भगवान् श्रीरामजीने प्रतिज्ञा करते हुए कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।

(वाल्मीकि० ६ । १८ । ३३)

अर्थात्—दीन होकर 'मैं आपका हूँ' यह याचना करते हुए उनकी शरण हो। इसमें भगवान्के मुमुक्षुके लिये शरण होनेकी एक क्रिया है; परंतु श्रीजानकीजीने ऐसी किसी भी क्रियाकी अपेक्षा नहीं रक्खी, वे अपने मातृत्वभावसे स्वतः चिरकालसे पड़े हुए अपराधी जीवोंको हरि-शरणागति करनेका अधिकारी होते न देखकर वात्सल्यवश उनका पुरुषकारत्व ही करती हैं। जैसे कि लंकाकी राक्षसियोंने जब अपने कुकृत्योंसे डरकर यह निश्चित किया—

प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा ।
अलमेषा परित्रातुं राक्षस्यो महतो भयात् ॥

(वाल्मीकि० ५ । २७ । ३१)

अर्थात् श्रीजानकीजी तो केवल प्रणाम एवं नम्रतासे ही प्रसन्न होती हैं, ये ही हम सब राक्षसियोंकी महाभयसे रक्षा कर सकती हैं। इसपर राक्षसियोंके बिना प्रणाम आदिके किये ही श्रीजानकीजीने कह दिया—

भवेयं शरणं तु वः । (वाल्मीकि० ५ । २७ । ४७)

अर्थात् 'मैं तुम सबकी रक्षा करूँगी' और इसीके अनुसार किया भी—

जब लंका-विजयका समाचार सुनाकर तथा श्रीजानकीजीको प्रसन्न कर श्रीहनूमान्‌जीने उनसे उन राक्षसियोंका चित्रवध करनेका वरदान माँगा कि इन राक्षसियोंने आपको नाना प्रकारसे दुःख दिया है, अतएव मैं इनका चित्रवध करना चाहता हूँ। उसपर उन्हें समझाते हुए श्रीजानकीजीने कहा है—

न परः पापमादत्ते परेषां पापकर्मणाम् ।
समयो रक्षितव्यस्तु संतश्चारित्रभूषणाः ॥
पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणामथापि वा ।
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति ॥

(वाल्मीकि० ६ । ११३ । ४२-४३)

अर्थात् दूसरे पापियोंके पापोंकी ओर धर्मात्मा पुरुष ध्यान नहीं देते, इस मर्यादाकी रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि संतोंका भूषण सच्चरित ही है। पापी हो, पुण्यात्मा हो और चाहे वध करनेके योग्य ही क्यों न हो, सज्जनोंको उसपर दया ही करनी चाहिये; क्योंकि ऐसा कोई नहीं है जो अपराध न करता हो।

श्रीसीताजीकी इसी निर्हेतु कृपालुता एवं क्षमा-शीलतापर मुग्ध होकर भट्टार्य स्वामीने कहा है—

मातर्मैथिलि ! राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वया
रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठी कृता ।
काकं तं च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः
सा नः सान्द्रमहागसः सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी ॥
(श्रीगुणरत्नकोष)

अर्थात् हे माता श्रीमैथिलीजी ! तात्कालिक अपराधिनी राक्षसियोंकी श्रीहनुमान्‌जीसे रक्षा करानेवाली आपकी क्षमाने 'मैं आपकी शरण हूँ' ऐसा वचन कहनेवाले शरणागत जयन्त और विभीषणजीकी रक्षा करनेवाली श्रीरामजीकी क्षमामयी गोष्ठीको लघुतरा (अत्यन्त लघु) सिद्ध कर दिया। आपकी वह निर्हेतुकी क्षमा अत्यन्त पापी हम-सरीखे आश्रितोंको सुखी करे।

श्रीजानकीजीने घोर अपराधी जयन्तकी और अत्यन्त दुःखदायिनी राक्षसियोंकी भी रक्षा श्रीरामजीसे और श्रीहनुमान्‌जीसे करवायी। ये सब श्रीजानकीजीके ही अपराधी थे। इनके प्रति भी आपके हृदयमें इस प्रकार दया थी। तब और आश्रित प्राणियोंके प्रति दया करनेके विषयमें क्या कहना है ? अतः श्रीजानकीजीकी अनुकूलता अत्यन्त सुलभ है।

जीवमात्रके लिये शरणागति-मार्गके उपदेष्टा श्रीलक्ष्मणजीने दो बार शरणागति की है। उनमें पुरुषकारस्वरूपा श्रीसीताजीकी श्रीरामजीके साथ उन्होंने प्रथम प्रपत्ति की है; यथा—

स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः ।
सीतामुवाचातियशां राघवं च महाव्रतम् ॥
(वाल्मीकि० २ । ३१ । २)

अर्थात् रघुनन्दन श्रीलक्ष्मणजीने भाई श्रीरामजीके दोनों चरणोंको दृढ़ रूपमें पकड़ लिया और अत्यन्त यशस्विनी (बहुत-से जीवोंको हरिसम्मुख करके यश पायी हुई) श्रीसीताजी तथा महाव्रतधारी ('सकृदेव प्रपन्नाय ……' आदि सनातन महाव्रतधारी) श्रीरामजीसे कहा।

इस प्रपत्तिमें श्रीसीताजीका नाम श्रीरामजीसे पहले आया है। पुनः पञ्चवटी पहुँचनेपर श्रीरामजीने श्रीलक्ष्मणजीसे कहा है कि जहाँ श्रीजानकीजीका, तुम्हारा और मेरा मन रमे, ऐसे स्थानपर कुटी निर्माण करो। इसपर श्रीलक्ष्मणजी यह समझकर दुखी हुए कि स्वामीने मुझे स्वतन्त्र मानकर ऐसा कहा है। सम्भवतः मुझमें स्वतन्त्रताकी एवं स्वसुखकी भावना अवश्य हो गयी है, इसीसे स्वामीने मुझे अपनी परतन्त्रतासे पृथक् कर दिया है। अतः मेरी पूर्वकृत शरणागति मेरे प्रमादसे खण्डित हो गयी। तब प्रायश्चित्तरूपमें उन्होंने फिरसे शरणागति की; यथा—

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः संयताञ्जलिः ।
सीतासमक्षं काकुत्स्थमिदं वचनमब्रवीत् ॥
परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते ।
(वाल्मीकि० ३ । १५ । ६-७)

अर्थात् श्रीरामजीके ऐसा कहनेपर श्रीलक्ष्मणजीने हाथ जोड़कर श्रीसीताजीके सामने श्रीरामजीसे इस प्रकार कहा—'हे श्रीरामजी ! आप यदि सैकड़ों वर्षोंतक वनमें रहें, तो भी मैं आपके अधीन हूँ।' (आपके परतन्त्र हूँ)।

इस प्रसङ्गमें 'सीतासमक्षम्' इस वाक्यखण्डमें श्रीसीताजीको पुरुषकाररूपमें वरण करनेका भाव और 'संयताञ्जलिः' एवं 'परवानस्मि' इन पदोंमें उपर्युक्त प्रमाणोंसे श्रीलक्ष्मणजीके शरण होनेके भाव हैं।

श्रीगोस्वामीजीने भी श्रीजानकीजीको पुरुषकाररूपमें वरण किया है। यथा—

कबहुँक अंब, अवसर पाइ ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ ॥……
तथा—
कबहुँ समय सुधि द्यायबी, मेरी मातु जानकी ।……
(बिनय-पत्रिका ४१-४२)

—इन दोनों पदोंको पूरा-पूरा पढ़कर समझना चाहिये।

शङ्का—ऊपर श्रीजानकीजीका महत्त्व श्रीरामजीके समान कहा गया था, यहाँ इनके पुरुषकारत्व-प्रसङ्गसे तो इनमें न्यूनता आती है; क्योंकि दूसरेसे प्रार्थना (पैरवी) करके वही काम करवाता है, जो स्वयं उस कामके करनेमें असमर्थ होता है।

समाधान—श्रीसीताजीने मातृत्व और श्रीरामजीने पितृत्व भाव धारण कर रक्खा है। स्वाँगके अनुकूल अभिनय करना लीलाकी निपुणता है। लीलामर्मज्ञ वाल्मीकि मुनिने कहा है; यथा—

तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा ।
जस काछिअ तस चाहिअ नाचा ॥
(रामचरितमानस अयो० १२७)

मातृत्वके अनुसार ही आपने अपनी वृत्ति बना रक्खी है। माताएँ स्वामीके द्वारा ही संतानोंकी रक्षा करवाती हैं। इसी रीतिमें मुमुक्षुओंका परम कल्याण होता है। स्वामी श्रीरामजी आपके प्रणय-वश हैं, इससे आपकी प्रेरणासे तुरंत वैसा ही करते हैं। अतः इसमें श्रीजीकी न्यूनता नहीं है।

इस प्रकार युगल-स्वरूपोंकी एकता, इनके सम्बन्ध एवं स्वभावकी भावना करते हुए उपासकोंको इनकी उपासना करनी चाहिये।

(ग) ऊपर लिखा गया कि श्रीरामजीके साथ प्रथम श्रीसीताजीकी उपासना करनी चाहिये। श्रीसीताजीका स्वभाव निर्हेतुकी क्षमामय एवं कृपामय है। वे प्रथम उपासित होनेपर आश्रितोंके दोषोंको क्षमाकर उनपर कृपा करती हैं। फिर अपने स्वाभाविक पुरुषकारत्वसे स्वामी श्रीरामजीमें भी वैसी ही क्षमा एवं कृपाकी वृद्धि करती हैं; क्योंकि वे आपके प्रणयके वश हैं; यथा—

सिनोति वशं करोति स्वचेष्टया भगवन्तं या सा सीता।

(विश्वकोष)

अर्थात् 'षिञ् बन्धने' इस धातुसे सीता शब्द सिद्ध होता है; तदनुसार कहा गया है—अपनी चेष्टाके द्वारा जो भगवान्‌को वश करती हैं, वे श्रीसीताजी हैं; तथा—

सिनोत्यतिगुणैः कान्तं सीयते तद्गुणैस्तु या।
वात्सल्यादिगुणैः पूर्णां तां सीतां प्रणतोऽस्म्यहम्॥

अर्थात् जो अपने अत्यन्त श्रेष्ठ गुणोंसे स्वामी श्रीरामजीको बाँध (प्रेमसे वशमें कर) लेती हैं, तथा स्वयं भी स्वामीके श्रेष्ठ गुणोंसे उनके वशमें रहनेवाली हैं, वात्सल्य आदि गुणोंसे-पूर्ण उन सीताजीको मैं प्रणाम करता हूँ।

श्रीसीताजीकी इस प्रणयशीलताका चरितार्थ-प्रसङ्ग भी देखिये—

रामस्तु सीतया सार्द्धं विजहार बहूनृतून्।
मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः॥

(वाल्मीकि० १। ७७। २५-२६)

अर्थात् श्रीरामजीने श्रीसीताजीके साथ बहुत ऋतुओंमें विहार किया। बुद्धिमान् श्रीरामजीने श्रीसीताजीके प्रेमसे अपना मन उनमें समर्पित कर दिया था। अतः उनका मन सदा उन्हींके (पास) अधीन रहता था।

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा।
जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं।
जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

(रामचरितमानस सुन्दर० १४)

जब श्रीसीताजी प्रसन्न हो अपने स्वभावानुसार स्वामीको अनुकूल कर उक्त रीतिसे उनमें भी निर्हेतु क्षमा एवं कृपा उद्दीप्त करती हैं, तब बद्ध जीवोंके पापोंको दिखानेवाली स्वामीकी सर्वज्ञता एवं सर्वज्ञतासे देखे हुए दोषोंके प्रति उन्हें दण्ड देनेमें प्रवृत्त करनेवाली उनकी सर्वशक्तिमत्ता—ये दोनों निरुद्यम रह जाती हैं। जीव अधिकारी सिद्ध होकर कल्याणका पात्र बन जाता है। कृपाके लक्षण—

रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः।
इति सामर्थ्यसंधाना कृपा सा पारमेश्वरी॥
स्वसामर्थ्यानुसंधानाधीनः कालुष्यनाशनः।
हार्दो भावविशेषो यः कृपा सा जागदीश्वरी॥

(श्रीभगवद्गुणदर्पण)

अर्थात् समस्त प्राणियोंकी रक्षा करनेमें मैं ही परम समर्थ हूँ, इस प्रकार अपने सामर्थ्यके अनुसंधान करनेको परमेश्वरकी कृपा कहते हैं, तथा अपने सामर्थ्य-अनुसंधानके अधीन जीवोंके पापोंका नाश करनेवाला प्रीत्यात्मक जो भावविशेष है, वही जगदीश्वरकी कृपा है।

'कृपू सामर्थ्ये' इस धातुसे निष्पन्न 'कृपा' शब्द शक्तिमत्ता अनुसंधानके अर्थमें और 'कृप कृपायाम्' से अनुग्रह अर्थमें प्रयुक्त होता है। इनके अनुसार प्रभुका अपनी अनुग्रहमयी शक्तिका आश्रयण करना, उनकी कृपा है।

कृपाके उदयपर प्रभु विचारते हैं कि मैंने इन जीवोंकी रक्षा ठीकसे नहीं की और न विवेक एवं सामर्थ्य देकर सुकर्म करा इनके पापोंका ही नाश कराया है, इसीसे ये दुर्दशा भोग रहे हैं। फिर इनके पापोंका नाश करना एवं इनकी रक्षा करनेको वे अपना कर्तव्य मान लेते हैं। उस समय यदि सर्वज्ञता जीवोंके दोष प्रकट करती है तो प्रभु अपनी ही अनवधानता मानकर स्वयं लज्जित होते हैं, तब दण्ड कैसे दें, इससे सर्वशक्तिमत्ता निरुद्यम ही रह जाती है।

कृपाका स्थान हृदय है, वहींपर आत्मस्थिति भी रहती है, अतः यह समीपमें रहनेवाली है। सर्वज्ञताका स्थान मस्तिष्क (मस्तकके भीतरका भाग) है और सर्वशक्तिमत्ताका बाहु है। समीप-निवासिनी कृपादेवीके समक्ष इन दोनों दूर निवासिनियोंकी कुछ नहीं चलती।

इस प्रकार मुमुक्षु प्रथम श्रीसीताजीकी उपासनासे अधिकारी एवं रक्ष्य बन जाता है। जैसे माता बच्चेको शुद्धकर एवं भूषितकर पिताकी गोदमें बैठनेका अधिकारी बना देती है। तत्पश्चात् साथ ही श्रीरामजीकी उपासना की जाती है, तब श्रीरामजी, अपने उदार स्वभावानुसार बर्तते हैं। श्रीरामजीके आश्रितोपयोगी गुण अनन्त हैं, यहाँपर उनके नामार्थ रूपमें आये हुए मुख्य गुण ही लिखे जाते हैं, यथा—

जो आनंद सिंधु सुख रासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥
(रामचरितमानस बाल० १९६)

अर्थात् श्रीरामजी ऐसे आनन्दके सागर हैं कि अपने आनन्दके कणमात्रसे तीनों लोकोंको सुखी कर सकते हैं और फिर वे निःशेष लोकोंको आनन्द दे विश्राम देनेवाले हैं भी।

श्रीरामजी उदार-शिरोमणि तथा दानि-शिरोमणि भी हैं—

ऐसो को उदार जग माहीं।…… (विनय-पत्रिका १६२)
एकै दानि सिरोमनि साँचो।…… (विनय-पत्रिका १६३)

जब यह प्रथम श्रीसीताजीकी उपासनासे अधिकारी बन जाता है, तब परम उदार एवं महादानी श्रीरामजीके समक्ष इस एक जीवका आनन्दित कर विश्राम देना कुछ नहींके समान है, श्रीगोस्वामीजीने अनुभव करके लिखा है—

सुंदर सुजान कृपा निधान अनाथ पर कर प्रीति जो।
सो एक राम अकाम हित निर्बानप्रद सम आन को॥
जाकी कृपा लवलेस तें मतिमंद तुलसीदासहूँ।
पायो परम बिश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥
(रामचरितमानस उत्तर० १२९)

अतः श्रीसीताजीके साथ-साथ श्रीरामजीकी उपासना करनी चाहिये।

सारांश यह कि मुमुक्षु जब श्रीसीतारामजीकी शरणागति करता है, तब उपायरूपमें वरण की हुई श्रीसीताजी श्रीरामजीके प्रपन्न-रक्षणोपयोगी गुणोंको बढ़ाती हैं। ऊपर लिखा जा चुका है कि श्रीजानकीजी श्रीरामजीके साथ-साथ परधाम (त्रिपाद्विभूति साकेतधाम) में रहकर मुक्तात्माओंके शेषत्व (सेवकाई) को ग्रहण करती हैं; नित्य परिकरोंसे सेव्य होकर वे नित्य श्रीरामजीके साथ रहती हैं। उस समय उपेयरूपमें वरण की हुई श्रीजानकीजी इसके मोक्षके दिव्य भोगोंकी अभिवृद्धि करती हुई पूर्ण ब्रह्मानन्दको सम्पन्न करती हैं, तब यह श्रीरामजीके साथ परिकररूपमें अपने भावानुसार दिव्य भोगोंको भोगता है; यथा—

सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सहब्रह्मणा विपश्चिता।
(तैत्ति० १।२)

अर्थात् मुक्तात्मा ब्रह्मके साथ-साथ सारी कामनाओंका उपभोग करता है। फिर यह कभी इस दुःखमय संसारमें नहीं आता; यथा—

स खल्वेवं वर्तयन्……।

यह श्रुति ऊपर लिखी गयी है।

युगल नाम-निष्ठा

युगलनाम (श्रीसीताराम, श्रीराधिकाकृष्ण-नाम) का जप या कीर्तन करनेमें नामके साथ नामी (रूप) का चिन्तन होता ही है; यथा—

'तज्जपस्तदर्थभावनम्।' (योगदर्शन १।२८)

अर्थात् उस (प्रणव) का जप और उसके अर्थकी भावना करनी चाहिये।

जपहिं राम धरि ध्यान उर सुंदर स्याम सरीर।
(रामचरितमानस, बाल० ३४)

अर्थात् नामजपके साथ उसके मुख्य अर्थभूत रूपकी और नामार्थमें प्रकट होनेवाले रूपके गुणोंकी भावना की जाती है, तब उन गुणोंके अनुसार जापककी कामनाओंको रूप ही पूर्ण करता है; यथा—

नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु॥
(रामचरितमानस बाल० २६)

जथा भूमि सब बीजमय नखत निवास अकास।
रामनाम सब धरममय जानत तुलसीदास॥
(दोहावली २९)

अतः 'सीता-राम' इस युगल नाम-जपमें 'सीता' इस नामसे श्रीसीताजीके उपर्युक्त गुण और साथ ही 'राम' इस नामसे श्रीरामजीके गुण जापकके प्रति वैसे ही साक्षात्कार एवं सफल होते हैं। (अतः) युगल-स्वरूप और युगल नामकी उपासना करनी चाहिये।

स्त्रियोंके लिये कर्तव्यशिक्षा और पातिव्रत्यका प्रभाव

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[गताङ्कसे आगे]

सती दमयन्तीकी कथा

राजा नल निषधदेशके राजा वीरसेनके पुत्र थे। ये बड़े तेजस्वी, ब्राह्मणोंके रक्षक, वेदवेत्ता, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, उदार और प्रजापालक थे। इनमें जूआ खेलनेका एक व्यसन था, इसके अतिरिक्त इनमें अन्य अनेक गुण थे और इनका चरित्र भी बड़ा पवित्र तथा प्रशंसनीय था। इनके पास एक अक्षौहिणी सेना थी और ये स्वयं भी युद्धमें बड़े प्रवीण, वीर योद्धा थे।

उन्हीं दिनों विदर्भदेशके राजा भीम हुए। वे भी नलके समान ही गुणी और सदाचारी थे। राजाके कोई संतान न होनेके कारण उन्होंने दमन ऋषिको सेवाद्वारा प्रसन्न किया। दमन ऋषिकी कृपासे उनके तीन पुत्र और एक कन्या हुई। पुत्रोंके नाम थे—'दम, दान्त और दमन; और कन्याका नाम था दमयन्ती। दमयन्ती बहुत ही उत्तम गुणोंसे सम्पन्न और सच्चरित्रवती थी। वह लक्ष्मीके समान सुन्दरी थी।

उन दिनों कितने ही लोग विदर्भदेशसे निषधदेशमें आते और राजा नलके सामने दमयन्तीके रूप और गुणका बखान करते। निषधदेशसे विदर्भमें जानेवाले भी दमयन्तीके सामने राजा नलके रूप, गुण और पवित्र चरित्रका वर्णन करते। इससे इन दोनोंके हृदयमें परस्पर अनुरागका बीज अङ्कुरित हो गया।

एक दिन राजा नलने अपने महलके बगीचेमें आये हुए हंसोंमें एक हंसको पकड़ लिया। हंसने कहा—'आप मुझे छोड़ दें तो मैं दमयन्तीके पास जाकर आपके गुणोंका ऐसा वर्णन करूँगा कि वह आपको अवश्य ही वर लेगी।' तब नलने हंसको छोड़ दिया। फिर वे सब हंस विदर्भदेशमें दमयन्तीके पास जाकर बोले—'दमयन्ती! निषधदेशमें नल नामक एक राजा है, वह अश्विनीकुमारके समान सुन्दर है; मनुष्योंमें उसके समान सुन्दर और कोई नहीं है। यदि तुम उसकी पत्नी हो जाओ तो तुम्हारा जन्म और रूप—दोनों सफल हो जायँ।' दमयन्तीने कहा—'हंस! तुमलोग नलसे भी ऐसी ही बात कहना।' हंसोंने निषधदेशमें लौटकर नलसे दमयन्तीका संदेश कह दिया।

दमयन्ती हंसोंके मुँहसे राजा नलकी बड़ाई सुनकर उनसे मन-ही-मन प्रेम करने लगी। वह रात-दिन उन्हींका ध्यान करती रहती। इससे उसका शरीर दुबला हो गया और वह दीन-सी दीखने लगी। दमयन्तीके हृदयका भाव सखियोंके द्वारा जानकर राजा भीमने उसके स्वयंवरका विचार किया और सब राजाओंको निमन्त्रणपत्र भेज दिया। तब देश-देशके राजा विदर्भदेशमें आने लगे। राजा भीमने सबके स्वागतकी सुव्यवस्था कर दी।

श्रीनारद तथा पर्वतसे दमयन्तीके स्वयंवरका संवाद सुनकर इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम—ये चारों देवता उससे विवाह करनेके लिये आये। रास्तेमें उन्होंने विदर्भदेशके निकट उतरकर राजा नलसे कहा—'तुम दमयन्तीके पास हमारे दूत बनकर जाओ।' नल बोले—'जिस कामके लिये आप आये हैं, उसी कामके लिये मैं जा रहा हूँ; अतः इस कामके लिये मुझे भेजना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त वहाँ द्वारपालोंका बड़ा कड़ा पहरा रहता है, मैं महलमें प्रवेश भी कैसे कर सकता हूँ।' तब देवताओंने कहा—'हम तुम्हें ऐसी शक्ति दे देते हैं, जिससे तुम्हें कोई नहीं रोक सकेगा। तुम जाओ और हमारा संदेश वहाँतक पहुँचाओ।' शीलसम्पन्न राजा नलने देवताओंका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और देवताओंकी दी हुई शक्तिके प्रभावसे वे दमयन्तीके पास निर्बाध पहुँच गये।

दमयन्तीके पूछनेपर राजा नलने अपना परिचय देकर कहा कि 'मैं देवताओंके प्रभावसे बिना रोक-टोक तुम्हारे महलमें आ गया हूँ। इस समय मैं देवताओंका दूत बनकर आया हूँ। इन्द्र, यमराज, अग्नि और वरुण—ये चारों लोकपाल तुमसे विवाह करनेके लिये आये हैं। इनमेंसे तुम्हारी इच्छा हो, उसीको वर लो।' दमयन्ती बोली—'जबसे मैंने हंसोंके द्वारा आपकी प्रशंसा सुनी है, तबसे मैं आपको ही पति मानती हूँ; आप मुझे स्वीकार करें।'

नलने कहा—'तुम देवताओंको छोड़कर मुझे क्यों

चाहती हो ? देवताओंमेंसे किसी एकको वर लो।' इसपर वह व्याकुल हो गयी। यह देखकर नलने कहा—'इसके लिये कोई धर्मयुक्त मार्ग होना चाहिये, क्योंकि मैं देवताओंका दूत बनकर आया हूँ। अतः तुम्हारे साथ विवाह करना मेरे लिये न्याय नहीं है।' दमयन्ती बोली—'जब आप सब लोग स्वयंवरमें आयेंगे, उस समय मैं उन सबके सामने ही आपके गलेमें वरमाला डाल दूँगी, तब आपको कोई दोष नहीं होगा।' राजा नल देवताओंके पास लौट आये और सारी बातें ज्यों-की-त्यों कह सुनायीं और यह बता दिया कि दमयन्ती मुझे ही वरना चाहती है।

तदनन्तर, स्वयंवरमें सब राजागण एकत्र हुए। चारों देवता और नल भी आकर यथास्थान बैठ गये। दमयन्ती वरमाला लिये सब ओर घूमने लगी तथा राजाओंका परिचय सुन-सुनकर आगे बढ़ती गयी। जब वह राजा नलके पास पहुँची, तब उसे वहाँ पाँच नल बैठे दिखायी दिये। उसने देवोंसे प्रार्थना की कि 'मैं राजा नलको ही वरण करना चाहती हूँ; अतः आपलोग मुझे राजा नलको बतला दें।' देवतागण उसकी सत्यता, निष्ठा और प्रतिज्ञाको देखकर प्रसन्न हो गये और उन्होंने उसे देवताओंके पहचाननेकी विद्या सिखला दी। इससे उसने समझ लिया कि देवताओंके पलक नहीं पड़ती, उनका भूमिसे स्पर्श नहीं होता और उनकी छाया नहीं पड़ती। उसने इन लक्षणोंके द्वारा देवताओंसे पृथक् नलको पहचानकर उनके गलेमें वरमाला डाल दी और घूँघट कर लिया।

तत्पश्चात् राजा नल और दमयन्तीने देवताओंकी शरण ली। इसपर चारों लोकपालोंने प्रसन्न होकर नलको आठ वर दिये। इन्द्रने कहा—'नल! तुम्हें यज्ञमें मेरा दर्शन होगा और उत्तम गति मिलेगी।' अग्निने कहा—'जहाँ तुम मेरा स्मरण करोगे, वहीं मैं प्रकट हो जाऊँगा और मेरे समान ही देदीप्यमान उत्तम लोक तुम्हें प्राप्त होगा।' यमराजने कहा—'तुम्हारी बनायी हुई रसोई बहुत मीठी होगी और तुम अपने धर्ममें दृढ़ रहोगे।' वरुणने कहा—'जहाँ तुम चाहोगे, वहीं जल प्रकट हो जायगा। तुम्हारी माला उत्तम गन्धसे परिपूर्ण रहेगी।' इस प्रकार दो-दो वर देकर सब देवता अपने-अपने लोकको चले गये। राजा भीमने दमयन्तीका नलके साथ विधिपूर्वक विवाह कर दिया। तब नल दमयन्तीको साथ लेकर अपनी राजधानीमें चले गये।

जब देवतागण स्वर्गको जा रहे थे, उस समय रास्तेमें द्वापर और कलियुग मिले। पूछनेपर उन्होंने कहा—'हमलोग दमयन्तीसे विवाह करने विदर्भदेश जा रहे हैं।' देवता बोले—'स्वयंवर तो हो चुका, दमयन्तीने नलको वरण कर लिया।' तब कलियुगने क्रोध करके कहा—'उसने देवताओंको छोड़कर मनुष्यको अपनाया है, उसे दण्ड देना चाहिये।' इसपर इन्द्रादि देवता बोले—'राजा नल सद्गुणी, सदाचारी, धर्मज्ञ, वेदवेत्ता, सत्यनिष्ठ और दृढ़निश्चयी हैं। उनकी चतुरता, धैर्य, ज्ञान, तपस्या, पवित्रता, दम और शम लोकपालोंके समान है। दमयन्तीने हमारी आज्ञासे ही नलको वरण किया है। अतः उनको शाप नहीं देना चाहिये।' यह कहकर देवता चले गये। कलियुगने द्वापरसे कहा—'मैं नलके शरीरमें प्रवेश करके उसे राज्यच्युत कर दूँगा, जिससे वह दमयन्तीके साथ नहीं रह सकेगा। तुम जूएके पासोंमें प्रवेश करके मेरी सहायता करना।' फिर वे दोनों नलकी राजधानीमें जाकर नलका छिद्रान्वेषण करते रहे, किंतु बारह वर्षतक नलमें कोई दोष नहीं मिला। एक दिन सायंकाल राजा नल लघुशङ्कासे निवृत्त हो बिना पैर धोये ही संध्योपासना करने बैठ गये। इस अपवित्रताके दोषके कारण कलियुगने उनके शरीरमें प्रवेश किया।

एक दिन राजा नलके भाई पुष्करने कलियुगकी प्रेरणासे नलके पास आकर दाव लगाकर जूआ खेलनेका आग्रह किया। बार-बार कहनेपर नलने स्वीकार कर लिया और वे दाव लगाकर जूआ खेलने लगे। द्वापरने पासोंका रूप धारण कर लिया था तथा नलके शरीरमें कलियुग प्रवेश किये हुए था, अतः वे दाव लगाकर बार-बार हारने लगे। खेलते-खेलते वे सब कुछ हार गये। यह देखकर दमयन्तीने वार्ष्णेय नामक सारथिको बुलाकर कहा—'इन्द्रसेन और इन्द्रसेनाको मेरे नैहर कुण्डिनपुर पहुँचा दो।' सारथि उन दोनों बच्चोंको कुण्डिनपुर पहुँचाकर अयोध्या-नरेश ऋतुपर्णके पास चला गया और वहाँ सारथिका काम करने लगा।

जब राजा नल सब कुछ हार चुके, तब पुष्करने कहा—'अब तुम्हारे पास केवल दमयन्ती रही है। इसे भी दावपर लगा दो।' यह बात सुनकर राजा नलको दुःख तो बहुत हुआ, पर वे चुप रहे। सारे राज-वस्त्र और आभूषणोंको उतारकर तथा एक-एक साधारण वस्त्र पहनकर नल और दमयन्ती वहाँसे चल दिये। पुष्करने सारे नगरमें ढिंढोरा पिटवा दिया कि जो राजा नलके साथ सहानुभूति दिखायेगा, उसे फाँसीकी सजा दी जायगी। फाँसीके भयसे किसीने भी

राजा नलका सत्कार नहीं किया । नल-दमयन्ती तीन दिनतक केवल जल पीकर रहे ।

तत्पश्चात् जब वे निषधदेशके बाहर घोर वनकी ओर चले गये, तब राजा नलने एक चौरास्तेपर दमयन्तीसे कहा—'यह मार्ग अवन्तीपुर जाता है, यह विदर्भदेशको जाता है और यह कोसलदेशका मार्ग है ।' इसपर दमयन्ती बोली—'मैं आपको वनमें छोड़कर अकेली कहीं नहीं जाऊँगी ।' नलने उत्तर दिया कि 'तुम त्यागनेकी शङ्का क्यों कर रही हो ?' उसने कहा—'आपने मुझे विदर्भदेशका रास्ता बतलाया, इससे मैंने यह बात समझी । आपकी यदि इच्छा हो तो आपके साथ मैं पिताके यहाँ जा सकती हूँ । वे आपका सत्कार करेंगे । आप वहाँ सुखसे रहिये ।' नल बोले—'तुम्हारे पिता राजा हैं और मैं भी राजा था, किंतु आज इस दुःखकी अवस्थामें मैं तुम्हारे पिताके यहाँ नहीं जाऊँगा ।' इसके बाद वे आगे बढ़े और घोर जंगलमें एक धर्मशालामें आकर ठहर गये । रात्रिमें वे धर्मशालामें जमीनपर ही सो गये । दुःखके कारण राजा नलको नींद नहीं आयी और वे विचारने लगे—दमयन्ती सच्ची पतिव्रता है । मैं इसे छोड़कर चल दूँ तो यह बाध्य होकर अपने पिताके यहाँ चली जायगी । इससे दमयन्तीको एक बार तो दुःख होगा । यह यों तो मुझे छोड़कर जायगी नहीं, पर यह अपने माँ-बापके पास रहकर दुःखके दिन सुविधाके साथ बिता देगी । इसके सतीत्वको तो कोई भङ्ग कर नहीं सकता; क्योंकि यह महान् पतिव्रता सती है । पुनः-पुनः ऐसा विचार कर वे दमयन्तीके दुःखका विचार रहते हुए भी कलियुगके प्रभावके कारण दमयन्तीको वहीं सोती छोड़कर वनमें चले गये ।

जब दमयन्तीकी आँखें खुलीं तो वह पतिको न देखकर व्याकुल हो गयी और विलाप करने लगी—'हा प्राणनाथ ! आप कहाँ चले गये ! क्या आप मुझसे हँसी करते हैं ? क्या आप वास्तवमें चले गये ?' इस प्रकार विलाप करती हुई वह वन-वन घूमने लगी । वहाँ उसको एक अजगर पकड़कर निगलने लगा । उस समय भी उसने अपने कष्टका ख्याल न करके पतिके दुःखका ही स्मरण किया । फिर कहा—'नाथ ! अजगर मुझे निगल रहा है, आप मुझे इससे क्यों नहीं छुड़ाते ?' उसकी दुःखभरी आवाज सुनकर एक व्याध उसके पास आया और उसने तीक्ष्ण शस्त्रसे अजगरको चीर डाला तथा दमयन्तीको उसके मुखसे छुड़ा दिया । फिर उसने दमयन्तीको स्नान और भोजन कराया । व्याधके पूछे जानेपर दमयन्तीने उसे अपना सारा परिचय दे दिया । व्याधको उसके सौन्दर्यपर मोह हो गया और उसने उसके प्रति अधर्मपूर्ण प्रस्ताव किया । उसकी इस कुत्सित चेष्टाको देखकर सती दमयन्तीको क्रोध आया और उसने शाप दिया कि 'यदि मैंने राजा नलके अतिरिक्त दूसरे पुरुषका मनसे भी कभी चिन्तन नहीं किया है तो उस पातिव्रत्यके प्रभावसे यह व्याध मरकर जमीनपर गिर पड़े ।' उसी क्षण वह व्याध मरकर जले हुए ठूँठकी तरह गिर पड़ा ।

दमयन्ती वनमें आगे चली गयी । वहाँ उसने तपस्वियोंका एक आश्रम देखा । तपस्वियोंके पूछनेपर उसने अपने दुःखका सारा वृत्तान्त कह सुनाया और वह पूछने लगी—'क्या मेरे पतिसे मेरा मिलना होगा और मेरे दुःखका कभी अन्त होगा ?' तपस्वियोंने कहा—'तुम्हारा पतिसे शीघ्र ही मिलाप होगा और तुम्हारे सब दुःख शान्त हो जायँगे ।' इस प्रकार आश्वासन देकर वे आश्रमसहित अन्तर्धान हो गये ।

दमयन्ती आगे चलकर चेदिदेशके राजा सुबाहुके महलके निकट पहुँच गयी । उस समय उसको पागल समझकर कितने ही बालक उसे घेरे हुए थे । राजमाताने इस दृश्यको देखकर उसे दासीके हाथ महलमें बुलवाया और पूछा—'तुम कौन हो और कैसे घूम रही हो ?' दमयन्ती बोली, 'मेरे पतिदेव मुझे वनमें अकेली छोड़कर कहीं चले गये हैं । मैं उनकी खोजमें घूम रही हूँ ।' यों कहते उसकी आँखोंमें आँसू भर आये, फिर उसने कहा—'मैं दासीका काम कर सकती हूँ, किंतु मेरी यह शर्त है कि मैं कभी जूठा नहीं खाऊँगी, किसीके पैर नहीं धोऊँगी और पर-पुरुषके साथ किसी प्रकार भी बातचीत नहीं करूँगी । यदि कोई पुरुष मुझसे दुश्चेष्टा करेगा तो उसे दण्ड देना होगा । मैं अपने पतिको ढूँढ़नेके लिये ब्राह्मणोंसे बातचीत करती रहूँगी ।' राजमाता उसकी शर्त सुनकर बहुत प्रसन्न हुई और बोली—'ऐसा ही होगा ।' फिर उसने अपनी लड़की सुनन्दाको बुलाकर कहा—'बेटी ! यह तुम्हारी उम्रकी है, इसे तुम अपनी सहेलीकी तरह प्रसन्नतापूर्वक महलमें रक्खो ।'

उधर, राजा नल वनमें घूम रहे थे, तब वनमें लगे हुए दावानलमेंसे एक सर्पकी आवाज सुनकर उसमें घुस गये । वे उस कर्कोटक नामक सर्पको उठाकर चलने लगे । सर्पने राजासे गिनकर पैर रखनेके लिये कहा; तब राजा

नलने गिनती करते हुए 'दश' कहकर ज्यों ही कदम रक्खा, त्यों ही कर्कोटक नागने उनको डस लिया। इससे उनका रूप बदल गया। राजाने कहा—'तुमने यह क्या किया?' सर्प बोला—'तुमने मेरा बड़ा उपकार किया है। अतः तुम्हारे उपकारके लिये मैंने ऐसा किया है। इससे तुम्हें कोई पहचान नहीं सकेगा। तुम राजा ऋतुपर्णके यहाँ जाकर नौकरी कर लो। उनको तुम घोड़ोंकी विद्या सिखला देना और उनसे जुएकी कला सीख लेना, जिससे तुम्हें तुम्हारा राज्य वापस मिल जायगा और ये वस्त्र मैं तुम्हें देता हूँ। मेरा स्मरण करके इनको धारण करनेसे तुम्हारा पहलेवाला रूप हो जायगा।' ऐसा कह और वस्त्र देकर कर्कोटक चला गया।

राजा नल अयोध्याधिपति ऋतुपर्णके पास जाकर बोले—'मेरा नाम बाहुक है। मैं अश्वविद्या या सारथिका काम जानता हूँ, रसोई बनाना जानता हूँ और भी बहुत-से काम जानता हूँ।' राजाने उत्तर दिया कि 'तुम्हारे जिम्मे ये सभी काम रहेंगे, किंतु अश्वशालाके अध्यक्ष रहकर तुम्हें घोड़ोंकी चाल तेज करनेका उद्योग विशेषरूपसे करना होगा। वार्ष्णेय और जीवल तुम्हारे अधिकारमें रहेंगे।' तब राजा नल वहाँ काम करने लगे।

जब दमयन्तीके पिता भीमने यह सुना कि राजा नल राज्यच्युत होकर दमयन्तीके साथ जंगलमें चले गये, तब दुःखित होकर उन्होंने ब्राह्मणोंको यह आदेश दिया कि जो दमयन्तीका पता लगाकर सूचना देगा, उसे एक हजार गायें और जागीर दी जायगी। नल-दमयन्तीकी खोजमें अनेक ब्राह्मण निकल पड़े। उनमेंसे सुदेव ब्राह्मण ढूँढ़ते-ढूँढ़ते चेदिदेशमें राजा सुबाहुके यहाँ पहुँचे। वहाँ अनुष्ठानमें पुण्याहवाचन हो रहा था। उसमें सुनन्दाके पास बैठी हुई दमयन्तीको ब्राह्मणने पहचान लिया और कहा—'तुम्हारी तथा राजा नलकी खोजमें तुम्हारे पिताने बहुत-से ब्राह्मणोंको नियुक्त किया है। मैं उनमेंसे एक हूँ; तुम्हारे भाईका मित्र हूँ। तुम्हारी खोजमें आया हूँ। तुम्हारे पिता, माता, भाई और तुम्हारे बच्चे भी तुम्हारे वियोगमें दुखी हो रहे हैं। अतः तुम्हें वहाँ चलना चाहिये।' यह सुनकर दमयन्ती रो पड़ी और वह वहाँका सब हाल पूछने लगी। दमयन्तीका रोना देखकर सुनन्दाने माँके पास जाकर सब हाल बताया। राजमाताने वहाँ आकर ब्राह्मणसे पूछा—'यह किसकी कन्या और किसकी पत्नी है?' ब्राह्मणने सब परिचय कह सुनाया कि यह विदर्भनरेश भीमकी पुत्री और राजा नलकी धर्मपत्नी दमयन्ती है। यह सुनकर सुनन्दाने दमयन्तीके ललाटको धोया, जिससे उसके ललाटका लाल चिह्न दिखायी देने लगा। तब राजमाता उसे पहचानकर रो पड़ी और बोली—'तुम तो मेरी सगी बहिनकी लड़की हो। मैं तुम्हें अबतक पहचान न सकी।' दमयन्तीने कहा—'मैं यहाँ बहिन सुनन्दाके साथ बड़े सुखसे रही। अब मेरे माता, पिता तथा बच्चे मेरे बिना दुखी हैं, उनसे मिलनेके लिये मैं आपसे आज्ञा चाहती हूँ।' तब राजमाताने दमयन्तीको पालकीमें बिठलाकर विदा किया और उसकी रक्षाके लिये साथमें बहुत-सी सेना भेज दी। दमयन्ती अपने पिता भीमके पास पहुँची। दमयन्तीको आयी देखकर उसके माता-पिता, भाई और बच्चे बहुत प्रसन्न हुए तथा सुदेव ब्राह्मणको एक हजार गायें, गाँव और धन पुरस्कारमें दिये गये।

एक समय दमयन्ती मातासे बोली—'यदि मुझे आप जीवित देखना चाहती हैं तो मेरे पतिदेवको ढुँढ़वानेका उद्योग कीजिये। दमयन्तीकी माँने अपने स्वामी राजा भीमसे दमयन्तीकी यह बात कह सुनायी। तब राजाने नलको ढूँढ़ लानेके लिये ब्राह्मणोंको नियुक्त कर दिया। जब वे ब्राह्मण दमयन्तीके पास आये, तब दमयन्तीने कहा—'आपलोग जिस नगरमें जायँ, वहाँ मनुष्योंकी भीड़में यह बात कहें कि तुम मुझ दासीको वनमें अकेली छोड़कर कहाँ चले गये? तुम्हारी यह दासी तुम्हारे वियोगमें दुःखित हुई तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है?' ब्राह्मणगण दमयन्तीके निर्देशानुसार राजा नलको ढूँढ़ने चल दिये।

एक दिन पर्णाद नामक ब्राह्मणने आकर दमयन्तीसे कहा—'राजा नलका पता लगाते हुए जब मैंने अयोध्याके राजा ऋतुपर्णकी सभामें तुम्हारी बात कही, तब उसके बाहुक नामक सारथिने मुझे एकान्तमें बुलाया। वह सारथि राजा ऋतुपर्णके घोड़ोंको शिक्षा देता है, स्वादिष्ट भोजन बनाता है, परंतु उसके हाथ छोटे-छोटे और शरीर साँवला है। उसने मुझसे रोते हुए कहा कि कुलीन स्त्रियाँ घोर कष्ट पानेपर भी अपने शीलकी रक्षा करती हैं और अपने सतीत्वके बलपर स्वर्ग जीत लेती हैं। कभी उनका पति उन्हें त्याग भी दे तो वे क्रोध नहीं करतीं, अपने सदाचारकी रक्षा करती हैं। यह ठीक है कि पतिने अपनी पत्नीका योग्य सत्कार नहीं किया, परंतु वह उस समय राज्यलक्ष्मीसे

च्युत, क्षुधातुर, दुखी और दुर्दशाग्रस्त था। ऐसी अवस्थामें उसपर क्रोध नहीं करना चाहिये।'

ब्राह्मणकी बात सुनकर दमयन्तीकी आँखोंमें आँसू भर आये। फिर उसने पर्णादका सत्कार करके विदा किया और सुदेव ब्राह्मणको बुलाकर कहा—'आप शीघ्र ही अयोध्यामें पहुँचकर राजा ऋतुपर्णसे कहें कि भीमपुत्री दमयन्ती नलके जीने या मरनेका किसीको पता न होनेके कारण कल सूर्योदयके समय दूसरा स्वयंवर करना चाहती है। यदि आप पहुँच सकें तो वहाँ जाइये।' ब्राह्मण सुदेवने अयोध्या जाकर राजा ऋतुपर्णसे दमयन्तीकी सारी बातें ज्यों-की-त्यों कह दीं।

राजा ऋतुपर्णने बाहुकको बुलाकर दमयन्तीके स्वयंवरमें ले चलनेके लिये कहा। यह बात सुनकर राजा नल बहुत दुखी हुए। उन्होंने अपने मनमें सोचा—'दमयन्तीने मेरी प्राप्तिके लिये ही यह युक्ति की होगी। वह पतिव्रता, तपस्विनी और दीना है। मैंने दुर्बुद्धिवश उसे त्यागकर बड़ी क्रूरता की। अपराध मेरा ही है। वह कभी ऐसा नहीं कर सकती।' बाहुकने राजाको विदर्भदेश पहुँचा देनेकी प्रतिज्ञा की और वे शीघ्रगामी घोड़े जोतकर एक रथ ले आये। राजा उसपर सवार होकर चल पड़े। रथ वायुके समान बड़े वेगसे जा रहा था। एक स्थानपर राजाका दुपट्टा गिर गया। राजाने कहा—'बाहुक! मेरा दुपट्टा गिर गया, रथ रोको।' बाहुक बोला—'राजन्! अब हम वहाँसे एक योजन दूर आ गये हैं।' यह आश्चर्यकी बात सुनकर राजा ऋतुपर्णने कहा—'मेरी गणितविद्याकी चतुराई देखो, सामनेके बहेड़ेके वृक्षमें पाँच करोड़ पत्ते और दो हजार पंचानबे फल हैं। तुम्हारी इच्छा हो तो गिन लो।' बाहुकने रथ खड़ा करके वृक्ष काटकर फल और पत्ते गिने तो ठीक उतने ही हुए। फिर राजा ऋतुपर्णने बाहुकसे कहा—'मैं गणितविद्याके सिवा पासोंकी विद्या भी जानता हूँ।' बाहुक बोला—'आप मुझे पासोंकी विद्या सिखला दें और मैं आपको घोड़ोंकी विद्या सिखला दूँगा।' तब राजाने उसको पासोंकी विद्या सिखला दी और कहा—'घोड़ोंकी विद्या तुम मुझे फिर सिखला देना।' तत्पश्चात् राजा नलके शरीरसे कलियुग कर्कोटकका विष उगलता हुआ बाहर निकला। राजाने उसे शाप देना चाहा; किंतु कलियुगने राजाकी शरण होकर कहा—'आप मुझे शाप न दें, दमयन्तीके शापसे भी मैं महान् दुखी हूँ; जो आपके चरित्रको गायेंगे, उन्हें मेरा भय नहीं होगा।' राजा नल शान्त हो गये और कलियुग बहेड़ेके पेड़में घुस गया, जिससे वह वृक्ष ठूँठ-सा हो गया।

इसके अनन्तर राजा ऋतुपर्णको लेकर नल विदर्भदेशमें पहुँचे। उस समय रथकी घरघराहटको सुनकर दमयन्तीने निश्चय किया कि इस रथके सारथि मेरे पतिदेव नल ही हैं। आज यदि मेरे पति मेरे पास नहीं आयेंगे तो मैं धधकती हुई आगमें कूद पड़ूँगी। मैंने कभी हँसी-खेलमें भी उनसे झूठी बात कही हो, उनका कोई अपकार किया हो, प्रतिज्ञा करके तोड़ दी हो, ऐसा याद नहीं आता। वे शक्तिशाली, क्षमावान्, वीर, दाता और एकपत्नीव्रती हैं, उनके वियोगमें मैं व्याकुल हो रही हूँ।' राजा ऋतुपर्णने वहाँ पहुँचकर राजा भीमके पास समाचार भेजा, तब भीमने ऋतुपर्णको अपने पास बुलाया। फिर कुशल-प्रश्नके अनन्तर राजा भीमके पूछनेपर राजा ऋतुपर्णने वहाँ स्वयंवरका कोई ढंग न देखकर यही बात कही कि मैं आपसे मिलने आया हूँ। तब भीमने उनके ठहरने आदिका सब प्रबन्ध कर दिया।

इसके बाद, दमयन्तीकी भेजी हुई केशिनी दासी नलके बच्चे इन्द्रसेन और इन्द्रसेनाको लेकर बाहुकके पास गयी और ब्राह्मण पर्णादने जो बात ऋतुपर्णकी सभामें सुनायी थी, वही बात केशिनीने बाहुकसे कही तथा पूछा कि 'क्या आप राजा नलको जानते हैं?' बाहुकने उत्तर दिया कि 'राजा नल छिपे हुए हैं, उनकी पत्नी दमयन्ती ही उन्हें पहचान सकती है। राजा नलने अपनी पत्नीके साथ उचित व्यवहार नहीं किया, किंतु उन्होंने विपत्तिमें पड़कर पत्नीका त्याग किया था, अतः दमयन्तीको अपने पतिपर क्रोध नहीं करना चाहिये।' यह कहते हुए उनका चित्त खिन्न हो गया। फिर वे बच्चोंको देखकर उनसे प्यार करने लगे और उनकी आँखोंमें आँसू भर आये। बाहुकने केशिनीसे कहा—'ये बच्चे मेरे बच्चोंके समान ही हैं, अतः मेरा हृदय भर आया। तुम बार-बार मेरे पास मत आओ।' केशिनीने बाहुकके सब चरित्र देखकर दमयन्तीके पास जाकर सारी बात कह सुनायी। केशिनी बोली—'उस सारथि बाहुकके देखनेमात्रसे ही खाली घड़ोंमें जल भर जाता है, सूर्यको दिखानेसे फूस जलने लगता है, आगमें उसके हाथ जलते नहीं, पुष्प मसल डालनेपर भी कुम्हलाते नहीं, बल्कि और भी महकते हैं तथा नीचे द्वारमें उनको झुकना नहीं पड़ता, द्वार ही ऊँचा हो जाता है। ऐसी आश्चर्यजनक बातें जो मैंने

उसमें देखीं, वैसी आजतक किसीमें भी नहीं देखीं।' केशिनीकी बात सुनकर दमयन्तीको यह निश्चय हो गया कि ये राजा नल ही हैं।

तब उसने माता-पिताकी आज्ञा लेकर बाहुकको अपने महलमें बुला लिया। वह बाहुकसे बोली—'घोर वनमें निद्रामें अचेत पड़ी हुई अपनी स्त्रीको निषधराज नल ही त्याग सकता है। मैंने जीवनभरमें कोई अपराध नहीं किया, फिर भी वे मुझे वनमें सोती छोड़कर चले गये।' इतना कहते ही दमयन्तीके नेत्रोंसे आँसुओंकी झड़ी लग गयी। इसपर नल कहने लगे—'मैंने जान-बूझकर न तो राज्यका त्याग किया है और न तुम्हें त्यागा है। यह तो कलियुगकी करतूत है। मैं जानता हूँ कि जबसे तुम मुझसे बिछुड़ी हो तबसे रात-दिन मेरा ही स्मरण-चिन्तन करती रहती हो। मैंने उद्योग और तपस्याके बलपर कलियुगपर विजय प्राप्त कर ली है और अब हमारे दुःखका अन्त हो गया है। कलियुग अब मुझे छोड़कर चला गया, मैं एकमात्र तुम्हारे लिये ही यहाँ आया हूँ। पर यह तो बतलाओ कि तुम मेरे-जैसे प्रेमी और अनुकूल पतिको छोड़कर जिस प्रकार दूसरे पतिसे विवाह करनेके लिये तैयार हुई हो, क्या कोई दूसरी स्त्री ऐसा कर सकती है?'

दमयन्तीने हाथ जोड़कर कहा—'आर्यपुत्र! मुझपर दोष लगाना उचित नहीं है। आप जानते हैं कि मैंने देवताओंको छोड़कर आपको वरण किया है। मैंने आपको बुलानेके लिये ही यह युक्ति की थी। मैं जानती हूँ कि आपके अतिरिक्त दूसरा कोई मनुष्य नहीं है, जो एक दिनमें घोड़ोंके रथसे सौ योजन पहुँच जाय। मैं आपके चरणोंका स्पर्श करके शपथपूर्वक सत्य-सत्य कहती हूँ कि मैंने कभी मनसे भी पर-पुरुषका चिन्तन नहीं किया है। यदि मैंने कभी मनसे भी पापकर्म किया हो तो इस संसारमें विचरनेवाले वायुदेव, भगवान् सूर्य और मनके देवता चन्द्रमा मेरे प्राणोंका नाश कर दें।'

उसी समय वायुने अन्तरिक्षमें स्थित होकर कहा—'राजन्! मैं सत्य कहता हूँ कि दमयन्तीने कभी कोई पाप नहीं किया है। इसने तीन वर्षतक अपने उज्ज्वल शीलव्रतकी रक्षा की है। हमलोग इसके रक्षकके रूपमें रहे हैं और इसकी पवित्रताके साक्षी हैं। इसने स्वयंवरकी सूचना तो तुम्हें ढूँढ़नेके लिये ही दी थी।' जिस समय पवन देवता यह बात कह रहे थे, उस समय आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी और देवदुन्दुभियाँ बजने लगीं। यह देखकर राजा नलने नागराज कर्कोटकका दिया हुआ वस्त्र ओढ़कर उसका स्मरण किया, जिससे उनका शरीर तुरंत पूर्ववत् हो गया। दमयन्ती राजा नलको पहले रूपमें देखकर उनसे लिपट गयी और रोने लगी। राजा नलने भी प्रेमके साथ दमयन्तीको गले लगाया और दोनों बालकोंको छातीसे लगाकर उनके साथ प्यारकी बात करने लगे। सारी रात दमयन्तीके साथ बातचीत करनेमें ही बीत गयी।

प्रातःकाल होनेपर नहा-धो, सुन्दर वस्त्र पहनकर दमयन्ती और राजा नल भीमके पास गये और उनके चरणोंमें प्रणाम किया। भीमने बड़े आनन्दसे उनका सत्कार किया और आश्वासन दिया। बात-की-बातमें यह समाचार सर्वत्र फैल गया, नगरके नर-नारी आनन्दमें भरकर उत्सव मनाने लगे। जब राजा ऋतुपर्णको यह बात मालूम हुई, तब उन्हें बड़ा आनन्द हुआ और उन्होंने नलको अपने पास बुलाकर क्षमा माँगी। राजा नलने उनके व्यवहारोंकी उत्तमता बतलाकर प्रशंसा की और उनका सत्कार किया। साथ ही उन्हें अश्वविद्या भी सिखा दी। राजा ऋतुपर्ण किसी दूसरे सारथिको लेकर अपने नगर चले गये।

तदनन्तर, राजा नल अपने श्वशुरके दिये हुए रथमें सवार होकर और सोलह हाथी, पचास घोड़े और छः सौ पैदलको लेकर अपने नगरमें आये और पुष्करसे मिलकर बोले—'आओ, हमलोग पुनः जूआ खेलें।' पुष्करने हँसकर कहा—'अच्छी बात है, अबकी बार तुम्हारे धन और दमयन्तीको भी जीत लूँगा।' जूआ होने लगा। राजा नलने पुष्करके राज्य, रत्नभंडार और उसके प्राणोंको भी जीत लिया और कहा—'यह सब राज्य मेरा हो गया; किंतु तुम अपना जीवन सुखसे बिताओ, मैं तुम्हें छोड़ देता हूँ। तुम्हारी सब वस्तुएँ और तुम्हारे पहले राज्यका भाग भी दे देता हूँ। तुमपर मेरा पहलेके समान ही प्रेम है। तुम मेरे भाई हो।' इस प्रकार कहकर नलने पुष्करको धैर्य दिया और उसे अपने हृदयसे लगाकर जानेकी आज्ञा दी। पुष्करने हाथ जोड़कर राजा नलको प्रणाम किया और कहा—'जगत्में आपकी अक्षय कीर्ति हो। आप मेरे अन्नदाता और प्राणदाता हैं।' तदनन्तर, पुष्कर अपने सेवकोंको लेकर अपने नगरमें चला गया। राजा नल भी उसके साथ गये और पुष्करको पहुँचाकर अपनी राजधानीमें लौट आये। सभी नागरिक प्रजा और मन्त्रिमण्डलके लोग राजा नलको पाकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने रोमाञ्चित शरीरसे हाथ जोड़कर राजा

नलसे निवेदन किया—'राजेन्द्र ! आज हमलोग दुःखसे छुटकारा पाकर सुखी हुए हैं।'

इसके पश्चात् राजा नलने सेना भेजकर दमयन्तीको बुलवाया। राजा भीमने अपनी पुत्रीको बहुत-सी वस्तुएँ देकर ससुराल भेज दिया। दमयन्ती अपनी दोनों संतानोंको लेकर महलमें आ गयी। राजा नल बड़े आनन्दके साथ समय बिताने लगे। राजा नलकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी। वे धर्मबुद्धिसे प्रजाका पालन करने लगे। उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ करके भगवान्‌की आराधना की।

दमयन्तीके इस पवित्र चरित्रसे यही शिक्षा मिलती है कि स्त्रियोंको पतिको ही सर्वस्व मानकर पतिकी सेवा करनी चाहिये। स्त्रीके लिये पतिके समान अन्य कुछ भी नहीं है।

श्रीलक्ष्मीजीका उपदेश

इस विषयमें श्रीलक्ष्मीजीने देवताओंसे कहा है—

पतिर्बन्धुर्गतिर्भर्त्ता दैवतं गुरुरेव च।
सर्वस्माच्च परः स्वामी न गुरुः स्वामिनः परः॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ५७। ११)

'स्त्रियोंके लिये पति ही बन्धु है, पति ही गति है तथा पति ही देवता और गुरु है; उनके लिये सबसे बढ़कर पति ही है, पतिसे बढ़कर और कोई गुरु नहीं है।'

या स्त्री सर्वपरं द्वेष्टि पतिं विष्णुसमं गुरुम्।
कुम्भीपाके पचति सा यावदिन्द्राश्चतुर्दश॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ५७। १५)

'जो स्त्री विष्णुके समान पूजनीय सर्वश्रेष्ठ अपने पतिके साथ द्वेष करती है, वह जबतक चौदह इन्द्रोंकी आयु समाप्त होती है, तबतक कुम्भीपाक नरकमें पचायी जाती है।'

व्रतं चानशनं दानं सत्यं पुण्यं तपश्चिरम्।
पतिभक्तिविहीनाया भस्मीभूतं निरर्थकम्॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ५७। १६)

'पति-भक्तिसे रहित स्त्रीके लिये व्रत, उपवास, दान, सत्य, पुण्य, बहुत दिनतक किया हुआ तप—ये सब भस्मके सदृश और व्यर्थ हैं।'

पतिसेवा व्रतं स्त्रीणां पतिसेवा परं तपः।
पतिसेवा परो धर्मः पतिसेवा सुरार्चनम्॥
पतिसेवा परं सत्यं दानतीर्थानुसेवनम्।
सर्वदेवमयः स्वामी सर्वदेवमयः शुचिः॥
सर्वपुण्यस्वरूपश्च पतिरूपी जनार्दनः।
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ५७। १८—२०)

'स्त्रियोंके लिये पतिसेवा ही व्रत है, पतिसेवा ही परम तप है, पतिसेवा ही परम धर्म और पतिसेवा ही देवपूजन है, उनके लिये पतिसेवा ही परम सत्य, दान और तीर्थसेवन है। स्त्रियोंके लिये पति ही सर्वदेवमय है, उनके लिये पतिरूप जनार्दन सर्वदेवमय, परम पवित्र और सर्वपुण्यस्वरूप है।'

दक्षकन्याओंने अपने पितासे कहा है—

पतिरेव गतिः स्त्रीणां पतिः प्राणाश्च सम्पदः।
धर्मार्थकाममोक्षाणां हेतुः सेतुर्भवार्णवे॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ९। ६४)

'स्त्रियोंके लिये पति ही गति और पति ही प्राण है तथा पति सर्वसम्पदाएँ हैं। उनके लिये पति ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धिका हेतु तथा संसार-समुद्रसे पार होनेके लिये पुलस्वरूप है।'

पतिर्नारायणः स्त्रीणां व्रतं धर्मः सनातनः।
सर्वं कर्म वृथा तासां स्वामिनां विमुखाश्च याः॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ९। ६५)

'स्त्रियोंके लिये पतिदेव ही साक्षात् नारायण है। वही व्रत और सनातनधर्मस्वरूप है। जो स्त्रियाँ स्वामीसे विमुख होती हैं, उनके सम्पूर्ण कर्म वृथा हैं।'

स्नानं च सर्वतीर्थेषु सर्वयज्ञेषु दक्षिणा।
सर्वदानानि पुण्यानि व्रतानि नियमाश्च ये॥
देवार्चनं चानशनं सर्वाणि च तपांसि च।
स्वामिनः पादसेवायाः कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ९। ६६-६७)

'जो सब तीर्थोंमें स्नान करना, समस्त यज्ञोंमें दक्षिणा प्रदान करना, सब प्रकारके दान और दूसरे पुण्यकर्म तथा जो सब प्रकारके व्रत, नियम, देवपूजन, उपवास, सब प्रकारके तप आदि हैं—ये सब मिलकर पतिकी चरणसेवाके सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं हो सकते।'

सर्वेषां बान्धवानां च प्रियः पुत्रश्च योषिताम्।
स एव स्वामिनोंऽशश्च शतपुत्रात्परः पतिः॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ९। ६८)

'स्त्रियोंके लिये सब बान्धवोंसे बढ़कर प्रिय पुत्र होता है, वह भी पतिका अंश होता है, इसलिये सौ पुत्रोंसे भी बढ़कर पतिदेव है।'

पतितं रोगिणं दुष्टं निर्धनं गुणहीनकम्।
युवानं चैव वृद्धं वा भजेत्तं न त्यजेत्सती॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ९। ७०)

'सती स्त्रीको चाहिये कि उसका पति पतित हो, रोगी हो, दुष्ट हो, निर्धन हो, गुणहीन हो, युवा हो, चाहे बूढ़ा हो, उसकी सेवा ही करती रहे, उसका परित्याग न करे।'

सगुणं निर्गुणं वापि द्वेष्टि या संत्यजेत्पतिम्।
पच्यते कालसूत्रे सा यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ९। ७१)

'जो स्त्री गुणवान् या गुणरहित पतिके साथ भी द्वेष करती है, अथवा उसका परित्याग कर देती है, वह जबतक चन्द्रमा और सूर्य रहता है, तबतक कालसूत्र नामक नरकमें पकायी जाती है।'

जरत्कारु मुनिका उपदेश

श्रीजरत्कारु मुनिने भी अपनी पत्नीसे पति-सेवाका माहात्म्य बतलाते हुए कहा है—

तपश्चानशनं चैव व्रतं दानादिकं च यत्।
भर्तुरप्रियकारिण्याः सर्वं भवति निष्फलम्॥

(ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० ४६। ३३)

'पतिका अप्रिय करनेवाली स्त्रीका तप, उपवास, व्रत और दान आदि जो कुछ भी पुण्यकर्म हैं, सब-के-सब निष्फल हो जाते हैं।'

यया पतिः पूजितश्च श्रीकृष्णः पूजितस्तया।
पतिव्रताव्रतार्थं च पतिरूपी हरिः स्वयम्॥

(ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० ४६। ३४)

'जिस स्त्रीके द्वारा पति पूजा गया, उसके द्वारा श्रीकृष्ण-का पूजन हो चुका, पतिव्रता स्त्रीके व्रत पालन करनेके लिये पति ही साक्षात् परमेश्वर है।'

सर्वदानं सर्वयज्ञः सर्वतीर्थनिषेवणम्।
सर्वं तपो व्रतं सर्वमुपवासादिकं च यत्॥
सर्वधर्मश्च सत्यं च सर्वदेवप्रपूजनम्।
तत्सर्वं स्वामिसेवायाः कलां नार्हति षोडशीम्॥

(ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० ४६। ३५-३६)

'समस्त दान, सम्पूर्ण यज्ञ, समस्त तीर्थोंका सेवन, समस्त तप और समस्त व्रत तथा और भी जितने सब उपवासादिक धर्म हैं तथा जो सत्यभाषण, समस्त देवताओंका पूजन आदि सत्कर्म हैं, वे सब पतिसेवाकी सोलहवीं कलाके बराबर नहीं हो सकते।'

सुपुण्ये भारते वर्षे पतिसेवां करोति या।
वैकुण्ठं स्वामिना सार्द्धं सा याति ब्रह्मणः पदम्॥

(ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० ४६। ३७)

'जो स्त्री इस पुण्यभूमि भारतवर्षमें पतिसेवा करती है, वह अपने पतिके सहित परब्रह्म परमात्माके स्थान वैकुण्ठको प्राप्त होती है।'

विप्रियं कुरुते भर्तुर्विप्रियं वदति प्रियम्।
असत्कुलप्रजाता या तत्फलं श्रूयतां सति॥
कुम्भीपाकं व्रजेत्सा च यावच्चन्द्रदिवाकरौ।
ततो भवति चाण्डाली पतिपुत्रविवर्जिता॥

(ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० ४६। ३८-३९)

'हे सती! जो बुरे कुलमें उत्पन्न हुई स्त्री अपने पतिका अप्रिय कार्य करती है तथा प्रियतमको अप्रिय वचन कहती है, उसका फल सुनो; वह स्त्री जबतक चन्द्रमा और सूर्य रहते हैं, तबतक कुम्भीपाक नरकमें पड़ी रहती है और उसके बाद पति और पुत्रसे रहित चाण्डाली होती है।'

सती लोपामुद्राकी कथा

मित्रावरुणके पुत्र महर्षि अगस्त्य बड़े ही तपस्वी थे। उनकी धर्मपत्नी लोपामुद्रा भी बहुत उच्चकोटिकी पतिव्रता स्त्री थीं। इनके पातिव्रत्यका वर्णन स्कन्दपुराणके काशी-खण्डके पूर्वार्द्धमें चौथे अध्यायमें विस्तारपूर्वक किया गया है, उसका सार यहाँ दिया जाता है। यदि विस्तारसे देखना चाहें तो वहाँ देखना चाहिये।

एक समय सब देवताओंके साथ बृहस्पतिजी अगस्त्य ऋषिके आश्रमपर गये। आश्रमके पास विचरनेवाले पशु-पक्षियोंको भी मुनियोंके समान वैरभावरहित और प्रेमपूर्वक बर्ताव करते देखकर देवताओंने यह समझा कि यह इस पुण्यक्षेत्रका प्रभाव है। फिर उन्होंने मुनिकी पर्णकुटी देखी जो कि होम और धूपकी सुगन्धसे सुवासित तथा बहुत-से ब्रह्मचारी विद्यार्थियोंसे सुशोभित थी। पतिव्रता-शिरोमणि लोपामुद्राके चरण-चिह्नोंसे चिह्नित पर्णकुटीके आँगनको देखकर सब देवताओंने नमस्कार किया।

देवताओंको आये देखकर मुनि खड़े हो गये और सबका यथायोग्य आदर-सत्कार करके आसनपर बैठाया ।

तदनन्तर बृहस्पतिजीने कहा—'महाभाग अगस्त्यजी ! आप धन्य हैं, कृतकृत्य हैं और महात्मा पुरुषोंके लिये भी माननीय हैं । आपमें तपस्याकी सम्पत्ति है, स्थिर ब्रह्मतेज है, पुण्यकी उत्कृष्ट शोभा, उदारता तथा विवेकशील मन है । आपकी सहधर्मिणी ये कल्याणमयी लोपामुद्रा बड़ी पतिव्रता हैं, आपके शरीरकी छायाके तुल्य हैं । इनकी चर्चा भी पुण्यदायिनी है । मुने ! ये आपके भोजन कर लेनेपर ही भोजन करती, आपके खड़े होनेपर स्वयं भी खड़ी रहती, आपके सो जानेपर सोती और आपसे पहले जाग उठती हैं । 'आपकी आयु बढ़े'—इस उद्देश्यसे ये कभी आपका नाम उच्चारण नहीं करती हैं । दूसरे पुरुषका नाम भी ये कभी अपनी जीभपर नहीं लातीं । ये कड़वी बात सह लेती हैं, किंतु स्वयं बदलेमें कोई कटु वचन मुँहसे नहीं निकालतीं । आपके द्वारा ताडना पाकर भी प्रसन्न ही होती हैं । जब आप इनसे कहते हैं कि 'प्रिये ! अमुक कार्य करो', तब ये उत्तर देती हैं—'स्वामिन् ! आप समझ लें, वह काम पूरा हो गया ।' आपके बुलानेपर ये घरके आवश्यक काम छोड़कर भी तुरंत चली आती हैं । ये दरवाजेपर देरतक नहीं खड़ी होतीं, न द्वारपर बैठती और न सोती हैं । आपकी आज्ञाके बिना कोई वस्तु किसीको नहीं देतीं, आपके न कहनेपर भी ये स्वयं ही आपके इच्छानुसार पूजाका सब सामान जुटा देती हैं । नित्य-कर्मके लिये जल, कुशा, पत्र-पुष्प और अक्षत आदि प्रस्तुत करती हैं । सेवाके लिये अवसर देखती रहती हैं और जिस समय जो आवश्यक अथवा उचित है, वह सब बिना किसी उद्वेगके अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उपस्थित करती हैं । आपके भोजन करनेके बाद बचा हुआ अन्न और फल आदि खाती और आपकी दी हुई प्रत्येक वस्तुको महाप्रसाद कहकर शिरोधार्य करती हैं । देवता, पितर और अतिथियोंको तथा सेवकों, गौओं और याचकोंको भी उनका भाग अर्पण किये बिना ये कभी भोजन नहीं करतीं । वस्त्र, आभूषण आदि सामग्रियोंको स्वच्छ और सुरक्षित रखती हैं । ये गृहकार्यमें कुशल हैं, सदा प्रसन्न रहती हैं, फजूल खर्च नहीं करतीं एवं आपकी आज्ञा लिये बिना ये कोई उपवास और व्रत आदि नहीं करती हैं । जनसमूहके द्वारा मनाये जानेवाले उत्सवोंका दर्शन दूरसे ही त्याग देती हैं । तीर्थयात्रा आदि तथा विवाहोत्सव-दर्शन आदि कार्योंके लिये भी ये कभी नहीं जातीं । रजस्वला होनेपर ये तीन राततक अपना मुँह पतिको नहीं दिखातीं । भलीभाँति स्नान कर लेनेपर पहले पतिका ही मुँह देखती हैं और किसीका नहीं; अथवा यदि पतिदेव उपस्थित न हों तो मन-ही-मन उनका ध्यान करके सूर्यदेवका दर्शन करती हैं ।

अतः पतिकी आयुवृद्धि चाहती हुई पतिव्रता स्त्री अपने शरीरसे हल्दी, रोली, सिन्दूर, काजल, चोली, पान और शुभ माङ्गलिक आभूषण कभी दूर न करे । केशोंका सँवारना, वेणी गूँथना तथा हाथ और कान आदिके आभूषणोंको धारण करना आदि श्रृङ्गार कभी बंद न करे ।

आनँद पूरि रही अँगनैया

खौरि खँचे दग ह्वै रहि जात, भुलात खरे मुख जोय जुन्हैया
लोक बिलोकत ही मन मैं, सुरलोक लजाय रही अमरैया
छाय रही किलकाय हँसाय, उठाय जशोमति लेति बलैया
खेलत धूरि भरे नँदलालन, आनँद पूरि रही अँगनैया ॥

आपहि ते चलि जात उतै पग ये मग आपनो भूलि भुलैये
खेलत बाल-गुपाल जितै सु-चितै बिन ठानत नैन हठैये
काहु रहै अपनो बस ना रस लोचन लाहु समाहु, हिरैये
जानि परै नंद कौ अँगना तजि आनि कहूँ सखि ऐये न जैये ॥

—हरीश साहित्यालङ्कार

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्

[अर्जुन ! (मेरे कर्ममें) तू केवल निमित्तमात्र बन]

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

यद्भावि न तद् भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयं बोधो भ्रमनिवर्तकः ॥

जो नहीं होना है, वह करोड़ उपाय करनेपर भी नहीं होता और जो होना है, वह करोड़ प्रयत्न करनेपर भी हुए बिना नहीं रहेगा । बस, इतनी ही बात यदि समझमें आ जाय तो, श्रीविद्यारण्य मुनि कहते हैं कि फिर मनुष्यपर चिन्तारूपिणी साँपिनका विष नहीं चढ़ता, इसी प्रकार सुख-दुःखका द्वन्द्व भी उसे नहीं सता सकता ।

कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें श्रीकृष्ण भगवान्‌ने जब अर्जुनको उन्हींकी प्रार्थनापर विश्वरूप दिखलाया, तब वे घबरा उठे और बोले कि 'भगवन् ! ऐसा उग्रस्वरूप आपने कैसे धारण किया, इसका रहस्य मेरी समझमें नहीं आता । मैं आपको नमस्कार करता हूँ, आप प्रसन्न होइये । आप कैसे कार्य कर रहे हैं, उसे मैं कुछ भी समझ नहीं सकता, कृपा करके आप मुझे समझाइये ।'

अर्जुनके ऐसे विनययुक्त वचन सुनकर भगवान्‌ने कहा—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥
(गीता ११ । ३२)

मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ काल हूँ । इस समय इन लोकोंका संहार करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ । इसलिये प्रतिपक्षियोंकी सेनामें जो योद्धागण स्थित हैं, उन सबका काल आ गया है, इससे वे मरनेवाले ही हैं, तुम तो निमित्तमात्र बनोगे । मेरे न मारनेसे ये योद्धागण नहीं मरेंगे, तुम्हारी ऐसी मान्यता भूलभरी है । अतएव हे अर्जुन—

तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥
(गीता ११ । ३३)

तुम साहस बटोरो और शत्रुओंपर विजय प्राप्त करके यश प्राप्त करो तथा इस समृद्धिसम्पन्न राज्यको भोगो । इस युद्धमें जो-जो वीर मरेंगे, उनको तो पहलेसे ही मैंने मार रक्खा है । तुम तो उनकी मृत्युमें केवल निमित्त हो जाओ ।

एक पारधी जैसे तीरसे हरिनको मारता है, इसमें यद्यपि हरिनकी मृत्यु तो तीर लगनेसे ही होती है, तथापि वह तीर तो पारधीके हाथका साधनमात्र है । यथार्थमें मारनेवाला तो पारधी ही है । इसी प्रकार इस प्रसङ्गमें भी यथार्थ मारनेवाला तो मैं ही हूँ; तुम तो तीरकी तरह मेरे हाथके साधनमात्र हो ।

अर्जुन-जैसे परम भक्तकी भी समझमें प्रभुकी संहारलीला नहीं आयी, फिर दूसरे मनुष्यकी तो बात ही क्या है । अतएव आज हम भगवान् कालस्वरूप धारण करके किस प्रकार संहारका कार्य सम्पादन करते हैं, इसे लौकिक दृष्टान्तोंके द्वारा समझनेका प्रयत्न करेंगे, जिससे अर्जुनकी भाँति व्यामोह न हो और विषम कालमें भी धीरज रह सके ।

एक छोटा-सा गाँव था । उसमें एक ब्राह्मण-कुटुम्ब रहता था । ब्राह्मण अत्यन्त दरिद्र था । दिनभर भीख माँगते रहनेपर भी उसके कुटुम्बका भरण-पोषण अच्छी तरह नहीं हो पाता था । पूरे कुटुम्बने पेट भरकर खाया हो, ऐसा दिन विरला ही होता ।

एक दिन खूब सवेरे ब्राह्मण जग गया । वह बिछौनेसे उठनेका विचार कर ही रहा था कि उसने देखा कि छप्परके जालेमें कुछ सलभला रहा है । उसने नजर गड़ाकर देखा तो उस जालेमेंसे एक सर्प निकलता और दीवालसे नीचे उतरता दिखायी दिया । साँपने नीचे उतरकर ब्राह्मणकी पत्नीको डसा और फिर उसके तीनों लड़कोंको भी डस लिया । डसकर वह घरसे बाहर निकलकर जाने लगा ।

ब्राह्मणने विचार किया कि जालेमें तो सर्प था ही नहीं, फिर यह सर्प कहाँसे आया ? फिर, सर्पने बिना ही दबे-दबाये एक ही साथ चार सोये हुए मनुष्योंको कैसे डस लिया । अतएव यह कोई साधारण सर्प नहीं है, इसलिये इसका

पता लगाना चाहिये। यह विचारकर वह स्वयं सर्पके पीछे-पीछे चल पड़ा।

सर्प दरवाजेके नीचेसे निकलकर बाहर चला गया और ब्राह्मण भी दरवाजा खोलकर उसके साथ हो लिया। देखते-ही-देखते वह साँप एक भयंकर साँड़के रूपमें बदल गया। और सामनेसे आते हुए एक मनुष्यको सींगसे मारकर समाप्त कर दिया। यों एक मनुष्यको मारकर साँड़ने अपना रूप बदला और वह एक बिच्छू बन गया। इस रूपमें उसने गलीमें खेलते हुए एक बच्चेको काटकर उसके प्राण ले लिये।

इस कामको पूरा करके बिच्छूने अब एक मेढेका रूप धारण किया और सींग मारकर एक बालकका वध कर डाला। फिर वह मेढा जंगलकी ओर दौड़ा और एक बावलीके पास पहुँचते ही सुन्दर युवती बनकर बावलीके किनारे बैठ गया।

रास्तेसे दो सगे भाई जा रहे थे। वे पुलिसमें नौकरी करते थे और घरके कामके लिये छुट्टी लेकर अपने घर जा रहे थे। दोनोंकी दृष्टि उस युवतीपर पड़ी और दोनोंके ही मनोंमें उसे प्राप्त करनेकी इच्छा जाग उठी। बड़े भाईने कहा कि वह मेरी है और छोटेने कहा—मेरी। वे ज्यों-ज्यों उस स्त्रीके समीप पहुँचते गये, त्यों-ही-त्यों उनकी कामना अधिक-से-अधिक बढ़ने लगी। कामनाका परस्पर अवरोध होनेसे उन्हें क्रोधावेश हो आया। विवेक छोड़कर वे आपसमें तू-ताँ करने लगे और परस्पर गालियाँ बकने लगे। परिणाम यह हुआ कि दोनोंने तलवार खींच ली और लड़ते-लड़ते दोनों भाई मौतके घाट उतर गये।*

इस कार्यको पूरा करके वह स्त्री वहाँसे उठी और जमीनपर सो गयी तथा लोटने लगी। देखते-ही-देखते स्त्री अदृश्य हो गयी और उसकी जगह एक बड़ा साँप दिखायी दिया। सर्प बड़े वेगसे नदीकी तरफ चला। नदीके पास पहुँचकर वह जलमें उतर गया। नदीके बीचमें एक नाव जा रही थी, साँप उसके पास पहुँचकर उसपर चढ़ने लगा। सर्पके देखते ही नावके मुसाफिर भयके मारे इधर-उधर दौड़ने लगे, नावका वजन एक तरफ बढ़ गया और वह नदीमें उलट गयी। सब मुसाफिर डूबकर मर गये।

इस कामको पूरा करके सर्प वापस लौटा और जमीनपर आकर एक पण्डितजीके रूपमें बदल गया। सफेद दूध-से वस्त्र पहने हुए, गलेमें दुपट्टा डाले और सिरपर बड़ी पगड़ी पहने थे। पगड़ीमें एक सुन्दर पञ्चाङ्ग खोंसा था।

इस स्वरूपको देखते ही ब्राह्मणने उसके चरणोंपर गिरकर उसके चरण पकड़ लिये। पण्डितने उसका हाथ पकड़कर उठाया। तब ब्राह्मणने उससे पूछा—'आप कौन हैं और यह क्या लीला कर रहे हैं, कृपा करके मुझे बताइये।' पण्डितजीने कहा—'इतने समयसे तुम मेरे पीछे-पीछे चले आ रहे हो और मैंने जो कुछ किया, सब तुमने अपनी आँखों देखा है, फिर तुमने मुझको पहचाना नहीं ?' ब्राह्मणने सिर हिलाकर अपनी असमर्थता बतायी और सब समझाकर बतानेके लिये पुनः पण्डितजीसे प्रार्थना की। तब पण्डितजीने कहा—

'देखो, मैं काल हूँ, प्राणियोंके स्थूल शरीरोंका नाश करनेका काम ईश्वरने मुझको सौंपा है। परंतु मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता। जब किसी भी प्राणीका प्रारब्धभोग समाप्त होता है, तब उसकी मृत्युके लिये निमित्त उपस्थित कर देना—इतना ही मेरा काम है। मनुष्य तो निमित्तको ही दोष देता है; पर वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। मृत्यु तो प्रारब्ध क्षय होनेपर ही होती है। पर सच्ची समझ न होनेसे मनुष्य कहता है कि 'अमुक साँप काटनेसे मर गया, अमुक साँड़के सींग मारनेसे मर गया, अमुक बिच्छू काटनेसे मर गया।' आदि-आदि। मृत्युके समयसे एक श्वास भी पहले किसीको कोई नहीं मार सकता। इसी प्रकार जीवन-कालसे अधिक एक श्वास आनेके समय भर भी कोई किसीको जिला नहीं सकता; क्योंकि स्थूल शरीरका आधार केवल प्रारब्धके भोगपर ही है। इस प्रकार यथायोग्य निमित्तोंका निर्माण करके मैं प्राणियोंके स्थूल शरीरका नाश करता हूँ, पर सूक्ष्म शरीरका नाश मुझसे नहीं हो सकता। जबतक सूक्ष्म शरीर रहता है, तबतक जीवको अनेक शरीर धारण करने पड़ते हैं और बीज-वृक्ष न्यायकी भाँति, कर्मोंके फल

---

* श्रीशङ्कराचार्यने एक प्रसङ्गमें कहा है कि 'संमोहयत्येव सुरेव का स्त्री।' 'शराबकी तरह मनुष्यको बेसुध कौन बनाती है ?' उत्तरमें कहा—'स्त्री'। दूसरे कवियोंने तो इससे भी आगे बढ़कर कहा है—'उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि।' विष तो खानेपर प्राण हरता है, शराब भी पीनेवालेको ही बेहोश करती है, पर स्त्री तो स्मरणमात्रसे मनुष्यको बेसुध कर डालती है। यहाँ तो प्रत्यक्ष दर्शन हो गये, फिर ऐसा हो जानेमें क्या आश्चर्य है।

भोगनेके लिये शरीर धारण करना और शरीरसे फिर नये कर्म करना—यों जन्म-मरणकी परम्परा चलती ही रहती है। उसे बंद करना हो तो मनुष्यको तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिये। तत्त्वज्ञान होनेपर सूक्ष्म शरीरका नाश हो जाता है; क्योंकि तत्त्वज्ञानसे संचित कर्ममात्र जल जाते हैं और इस प्रकार कर्माशय न रहनेसे सूक्ष्म शरीर समाप्त हो जाता है, और ऐसा होनेपर जीवकी मुक्ति हो जाती है।'

यह सुनकर ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कालभगवान्‌से कहा—'आपके दर्शन हुए हैं; अतएव कृपा करके बतलाइये, मेरी मृत्यु कब और किस निमित्तसे होगी?'

कालभगवान्‌ने कहा—'मृत्युका समय बतलानेका मुझे अधिकार नहीं है, परंतु इतना बतला देता हूँ कि तुम्हारी मृत्यु मगरके निमित्तसे होगी। अब यहाँसे तुम उत्तरकी ओर जाओ, वहाँ तुम्हारा भाग्य खुलेगा।' इतना कहकर कालभगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये।

ये तो अपने पुस्तकमें पढ़ी या सुनी हुई बातें कीं। अब कोई प्रत्यक्ष बनी हुई घटनाका उदाहरण चाहिये, जिससे इस विषयमें विश्वास हो जाय। ऐसा होनेपर मनुष्य जो मृत्युसे बहुत डरता है, उसका वह डरपोकपन दूर हो जायगा। जो मनुष्य मृत्युसे नहीं डरता, वही यथार्थ मनुष्य है। भगवान्‌ने भी दैवीसम्पत्तिमें 'अभय' को सर्वप्रथम स्थान देकर यह सूचित किया है कि जो मृत्युसे भी नहीं डरता, वही मनुष्य है।

सन् १९४९ में हम जूनागढ़में एक आश्रममें टिके हुए थे। उस समय जोधपुर (मारवाड़) के एक स्टेशनमास्टर यात्राके लिये वहाँ आये हुए थे। एक दिन वे एक सत्सङ्गी भाईके साथ हमारे पास आये। उस समय यदुकुलके कुमारोंने एक ऋषिके साथ दिल्लगी करके कैसे अपने कुलनाशका निमित्त उपस्थित किया, यह विषय चल रहा था। प्रसङ्ग पूरा होनेपर, ईश्वर किस प्रकार निमित्त उपस्थित कर देते हैं, इसकी एक आपबीती घटना स्टेशनमास्टरने सुनायी। उन्होंने कहा—

'दो-चार समान उम्रके मित्र मेहमानके रूपमें आये थे। आनन्द-विनोदमें सारी रात जागते बीत गयी। दूसरे दिन दोपहरको भोजनादि कर चुकनेपर हमलोग स्टेशनपर ही वेटिंगरूममें बैठे थे। हममेंसे एक भाई आरामकुर्सीपर लेटे और कुछ ही देरमें उन्हें नींद आ गयी। रातभर जागे हुए तो सभी थे, इसलिये उनका अकेले नींद लेना हमलोगोंको रुचा नहीं; हमलोग उन्हें किसी तरह जगानेका विचार कर रहे थे, इतनेमें ही कुर्सीकी ओर एक बिच्छू जाता दिखायी दिया। कुर्सीपर लेटे हुए भाईका हाथ नीचेकी ओर लटक रहा था। हमलोगोंके मनमें आया, अच्छा हो, बिच्छू काट ले तो ये जाग जायँ। हमारे यहाँके बिच्छू जहरी नहीं होते; चींटेके काटनेमें और बिच्छूके काटनेमें एक-सी ही पीड़ा होती है। बिच्छू सीधा उनके हाथके नीचे गया और काटनेके लिये डंकको ऊपर उठाया; पर वह पहुँच नहीं पाया। इससे बिच्छू लौटा और बाहर जाकर अगली चिमटोंमें एक कंकड़ ले आया और उसके ऊपर चढ़कर उसने उन्हें काट लिया। वे जोरसे चिल्लाकर बड़ी व्याकुलतामें जाग उठे और थोड़ी ही देरमें मर गये। इस बातको दो वर्ष बीत गये हैं, परंतु हम सबको बड़ा ही पछतावा हुआ करता है कि व्यर्थ ही हमलोग उनकी मृत्युमें निमित्त बने।'

इस प्रकार मृत्यु तो होती है प्रारब्धका भोग समाप्त होनेपर, और उसके लिये कालभगवान् निमित्त उपस्थित कर देते हैं। हमलोग निमित्तको ही देखते हैं, इसलिये निमित्तको ही मृत्युका कारण मानते हैं। परंतु यदि हमें यह विश्वास हो जाय कि मृत्यु कालसे ही होती है, तो फिर मृत्युका डर ही न रहे, क्योंकि वह तो जब होनी होगी तब होगी ही, हुए बिना रहेगी ही नहीं; और निमित्त भी बना ही लेगी। फिर, जो बात अपने हाथमें नहीं है, उसके लिये चिन्ता करनेका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। मृत्यु तो एक अनिवार्य घटना है, अतएव उससे डरना व्यर्थ है।

इस प्रसङ्गको श्रीमद्भागवतमें बहुत सुन्दर रीतिसे समझाया गया है, उसे देख लें तो दृढ़ता होती है। कंस राजा जब अपनी बहिन देवकीको विदा करने जा रहा था और बहिनपर अपना स्नेह प्रकट करनेके लिये स्वयं ही रथ हाँक रहा था, तब आकाशवाणी सुनायी दी कि—'कंस! जिस बहिनको तू इतने आदरसे विदा कर रहा है, इसीकी संतानसे तेरी मृत्यु है।' यह सुनते ही कंस तलवार निकालकर देवकीको मारनेके लिये तैयार हो गया। तब उसे रोकते हुए वसुदेवजीने कहा—

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवम्॥

'कंसराज! आप शूरवीर हैं, शूर कभी मृत्युसे नहीं डरते; क्योंकि वे इस बातको जानते ही हैं कि देहकी मृत्यु तो देहके साथ जन्मती है। अर्थात् देहका जन्म होता है,

उसी समय उसकी आयुकी सीमा निर्धारित हो जाती है और उसमें ब्रह्मा भी परिवर्तन नहीं कर सकते। फिर जो निश्चित वस्तु है, उसके लिये डरना क्या? मृत्यु चाहे सौ वर्ष बाद आये, चाहे आज ही आ जाय; परंतु जो जन्मा है, उसे एक दिन मरना तो पड़ेगा ही, और वह भी निश्चित समयपर ही।' अस्तु

अब अपने उस ब्राह्मणकी बात आगे चलायें। वह कालभगवान्‌के कथनानुसार उत्तर दिशाकी ओर चल दिया। चलते-चलते एक राजधानीका शहर आया। उसने उसमें प्रवेश किया। वहाँके राजाको संतान न होनेसे, कोई भी नया ब्राह्मण या ज्योतिषी शहरमें आता तो राजा उसे अपने पास बुलाते और उसका सम्मान करके संतान-प्राप्तिके लिये प्रार्थना करते।

इस ब्राह्मणको भी बुलाया। इसने तुरंत ही आशीर्वाद दे दिया कि 'आजसे बारह मासके अंदर उनके अवश्य पुत्र होगा।' ऐसे दृढ़तायुक्त वचन सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने ब्राह्मणके रहनेके लिये उनके योग्य सब व्यवस्था करवा दी।

दैवको करना था, यथासमय राजाको पुत्र हो गया। इसमें ब्राह्मणका मान बहुत ही बढ़ गया। राजाने उसको कुलपुरोहितके रूपमें सदाके लिये रख लिया और ब्राह्मण वहाँ सुखपूर्वक अपना जीवन बिताने लगा।

समय बीतनेपर राजकुमार बड़ा हुआ, और उसके अध्ययनका काम भी कुलपुरोहितको ही सौंपा गया, इसलिये सदा साथ रहनेके कारण दोनोंमें गाढ़ प्रेम हो गया। कुमार जब बारह वर्षका हुआ, तब उसका यज्ञोपवीत-संस्कार कराना निश्चय हुआ।

मेरी मृत्यु मगरके निमित्तसे होगी, इस बातको ब्राह्मण जानता था; इसलिये उसने नियम बना रक्खा था कि नदी, तालाब या कुएँ आदिपर किसी भी कारणसे न तो जाना और न वहाँ स्नान करना।

गायत्री-मन्त्र देते समय गुरु-शिष्य दोनोंको नदीमें खड़े रहना चाहिये, अतः ब्राह्मणने कहा कि 'मुझसे यह नहीं होगा। मन्त्र दूसरे पण्डित दे देंगे।' परंतु राजकुमारने हठ पकड़ लिया 'मैं तो आपसे ही मन्त्र लूँगा, नहीं तो यज्ञोपवीत ही नहीं लूँगा।'

राजाने पुरोहितको एकान्तमें बुलाकर पूछा और कहा कि राजकुमारको मन्त्र देनेमें जितनी देर लगे, उतनी-सी देर नदीमें खड़े रहनेमें क्या हानि है? राजकुमार बालक है, हठी है और आपका उसके प्रति बड़ा स्नेह है। राजाने जब बहुत आग्रह किया, तब ब्राह्मणने स्पष्ट बतला दिया कि 'मेरी मृत्यु मगरसे होनेवाली है, इसलिये मैं किसी दिन भी जलमें नहीं उतरता, इसके सिवा अन्य कोई कारण नहीं है।'

राजाने कहा—'अरे महाराज! इस घुटनेभर जलमें मगर कहाँसे आयेगा, तथापि आपके संतोषके लिये मैं आपके चारों तरफ नंगी तलवारोंका पहरा लगा दूँगा, इतना ही नहीं, एक सिपाही दूसरे सिपाहीसे अड़कर खड़ा रहेगा। ऐसी व्यवस्था कर दूँगा कि मगर तो क्या, एक छोटी-सी मछली भी नहीं आ सकेगी।'

अन्तमें ब्राह्मणने स्वीकार कर लिया और वह राजकुमारके साथ नदीमें उतर गया। चारों ओर पूरा पहरा था। एक मेढकको भी आनेका अवकाश नहीं था। ब्राह्मणने विधिवत् मन्त्रोपदेश किया। इतनेमें ही, वह राजकुमार मगरके रूपमें बदल गया और घुटनेभर पानीवाली नदीमें वहाँ एक बड़ा गड्ढा हो गया और ब्राह्मणको पकड़कर वह मगर उस गड्ढेमें चला गया।

यों चाहे जितनी सावधानी रक्खी जाय; परंतु आयु पूरी होनेपर मरना ही पड़ता है। हिरण्यकशिपुने मृत्यु न हो, इसके लिये कितनी सावधानी रक्खी थी और कैसे-कैसे वरदान प्राप्त किये थे। दस सिरवाले रावणने भी मनुष्यके सिवा अन्य किसीके हाथसे मेरी मृत्यु न हो, यह वरदान प्राप्त किया था; क्योंकि उसे निश्चय था कि कोई भी मनुष्य तो मुझे मार ही नहीं सकता। ऐसे बहुत-से उदाहरण हैं। पर सभीको समय आनेपर मौतके मुँहमें जाना ही पड़ा। कोई भी देहधारी कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, वह सदा नहीं जी सकता; क्योंकि देहकी मृत्युका निर्माण तो उसके जन्मके साथ ही हो चुका होता है, अतएव आयुकी मर्यादा पूरी होते ही प्राणीको शरीर छोड़ना ही पड़ता है।

उपसंहारमें इतना ही कहना है कि प्रत्येक देहधारीके लिये मृत्युकी घटना अनिवार्य है, अतः उससे डरना व्यर्थ है। मृत्यु चाहे जिस निमित्तसे आवे, निमित्तको कभी दोष नहीं देना चाहिये, क्योंकि निमित्तको तो दैव उपस्थित करता है और मृत्यु होती है आयुकी मर्यादा पूरी होनेपर।

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमुखसे गीतामें गाया है—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥
(२ । २७

तात्पर्य यह है कि जिस प्राणीका जन्म होता है, उसको मरना पड़ता ही है। इसी प्रकार जो मरता है, वह फिर जन्म लेता ही है। इसलिये समझदार मनुष्यको न तो अपनी मृत्युसे डरना चाहिये और न किसी भी देहधारीकी मृत्यु होनेपर शोक ही करना चाहिये।

भक्तकवि नरसिंह मेहताने गाया है—

ऋतु लता पत्र फल फूल देवै यथा
    मानवी मूर्ख मन व्यर्थ सोचे।
देहके भाग्यमें जिस समय जो लिखा
    उसे उस ही समय वही पहुँचे॥

◆

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(६२)

व्रजेन्द्रनन्दनके बिम्बारुण अधरोंपर विराजित वेणुकी महामोहन स्वरलहरीसे, गोपशिशुओंके कण्ठसे निःसृत श्रीकृष्ण-सुयशकी सुमधुर तानसे सम्पूर्ण वन-प्रान्तर मुखरित होने लगता है। वह असंख्य गोराशि भी प्रेमविह्वल हुई क्रमशः आगे बढ़ने लगती है। तथा उनके पीछे सखाओंसे परिवेष्टित हुए बलरामके सहित नीलसुन्दर झूमते हुए चले जा रहे हैं वन-विहारके उद्देश्यसे। रंग-बिरंगे राशि-राशि कुसुम-समूहोंसे समलंकृत होकर, साथ ही गोसंचारणके सर्वथा उपयुक्त बनकर वृन्दाकानन भी उनके स्वागतके लिये प्रस्तुत है, द्रुम-वल्लरियोंके अगणित तोरण निर्माणकर एकमात्र उनकी ही प्रतीक्षा कर रहा है वह, और यह लो, वृन्दावनेश्वर भी उसका अभिनन्दन स्वीकार करने आ ही तो पहुँचे।

तन्माधवो वेणुमुदीरयन् वृतो
    गोपैर्गृणद्भिः स्वयशो बलान्वितः।
पशून् पुरस्कृत्य पशव्यमाविशद्
    विहर्तुकामः कुसुमाकरं वनम्॥
        (श्रीमद्भा० १० । १५ । २)

बलयुत बेनु बजाय सुहावन। निज गो गनत गोप सब पावन॥
आगे करि गोधन सब ही के। बन प्रबेस किय भावत जी के॥
कुसुमाकर बन सुषमा धामू। तहँ गए प्रभु बिहरन कामू॥

वनके राजा पधारे हैं। काननने अपने कोशकी अपरिसीम सम्पदा चरणसरोजोंमें समर्पित कर दी, अपने अधिकृत समस्त चर-अचरको साथ लिये वह स्वयं ही न्योछावर हो गया। रसमत्त भ्रमरोंका मधुर गुंजार, मृग एवं विहङ्गमोंका अव्यक्त सुमधुर रव, भगवद्भक्तके निराविल मानसतलके समान स्वच्छ शीतल सुमिष्ट जलपूर्ण सरोवरोंका सान्निध्य, उनपर 'झुर-झुर' करते हुए प्रवाहित, शीतल पद्मगन्ध-वासित मन्द समीरका आकर्षण——काननने एक साथ समस्त उपकरण सामने रख दिये। श्रीकृष्णचन्द्रने भी उस ओर मनोनिवेश किया। उस मञ्जुघोषसे उनके कर्णपुट पूरित हो उठे। सुखद अनिलने उनके श्रीअङ्गोंका स्पर्श पा लिया। सरोवरके स्वच्छ सलिलकी मधुरिमा उनकी रसनासे जा मिली। विकसित पद्मोंकी शोभा नेत्रकोणोंमें समा गयी। नानाविध कुसुमोंका सुवास उनकी घ्राणेन्द्रियमें संचित हो उठा। सचमुच उनके कर्ण, त्वक्, रसना, दृगञ्चल एवं नासापुटोंका आनन्द-संवर्धन करनेके लिये ही तो अरण्यने यह समस्त सामग्री एकत्र की है और इसलिये श्रीकृष्णचन्द्र——वनके देवताने भी इस प्रेम-भरित भेंटको स्वीकार कर लिया, वनकी सेवा स्वीकृत हो गयी। वृन्दावनेश्वर सोचने लगे——'बस, आज यहीं विहार हो।'——

तन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलं
    महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वता।
वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना
    निरीक्ष्य रन्तुं भगवान् मनो दधे॥
        (श्रीमद्भा० १० । १५ । ३)

मंजु घोष अलि द्विज बहु जाती।
मृगवराहगन नाना भाँती॥
सर सुंदर जल अति गंभीरा।
त्रिविध पवन सौरभ पुनि नीरा॥
स्वच्छ स्वादु जनु सुधा समाना।
बिसद संतमन सरिस बखाना॥
देखि बिपिनि सुंदर सर सोभा।
रमन हेतु प्रभुको मन लोभा॥

× × ×

बृंदाबन छबि कहत बनैं न।
भूलि रहैं जहँ हरि के नैंन॥
जामैं संतत बसत बसंत।
प्रफुलित नाना कुसुम अनंत॥
कंटक द्रुम एकौ नहिं जहाँ।
चिदाभास भासत सब तहाँ॥
चलत जु नहिं लीलारस-रले।
मति हरि आवैं इत ही चले॥
रटत बिहंगम रंगन भरे।
बात कहत जनु द्रुम रस ढरे॥
कोकिल कूजति इमि छबि पावति।
जनु मधु-बधू सुमंगल गावति॥
कुसुम धूरि धूँधरी सुकुंज।
गुंजत मंजु घोष अलि-पुंज॥
सुंदर सर निर्मल जल ऐसैं।
संत जननके मानस जैसैं॥
तिन मधि अमल कमल अस लसे।
जनु आनंद भरे सर हँसे॥
जल पर परी पराग जु सोहै।
अबीर भरे नव दर्पन को है॥
जहँ लगि बृंदावनकी भूमि।
औरहि बिधि रहि जमुना झूमि॥
परमाधार, सु रस जो आहि।
बहति रहति निसि-बासर ताहि॥
जित देखिय तित सुखकी रैनी।
कनक करारे रतनन सैनी॥
मंजुल बृंदाबनकी गुंजा।
कृष्न नाम मुख सुखकी पुंजा॥
तिनहिं बिलोकि लट्टू ह्वै गये।
तुरतहि तोरि हार गुहि लये॥

वृन्दावनेश्वरने उत्फुल्ल होकर वहाँकी सघन सुन्दर तरुराजिकी ओर दृष्टि डाली। सर्वत्र ही शोभाका अम्बार लगा है। अरुणवर्ण कोमल पल्लवजालसे मण्डित हो रहे हैं ये गगनस्पर्शी वृक्षसमूह। अगणित फल एवं पुष्पगुच्छोंके गुरुभारसे ये अवनत हो रहे हैं। मानो फल-प्रसूनोंका यह अतिशय भार उनके लिये असह्य हो गया है और वे सर्वंसहा वसुधाको इसे समर्पित करने जा रहे हों; नहीं-नहीं, सर्वथा भिन्न है इनकी भावना। ओह! ये तो वृन्दावनदेव श्रीकृष्णचन्द्रकी अर्चना कर रहे हैं। अपने भवनमें पधारे हुए आराध्यका दर्शन पाकर ये वनवासी वृक्षगण मस्तकपर सँजोये हुए पूजोपहार——फल-पुष्पोंको उतार-उतारकर उनके चरणसरोजोंमें निवेदन कर रहे हैं। नमित होकर, अपनी शाखावलीसे श्रीकृष्णपादपद्मोंकी सन्निकट धराका स्पर्श करके ये मूक संकेत कर रहे हैं——'आओ, हमारे देवता, इस पथसे आओ, हमारा उपहार स्वीकार करो।' इस प्रकार वृन्दावनेश्वरका आवाहन कर रहे हैं ये। जो हो, वृक्षावलीकी यह मनोहर शोभा श्रीकृष्णचन्द्रमें एक अनिर्वचनीय हर्षका संचार कर देती है तथा अपने अरुणिम अधरोंपर मृदु-मधुर हास्य-सा भरकर वे अग्रज बलरामके प्रति अपना मनोभाव प्रकट करने लग जाते हैं——

स तत्र तत्रारुणपल्लवश्रिया
फलप्रसूनोरुभरेण पादयोः।
स्पृशच्छिखान् वीक्ष्य वनस्पतीन् मुदा
स्मयन्निवाहाग्रजमादिपूरुषः॥
(श्रीमद्भा० १० । १५ । ४)

सुंदर तरु पल्लव अरुण, फल प्रसून उर भार।
पद परसत निज सिखनितैं, देखेउ नंदकुमार॥
बोले श्री यदुनाथ मंद मंद हँसि भ्रात सौं।
सुनिय तात यह गाथ द्रुम सोभा निरखहु सजन॥

× × ×

सुंदर तरु सुरतरु तहँ को है।
जे मनमोहन के मन मोहै॥

अरुन अरुन नव पल्लव पात ।
जनु हरि के अनुराग चुचात ॥
निरखे द्रुम जु फूल-फल नये ।
मधुकर निकर महा छबि छये ॥
नये जु फल-फूलन के भार ।
लगि लगि रही धरनि द्रुम-डार ॥
बार बार हरि तिन तन चहैं ।
बल भैया सौं बातैं कहैं ॥

उनके स्वरमें विनोदका पुट अवश्य है, पर वाणी प्रकाशित कर रही है परम सत्य तथ्यको ही। एक ओर इसमें तत्त्वका अनुसन्धान करनेवालोंके लिये प्रचुर सामग्री भरी है, और उधर अपने उन गोपसहचरोंके लिये, प्रपञ्चमें उन्हींकी ही बाट देखनेवाले भक्तजनोंके लिये रसका स्रोत सन्निहित है। यह आदिपुरुष व्रजेन्द्रनन्दनकी वाणी जो ठहरी। जिसकी जैसी रुचि, वैसी ही वह ले ले इससे। किंतु लीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र तो अपने स्वाभाविक बाल्यावेशके प्रवाहमें ही कहते जा रहे हैं। उन्हें कौतुकविशेषकी अवतारणा करनी जो है। इसीलिये उनके अधरोंपर स्मित है, चञ्चल दृष्टिसे वे वनस्थलीकी ओर देख रहे हैं तथा विस्मययुक्त हुए-से बनकर उत्प्रेक्षा करते हुए, अपने अग्रज बलराम भैयाके प्रति आदरपूर्ण परिहासगर्भित वचनोंसे वनकी शोभा वर्णन करनेमें प्रवृत्त हुए हैं—

ततश्च कौतुकविशेषलम्भनाय व्रजराजतनूजः सस्मितमीक्षमाणः सविस्मयवदुत्प्रेक्षमाणश्च निजाग्रजं प्रति सादरनर्मगन्धप्रबन्धि वनवर्णनं निर्ममे ।

(श्रीगोपालचम्पूः)

वे बोले—'दाऊ भैया ! नहीं-नहीं, देववर ! सर्वदेवोत्तम ! देखो सही, अहो ! इन वृक्षसमूहोंकी चेष्टा तो देखो। ये तो तुम्हारे ब्रह्मादि देववन्दित श्रीचरणाम्बुजकी वन्दना जो कर रहे हैं। अपने शाखाग्ररूप मस्तकोंपर विविध पुष्प-फलोंकी पूजोपचार सामग्री लिये झुक-झुककर तुम्हें प्रणाम कर रहे हैं देवशिरोमणे ! तुमने अपने विहारस्थलमें वृक्षरूपसे जन्म धारणकर अपनी सेवा समर्पित करनेका इन्हें अवसर दिया है, इस परम सौभाग्यका दान किया है—यह देखकर ये अपनेको कृतार्थ अनुभव कर रहे हैं देव ! नमनके द्वारा अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित कर रहे हैं। सचमुच धन्य हैं ये कदम्ब, प्रियाल, पनस आदि वृक्षसमूह जिनके हृत्तलमें ऐसे दिव्य भावोंकी लहरें हैं, जिनकी ऐसी पवित्रतम चर्या है। क्यों न हो, ये अज्ञानी—जड जो नहीं। अपितु इनके तो सौभाग्यके दर्शन, श्रवण करनेवालेका अज्ञान-तिमिर सदाके लिये विनष्ट हो जाता है। अहो ! जिनके अन्तस्तलमें तुम्हारे श्रीचरणसेवनकी लालसा भरी है, उन्होंने ही तो ज्ञानके सारसिद्धान्तको हृदयङ्गम किया है ! तुम्हारे चरणसेवनपरायण इन द्रुमसमूहोंमें कहाँ है तम-अज्ञानका अंश ? प्रत्युत तुम्हें सेवा समर्पित करके, आदर्श स्थापित कर, जगत्के तमोनाश—अज्ञान-निवारणके लिये ही इन्होंने इस वृन्दावनधाममें वृक्षयोनिको अङ्गीकार किया है—यही सत्य है।'

अहो अमी देववरामरार्चितं
पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम् ।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन-
स्तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १५ । ५)

देखहु हो ये द्रुम या बन के। सब सुख करने, हरने मन के ॥
सिखा निकरि परसत तुव पाइ। जानत हौ कछु इनकौ भाइ ॥
कहत कि हो ईश्वर जगनाइक। हौ तौ तुम सबहिन सुखदाइक ॥
ऐ परि हमपर बहुतै ढरे। जातैं या बन के द्रुम करे ॥

× × ×

बोले सुंदर स्याम, हे अग्रज बन कौं लखहु ।
परम रम्य सुखधाम, मिलि बसन्त प्रफुलित तहाँ ॥
प्यारी प्यारी मृदु द्रुमलता मंजु रंजै नबेली ।
देखौ झूमैं मिलि सुमनकौं स्वच्छ गुच्छै नबेली ॥
फूले फूले नव बिटप ते पुष्प सौं भूरि भारैं ।
मानौं चाहैं तव चरन लै भूमि पै सीस धारैं ॥

श्रीकृष्णचन्द्र वृक्षोंका सुयश वर्णन कर रहे हैं। पर इतनेमें ही वह मधुपानरत भ्रमरावली 'गुन-गुन' कर वहीं एकत्र होने लगती है। अब इस समय कुसुमोंके परागचयनमें इस भ्रमरश्रेणीको रस नहीं; क्योंकि इसने नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंका सौरभ जो पा लिया है। इसीलिये पुष्पगुच्छोंको परित्याग कर यह भ्रमरकुल भी वनस्थलीके उस अंशका ही आश्रय ग्रहण करता है। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रको एक नवीन माध्यम प्राप्त हो गया। अब इस अलिकुलका ही मिस लेकर उनके वर्णनकी धारा आगे चल पड़ती है। वही आदरपूर्ण परिहासगर्भित स्वर है और वे कहते जा रहे हैं—'हे मेरे आदिपुरुष! पुरुषोत्तम! देखो, इन समीपवर्ती भ्रमरोंकी ओर दृष्टि-निक्षेप करो। ये तुम्हारे अखिलभुवनपावन यशका गान कर रहे हैं। तुम्हारे पुनीत यशका गान करते हुए निरन्तर तुम्हारे भजनमें ही ये संलग्न हैं। हे परमकारुणिक! इन्हें पहचानो तो सही! ये अधिकांशमें तुम्हारे ही भक्तश्रेष्ठ मुनिगण हैं। तुम यहाँ इस वृन्दावनमें पधारे हो अपने अनन्त ऐश्वर्यपर आवरण डालकर ही; तथा बाल्यक्रीड़ा-रसमत्त होकर ही विचरण कर रहे हो। फिर भी अपने इष्टदेव तुमको इन सबोंने पहचान ही तो लिया। इसीलिये ये सब तुम्हें छोड़कर जा जो नहीं पाते! 'गुन-गुन' की ओटमें निरन्तर इनके मुखसे झर रही है तुम्हारी ही अमल कीर्ति और इसे प्रसारित करते हुए ये यहीं सर्वत्र घूम रहे हैं।'

एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं
गायन्त आदिपुरुषानुपदं भजन्ते।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या
गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम्॥
(श्रीमद्भा० १०।१५।६)

अरु देखहु या बन के भृंग। बोलत डोलत तुम्हरे संग॥
जनु ये मुनिगन अलि ह्वै आये। जद्यपि गुपत तदपि लखि पाये॥

× × ×

गावहिं तव जस अति चित चाही।
अखिल लोक तीरथ सम ताही॥
गूढ वेष धरि तव पद कंजा।
भजहिं निरंतर भव रुज गंजा॥

अब नीलसुन्दरकी दृष्टि जाती है उनके ही दर्शनसे आनन्दविवश नर्तनशील मयूरोंकी ओर। तथा इधर आयी हैं दल-की-दल हिरणियाँ, जो निर्निमेष नयनोंसे देख रही हैं एकमात्र उनको ही। साथ ही ऊपर आम्र-शाखाओंपर कोकिल-कण्ठका पञ्चमस्वर भी प्राणोंमें रसका संचार कर दे रहा है। श्रीकृष्णचन्द्रने इन सबकी स्नेहभावनापर भी अपनी स्वीकृतिकी छाप डाल ही दी। वे इनका उल्लेख करते हुए कहने लगते हैं—'सर्वपूज्य मेरे भैया! समस्त वनवासी ही यथासाध्य तुम्हारी पूजा कर धन्य हो रहे हैं। देखो, ये मयूर तुम्हारे दर्शनसे परमानन्दमें निमग्न होकर नृत्य कर रहे हैं। ये मृगवधुएँ कुरंगनयनी गोपसुन्दरियोंके समान ही प्रेमपूरित स्निग्ध दृष्टिसे निहारकर तुम्हारा आनन्द-संवर्धन कर रही हैं। कोकिल-समूह अपने मधुर 'कुहू-कुहू' रवका विस्तारकर तुम्हारा स्वागत कर रहा है। अहा! धन्य हैं ये वनवासी प्राणी! धन्य है इनकी भावना! देखो, साधु-पुरुषोंकी भाँति ही तो इनके समस्त आचरण हैं। संतजनोंका यही नित्य स्वभाव है—गृहपर पधारे हुए अतिथिको वे अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तुकी भेंट समर्पित करते हैं। उनकी सेवामें अपना सर्वस्व न्योछावर कर देते हैं। भैया! मयूरोंने, हरिणियोंने, कोकिलने यही तो किया है। पक्ष-विस्तारकर आनन्द-नृत्य करनेके अतिरिक्त और है ही क्या इन मयूरोंके पास! स्निग्ध दृष्टिसे तुम्हें निरन्तर देखती रहें, बस इतनी-सी ही क्षमता इन हरिणीगणोंमें है न! और अपने मधुपूरित कण्ठसे तान छेड़नेभरकी ही सामर्थ्य तो है इन कोकिलोंमें! देखो, स्पष्ट ही तो मानो ये कह रहे हैं—'तुम हमारे गृहपर पधारे हो, किंतु

तुम्हारी सेवाके योग्य बस इतनी-सी ही वस्तु हमारे समीप है। इसे ही स्वीकार कर लो देव !' अहा! साधुस्वभावके कितने सुन्दर निदर्शन हैं ये !—

नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः
कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन ।
सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय
धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्गः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १५ । ७)

केकीगन नाचहिं मुद मानी । गोपी इव सब मृगी सुहानी ॥
पलक त्यागि निरखैं तव रूपा । तव प्रिय करहिं बिना अनुरूपा ॥
कोकिल कूकि कूकि प्रिय बानी । तव सतकार करहिं सुख मानी ॥
साधुन को यह सहज सुभाऊ । पूजहिं काय बचन चित चाऊ ॥
गृह आगमन जानि जगदीसा । अरपन करहि जु वचन पियूसा ॥

'और तुम्हारी भी कितनी अपरिसीम कृपा है इन वनवासी चर-अचर प्राणियोंपर ।'—श्रीकृष्णचन्द्र अबतक तो उन-उन स्थावर-जङ्गमोंकी सेवा-भावना, श्रीबलरामके प्रति उनके निश्छल अनुरागकी चर्चा कर उनके सौभाग्यका वर्णन कर रहे थे । किंतु अब उनके प्रति श्रीबलरामका अनुग्रह भी अद्भुत ही है, इस दृष्टिसे उनकी परम कृतार्थताका संकेत करते हुए वे वन-वर्णनका उपसंहार करते हैं—'दादा, देखो काननकी इस धराको तुमने किस अद्भुत कृपाप्रसादका दान किया है । तुम्हारे आगमनसे यह कितनी धन्य-धन्य हो रही है । तुम्हारी वाराह मूर्तिका स्पर्श पाकर यह कृतार्थ अवश्य हुई थी । पर उस समय कहाँ प्राप्त था इसे तुम्हारे चरणसेवनका परम सुदुर्लभ सौभाग्य ? वाराहदेवके विशाल दंष्ट्राग्रपर ही इसे स्थान मिला था । तुम्हारे ये मृदुल सुकोमल चरणतलके स्पर्शका अवसर उस समय कहाँ था । किंतु आज तो तुम अनावृत चरण हुए काननकी धरापर संचरण कर रहे हो । यह आज अनुक्षण तुम्हारे पादपद्मोंके स्पर्शसे अतिशय सौभाग्यशालिनी हो चुकी है । अहो ! केवल धरा ही नहीं, धरासे सम्बद्ध सभी निहाल हो गये । देखो, ये क्षुद्र तृण-वीरुध—दूर्वा, कुश आदिने भी तुम महामहिमका चरणस्पर्श पा लिया । और ये हैं इधर द्रुम-लताएँ । तुम इन द्रुमोंसे फलका आहरण करते हो, लता-वल्लरियोंसे पुष्पपल्लवका चयन करते हो । उस समय तुम्हारे नख-चन्द्रसे ये स्पृष्ट होते हैं । कितना, कैसा अपरिसीम सौभाग्य है इनका ! अहा ! उधर देखो, वह है तपनतनयाका मञ्जुल प्रवाह । वह रहा मानस-गङ्गाका शान्त स्रोत । सामने अवस्थित हैं गिरिराज गोवर्द्धन और अन्य पर्वतमालाएँ । ये रहे ऊपर सामने, पीछे, दक्षिण वामपार्श्वमें उड़ते, बैठे, कलरव करते हुए विहंगम-कुल तथा सर्वत्र काननमें स्वच्छन्द विचरण करते हुए पशुसमूह । ओह ! इन सरिता, सर, गिरि, खग-मृग—सबपर ही तो तुम्हारी प्रतिदिन सकरुण दृष्टि पड़ती है । कितने सौभाग्यशाली हैं ये ! अहो ! भाग्य देखो, इस श्यामवर्णा गोपी नामकी लताका ! कहाँ तो तुम्हारा यह सुविस्तीर्ण वक्षःस्थल वैकुण्ठवासिनी लक्ष्मीके लिये भी स्पृहणीय है तथा उसीपर पुष्पमाल्यके साथ ग्रथित होकर ये लताएँ भी झूल रही हैं ! दादा ! स्वयं देख लो ! तुम्हारे इस अप्रतिम कृपा-प्रसादका दान पाकर ये सब आज कितने धन्य-धन्य हो रहे हैं ।'

धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्-
पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः ।
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकै-
र्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १५ । ८)

धन्य धरनि तृन बिरुध सब, तव पद परस सुजान ।
करज परस करि द्रुम लता, लहे परम कल्यान ॥
सरिता गिरि खग मृग वन जेते । धन्य धन्य पसु तन ए तेते ॥
मृगी एकटक बदन निहारी । प्रेमसहित ए धन्य विचारी ॥
तव भुज मध्य रमा चह बासू । गोपिन कहँ सो सहज सुपासू ॥
धन्य भाग्य गोपिन के भूरी । को बरनै महिमा अति रूरी ॥

× × ×

धनि यह धर जापर पगु धरौ । धनि ये कुंज जहँ संचरौ ॥
धनि ये सर-सरिता जहँ खोरत । धनि ये कुसुम जिनहिं कर तोरत

श्रीकृष्णचन्द्र इतना कहकर रुक गये एवं अग्रजकी ओर सस्मित दृष्टिसे देखने लगे। श्रीबलरामके कर्णपुटोंमें मानो अबतक पीयूषकी धारा बह रही हो, इस प्रकार वे अत्यन्त प्रफुल्लित होकर अनुजके इस वृन्दावन-वर्णनकी वाग्मिताका रस ले रहे थे। पर जब यह विराम आया, नीलसुन्दरने दाऊ दादाका रुख जान लेनेके लिये उनके नेत्रोंसे अपनी चारु चञ्चल दृष्टि मिला दी, मौन होकर वे प्रतीक्षा-सी करने लगे, तब बलरामके अधरोंपर भी एक विचित्र मन्द मुसकानकी छाया आयी और वे कह उठे—'भैया रे श्रीकृष्ण! वन-वर्णनके मिससे तूने जो बातें कहीं, वैसे गुणगणसमलंकृत तो तू ही है रे! ईश्वर तो तू है। दूसरेका नाम इस प्रसङ्गमें क्यों सान दे रहा है?'

अथाग्रजश्चानुजवाचममृतमिवाचम्य स्मितमाचरन्नुवाच। भवादृश एव तादृशगुणगणभागीश्वरः कथमन्यं तत्र गण्यं करोतीति॥ (श्रीगोपालचम्पूः)

फिर तो नीलसुन्दरके दृगोंमें एवं मुखचन्द्रपर एक पवित्रतम संकोचकी छाया-सी आ ही गयी। कदाचित् व्रजमहाराज्ञी यहाँ इस अवसरपर उपस्थित होतीं तो वे निश्चय ही उनके अञ्चलसे अपना मुखसरोज आवृत कर लेते। पर यह तो सम्भव नहीं। इसीलिये एक बार तो उन्होंने अपने ही अञ्जलिपुटसे अपने मुख-कमलको ढक लेना चाहा, करपल्लवोंने नेत्रोंको, सुचिक्कन कपोलोंके कुछ अंशको आवृत भी कर लिया। किंतु दूसरे ही क्षण उन्हें संकोचनिवारणके योग्य स्थानकी स्मृति हो आयी। अत्यन्त समीप ही तो दाऊ दादा खड़े हैं। बस वे दौड़े, अपनी दोनों भुजाएँ दाऊ दादाकी ग्रीवामें झुला दीं और मुखचन्द्र तो उनके विशाल वक्षःस्थलकी ओटमें छिप ही गया। अग्रजने भी अनुजको अपने भुजपाशमें भर लिया! दोनों ही हँस रहे हैं—श्रीबलराम तो स्पष्टरूपसे एवं नीलसुन्दर अपना मुख छिपाये ही। वे असंख्य गोपशिशु भी हँसने लग जाते हैं—इसलिये नहीं कि उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रकी एवं बलरामकी इन उक्तियोंमें सन्निहित तत्त्वविशेषकी गन्ध लगी हो; अपितु, इसलिये कि उनके कन्नू भैयाने, दाऊ दादाके साथ विनोदकी होड़में हारकर अपना मुख छिपा लिया है! दाऊ दादाने अत्यन्त सुन्दर उत्तर कन्नूको दे दिया। वे सख्य-रस-मत्त शिशु इस बातको नहीं जानते, कभी जान पायेंगे ही नहीं कि उनके साथ खेलनेवाले ये व्रजेन्द्रनन्दन, ये बलराम भैया ही समस्त तत्त्वोंके सारभूत परम तत्त्व हैं, दोनों ही अभिन्न हैं। इसका विश्लेषण तो करते हैं, कर रहे हैं अन्तरिक्षचारी अमरवृन्द—जिनके नेत्रोंमें यह दिव्य झाँकी भरी है और कर्णपुटोंसे जिन्होंने अग्रज-अनुजकी इस चर्चाका अमृत पान किया है। बस, वे ही जानते हैं—'रामश्याम तत्त्वतः अभिन्न अवश्य हैं' साथ ही बलरामने भी इस समय यह कहा है सर्वथा बाल्यावेशके प्रवाहमें ही, फिर भी श्रीसंकर्षण बलरामका वह उत्तर कितना सत्य तथ्य है! परम सत्य है वह! किंतु गोपशिशुओंने तो उसमें आदिसे अन्ततक केवल परिहासका ही रस लिया है। और वे हँस रहे हैं इसीलिये कि उनका कन्नू भैया खेलमें तो बहुत बार हार गया है, पर बातोंमें कभी नहीं हारता, दाऊ दादा भी उसका उत्तर नहीं दे पाते। परंतु आज वह हार गया। दाऊ दादाको प्रत्युत्तर न दे पाया! कौन समझाने जाय उन्हें—'श्रीकृष्णचन्द्रके प्यारे सखाओ! वे तुमसे हारते हैं, सदा हारे ही रहेंगे पर वे हैं नित्य अजेय।' और समझानेपर भी इस तत्त्वज्ञानके टिकने-योग्य स्थान ही कहाँ है उनके सख्यमसृण अन्तस्तलमें!

अस्तु, इस प्रकार हास-परिहासका रस लेकर, परम सुन्दर वृन्दावनकी शोभा निहारकर प्रसन्नचित्त हुए श्रीकृष्णचन्द्र अब गोपशिशुओंके सहित गिरिराज-परिसरमें अवस्थित मानसगङ्गा-तटपर गोसंचारण करते हुए विविध क्रीड़ाकी अवतारणा करने चले। उनका दिव्य नित्य नवीन दैनन्दिन विहार आरम्भ हुआ—

एवं वृन्दावनं श्रीमत् कृष्णः प्रीतमनाः पशून् ।
रेमे संचारयन्नद्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १५ । ९)

एहि बिधि बल सौं बरनि कृपाला ।
लखि बृंदाबन प्रभा बिसाला ॥
अति प्रसन्न मन सखन समेता ।
रमत भए हरि कृपा निकेता ॥

गिरि समीप सरिता तट सुंदर ।
धेनु चरावत हरि गुन मंदिर ॥
सो छबि बरनि सकै नहिं कोऊ ।
सेष आदि लखि छकि रहे सोऊ ॥

× × ×

एहि बिधि बिहरत बृंदाबन मैं ।
छिन-छिन अति रति उपजत मन मैं ॥

विचार

(लेखक—श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०)

शास्त्रावबोधामलया धिया परमपूतया ।
कर्तव्यः कारणज्ञेन विचारोऽनिशमात्मनः ॥
बलं बुद्धिश्च तेजश्च प्रतिपत्तिः क्रियाफलम् ।
फलन्त्येतानि सर्वाणि विचारेणैव धीमताम् ॥

सद्गुरु योगिराज श्रीगम्भीरनाथजीके द्वारा जब कोई व्यक्ति किसी भी समस्याका समाधान चाहता, तब वे सबसे अधिक प्रधानरूपसे जिस एक साधन-तत्त्वको जिज्ञासुके हृदयमें प्रवेश करा देनेका प्रयत्न करते थे, वह था उन्हींके शब्दोंमें—'विचार करना।' यह उपदेश, मालूम होता था, मानो उनके सभी उपदेशोंका केन्द्र हो। जब अन्तःकरणमें कोई जिज्ञासा जाग्रत् हो, तब उसके समाधानके लिये किसी दूसरे व्यक्तिके पास न जाकर, स्वयं अपने ही स्वाधीन चिन्तनके द्वारा तत्त्वनिर्धारण करनेका प्रयत्न करना उचित है—यही उनका अभिप्राय रहता था। लौकिक जीवनमें हो, या आध्यात्मिक साधनाके क्षेत्रमें हो, सभी विषयोंमें और सर्वदा अपनी विचार-शक्तिके निर्देशानुसार अपनेको परिचालित करना—अपनी विवेक-बुद्धिका स्वाधीन व्यवहार करके उपस्थित समस्याओंकी यथासम्भव मीमांसा करना और अपने गन्तव्य पथका स्वयं आविष्कार करके अदम्य पुरुषकार और अविचल आत्म-विश्वासके साथ अभीष्ट मार्गपर अग्रसर होनेमें शरीर तथा मनको नियुक्त कर देना—यही मनुष्यमात्रका अवश्य कर्तव्य है। यही योगिराजजीका उपदेश था। साधन-भजनमें, आहार-विहारमें, व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक व्यवहारोंमें—अर्थात् जीवनके सभी विभागोंमें अपने सुनियन्त्रित विचारसे जो शुभ जान पड़े, शिष्यगण उसीको दृढ़ता और निर्भीकताके साथ ग्रहण करें और उसके विपरीत मार्गका वर्जन करें, इसी अभिप्रायको सद्गुरु गम्भीरनाथजी अपने सभी उपदेशोंमें प्रकट करते थे। वे अपनी वाणी तथा आचरणके द्वारा जिज्ञासुओंको यह समझा देते थे कि दूसरेके द्वारा नियन्त्रित होकर रस्सीमें बँधे पशुके समान सरल मार्गपर शीघ्रतासे आसानीके साथ चलकर गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेकी अपेक्षा स्वतन्त्र रहकर सार्थकनामा मनुष्यकी भाँति टेढ़े मार्गपर परिश्रमपूर्वक जिस किसी प्रकार विलम्बसे भी सिद्धि प्राप्त करना श्रेयस्कर है। यह प्रयास और विलम्ब व्यर्थ नहीं होता। इसीसे मानव-जीवनका यथार्थ उत्कर्ष होता है। पराधीन पशु या पक्षी किसी पवित्र स्थानपर नाना प्रकारके सुख-सम्भोगसे घिरा हुआ रहता हो, तो भी जैसे उसके जीवनकी सार्थकता नहीं होती और मुक्तिके अतुलनीय आनन्दका आस्वादन उसके लिये सम्भव नहीं होता, उसी प्रकार कोई मनुष्य यदि मनुष्योचित स्वाधीन विचार और स्वाधीन पुरुषकारके प्रयोगसे विमुख होकर अपनी अपेक्षा अधिकतर बुद्धिमान् और शक्तिशाली किसी व्यक्तिके प्रति अपनी स्वाधीनताका विसर्जन करके उसीके आदेशोंपर बिना विचारे चलने लगे तो पराधीन अवस्थामें जीवन-पथपर चलते समय यद्यपि उसके द्वारा अनेक प्रकारके शुभ कर्म सम्पन्न हो सकते हैं तथा सुख-सम्पत्तियोंका उपभोग भी हो सकता है, तथापि इससे उसके मानव-जन्मकी चरितार्थता नहीं होती, मनुष्योचित शक्तिका सद्व्यवहार नहीं होता, एवं उसका जीवन परमकल्याणमें प्रतिष्ठित होनेकी योग्यता नहीं प्राप्त करता।

विचारमूलक कर्म ही यथार्थ कर्म है

विचार-शक्तिके अभ्याससे विमुख होकर शास्त्र, समाज या आचार्योंके आदेशपर पराधीन रूपसे कोई व्यक्ति यज्ञ,

दान, व्रत, पूजन, तपस्यादि जो कुछ भी करे तो ऐसा करनेपर वह उन कर्मोंके फलस्वरूप कितने ही इहलौकिक और पारलौकिक सुख-सम्भोगोंका अधिकारी अवश्य हो सकता है, किंतु मानव-जीवनके चरम लक्ष्य मुक्तिकी ओर अग्रसर नहीं हो पाता। ये सभी शुभ कर्म जितनी मात्रामें चित्तकी विशुद्धि उत्पन्न करके विचार-शक्तिके विकासमें सहायता करते हैं, उसी मात्रामें मनुष्य-जीवनके लिये इनकी सार्थकता है। अपने विचारद्वारा स्वतन्त्ररूपसे उन सब शुभ कर्मोंमें प्रवृत्त होनेसे ही यथार्थ मनुष्योचित कार्य होता है। मनुष्य स्वाधीन विचारका अनुवर्ती होकर अपनी इच्छासे जिन सब कर्मोंका सम्पादन करता है, वस्तुतः वे ही सब उसके कर्म हैं, एवं उन्हीं विचारमूलक कर्मोंके द्वारा उसकी साधनाकी पूर्णता होती है। विचारहीन व्यक्तिके कार्यकलाप आपात-दृष्टिसे निर्दोष या शुभ भले ही जान पड़ें, परंतु उनसे जड राज्यके बन्धनसे छूटकर चित्-राज्यमें प्रतिष्ठित होनेमें सहायता नहीं मिलती। किंतु विचारवान् व्यक्ति अपनी विचार-शक्तिकी अपूर्णताके कारण भ्रान्त सिद्धान्तोंपर चलकर दोषयुक्त कर्मोंका सम्पादन करके भी क्रमशः अनुशीलन-द्वारा अपनी विचार-शक्तिका विकास करता रहता है, उसकी भ्रान्तिकी सम्भावना क्रमशः दूर होती जाती है, अशुभ प्रवृत्तियोंका वेग नष्ट होता जाता है एवं मुक्तिका पथ सरल और निष्कण्टक होता जाता है। योगिराजजी कहते थे कि विचारशील साधक यदि विचारमें कहीं भूल करता है और उसी हेतु भूले पथपर चलता है, तो उसमें भी कोई भय नहीं; क्योंकि विचार ही क्रमशः भूलका संशोधन कर देगा एवं असत्यके मार्गसे लौटाकर उसे सत्यके मार्गपर चला देगा। विचारका अर्थ प्रमादमें पड़े रहकर उच्छृङ्खलकी भाँति मनमाना आचरण करना नहीं है। उसमें सर्वदा सजग रहनेकी आवश्यकता है। सत्यका जिज्ञासु बनकर निष्कपट चित्तसे विचार करते-करते और दृढ़ताके साथ विचारानुमोदित पथपर चलते-चलते विचारशक्ति क्रमशः विकसित होती जायगी, साथ-ही-साथ मन और इन्द्रियोंके ऊपर आधिपत्य करनेकी उसकी क्षमता बढ़ेगी, संयम स्वभावमें परिणत हो जायगा, सत्य और मङ्गलका यथार्थ स्वरूप स्वच्छ अन्तःकरणमें आत्म-प्रकाश करेगा और जीवनके सभी विभाग निःश्रेयसकी प्राप्तिके योग्य बन जायँगे।

विचार-प्रणाली

योगिराजजी शिष्योंको इसके सरल नियमोंकी शिक्षा देते थे कि साधारणतः किस प्रणालीसे विचार किया जाता है। भोग और भोगार्थ कर्मोंके सम्बन्धमें इस प्रकार विचार करना उचित है कि कौन-सा कर्म कितना आवश्यक है और कितना अनावश्यक, किस प्रकारके कर्म और भोगसे चित्तकी शुद्धि होगी, वासनाओंका संकोच होगा, प्रवृत्तियाँ वशमें रहेंगी, अपने मनुष्योचित कल्याणमें सहायता प्राप्त होगी और दूसरे किसीका कोई अनिष्ट नहीं होगा। एवं किस प्रकारके कर्म और भोगसे लोभ और आसक्ति बढ़ेगी, चित्तमें मलिनता आ जायगी, प्रवृत्तियाँ प्रबल होंगी, आध्यात्मिक कल्याणकी हानि होगी और साक्षात् या परोक्षरूपमें दूसरेका अनिष्ट होगा। पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रिय कर्तव्योंके निर्णयके सम्बन्धमें भी विचार करना आवश्यक है कि किस प्रकारका कर्म स्वभावके अनुकूल एवं अपने तथा अन्य लोगोंके लिये अधिक-से-अधिक कल्याणप्रद होगा, कौन-सा कर्म किस प्रकार सम्पादन करनेसे परिवारका, समाजका और देशका स्थायी उपकार होगा एवं भोगासक्ति, स्वार्थाभिसन्धि, हिंसा, द्वेष, संकीर्णता, अभिमान, ममता इत्यादि अपने दोषोंका ह्रास होकर देह, मन और बुद्धिको स्वास्थ्य और शुद्धि प्राप्त होगी।

आध्यात्मिक क्षेत्रमें यह विचार करनेकी आवश्यकता होती है कि क्या सत् है और क्या असत् है; क्या नित्य है और क्या अनित्य है; आत्माका क्या स्वरूप है और अनात्माका क्या लक्षण है, मुक्ति क्या है और बन्धन क्या है; बन्धनके हेतु कौन हैं और उसके नाशके उपाय कौन हैं; भगवान्, जीव और जगत्के बीच क्या सम्बन्ध है इत्यादि-इत्यादि। मुक्तिकी इच्छा रखनेवालोंको विचारपूर्वक यह हृदयंगम कर लेनेकी आवश्यकता है कि विषय-वासनाको जितना ही अवसर दिया जायगा, उतना ही बन्धन और क्लेशकी वृद्धि होती जायगी। भोगवासनाका संकोच और तत्त्वज्ञान-वासनाका विकास ही दुःख-निवृत्ति और कृतार्थता-प्राप्तिका प्रथम सोपान है। वासनाधीन होकर विषयभोग करनेपर सम्पूर्ण प्रकारसे मनुष्यत्वकी हानि होती है और परमानन्द-प्राप्तिका पथ रुद्ध हो जाता है, इस बातका विचार करते-करते ही वैराग्य जाग उठता है। इसीके साथ सारासार-विचारके द्वारा—परमात्मा ही सार पदार्थ है, उसके अतिरिक्त अन्य सभी कुछ असार है,—इस तत्त्वको समझकर परमात्माके साथ सजीव सम्बन्ध स्थापन करना होगा। उसके बाद अपने अधिकारका विचार करके कर्म, उपासना, ध्यान, ज्ञान इत्यादि विभिन्न साधन-मार्गोंमेंसे कौन-सा मार्ग अपने लिये सहज ही

परमात्माके साक्षात्कारमें विशेष अनुकूल होगा, इसका निर्णय करके ऐकान्तिक पुरुषार्थके साथ उसी पथपर अग्रसर होनेकी आवश्यकता है

विचार ही तपस्या है

तपस्याके विषयमें प्रश्न करनेपर ज्ञानी गुरु गम्भीरनाथ कहते थे कि 'विचार ही तपस्या है, तपस्या दूसरी कौन चीज है ?' शारीरिक तपस्या तो पशु-पक्षी भी कर सकते हैं, वे भी सर्दी-गरमी-वर्षा और भूख-प्यास आदि सहन करके कठोर परिश्रम कर सकते हैं। संसारासक्त मायामुग्ध मूर्ख मनुष्य भी सांसारिक उद्देश्य-सिद्धिके निमित्त दीर्घ कालतक बड़ी-बड़ी कठिनाइयोंका अभ्यास करते रहते हैं। अर्थाभावसे पीड़ित या राजदण्डसे दण्डित कितने ही लोग बाध्य होकर धूप, वर्षा, सर्दी, उपवास, अर्धाहार, अपमान, अत्याचार इत्यादि वेदनाओंका सहन करते-करते ऐसे अभ्यस्त हो जाते हैं कि उससे उन लोगोंमें आपात दृष्टिसे कोई विकार ही नहीं दीख पड़ता। किंतु इस प्रकारकी तपस्यासे क्या उन लोगोंके जीवनकी कोई सार्थकता होती है ? विचारहीन शारीरिक तपस्यासे पशुकी पशुता मिटकर उसे मनुष्यता नहीं प्राप्त होती, मूर्खोंकी अज्ञानता और तज्जनित सम्पूर्ण प्रकारके क्लेशोंकी निवृत्ति नहीं होती। विचारके विना ज्ञान असम्भव है एवं ज्ञानके अतिरिक्त मोक्ष होना असम्भव है। विचार-शक्तिकी पूर्णता सम्पादन करनेके लिये एवं सब अवस्थाओंमें चित्तकी प्रशान्तता और प्रसन्नता बनाये रखनेकी शक्ति प्राप्त करके सम्यक् दर्शनके बाधा-विघ्नोंको दूर करनेके लिये जैसे सुनियन्त्रित आचार-व्यवहारकी आवश्यकता है, विचारपूर्वक स्वतन्त्ररूपसे उसका अवलम्बन करना ही यथार्थ तपस्याका अङ्ग है। आहार-विहारमें, सोने-जागनेमें, उठने-बैठनेमें सर्वदा सभी अवस्थाओंमें विचारको जाग्रत् रखना और विचारपूर्वक नित्य-नैमित्तिक सभी कर्मोंको संयतरूपसे सुसम्पन्न करना ही उत्तम तपस्या है। विचार जाग्रत् रहनेपर सभी विषयोंमें अपने-आप संयम आ जाता है और भोगासक्ति कम हो जाती है। हेयोपादेय-विचार, नित्यानित्यविचार और जीवनके चरम लक्ष्यके साथ वर्तमान जीवनयात्रा-प्रणालीके सम्बन्धका विचार जाग्रत् रखकर कर्म करनेसे कर्ममें बन्धन नहीं उत्पन्न होता। जबतक इस प्रकारका तत्त्वविचार स्वभाव न बन जाय, जबतक आत्माका नित्य-निर्लिप्त शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्द-स्वरूप सर्वदा स्मृतिपटपर प्रकाशित न रहने लगे तबतक विचार-चेष्टा रहनेपर भी भ्रान्ति, संशय, विक्षेप इत्यादिका आक्रमण होता ही रहता है। इससे निराश या विषादग्रस्त होनेका कोई कारण नहीं एवं उन सब दुर्बलताओं और दोष-त्रुटियोंके विषयकी चिन्ता करके मनको खराब करनेकी भी आवश्यकता नहीं। विचार जाग्रत् रखनेके लिये ऐकान्तिक चेष्टा बनी रहनेसे क्रमशः विवेक-बुद्धिकी शक्ति बढ़ेगी, भ्रान्ति-विक्षेपादिकी सम्भावना भी घट जायगी। शारीरिक तपस्या और उससे उत्पन्न होनेवाली शक्तिपर अतिरिक्त दृष्टि रखना साध्य-साधन-तत्त्व-सम्बन्धी अज्ञताका परिचायक है।

विचार ही ध्यान है

ध्यानके प्रसङ्गमें भी योगिराजजीके उपदेश इसीके अनुरूप होते थे। विचार ही ध्यान है, एकाग्रचित्तसे विचार करते-करते उसमें तन्मयता हो जाना ही ध्यान कहलाता है। शास्त्र और युक्तिकी सहायतासे विचार करके जो कुछ सत्य मानकर निर्धारित किया जाय, चित्तकी ऐकान्तिक स्थिरताके साथ सूक्ष्मविचारके द्वारा उसी सत्यको मनके भीतर सुदृढ़रूपसे बैठा देना और मनको उसी सत्यके आकारमें आकारित करनेकी चेष्टा करना ही ध्यान कहलाने योग्य है। शास्त्रमें स्थूल विचारको मनन और सूक्ष्म विचारको ध्यान कहा गया है। अकेले विचारको ही प्रथम स्तरपर श्रवण, द्वितीय स्तरपर मनन और तृतीय स्तरपर ध्यान कहते हैं। विचारके क्रमविकासके साथ-साथ ध्यानका उत्कर्ष होता है। तत्त्वविचारके द्वारा जो साधक परमार्थ-तत्त्वके जिस रूपकी धारणा करनेमें समर्थ होता है, जिसके विचारयुक्त अन्तःकरणमें परमतत्त्व जिस आकारमें प्रतिभासित होता है, वही रूप उसके ध्यानका विषय हो जाता है। शास्त्र और आचार्यके अनुवर्ती होकर विचार करते-करते बुद्धि जितने ही स्पष्ट और निश्चितरूपसे अभीष्ट तत्त्वके यथार्थ स्वरूपका धारण कर पाती है, उतना ही ध्येयका उत्कर्ष होता है, चित्तकी निर्मलता होती है एवं चित्तके साथ ध्येयका घनिष्ठतर योग संस्थापित हो जाता है। विचारमें आत्मा और ब्रह्मकी एकताके सम्बन्धमें निश्चयात्मिका बुद्धिके प्रतिष्ठित हो जानेपर, ध्यानमें भी ध्याता और ध्येयकी ऐक्यानुभूति होती है। सुतरां सभी साधकोंके लिये एक प्रकारके ध्यानका विधान करना उचित नहीं। विचारमें अविचल स्थिति ही यथार्थ ध्यान है।

ग्रन्थपाठ और उपदेशश्रवणकी उपकारिता

योगिराजजी यह भी कहते थे कि विचार ही ज्ञानका जनक है। अपने निजके विचारके बिना केवल मात्र ग्रन्थादि-

पाठ और उपदेश-श्रवणसे ज्ञान नहीं प्राप्त होता। उससे सामयिक उद्दीपना हो सकती है, एवं उसी कालके लिये अपनेको विषयविशेषमें वह निःसंशय भी समझ सकता है, किंतु वस्तुतः उससे परिस्फुट धारणा नहीं होती और संशय भी नष्ट नहीं होता। किसी परीक्षाका प्रसङ्ग आते ही अज्ञानता और संशय दोनों ही उत्पन्न हो जाते हैं। एकमात्र विचारके द्वारा ही निश्चयात्मिका बुद्धि प्रतिष्ठित होती है। शास्त्रपाठ और श्रद्धेय व्यक्तियोंके उपदेशसे विचारमें यथेष्ट सहायता प्राप्त होती है, सामयिक उद्दीपनासे साधनमें उत्साह होता है, अन्तःकरणके संस्कार पर्याप्त मात्रामें शुद्ध हो जाते हैं, अपने विचारमें कहीं भूल हो तो वह दिखायी पड़ जाती है, एवं तत्त्वज्ञ आचार्योंके सिद्धान्तके साथ अपने सिद्धान्तका मेल हो जानेसे उसमें विश्वास दृढ़ हो जाता है। पर स्वयं विचारशील हुए बिना किसीसे भी स्थायी लाभ नहीं होता।

योगके सम्बन्धमें उपदेशकी प्रार्थना करनेपर योगिराजजी कहते थे कि योगशास्त्रमें चार प्रकारके योगोंकी बात आती है—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। विचार-शक्तिके उत्कर्ष-साधनद्वारा आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये विधिपूर्वक ऐकान्तिक प्रयत्नको ही राजयोग कहा जाता है। यह आत्म-ज्ञानमें प्रतिष्ठित होना ही सब योगोंका उद्देश्य है। हठयोगादिमें भी राजयोगके अतिगुह्य साधन वर्तमान हैं, और उसीसे उनकी सार्थकता है। किंतु उन सब गुह्य साधनोंके उपयुक्त देह-मनवाले लोग थोड़े ही पैदा होते हैं। विचारमार्ग तो सभीके लिये उपयोगी है। जिनका जैसा अधिकार हो, वे उसीके अनुरूप विचारका अभ्यास कर सकते हैं। लक्ष्य रखना होगा—आत्मज्ञानमें प्रतिष्ठा। विचार करते-करते ही अधिकार भी बढ़ेगा, विचार भी सूक्ष्म होगा और आत्माका प्रकाश भी स्पष्टतर होगा। निरन्तर तत्त्वविचार करनेसे एक जन्ममें ही मुक्ति हो सकती है।

जीवनद्वारा विचार

ग्रन्थ पढ़कर या उपदेश सुनकर केवल बहुत-सी बड़ी-बड़ी बातें सीख लेना, अथवा तार्किकी बुद्धिकी सहायतासे तात्त्विक विषयोंकी आलोचना कर लेना—इसको योगिराजजी विचार नहीं कहते थे। केवल तार्किकी बुद्धिद्वारा नहीं, बल्कि समग्र जीवनद्वारा विचार करना होगा। समग्र जीवनके द्वारा जो सत्य जिस परिमाणमें गृहीत होगा, प्राण जिस सत्यको जिस परिमाणमें नितान्त अपना मान लेंगे, समझ लेना चाहिये कि उसी परिमाणमें उस सत्यका ज्ञान हुआ। समस्त जीवनके द्वारा तत्त्वोपलब्धिके लिये ऐकान्तिक चेष्टा ही तत्त्वानुसंधित्सा और यथार्थ विचार है।

योगवाशिष्ठमें कहा गया है—

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः।
स जीवति मनो यस्य मननेन हि जीवति॥

वृक्ष भी जीवन धारण करते हैं, पशु-पक्षी भी जीते हैं, परंतु जिस मनुष्यका मन मनन (विचार) के द्वारा जीवनको परिचालित करता है, उसी मनुष्यका जीवन धारण करना सार्थक है। वृक्षलताकी तरह प्रकृतिके दास होकर, किंवा पशु-पक्षीकी भाँति स्वभावजात भूख-प्यास, काम-क्रोधादि-प्रवृत्तिके अनुगत होकर पराधीनरूपसे देहेन्द्रियोंको सुख-स्वच्छन्दताके साथ सुरक्षित रखनेपर भी यथार्थ जीवन धारण नहीं होता; इस प्रकारका देहेन्द्रिय-सर्वस्व जीवन तो मनुष्य-जीवन कहलाने योग्य भी नहीं है। मनुष्यका मन जिस मात्रामें सजग हो, उसका जीवन भी उसी मात्रामें सार्थक है। अन्तःकरण जिस मात्रामें विचारशक्ति और इच्छाशक्तिके प्रभावसे देह और इन्द्रियोंको वशमें रखनेके लिये—स्वाभाविक प्रवृत्तियोंपर आधिपत्य स्थापित करके उनको कल्याणकारी मार्गपर चलानेके लिये—नित्य-निरन्तर प्रयत्नशील रहता है, उसी परिमाणमें वह जीता-जागता मनुष्य है। प्रकृतिके ऊपर विचारका आधिपत्य-स्थापन ही मनुष्यका मनुष्यत्व है।

विचारकी पूर्णता ही मानव-जीवनकी पूर्णता है। इस तथ्यको लोकशिक्षक बाबा गम्भीरनाथ अपने आचरण और उपदेशके द्वारा शिष्य और भक्तोंके हृदयमें अङ्कित कर देनेके लिये सदा यत्नवान् रहते थे। वे नाना प्रकारसे समझा देते थे कि विचारकी पूर्णता ही मानव-जीवनकी पूर्णता है। मनुष्य जिस परिमाणमें स्वाधीनरूपसे विचारशक्तिका अभ्यास करके जीवनको विचारानुमोदित पथपर परिचालित करता है, उसी परिमाणमें उसके मनुष्यत्वका विकास होता है। इससे अन्तर्निहित कल्याणमयी शक्तियोंका उद्बोधन और उनकी कृतार्थता होती है, एवं समग्र जीवन परम पुरुषार्थकी प्राप्तिकी ओर अग्रसर होता है। विचार जब सर्वाङ्ग-सुन्दर होकर जीवनमें सुप्रतिष्ठित हो जाता है, किसी प्रकारका संशय या विपर्यय चित्तमें चाञ्चल्य उत्पन्न नहीं करता, विचार-विरोधी कोई भाव या प्रवृत्ति अन्तःकरणको कलुषित नहीं करती, जीवनके किसी विभागमें किसी प्रकारका असामञ्जस्य नहीं रहता, प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग मानो विचारमय होकर सत्य, मङ्गल और सुन्दरकी ज्योतिसे विभासित हो उठते हैं, तभी मनुष्य मानवोचित पूर्णता प्राप्त करता है, तभी वह जड-प्रकृतिकी अधीनतासे मुक्त होकर स्व-स्वरूपमें स्थित होता है।

* * *

महारसायन

(लेखक—श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ)

'राम-राम सीताराम ! मैं दिन-रात नाम-रसायन पान करना चाहता हूँ । मैं निश्चय कर चुका हूँ, कि नाम लेनेसे सर्वार्थ-सिद्धि होगी । यह मेरा दृढ़ सिद्धान्त हो गया है कि मेरे-जैसे क्षुद्र जीवके लिये नामके अतिरिक्त और कोई गति नहीं है । यही मार्ग मैंने पकड़ा है और इसी मार्गपर चल रहा हूँ । जिससे पथभ्रष्ट न हो जाऊँ, इसीलिये मैंने शक्ति-प्रार्थना करना सीखा है । फिर भी हे राम ! मैं प्रतिक्षण नाममें तल्लीन नहीं रह सकता । न जाने मेरा कौन-सा कर्मफल मुझे नाम लेनेसे हटा देना चाहता है । तुम कृपा करो—मुझे निरन्तर अपने नाममें डुबोये रक्खो । हे यदुनाथ ! हे रघुनाथ ! हे व्रजनाथ ! हे सीतानाथ ! हे दीननाथ ! हे प्राणनाथ ! ऐसा करो कि मैं सदा-सर्वदा नाम लेकर रह सकूँ, मुझे अपना बना लो ।'

'सर्वे नश्यन्ति ब्रह्माण्डे प्रभवन्ति पुनः पुनः ।
न मे भक्ताः प्रणश्यन्ति निःशङ्काश्च निरापदः ॥

कोई डर नहीं है ! मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता । सब नाश हो जायगा, परंतु मेरा भक्त निःशङ्क और निरापद अवस्थामें रहेगा । देखो, जीवको तभी-तक सोचना पड़ता है जबतक कि वह दृढ़रूपसे मेरा आश्रय नहीं ले लेता । मैं तुम्हारा हूँ—यह कहकर मेरे शरण आ जानेपर सदाके लिये सारी चिन्ताएँ समाप्त हो जाती हैं । एक बार निरुपाय होकर, मैं तुम्हारा हूँ, यह कहकर मेरे शरण आनेपर मैं सब भूतोंको अभय देता हूँ । तुम क्यों डर रहे हो ? तुम्हें किसी प्रकारका भय नहीं है । मैं तुम्हारे मार्गको साफ करता हुआ आगे-आगे चल रहा हूँ, तुम नाम लेते हुए मेरे पीछे-पीछे चले आओ । मेरा भक्त, मनुष्यकी तो बात ही क्या, यमराजतकका भी भय नहीं करता ।

भर्जनं भवबीजानामर्जनं सुखसम्पदाम् ।
तर्जनं यमदूतानां राम रामेति गर्जनम् ॥

चले आओ—राम-रामका गर्जन करते हुए तुम चले आओ । जिस कर्मबीजके कारण तुम्हारा पुनः-पुनः जन्म होना नहीं बंद होता है, वही कर्मबीज, राम-रामके गर्जनसे जल जायगा, तुम्हारे न चाहनेपर भी राम-रामके गर्जनसे संसारकी सुख-सम्पदा तुम्हारे पैरोंपर लोटने लगेगी । और क्या होगा जानते हो ? राम-रामके गर्जनसे यमदूतोंका भी तिरस्कार होता है । वे राम-रामके गर्जनसे डरकर तुम्हारे पास नहीं आ सकेंगे । तुम राम-राम भजो । केवल नाम लो । नाम लो—चाहे अवहेलनासे लो, श्रद्धासे लो, भक्तिपूर्वक लो, अभक्तिसे लो, खड़े-खड़े लो, बैठकर लो, लेटे हुए लो, चलते हुए लो, भोजन करते हुए लो, सुखमें लो, दुःखमें लो, हर्षमें लो, विषादमें लो, अभावमें लो, सम्पन्नावस्थामें लो, रोगमें नाम लो, नीरोगमें लो, शोकमें लो, विशोकमें लो, चञ्चलतामें लो, स्थिरतामें लो, स्वजनमें लो, विजनमें लो, प्रकाशमें लो, अन्धकारमें लो, विक्षेपमें लो, अविक्षेपमें लो, लयमें लो, अलयमें लो । बस, सब समय सभी स्थितियोंमें रामका नाम लो । फिर अब जो द्वन्द्व देखते हो, वह कुछ भी नहीं रहेगा । रहेगा केवल नाम । अधिकसे क्या आवश्यकता ? अब आरम्भ करो ।'

'ठीक है, यही करूँगा, तुम्हारा नाम ही लूँगा—'राम राम जय राम ।'

निन्दन्तु बान्धवाः सर्वे त्यजन्तु स्त्रीसुतादयः ।
जना हसन्तु मां दृष्ट्वा राजानो दण्डयन्तु वा ॥
सेवे सेवे पुनः सेवे त्वामेव परदेवते ।
त्वत्कर्म नैव मुञ्चामि मनोवाक्कायकर्मभिः ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतित पावन सीताराम ॥

* * *

कच

(लेखक—श्रीरघुनाथसिंहजी एम्०ए०, एल्-एल्०बी०, एम्०पी०)

'भगवन् !'

युवक-भावापन्न कचने अपने पूज्य पिता देवगुरु बृहस्पतिको नत-मस्तक होकर प्रणाम किया ।

'वत्स !' स्नेहमय दृष्टि पुत्रपर उठी ।

'पिताजी ! एक शङ्का है !' कचने विनम्र स्वरसे कहा ।

'कहो' बृहस्पतिकी जिज्ञासु आँखें पुत्रपर केन्द्रस्थ होने लगीं ।

'इस संसार-पिंजरसे मेरा किस प्रकार त्राण होगा ?'

'पुत्र ! मुक्तिका आधार सर्वाङ्गीण त्याग है ।'

कच गम्भीर हो गया । बृहस्पति शान्त थे । कच पिताकी चरण-रज लेकर उठा । आश्रम त्यागकर बाहर निकल पड़ा वह । बृहस्पति मुसकरा उठे ।

× × ×

'पिताजी !' चरणस्पर्श करते हुए परमविज्ञानी कच बृहस्पतिके सान्निध्यमें उपस्थित हुआ ।

'पुत्र !'

'सब त्यागकर वन जाना चाहता हूँ । मैंने यही निश्चय किया है । आज्ञा—'

'जाओ पुत्र !' बृहस्पतिने स्नेहसे कहा ।

कच चल पड़ा । बृहस्पति निर्विकाररूपसे बैठे रहे । पुत्र आँखोंके ओझल हो गया । पिताकी शान्त मुद्रामें किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ । उद्वेगहीन, संयोग-वियोग-हीन बृहस्पति अपने कार्यमें संलग्न हो गये ।

× × ×

'पिताजी !' बृहस्पतिके चरणोंकी वन्दना करते हुए कचने कहा ।

'आठ वर्षतक कहाँ थे पुत्र ?'

'भगवन् ! मैं निविड़ बनमें जाकर तपस्या करने लगा । एकान्तमें मैंने आठ वर्ष व्यतीत कर दिये ।'

'तुमने क्या पाया कच ?'

'पिताजी ! आपके कथनानुसार मैंने सर्वस्व त्याग किया; किंतु मुझे विश्रान्ति अबतक न मिली ।'

वागीश्वर बृहस्पतिने पुत्रकी बात सुनकर केवल इतना ही कहा—

'पुत्र ! सब त्याग करो—'

कचके उत्तरकी अपेक्षा न कर बृहस्पति स्वर्गकी ओर चल पड़े । कचपर उनके कथनकी क्या प्रतिक्रिया हुई, इसका भी विचार उन्होंने नहीं किया ।

पिताके प्रस्थानके पश्चात् कचने अपने वस्त्रोंका त्याग कर दिया । वल्कल धारणकर उसने वनकी एकान्त गुफामें जाकर पुनः निवास किया ।

× × ×

'पिताजी !' खिन्नमन कच पिताके समीप उपस्थित हुआ ।

'कच !' पिताकी स्नेह-दृष्टि उठी ।

पिताका पूजन कचने किया । पिताने पुत्रका आलिङ्गन किया । कचके विषादपूर्ण वचन निकले—

'भगवन् ! आपके आज्ञानुसार मैंने सब कुछका त्याग किया । मेरे पास कुछ भी नहीं रह गया है । फिर भी आत्मपथमें मुझे विश्रान्ति नहीं मिल रही है ।'

'पुत्र ! मैंने सर्व-त्याग कहा था । तुम उसका अर्थ समझ नहीं सके । 'सर्व' शब्दका अर्थ है चित्त । उस चित्तका त्याग करो । चित्तका त्याग करनेपर तुम्हें अभीष्ट पद मिल सकेगा ।'

बृहस्पति गम्भीर हो गये । कच विचारमग्न हो

उठा । चित्त-परित्यागके निमित्त कच पुनः वनमें प्रवेश किया ।

× × ×

'पिताजी !' स्वर्गमें अपने पिता गुरु बृहस्पतिके समीप पहुँचकर कचने प्रणाम किया । पिताको एकान्तमें पाकर कचने कहा——

'भगवन् ! मैंने वनमें चित्तको बहुत ढूँढ़ा । अनेक प्रकारसे विचार किया; किंतु चित्तके स्वरूपका मुझे कुछ पता नहीं चला ।'

बृहस्पतिकी मुद्रा गम्भीर हो गयी ।

'पिताजी ! आपने जिस चित्तके त्यागकी बात कही है उस चित्तका स्वरूप क्या है । बिना रूप जाने मैं उसका कैसे त्याग करूँगा ?'

'वत्स ! चित्त-वित्तके पण्डित 'अहंकार'को ही चित्त कहते हैं । जीवके अन्तस्तलके अहंभावका——'मैं' इस प्रकारके ज्ञान एवं अभिमानका नाम ही चित्त है ।'

'अहंकाररूप चित्तका स्वरूप क्या है ? उसका त्याग कैसे कर सकूँगा मैं'——कच गम्भीर हो उठा ।

'तनय ! अहंकारका त्याग, फूल तोड़ने एवं आँख मूँदनेसे भी सरल है । अहंकार मिथ्या है । इसकी उत्पत्ति भ्रमद्वारा हुई है । अप्रबुद्ध बालक परछाँईमें भूत, रस्सीमें सर्प, मरुस्थलमें जल एवं आकाशमें भ्रम-द्वारा दो शशि-बिम्ब देखता है, ठीक उसी प्रकार अहंकारकी उत्पत्ति प्रमादके कारण हुई है । वह वास्तवमें न सत् है, न असत् ! चेतन सत्ता आकाशसे भी निर्मल है । ज्ञान-स्वरूप सभी स्थानोंमें विद्यमान है । लहरें जिस प्रकार अपने किसी भी रूपमें केवल जल ही है, उसी प्रकार केवल चेतन ही सबमें, सर्वदा सर्व प्रकार प्रकाश-स्वरूप वर्तमान रहता है । उस चेतन सत्तासे अहंकार उत्पन्न नहीं होता ।'

कचकी चकित दृष्टि पिताके पवित्र मुखमण्डलपर स्थिर हो गयी ।

'पुत्र !'–बृहस्पतिने कहा——'मैं, तुम, वह आदिका यह स्वरूप केवल भ्रममात्र है । भ्रमका सृजन है । इस प्रकारका तुच्छ, परिमित भ्रान्त-ज्ञान दिक् एवं कालके वशीभूत है । वास्तवमें तुम दिक्, कालादिसे अपरिच्छिन्न, स्वच्छ, नित्योदित, विशाल, सर्वमय एवं एकमात्र निर्मल चैतन्य हो । चारों ओर फैले फल, कुसुम तथा पल्लवादिका एकीभावापन्न रस जिस प्रकार मधु होता है, उसी प्रकार तुम इस जगत्-समूहके सार, आनन्दमय, चैतन्यरूप अवस्थित हो । तुम निर्मल एवं सर्वदा अनन्तचिदात्मा हो ।'

द्रष्टा, दृश्य, दर्शन जैसे कचकी आँखोंके सम्मुख एकाकार होने लगे ।

'वत्स !'–बृहस्पतिने पुनः कहा——'तुम स्वयं सत्ता-स्वरूप हो । फिर तुममें अहंभावका ज्ञान कैसा ?'

कचकी मुद्रा अत्यन्त गम्भीर थी । वह जीवन-मुक्त-सा शान्त बैठा रहा ।

'सुनो'–बृहस्पतिने गम्भीरतापूर्वक कहा——'अहंकार एवं ममताका त्याग ही वास्तविक त्याग है । वस्तुकी इच्छा होनेपर उसे इसलिये ग्रहण न करना कि उसका त्याग करना है । यह त्याग नहीं है । यह आत्म-प्रवञ्चना है——धोखा है । वासना करना किंतु ग्रहण न करना त्याग नहीं, त्यागका दिखावा है । वासनाका त्याग होनेपर अहंकार एवं ममताका यथार्थ त्याग होगा पुत्र !'

कचने पिताके चरणोंपर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मस्तक रख दिया ।

× × ×

भगवच्चरणोंकी शरणागति

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

अनन्त करुणामृतसिन्धु समस्त-कल्याणगुणगणार्णव अकारणकरुण दीनवत्सल प्रभुकी करुणाके लिये वस्तुतः कोई उपयुक्त शब्द नहीं—सपूत, पवित्र, अनुभवी, विरक्त संत-महानुभावोंकी संतवाणी है—'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती'। जीवके अत्यन्त साधारण भावमय तृण, जलांकुरके अर्पणसे प्रसन्न होकर वे अपने-आपको तत्काल ही उसके हाथ बेच देते हैं। अन्यथा पूर्णतम पुरुषोत्तम, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक, अगजगदैकनाथ, आप्तकाम, आत्माराम, परमनिष्काम, निजलाभपूर्ण प्रभुके सामने इन तुच्छ सपर्याओंका क्या मूल्य, क्या कीमत है? सच्ची बात तो यह है कि इन तुच्छ जल-तृणांकुरको स्वीकार करनेमें एकमात्र उन करुणावरुणालयकी अलौकिक करुणा ही कारण है, अन्यथा वैसी अर्हणा, सपर्याकी तो एक अत्यन्त साधारण धनी, मानी पुरुष भी उपेक्षा करेगा—

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।
(श्रीमद्भा० ७ । ९ । ११)

किंतु अपनी असीम कृपाके कारण ही प्रभु हमारी तुच्छ सपर्याको स्वीकारकर हमें उसके बदले अनन्तानन्तगुणा योगक्षेमके साधनों एवं अन्यान्य हमारे कल्याणकी भक्ति, विराग, ज्ञानादि वस्तुओंको, यहाँतक कि अपने-आपतकको दे डालते हैं—

यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः।

अर्थात् प्राणी जिन-जिन सपर्याओंका प्रभुके लिये विधान करता है, वे ठीक उसे यों ही प्राप्त होती हैं, जैसे अपने सिर-ललाटादिके आभूषण दर्पणस्थ पुरुषके प्रतिबिम्बको प्राप्त हो जाते हैं। ऐसी दशामें बुद्धिमत्ता इसीमें है कि हम अति शीघ्र—इसी क्षण इन अपार कारुण्य, सौशील्य, वात्सल्य, औदार्य-महोदधि प्रभुके चरणोंकी सर्वतोभावेन शरण लें और सदा-सर्वदा नित्य-निरन्तर एकतानतापूर्वक उनके वरद पादपद्मकिंजल्कके कातर भावसे ध्यान-स्मरणमें ही तल्लीन होकर अपने श्वास-प्रश्वासको सफल बनायें।

अपने परम कल्याणकारी शास्त्रों तथा योगज ऋतम्भरा प्रज्ञासम्पन्न, त्रिकालदर्शी, सर्वज्ञकल्प ऋषि-मुनियों, संत-महात्माओं, वीतराग, निःस्पृह अनुभवी भक्तोंने हमारे कल्याणके लिये भगवान्‌के स्मरण, वन्दन, ध्यानका जो लोकोत्तर हृदयहारी वर्णन किया है, वह भी मननीय है।

'करामलकवद्विश्वं',

'जानहिं तीनि काल निज ग्याना'

—जैसे विरक्त संतोंका कहना है कि सभी पातकोप-पातकोंसे लिप्त प्राणी भी यदि निमेषमात्रके लिये एकाकार वृत्तिसे कातरभावसे मनोयोगपूर्वक भगवच्चरणोंका ध्यान करे तो वह महान् तपस्वी तथा पंक्तिपावनोंको भी पवित्र करनेवाला परम पूत, पवित्रताकी मूर्ति ही बन जाता है—

सर्वपातकयुक्तोऽपि ध्यायेन्निमिषमच्युतम्।
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः॥

गीताके—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(९ । ३०-३१)

—आदि श्लोकोंका भी यही भाव है। पद्मपुराण इस अचिन्त्याद्भुत तत्त्वका वर्णन करता हुआ

कहता है कि जिसने भगवन्नामका उच्चारण किया, उसने कुरुक्षेत्र, काशी, गया, द्वारका आदि सारे तीर्थ कर लिये—

कुरुक्षेत्रं तथा काशी गया वै द्वारका तथा।
सर्वतीर्थं कृतं तेन नामोच्चारणमात्रतः॥

(उत्तरखण्ड ७२ । २२)

श्रीराम-राम जप करनेवाला चाण्डाल भी पवित्र हो जाता है—

राम रामेति रामेति रामेति च पुनर्जपन्।
स चाण्डालोऽपि पूतात्मा जायते नात्र संशयः॥

(उत्तरखण्ड)

'गरुडपुराण' कहता है कि नूतन जलधरकी कान्तिवाले भगवान् श्रीकृष्णको एक बार भी हृदयसे भावपूर्वक किया गया प्रणाम चाण्डालको भी तुरंत सिद्ध बना सकता है—

कृष्णे स्फुरज्जलधरोदरचारुकृष्णे
लोकाधिकारपुरुषे परमप्रमेये।
एको हि भावगुणमात्रदृढप्रणामः
सद्यः श्वपाकमपि साधयितुं प्रशक्तः॥

(पूर्वखण्ड २२० । ५)

गोस्वामीजी कहते हैं—

स्वपच सबर खस जमन जड़ पामर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात॥
आभीर जवन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे।
कहि नाम बारक तेऽपि पावन होत राम नमामि ते॥

श्रीमद्भागवत कहता है—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

(२ । ४ । १८)

'अग्निपुराण' कहता है कि एक मुहूर्त या आधी घड़ी भी श्रद्धापूर्वक भगवान्का ध्यान किया जाय तो प्राणी सर्वोत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है—

एकं मुहूर्तमर्धं वा ध्यायेद् यः श्रद्धया हरिम्।
सोऽपि यां गतिमाप्नोति न तां सर्वैर्महामखैः॥

(७४ । ६)

'स्कन्दपुराण' कहता है कि जो क्षणमात्र भी भगवान्का निश्चल तथा शान्तभावसे ध्यान करता है, उसे सभी सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती हैं, यह निश्चय है—

नितान्तं कमलाकान्ते शान्तचित्तं विधाय यः।
संशीलयेत् क्षणं नूनं कमला तत्र निश्चला॥

(काशीखण्ड २१ । ५८)

'गरुडपुराण' कहता है कि यदि स्वप्नमें भी भगवान्का नाम स्मरण हो जाय, उच्चरित हो जाय तो अक्षय पापराशिका क्षय कर डालता है, फिर प्रत्यक्ष तल्लीनतापूर्वक जप किया जाय तो कहना ही क्या ?—

स्वप्नेऽपि नाम स्पृशतोऽपि पुंसः
क्षयं करोत्यक्षयपापराशिम्।
प्रत्यक्षतः किं पुनरत्र पुंसां
प्रकीर्तिते नाम्नि जनार्दनस्य॥

(पूर्वखण्ड २२१ । १३)

'पद्मपुराण'का कहना है कि जो मनमें सदा राम-राम जपते हैं, उन्हें सभी युगोंमें सभी अर्थोंकी सिद्धि होती रहती है—

राम रामेति रामेति मनसा ये जपन्ति च।
तेषां सर्वार्थसिद्धिश्च भविष्यति युगे युगे॥

(उत्तरखण्ड १४३ । ८)

जो सदा भक्तिभावसे नारायणका स्मरण करते हैं, उनकी ब्रह्मादि देवगण सदा पूजा किया करते हैं—

ये जपन्ति सदा भक्त्या देवं नारायणं प्रभुम्।
तानर्चयन्ति सततं ब्रह्माद्या देवतागणाः॥

(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड)

× × × ×

सुर-तीरथ तासु मनावत आवत,
पावन होत हैं ता तनु छ्वै।
गुनगेहु सनेहको भाजनु सो
सब ही सों उठाइ कहौं भुज द्वै।

सतिभायँ सदा छल छाड़ि सबै
'तुलसी' जो रहै रघुबीरको ह्वै ॥
(कवितावली उत्तरकाण्ड ३४)

सचमुच जिन्हें भगवान्‌के इस अपार, अतुल्य, निस्सीम, कारुण्य, औदार्य आदिका लेशमात्र भी ज्ञान हो गया है, उन्हें भगवद्भजन छोड़कर और कुछ भी अच्छा नहीं लग सकता—

'उमा राम स्वभाव जेहि जाना ।
ताहि भजनु तजि भाव न आना ॥'

वह तीनों लोकोंकी सम्पत्ति प्राप्त होनेपर भी क्षण-मात्रतकका भजनका व्यवधान सहन नहीं कर सकता—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दात्
.... ॥
(श्रीमद्भागवत ११)

कहते हैं कि गर्भावस्थामें प्राणीको अनन्त जन्मोंका ज्ञान होता है और वह प्रतिज्ञा करता है कि अब मैं आगेसे प्रतिक्षण भगवत्-ध्यान ही करूँगा—

'पुनि बहुबिधि गलानि जिय मानी ।
अब जग जाइ भजब चक्रपानी ॥'

श्रीशुकदेवजीने श्रीमद्भागवतमें तथा श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने विनय-पत्रिकामें इसका बड़ा ही वैराग्यमय चित्रण उपस्थित किया है । गरुडादि पुराणोंमें गर्भगत प्राणीका पश्चात्ताप मिलता है । बात भी वैसी ही है । साधारण कष्टोंमें भी प्राणी जब भगवान्‌को स्मरण करता है और—

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन् ।
ततः सद्यो विमुच्येत ।
हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम् ।
जपहिं नाम जन आरत भारी ।
मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ॥

—आदिके अनुसार उसकी विपत्ति तत्काल ही किनारे लग जाती है, तो उस समयकी वह गर्भगत प्रार्थना, भावनाकी पुनरावृत्ति करता है, किंतु उसका अज्ञान, मायाका प्राबल्य तथा भावी हर्ष इस विचारको ले डूबते हैं तथा बेचारे प्राणीका संकल्प तत्काल भङ्ग हो जाता है, किंतु जो अधिक अन्तर्मुख हो चुके हैं, जिनको भगवत्कृपासे इसका बार-बार अनुभव हुआ है, जिन्हें इस संसारकी आपातरमणीयता एवं वस्तुतः भारी भयंकरताका पता लग गया है, जिन्हें अपने जरा, मृत्यु एवं भयंकर संसृतिका भय बना हुआ है, साथ ही भगवान्‌के उपर्युक्त स्वभावका भी ज्ञान है, वे तो अहर्निश प्रभुके पादपद्म-किंजल्कोंके ध्यान, स्मरण तथा अत्यन्त दीनतापूर्वक शरणागतिके ही प्रयत्नमें लगे रहते हैं ।

असलमें जिस प्रकार अत्यन्त तृषातुर प्राणी जलका स्मरण करता है, शीतार्त प्राणीको अग्निका ध्यान होता है, भयार्तको शरणदाता तथा छिपनेलायक स्थानका ध्यान होता है, चातकको मेघका ध्यान होता है और हंसोंको मानसरोवरका स्मरण रहता है, उसी प्रकार हम सब प्राणियोंको नित्य निरन्तर, सदा-सर्वदा, प्रतिपल, प्रतिक्षण, प्राणोंके भी प्राण, जीवके भी जीव अपने प्रभुका स्मरण करना चाहिये* अथवा जिस प्रकार

---

* प्रान प्रानके जीव के जिव सुख के सुख राम ।
सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता । आनँदहू के आनँद दाता ॥
हरिर्हि साक्षाद्भगवान् शरीरिणामात्मा झषाणामिव तोयमीप्सितम् ।
(श्रीमद्भा० ५ । १८ । १३)
कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरेरुपासने स्वे हृदि छिद्रवत् सतः ।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां .... ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ७ । ३८)
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् । (श्वेताश्वतरोपनिषद्)

इससे प्रभुका परम प्राणत्व तथा परम आत्मत्व सर्वथा सिद्ध है । इस निमित्त भी वे हमारी परम आत्मा या हमारे परमात्मा हैं और बराबर भजन करनेसे हम उन्हें सर्वथा प्राप्त कर लेते हैं ।

कामी पुरुष स्त्रीको, कृपण पुरुष अपने धनको, भ्रमर पुष्पको, चक्रवाक सूर्यको, तिमिराच्छन्न प्रकाशेच्छु दीपकको और श्रमार्त मनुष्य विश्रामका ध्यान करता है, इसी प्रकार मुमूर्षु पुरुषको अपने परम प्रियतम परम हितैषी प्रभुका ध्यान करना चाहियें । अथवा निरालस्य, विद्याप्रेमी विद्यार्थी अपने विद्याका, हाथी पार्वतीय भूमिका, पतिव्रता स्त्री अपने पतिका, अजातपक्ष खग अपनी पक्षिणी माताका, वत्सतर शिशु अपनी माताके स्तनका और पशु तृणका तथा प्यासा जलका चिन्तन करता है, उसी प्रकार हमें सम्पूर्ण शक्ति व्ययकर--अपने सर्वस्वकी बाजी लगाकर एकतानतापूर्वक प्रभुका चिन्तन करना चाहिये । †जिस प्रकार कर्पूरखण्डोंको काट-काटकर कोदोंकी रक्षा करना उसका अत्यन्त दुरुपयोग है, सोनेकी हलसे पृथ्वीको जोतकर विष वपन करना या आक बोना सुवर्ण हलका दुरुपयोग है, वैदूर्यमयी कड़ाहीमें चन्दनकी आँच लगाकर लहसुन पकाना अत्यन्त मूर्खता है, घरमें निधिका निरादर कर श्वानकी सेवा करना बड़ी बेढंगी चूक है, उसी प्रकार मनुष्य-शरीरको पाकर इसका अन्यत्र उपयोग भी बहुत बड़ी बेढब भूल है, बड़ी-से-बड़ी हानि है, सबसे बड़ा दुर्भाग्य है।*इसी कारण प्रह्लादका यह शास्त्रसम्मत, संतसम्मत उपदेश था कि बाल्यकालसे ही सर्वस्व परित्याग कर हम सीधे भगवच्चरणोंकी शरणमें चले जायँ और सब छोड़कर तथा सभी धर्मों-कर्मोंको सादर प्रणाम कर केवल भगवान्का ही स्मरण-ध्यान करें । गीताके—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'
'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर'

मानसके——

स्रुति सिद्धांत इहइ उरगारी ।
राम भजिअ सब काम बिसारी ॥

---

†(क) सुनु सठ परम कृपनके धन ज्यों पुनि पुनि प्रभुहि संभारहि।
(विनय-पत्रिका)

(ख) कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥
(श्रीरामचरितमानस)

(ग) अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥
(श्रीमद्भा० ६ । ११ । २६)

(घ) इस विषयमें पद्मपुराण उत्तरखण्डका साक्षात् शिवोक्त वचन है—

दृष्ट्वा तत्त्वेन देवेशि स्मराम्येनं तु नित्यशः ।
तृषातुरो यथैवाम्भस्तद्वद् विष्णुं स्मराम्यहम् ॥
हिमेनाकुलितं विश्वं स्मरत्यग्निं यथा तथा ।
पुत्रकामो यथा पुत्रं तथा विष्णुं स्मराम्यहम् ॥

आदि १२८ वाँ अध्याय सम्पूण ही देखना चाहिये ।

*(क)
छित्त्वा कर्पूरखण्डानि कोद्रवाणां च रक्षणम् ।
सौवर्णलाङ्गले भूमिरर्कमूलस्य हेतवे ॥
स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां हि पच्यते लशुनं यथा ।
निधानं च गृहे क्षिप्त्वा शुनः सेवां कथं चरेत् ॥
त्यक्त्वा वैकुण्ठनाथं तमन्यमार्गे कथं रमेत् ।
(पद्म० उत्तर० १२८ । ९९-१०१)

(ख)
स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां पचति स लशुनं हीन्धनैश्चन्दनौघैः
सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः ।
छित्त्वा कर्पूरखण्डान् वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्तात्
प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः ॥
(भर्तृहरिनीतिशतक १००)

(ग)
करषा तजि कै परुषा, बरषा, हिम, मारुत, घाम सदा सहि कै ।
जो भजै भगवानु सयान सोई तुलसी हठ चातकु ज्यों गहि कै ॥
न तु और सबै बिष बीज बए हर हाटक, कामदुहा नहि कै ।

(घ)
इयमेव परा हानिरुपसर्गोऽयमेव हि ।
अभाग्यं परमं चैतद् वासुदेवं न यत्स्मरेत् ॥
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते ।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिःसैव विक्रिया ॥
हानि कि जग एहि सम कछु भाई ।
भजिअ न रामहि नर तनु पाई ॥

आदि श्रुति-स्मृति-संतसम्मत वाक्योंका भी यही भाव है।

भगवान् शंकरका—

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती।
सादर जपहु अनँग आराती॥

अहं भवन्नाम जपन् कृतार्थो
वसामि काश्यामनिशं भवान्या॥
दृष्ट्वा तत्त्वेन देवेशि स्मराम्येनं तु नित्यशः।

यह आदर्श ही हमारा कर्तव्य होना चाहिये। अन्यथा इस दुर्युगमें अन्य सत्कर्मोंका दुराग्रह सिद्ध होना दुष्कर ही है; साथ ही इन स्वर्णिम क्षणोंके श्रेष्ठोपयोगसे भी हम वञ्चित होने लगते हैं, जिसका हमें महान् पश्चात्ताप होगा। इसलिये हमें ध्रुव आदिकी भाँति भगवान् तथा अन्य सभीसे भी भगवत्स्मृतिकी ही इच्छा तथा याचना करनी चाहिये।*

आप कितने भाग्यशाली हैं

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरण महेन्द्र, एम्० ए०)

चाहे आप जैसी स्थितिमें क्यों न हों, आपको ऐसी अनेक वस्तुएँ या गुण अपने अंदर मिल जायँगे, जो दूसरोंके पास नहीं हैं। आपकी ये चीजें आपको दूसरेकी अपेक्षा उन्नत, भाग्यशाली और उच्च बनाती हैं। एक उदाहरण लीजिये——

एक बार हैराल्ड एबोट नामक एक व्यक्तिकी अपने सम्पूर्ण जीवनकी कमाई नष्ट हो गयी; ऋण चढ़ गया, जिसे साफ करनेमें उन्हें सात वर्षोंकी आवश्यकता थी। वे नयी दूकान खोलनेके लिये और रुपया कर्जा लेने जा रहे थे। मन आर्थिक चिन्ताओंसे भरा हुआ था। किस प्रकार ऋण उतरे? गृहस्थीका कार्य कैसे चले? सामाजिक प्रतिष्ठा कैसे कायम रहे? वे एक पराजित व्यक्तिके समान दुखी हुए भारी मनसे सड़कपर चले जा रहे थे कि उन्हें सड़कके किनारे बैठा हुआ एक व्यक्ति मिला, जिसके टाँगें नहीं थीं। कट गयी थीं। वह हाथोंके सहारे चलता था। उसने हैराल्ड साहबका हँसते हुए स्वागत किया। उसने हृदयका उत्साह और प्रसन्नता उँडेलते हुए कहा——'नमस्ते, क्या सुहावना प्रभात है। कहिये, अच्छे तो हैं?' इस व्यक्तिके प्रसन्न जीवनने, भीषण कठिनाई तथा अङ्गभङ्गमें भी उल्लास और हर्षसे परिपूर्ण जीवनने उनका जीवन बदल दिया। उन्हें अपनी चिन्तापर आत्मग्लानि प्रतीत हुई। उन्हें प्रतीत हुआ कि उनकी टाँगें परमेश्वरका कितना बड़ा वरदान थीं। उन्हें अपनी निराशा और चिन्तापर हार्दिक क्षोभ हुआ। इन्होंने सोचा कि जब वह कटी हुई टाँगोंवाला गरीब व्यक्ति प्रसन्न, उल्लसित हो सकता है और जीवनका रस लूट सकता है, तो वे तो उससे भी अधिक अंशोंमें मजा ले सकते हैं। इस भावने उनकी चिन्ताको उल्लासमें बदल दिया और वे उन सम्पदाओंको देखने लगे, जो अब भी उनके पास परमेश्वरकी देनके रूपमें सुरक्षित थीं।

आप स्वयं देखिये——क्या आपका स्वास्थ्य वह चीज नहीं है कि आप उसके ऊपर गर्व कर सकें। आपका घर, परिवार, वस्त्र इत्यादि यदि कीमती नहीं हैं, तो न

---

*स राजराजेन वराय चोदितो ध्रुवो महाभागवतो महामतिः। हरौ स वव्रेऽचलितां स्मृतिं यया तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः॥
(श्रीमद्भा० ४ । १२ । ८)

देहु काम रिपु राम चरन रति। तुलसिदास प्रभु हरहु भेदमति॥

सही, क्या परवा है ? आपकी आय यदि थोड़ी है तो कोई हर्ज नहीं । उन गरीबोंको देखिये जो रोज मजदूरीसे पेट पालते हैं । रुपया जोड़कर क्या कीजियेगा ? आगे आपके बाल-बच्चे आपकी सहायता करेंगे । फिर क्यों चिन्ता करते हैं ?

हमारे जीवनमें नब्बे प्रतिशत बातें ठीक हमारे स्वभावके, हमारे पक्षके, हमारी सुख-सुविधा, प्रसन्नतालाभके लिये होती हैं । केवल दस प्रतिशत ऐसी होती हैं, जिनके विषयमें हमें कुछ सोचनेकी आवश्यकता है, चिन्ताकी नहीं । हमें प्रसन्न होनेके लिये इस बातकी जरूरत है कि हम अपने पक्षकी इन नब्बे प्रतिशत भाग्यशाली चीजोंको देखें और उनपर चित्तको एकाग्र करें और दस प्रतिशत विपक्षकी वस्तुओंको त्याग दें । उनके बारेमें न सोचें ।

अपने अभावका, अपनी कमजोरियोंका, अपने पास जो-जो वस्तुएँ नहीं हैं उनका, चिन्तन करना, अपनी उत्पादक और सृजनात्मक शक्तियोंका क्षय करना है ।

बिगड़ी बात बनायी जाय

जो-जो हानियाँ, दुःख, तकलीफें आप जीवनमें उठा चुके हैं, उन्हें लेकर झींकने-कलपने या आँसू बहानेसे कोई लाभ नहीं है । हानिपर दुःख और निराशा तो हर एक व्यक्ति प्रकट कर सकता है । रोना, चीखना और कायरता दिखाना तो मामूली-सी बात है ! महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि हानिसे अधिकतम लाभ उठाया जाय; बिगड़ी बातको बनाया जाय; टूटेको दुरुस्त किया जाय; रूठेको मनाया जाय और अणु-अणु एकत्रित कर विशृङ्खलित चीजको सम्पूर्ण बनाया जाय । बिगड़ीको बनानेके लिये बुद्धि और चातुर्यकी आवश्यकता है । हानिपर रोनेके लिये आलस्य, कायरता और मूर्खताकी जरूरत है । फिर क्यों मूर्ख बनें ? क्यों न अपनी चिन्ताके कारणको दूर कर उसे आशा, उत्साह और प्रेरणामें परिवर्तित कर लें ।

सूर और मिल्टन अन्धे हो गये थे, किंतु उन्होंने अपने अन्धेपनका सदुपयोग किया और अन्तश्चक्षु खोल लिये । बड़े भारी कवि बने । कर्ण और ईसामें वंशकी कमी थी; अष्टावक्र, चाणक्य और सुकरातमें शारीरिक सौन्दर्यकी कमी थी; नेपोलियन और हिटलरके धन और पारिवारिक प्रतिष्ठाकी कमी थी; ध्रुव, बुद्धको सम्बन्धियोंके प्रेमकी कमी थी, लेकिन ये महापुरुष इन कमजोरियों और सामाजिक त्रुटियोंके बावजूद कभी चिन्तित नहीं हुए । इन्हें कितनी कठिनाइयाँ और प्रतिद्वन्द्व मिले, कितने कष्ट मिले, लेकिन अपनी दृढ़ता, आत्मशक्ति एवं सतत उद्योगके द्वारा इन्होंने चिन्ता और नैराश्यभावनाको समीप न आने दिया । ये कष्टदायक परिस्थितियोंमें भी महान् बने ।

फिर आप क्यों अपनी मामूली-सी बातोंके लिये चिन्तित हैं ? क्यों आप तिलका ताड़ बनाते हैं ? ऊपर लिखे व्यक्तियोंके मुकाबलेमें आपकी चिन्ताका कारण कुछ भी तो नहीं है । व्यर्थकी चिन्ता त्याग दीजिये ।

दूसरोंको प्रसन्न करनेका उद्योग करें

चिन्तासे मुक्तिका एक उपाय यह है कि आप अपने-आपको दूसरोंकी प्रसन्नता, सेवा, सुख पहुँचानेमें अपने दुःख-कष्टोंको विस्मृत कर दें । आप अपने मित्रोंकी संख्या निरन्तर बढ़ायें और उनमें उनके हास्य-रुदन, जीवनके सब प्रसङ्गोंमें तन्मय हो जायँ ।

सेवाका मार्ग ढूँढ़ निकालें । संसारमें पीड़ित, रोगी, निरालम्बोंकी कमी नहीं है, जो आपकी सहायताके लिये खड़े हैं । उन्हें प्रोत्साहन देनेवाले पत्र लिखिये, मुसकराकर बातें कीजिये, उनके काममें दिलचस्पी दिखाइये । अपनी रुचि तथा दिलचस्पीको दूसरोंमें जोड़ लेनेसे मनुष्य अपनी चिन्ताएँ भूल जाता है । आप अपने कुटुम्बके बच्चोंकी शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरञ्जनमें

दिलचस्पी ले सकते हैं, अपनी पत्नीके आत्म-विकास, शिक्षा, कारीगरी, कढ़ाई-बुनाई या भोजनके प्रति प्रोत्साहन देकर उन्हें आगे बढ़ा सकते हैं। मनुष्यको इस पृथ्वीपर कुटुम्बसे जो सहानुभूति, समवेदना, मधुरता और प्रेमका प्रतिदान प्राप्त हो सकता है, वह चिन्ताके बोझको हल्का कर देता है। अतः प्रतिदिन आप एक ऐसा भला कार्य किया करें, जिससे किसी दूसरे व्यक्तिके मुखपर प्रसन्नता आये और उसे आन्तरिक सुख उत्पन्न हो। दूसरोंमें दिलचस्पी लेकर अपनी चिन्ता दूर करें।

समाजकी सेवा

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

[१]

वे विद्यापीठके स्नातक हैं। विद्यापीठकी शिक्षाकी सफलता ही है समाज-सेवामें। देश-सेवाकी प्रबल प्रेरणाने ही इस संस्थाकी नींव रक्खी और देशके स्वाधीनता-संग्राममें इसके शिक्षकों एवं छात्रोंने कितना बलिदान किया, यह तो देश भली प्रकार जानता ही है। वे उस गौरवमयी संस्थाके स्नातक हैं। देश-सेवा उनका स्वभावगत गुण होना ही चाहिये।

दुबला-पतला साँवला शरीर, हँसता-सा गोल मुख, घुँघराले सँवारे केश, नेत्रोंपर चश्मा, कलाईमें बँधी घड़ी, पैरोंमें चप्पल—दूध-सी उजली सफेद खादी तो समाज-सेवकका पवित्र वस्त्र है। आप उन्हें एक बार देख लें तो सहज ही भूल नहीं सकते। बड़ा मिलनसार स्वभाव है। बड़ी विलक्षण प्रतिभा है। वक्तृत्व-शक्तिकी तो पूछिये ही मत। जिसमें वक्ता बननेकी योग्यता नहीं होगी, वह समाजकी सेवा कैसे करेगा। वे तो साधारण बातचीतमें भी चुटकियाँ लेते, उपदेश देते, व्याख्यान-से ही देते चलते हैं।

बलिदान—देशके लिये बलिदानकी पुकार गूँजती थी उनके कानोंमें। आज नहीं गूँजती सो मैं नहीं कहता; किंतु उस समय युग ही दूसरा था। लाठी, गोली, जेल—विदेशी सरकार अपनी पूरी शक्तिसे दमनपर उतर आयी थी। देशने चुनौती स्वीकार कर ली थी। वे उस समय एक पूरे जिलेके आन्दोलनका नेतृत्व कर रहे थे। पूरे तीन बार उन्हें जेल जाना पड़ा। कोई ऐसी कठिनाई नहीं, जिसे उन्होंने न उठाया हो।

आजकी बात अब दूसरी है। आज वे चाहते तो किसी उच्च पदपर होते। मित्रोंने उनसे चुनावमें खड़े होनेका आग्रह भी किया था और सफलता तो निश्चित ही थी। वे प्रारम्भसे विचित्र स्वभावके रहे हैं। मित्रोंको उन्होंने दो टूक उत्तर दे दिया—'मैं शासक नहीं, सेवक रहा हूँ। सेवक ही रहना चाहता हूँ।'

'वहाँ आप अधिक सेवा कर सकेंगे।' यह तर्क भी आया था। इसकी उपयोगिता और महत्ता वे न समझते हों, ऐसा नहीं है; किंतु उनका निश्चय कभी ढीला नहीं पड़ा करता। उनका दृष्टिकोण भी महत्त्वपूर्ण है—'जनताको अधिकारियोंसे भी अधिक उस सेवककी अपेक्षा है जो उसके बीच रहकर उसकी सेवा करे।'

'जनताके बीच रहकर जनताकी सेवा।' यहाँसे वहाँ दौरा करने और व्याख्यान देनेको ही तो जन-सेवा कहा जाता है। समाजकी सेवाका दूसरा क्या रूप हो सकता है? यह रूप आवश्यक नहीं है, महत्त्वपूर्ण नहीं है, यह कहेगा भी कौन।

'जनताको, देशको आज नेता नहीं, अच्छे नागरिक चाहिये।' उन्होंने स्वयं भी अपने सम्मान्य नेताकी इस पुकारको कई बार दुहराया है । आज ही क्यों उनके मनमें यह आ रहा है—'तू भी तो नेता है ?'

'आपलोग सेवक हैं या नेता ?' एकने एक दिन पूछा था उनसे । 'यह सेवकका वेश है ? आप क्या सोचते हैं कि व्याख्यान देते घूमनेसे समाजकी सेवा हो जाती है ?'

'हमारी सेवा साधारण घरेलू सेवकसे दूसरे प्रकारकी है ?' उस दिन उन्होंने हँसकर उत्तर दे दिया था—'हम स्वच्छता, सावधानी, अनुशासन, विद्याका प्रचार करते हैं । स्वयं हम इन्हें न रक्खें तो लोग सीखेंगे कैसे । हम जनताके विचारोंको जाग्रत् एवं परिमार्जित करते हैं । ठीक दिशा दिखाना और उधर चलनेकी प्रेरणा देना हमारा काम है । यही हमारी सेवा है । जन-जागरणसे अधिक महत्त्वकी समाज-सेवा और क्या होगी ?'

कोई उनसे बहस करके कहाँ पार पा सकता है । लोगोंके अटपटे तर्कोंका उत्तर देना तो उनकी सेवाका एक मुख्य अङ्ग ही है । लेकिन बूढ़े महात्माजीने जो आत्मनिरीक्षण, आत्मशोधनकी प्रबल प्रेरणा दी थी—किसी दूसरेने उसे कितना ग्रहण किया, यह कहना तो कठिन है; किंतु उन्होंने उसे बड़ी गम्भीरतासे ग्रहण किया था । वह प्रेरणा ही उन्हें राजनीतिक क्षेत्रमें ले आयी थी, यह कहना कुछ असंगत नहीं होगा । समाज-सेवाको उन्होंने एक साधन माना था आत्मशुद्धिका । वे देश-सेवा—जनता-जनार्दनकी सेवा करने आये थे । वह आत्मशोधनकी प्रेरणा उनके भीतर कभी मन्द भले पड़ी हो, प्रसुप्त नहीं हुई और आज पता नहीं क्यों वह जग पड़ी है ।

'व्याख्यान देनेसे ही समाजका कल्याण हो जायगा ? यही समाज-सेवा है ?' एक दिन ऐसे प्रश्नोंका वे हँसकर उत्तर देते थे । आज जब कोई प्रश्नकर्ता नहीं है, आज जब सर्वत्र उनके स्वागतमें भीड़ जयध्वनि करती, मालाएँ सजाये खड़ी रहती हैं, यह प्रश्न उनके मनमें प्रबल क्यों होता जा रहा है ? उनके भीतर बैठकर कौन उनसे इतने तीखे स्वरमें बार-बार पूछता है, इसका कोई समाधान वे कर नहीं पाते ।

'हम स्वच्छता, सावधानी, अनुशासनका प्रचार करते हैं । हम स्वयं इन्हें न रक्खें तो लोग सीखेंगे कैसे ।' आज उनका यह स्वयंका उत्तर जैसे उनके मस्तिष्कमें धधककर जल उठा है ।

'कितनोंने हमारे व्याख्यानोंसे स्वच्छताकी शिक्षा ली ? कितनोंने सावधानी सीखी ? कितनोंने अनुशासनका पालन करना अपनाया ?' निराशासे सिर झुक गया उनका ।

'स्वयंसेवक मेरे-जैसे बाल रखते हैं । मेरे समान नंगे सिर रहते हैं । यही चप्पल पहिनते हैं । यह घड़ी न सही—घड़ी बाँधते हैं ।' उन्होंने कभी इस बातपर गर्व किया था कि लोग रहन-सहनमें उनका अनुकरण करने लगे हैं । उनके-जैसी धोती पहिनना, वैसा ही कुरता बनवाना, कुर्तेके ऊपरका बटन उन्हींके समान खुला रखना—अब तो ग्रामोंके साधारण लोग भी कुछ बातोंमें उनका अनुकरण करते हैं ।

'उनमें अनेक त्रुटियाँ हैं । वे बोलनेमें कुछ गर्दन एक ओर झुकाकर बोलते हैं, चलनेमें हाथ अधिक हिलाते हैं । हाथ धोनेमें............रहने दीजिये त्रुटियोंकी बात । त्रुटियाँ किसमें नहीं होतीं; किंतु यह है क्या ? उनकी त्रुटियाँ इतनी व्यापक क्यों होती जा रही हैं ? लोग त्रुटियोंमें उनकी ठीक-ठीक क्यों नकल करते हैं ?

'मैं क्या कर रहा हूँ ? मुझसे समाजकी कौन-सी

सेवा हो रही है !' वे सिर पकड़कर बैठ गये हैं आज । 'उनके उपदेशों, व्याख्यानोंका क्या प्रभाव ? उन्होंने समाजको दोष—अपने दोष ही तो बाँटे । लोगोंने उनके दोष-ही-दोष लिये !'

व्यापक—व्यापक होते जा रहे हैं उनके दोष । जैसे सम्पूर्ण दिशाएँ, पूरा आकाश मैला, घिनौना होता जा रहा है उनके दोषोंसे । उन्होंने नेत्रोंपर हाथ रख लिये । कोई वज्र-कर्कश स्वरमें पूछ रहा है उनसे—'तू समाजका सेवक है ? समाजकी सेवा की है तूने ? यही है तेरी समाज-सेवा ?'

क्या उत्तर है उनके पास । उनके नेत्र आज इस एकान्तमें टपाटप बूँदें गिराते जा रहे हैं ।

× × ×

[२]

वह भी विद्यापीठका स्नातक है। बूढ़े महात्माजीकी वाणीपर उसकी निष्ठा विद्यापीठमें प्रवेश करनेसे बहुत पहलेसे रही है । महात्माजीकी अहिंसा और आत्मशोधनकी प्रेरणाने उसे भी बहुत आकर्षित किया। आत्मशुद्धिकी धुन उसकी बहुत पुरानी है ।

दुबला-पतला कुछ ललाई लिये गेंहुआँ गोरा शरीर, गम्भीर गोल मुख, घुटा सिर, बड़ी-सी चुटिया, नंगे बिवाई भरे पैर, खादीका मटमैला कुर्ता, खूब मोटी कुछ मैली धोती—उसे विद्यापीठमें उसके सहपाठी, सदा चिढ़ाते रहे हैं । अर्थशास्त्र और राजनीतिके बदले वह दर्शनशास्त्र और संस्कृतका छात्र था । चमड़ेकी चप्पलके स्थानपर लकड़ीकी चट्टियाँ पहनता था । उसकी चुटिया और जनेऊका बड़ा उपहास हुआ । लेकिन बड़ा गम्भीर है वह । बहुत कम हँसता है । जब धीरेसे तनिक-सा हँसता है—जैसे मोती बिखर पड़े हों । उसकी गम्भीरता ऐसी है कि उसका उपहास करके उपहास करनेवाला ही संकुचित हो उठता है । वह पूरे विद्यापीठ-जीवनमें वैसे-का-वैसा ही रहा आया था । उसकी एक मण्डली बन गयी थी धीरे-धीरे । यह उसीकी गम्भीरताका प्रभाव था कि विद्यापीठमें भी कुछ दिन कुछ छात्र बड़ी चुटिया रखने और संध्या करने लगे थे ।

समाजकी सेवा आत्मशुद्धिका साधन है, यह बात उसे कुछ ठीक-ठीक जमी नहीं । लेकिन महात्माजीने देश-सेवा, समाज-सेवाकी प्रेरणा दी, वह प्रेरणा उसके हृदयमें भी बस गयी थी। लेकिन वह वक्ता नहीं है। वह तो साधारण बातचीतमें भी शब्दोंको इतना तौल-तौलकर मुखसे निकालता है, जैसे कोई बहुत बड़ी सम्पत्ति व्यय कर रहा हो । दस शब्दका काम चारसे चल सके तो वह साढ़े चार बोलनेवाला नहीं । जो वक्ता नहीं, वह भला नेता कैसे होगा । और जो नेता नहीं, पुलिस उसके पीछे कभी क्यों पड़ेगी । देशके इतने महान् संघर्षमें भी उसकी बात किसीने नहीं पूछी । वह जेल नहीं गया, उसे किसीने एक धक्कातक नहीं दिया । आज जब चारों ओर धूम है, आज भी उसे कोई पूछनेवाला नहीं । वह कभी नेता तो था ही नहीं ।

विद्यापीठसे वह अपने घर चला आया । घरपर खेतीके काममें जुट गया । वह कुट्टी काटता है, घास छीलता है, खेतमें खाद अपने सिरपर उठाकर ले जाता है । विद्यापीठका स्नातक है वह, यह तो जाननेवाले जानते हैं । एक उद्योगी किसान है वह, यह देखते ही समझा जा सकता है।

दोपहर-विश्रामके समय वह चर्खा चलाता है। घरमें उसने चर्खे लाकर रख दिये हैं । अपने खेतमें उसने थोड़ी रूई बोना प्रारम्भ कर लिया है । रूईमें अच्छी आमदनी है । घरमें चर्खे चलें तो बाजारसे कपड़े नहीं लेने पड़ते । पड़ोसियोंने यह झटपट अनुभव कर लिया है । उसके गाँवके किसान अब रूई बोने लगे हैं। उसे अब एक घंटे रोज उन

लोगोंको चर्खा चलाना सिखाना पड़ता है, जो उसके पास बड़े आग्रहसे सीखने आते हैं ।

कभी-कभी वह आस-पासकी गलियाँ झाड़ देता है । गाँवमें लोग पता नहीं क्यों उसका सम्मान करने लगे हैं । सम्भवतः इसलिये कि नित्य सायंकाल वह पीपलके नीचे बैठकर लोगोंको रामायण सुनाता है । लोगोंको कहता है—'तुम अपने आप पढ़ो तो कितना आनन्द आये । यह तो रामजीकी कथा है ।' बड़े-बूढ़े भी अब उससे क, ख पढ़ते हैं । भोजनके बाद रात्रिमें उसकी पाठशाला लगती है । अब लोग इधर-उधर कूड़ा डालते डरने लगे हैं——'पाँड़ेजी यहाँ कूड़ा देखेंगे तो झाड़ू लेकर जुट पड़ेंगे' उसका पूरा गाँव सदा स्वच्छ रहता है ।

वह सबेरे एक मील जाकर गङ्गा-स्नान करता है । संध्या करता है । गीताका पाठ करता है । गाँवके युवक और बालक तो क्या तरुण और वृद्ध भी इस प्रयत्नमें रहते हैं कि पाँड़ेजी कहीं स्नान करने पहले न निकल जायँ । 'देखा-देखी पाप, देखा-देखी पुण्य' सो गाँवमें तो जैसे अब सभी गङ्गा-स्नान, संध्या, पूजा करनेवाले हो गये हैं । जो गीता-पाठ नहीं कर सकते वे रामायण या हनुमानचालीसा ही लेकर शंकरजीको सुना आते हैं । स्त्रियोंकी चर्चा मत कीजिये, उनमें तो पहलेसे सृष्टिकर्ताने श्रद्धा बाँटते समय बड़ा भाग दे रक्खा है । अब तो गाँवके हलवाहेतक पहले स्नान करके सूर्य भगवान्को एक लोटा जल चढ़ाते हैं और तब मुँहमें दाना डालते हैं ।

जहाँ चार बर्तन होते हैं, वहाँ खनकते भी हैं । गाँवमें झगड़े भी होते हैं । कचहरीकी बात बहुत दूर चली गयी । पाँड़ेजीके पास भी बहुत कम झगड़े आते हैं । बहुत-से झगड़ोंका निपटारा तो इतनेमें हो जाता है——'चल, पाँड़ेजीके पास चलता हूँ ।'

'भैया रहने दो ! अब पाँड़ेजीके यहाँ ले जाकर क्यों लज्जित करते हो ।, तुम्हीं जो कहो सो कर दूँ ।'

क्यों पाँड़ेजीका गाँवमें इतना भय, इतना सम्मान, इतनी पूछ है, पाँड़ेजी भी नहीं जानते । वे न नेता हैं, न वक्ता । वे तो बोलनेमें भी शब्दकी कृपणता करते हैं । उन्हें अपने घरके काम, अपनी पूजा-पाठसे अवकाश ही नहीं कि समाजकी सेवा करें । यह रामायण सुनाना, लोगोंको दो अक्षर पढ़ा देना, किसीके झगड़े निपटा देना——यह तो मनुष्यका कर्तव्य है । मनुष्य अपने पड़ोसीकी सहायता नहीं करेगा तो क्या पशु आयेगा उसकी सहायता करने !

× × ×

[३]

'कितने स्वयंसेवक हैं आपके यहाँ ?' उन्होंने पूछा । आज इधर आनेपर उन्हें अपने विद्यापीठके सहपाठीका स्मरण हो आया था । वे मिलने चले आये थे । यह गाँव, यहाँकी स्वच्छता, यहाँके लोगोंकी तत्परता देखकर वे चकित रह गये थे । पूरा गाँव उनके स्वागतमें जैसे खड़ा था । लेकिन वे यह जानते हैं कि उनके आनेका किसीको पता नहीं था । उनका आना सहसा हुआ है । उनके स्वागतके लिये यहाँ कोई तैयारी हुई हो, ऐसा सम्भव नहीं है ।

'हम सभी स्वयंसेवक ही हैं ।' पाँड़ेजीने छोटा-सा उत्तर दिया । 'मेरा मतलब ऐसे स्वयं सेवकोंसे है, जो बराबर यहीं रहते हों । आश्रमका काम करते हों ।' उन्होंने फिर पूछा ।

'ऐसा तो यहाँ कोई नहीं है ।' पाँड़ेजी इतना कहकर चुप हो जानेवाले थे; किंतु उन्होंने देखा कि उनकी बात इस प्रकार समझी नहीं जा सकेगी । उन्होंने स्पष्ट किया—'यह आश्रम नहीं है, यह तो एक सज्जनने अपना खाली मकान पूरे गाँवको दे दिया है । अब आस-पासके गाँवके लोग भी चर्खा चलाना सीखने आने लगे हैं । कुछ लोग पढ़ने भी आते हैं । यहाँ

यह सुविधा है कि चर्खे रख दिये गये हैं। हममेंसे जिसे अवकाश मिलता है यहाँ आकर बैठता है। अपना सूत भी कातता है, सीखनेवालोंको सिखाता भी है। वैसे तो यह हमारी रात्रिपाठशाला, पंचायत, अतिथिशाला और जो भी सामूहिक काम आ पड़े—सबका स्थान है। हम सब अपने-अपने घरका काम करते हैं और घड़ी-दो-घड़ी यहाँ भी आकर बैठते हैं। गाँवका काम तो एक दूसरेकी सहायतासे सदासे ही चलता आया है।'

'कोई स्वयंसेवक नहीं, कोई नेता नहीं!' एक बार उन्होंने चारों ओर देखा। अपने मनमें ही वे कह रहे थे—'बापूकी बातका मर्म तो पाँड़ेने समझा, लगता है। इतना स्वच्छ, इतना अनुशासित, इतना व्यवस्थित ग्राम तो मैं अबतक दूसरा नहीं देख सका हूँ।'

'यहाँके लोग आपकी ही नकल करते हैं?' थोड़ी देर पीछे उन्होंने बात चलते हुए पूछ लिया था। वैसे उनका मन कहता था—'पाँड़ेकी नकल पूरा देश करने लग जाय तो बापूका स्वप्न आज ही सत्य हो जाय।'

'नहीं तो!' पाँड़ेने सिर हिला दिया। 'अच्छे काम लोग समझकर करें, यह कुछ नकल नहीं है। मेरी नकल भी कुछ होती है; पर बहुत थोड़ी। एकाध लोग ही मेरी भाँति घुटे-सिर रहते हैं। दो-चार ही मेरी भाँति गुमसुम बने रहते हैं।'

पाँड़े क्या उत्तर देते हैं, इसके बदले उनका ध्यान लोगोंकी ओर अधिक था। उनके नेत्र चारों ओर घूम रहे थे। जहाँ पहुँचना, वहाँकी अधिक-से-अधिक परिस्थितिको समझ लेनेके वे पुराने अभ्यासी हैं। उनके नेत्रोंको छोटी-छोटी बातोंके निरीक्षणका अभ्यास है। लेकिन यहाँ उन्हें आश्चर्य हो रहा है—'कोई पाँड़ेकी त्रुटियोंकी नकल करता उन्हें नहीं लगता। पाँड़े चलनेमें आगे झुककर चलते हैं, उनके कुर्तेकी दो-एक बटन टूटी ही रहती हैं, बोलते समय वे प्रायः अपने बायें हाथकी अँगुलियाँ समेटकर मुट्ठी बना लेते हैं। लेकिन दूसरोंमें उन्हें तो कोई नहीं दीखता, जिसमें ये बातें आयी हों। लोग पाँड़ेको कितना सम्मान देते हैं, यह तो वे देख रहे हैं; परंतु उनकी त्रुटियाँ व्यापक नहीं हुईं, इसका कारण? यह कारण उनकी समझमें आ नहीं रहा है।'

'यहाँ और भी कुछ देखने योग्य है?' गाँव तो पाँड़ेने उन्हें दिखा ही दिया है। दो दिन यहाँ रहनेकी उनकी इच्छा है। दिनभर कोई बैठे-बैठे ऊब जाय और घूमना-फिरना चाहे, यह बहुत स्वाभाविक है।

'एक मन्दिर है; किंतु दर्शन करनेका आपमें उत्साह नहीं होगा, यह जानता हूँ। गाँवका साधारण-सा मन्दिर है।' पाँड़ेजीने कुछ सोचकर कहा—'थोड़ी दूर गङ्गा-किनारे एक अच्छे संतकी कुटी है।'

'संध्या-समय टहलना भी हो जायगा गङ्गा-किनारे और संतके दर्शन भी।' एक समाजसेवी विख्यात पुरुषमें साधुके दर्शनकी इच्छा होगी, यह पाँड़ेको अद्भुत लगा। गाँववालोंको इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं जान पड़ी। वे ऐसे वातावरणमें रहते हैं कि वहाँ साधुके दर्शनकी इच्छा न होना ही आश्चर्यकी बात मानी जाती है।

× × ×

[४]

'वह गैयाका गोबर उठा तो लाओ! एक अंजली तो होगा ही।' भारतके साधु ऐसे बेढंगे होते हैं कि बात मत पूछिये। न जान न पहिचान, एक दूध-सी उजली खादी पहिने कोई भला आदमी दर्शन करने आया तो उसे प्रणाम करके बैठते-न-बैठते गोबर उठा लानेकी आज्ञा दे दी गयी!

'आप बैठिये!' पाँड़ेने उन्हें रोका और स्वयं उठने

लगे । 'उन्हें ही जाने दो भाई ! वह तो गायका पवित्र गोबर है !' साधु महाराजने पाँड़ेको रोक दिया ।

'हमें स्वच्छता करने और कूड़ा उठानेका अभ्यास है ।' वे हँसकर उठे । इतने ग्रामीण लोगोंके सामने साधुकी बात न मानना उचित नहीं जान पड़ा । गायका गीला गोबर था । कुर्तेको ऊपर चढ़ाकर किसी प्रकार उठा लिया उन्होंने उसे । हाथकी अंजली कपड़ेसे दूर किये, बहुत सम्हलते हुए चले आये किसी प्रकार। भले उन्होंने ग्रामोंकी सफाईमें थोड़ा-बहुत भाग लिया हो, भले टोकरी भरते और उठाते समयके उनके चित्र समाचारपत्रोंने छापे हों; किंतु उनकी एक-एक अङ्गभंगी कह रही थी—'कितना गंदा, कितना उलझनभरा काम है यह ।'

'यहीं रख दो ! साधुने कह दिया । उन्होंने गोबर गिरा दिया; किंतु उनकी हथेलियाँ भर गयी थीं । वे हाथ धोना चाहते थे । इसी समय दूसरी आज्ञा मिली—'वह पुस्तक उठा लाओ और तनिक पोंछ दो उसे ।'

'मैं हाथ धो लूँ ।' उन्होंने देख लिया था कि पाँड़ेजी कुएँसे पानी ले आ रहे हैं ।

'हाथ पीछे धो लेना ।' साधुने कहा—'पहले पुस्तक साफ करके दे दो ।'

'महाराज ! पुस्तकमें गोबर लग जायगा । वह एकदम गंदी हो जायगी ।' उन्हें लगा कि साधु बूटी छानते होंगे ।

'एक छोटी-सी पुस्तक उठाने और स्वच्छ करनेमें तो तुम पहले अपने हाथकी ओर देखते हो और इतने बड़े समाजके दोषको दूर करने चलते हो, समाजसेवामें लगते हो तो अपनी ओर देखते ही नहीं हो ।' साधुने गम्भीरतासे कहा—'तुम्हारे हाथमें गोबर लगा है तो जिन-जिन पुस्तकोंको तुम छूओगे, वे मैली होती जायँगी । तुम्हारे भीतर बुराई है तो तुम समाजमें अपना क्षेत्र जितना बढ़ाओगे, उसमें उतनी ही बुराई फैलाते चलोगे ।'

वे उस दिन साधुके पाससे गाँवमें आये और गाँवसे भी लौट आये हैं; किंतु उनके कानोंमें साधुके शब्द अब भी गूँजते हैं—'पहले अपने दोष दूर करो, तब समाजके दोष दूर करने चलो । जो निर्दोष नहीं, वह समाज-सेवा करने जाकर समाजका अहित ही करेगा । समाजमें अपनी बुराइयाँ बाँटेगा ।'

मित्र कहते हैं—'उन्होंने अपना मान खो दिया । लेकिन अब उनसे व्याख्यान नहीं दिये जाते । अब तो वे एकान्तमें आ गये हैं । वे अपने भीतर देखनेमें लगे हैं आजकल । वे समाजकी सेवामें अभी ही ठीक लग पाये हैं' यह बात क्या ठीक नहीं है !

* * *

जैसा कर्म वैसा ही फल

अब कैसैं पैयत सुख माँगे ।
जैसोइ बोइये तैसोइ लुनिये, कर्म न भोग अभागे ॥
तीरथ-व्रत कछुवै नहिं कीन्हें दान दियौ नहिं जागे ।
पिछलै कर्म सम्हारत नाहीं करत नहीं कछु आगे ॥
बोवत बबुर दाखफल चाहत, जोवत है फल लागे ।
सूरदास तुम राम न भजि कै, फिरत काल सँग लागे ॥

—सूरदासजी

सार वस्तु

(लेखक—महात्मा श्रीजयगौरीशङ्करजी सीताराम)

१—जिस प्रकार दूधके मथनेसे घी निकलता है, उसी प्रकार राम-नाम जपनेसे ईश्वरकी प्राप्ति होती है ।

२—जिस प्रकार पानीके मथनेसे सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता है, मक्खन-घी कुछ नहीं निकलता, उसी प्रकार साधन, भक्ति, प्रेमके बिना नाना प्रकारके कर्म करनेसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता । सब निष्फल हो जाता है ।

३—जिस प्रकार खाँड़की चाशनी बनाते समय दूधके छींटे देनेसे मैल अलग हो जाती है और असली सुन्दर चीनी नीचे बैठ जाती है । उसी प्रकार ध्यान, योग, तपस्या आदिमें प्रेमरसके छींटे लगानेसे अन्तःकरणकी सारी मलिनता और कपटता दूर हो जायगी । हृदयमें निर्मल ज्ञानका प्रकाश होगा ।

४—जिस प्रकार बाज पक्षी जिस किसी पेड़की डालीपर जाकर बैठ जाता है, उस पेड़के सारे पक्षी डरकर भाग जाते हैं, उसी प्रकार जिह्वापर राम-नामके स्थित हो जानेपर सारे पाप-ताप डरके मारे भाग जाते हैं अथवा उनका नाश हो जाता है ।

५—जिस प्रकार निर्मलीका बीज भरे हुए घड़ेके जलमें छोड़ दो, मैल-मिट्टी सब नीचेके तहमें जाकर बैठ जायगी । निर्मल शुद्ध जल ऊपर रह जायगा । उसी प्रकार हृदयमें निर्मल प्रेमको निष्कपट होकर छोड़ देनेसे पापरूपी मैल दूर हो जायगी और हृदय निर्मल हो जायगा । फिर क्या है ! परम स्वतन्त्र होकर ईश्वरका भजन करो । लोक-परलोकका अनमोल आनन्द लूटो ।

६—भक्ति और प्रेममें बहुत अन्तर है । भक्ति साधना, नियम, कर्म है, भक्ति करनेवाला ईश्वरकी खोजमें रहता है, निरन्तर ईश्वरके विरहमें व्याकुल रहता है, चिन्तित रहता है, उसे शान्ति नहीं मिलती, पर प्रेम सिद्धि है, सच्चे प्रेम करनेवालेको चीज मिल चुकी है, वह स्वतन्त्र होकर संसारसे विमुख हो, संसारसे पागल होकर उस चीजका आनन्द लेता है । उसे उस वस्तुका अमूल्य अनुपम स्वाद मिल चुका है, वह व्याकुल नहीं रहता । सहज ही शान्त रहता है ।

७—जहाँ ज्ञान, भक्ति और योगका लोप अथवा अन्त हो जाता है, वहीं प्रेमका उदय होता है । प्रेमके अंदर किसी नियमका बन्धन नहीं है । केवल ईश्वरकी याद और तड़प रह जाती है ।

८—प्रेमरसमें इतना प्रबल नशा है कि एक बूँद गलेके नीचे जाते-जाते ही प्रेमीको मस्त कर देती है । वह मस्त प्रेमी संसारके मनुष्योंसे, संसारकी चीजोंसे विमुख होकर प्रेमका असीम आनन्द लेता है । प्रेमकी प्राप्ति होनेपर हृदयमें कोई अभिलाषा नहीं रहती । न तो भूलकर कोई कामना ही सताती है । लोक-परलोककी सारी कामनाएँ सदाको मिट जाती हैं । केवल एक प्यारे प्रीतमकी माधुरी मूर्तिका हृदयमें बराबर ध्यान रहता है ।

९—प्रेम करनेवालेके हृदयमें क्रोध और अहंकारके लिये जरा-सा भी कहीं स्थान नहीं रहता । दुःख-सुख, हानि-लाभका कुछ ध्यान नहीं रहता, सब प्राणियोंसे मोह-माया मिट जाती है, चारों तरफ केवल भगवान्-ही-भगवान् नजर आते हैं ।

१०—प्रेमकी बड़ी विचित्र लीला है, प्रेममें अकथनीय आकर्षणशक्ति है । प्रेमका जो स्थान है वही आनन्दमय देश है । वही सार वस्तु है ।

विश्व-शान्तिके अमोघ उपाय

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

विश्वका प्रत्येक प्राणी शान्तिका इच्छुक है, जो कतिपय पथ-भ्रान्त प्राणी अशान्तिकी सृष्टि करते हैं, वे भी अपने लिये तो शान्तिकी ही इच्छा करते हैं। अशान्त जीवन भला किसे प्रिय है ? इस प्रकार प्रतिपल शान्तिकी कामना करते रहनेपर भी विश्वमें अशान्ति बढ़ रही है इसका कुछ कारण तो होना ही चाहिये। उसीकी शोध करते हुए शान्ति पानेके सरल उपायोंपर इस प्रस्तुत लेखमें विचार किया जाता है। आशा है कि इससे विचारशील और विवेकी पुरुषोंको एक आशाकी किरण मिलेगी। जितनी ही यह किरण जीवनमें व्याप्त होगी, उतनी ही शान्ति (विश्वशान्ति) की मात्रा स्वयं बढ़ती चली जायगी।

व्यक्तियोंका समूह ही समाज है और अनेक समाजोंका समूह एक देश या जन-समुदाय कहलाता है। इसी तरह अनेक देशोंके जनसमुदायको 'विश्व-जनता' कहते हैं और इसी 'विश्वजनता' के धार्मिक, नैतिक या दैनिक जीवनकी उच्च और नीच जीवनचर्यासे विश्वमें शान्ति या अशान्तिका विकास और क्षय होता है। अशान्ति सर्वदा अवाञ्छनीय और अग्राह्य है। इसलिये इसका प्रादुर्भाव कब कैसे किन-किन कारणोंसे होता है, इसपर विचार करना परम आवश्यक है। प्रथम प्रत्येक व्यक्तिको शान्ति या अशान्तिके कारणोंको जान लेना जरूरी है; इसीसे विश्वकी शान्ति और अशान्तिके कारण सहज जाने जा सकते हैं। व्यक्तिकी अशान्तिकी समस्याओंको समझ लिया जाय और उनका समाधान कर लिया जाय तो व्यक्तियोंके सामूहिक रूप 'विश्व' की अशान्तिके कारणोंको समझना बहुत आसान हो जायगा। संसारका प्रत्येक जीवधारी व्यक्ति यदि यह सोचने लग जाय कि अशान्तिकी इच्छा न रहनेपर भी यह हमारे बीचमें कैसे टपक पड़ती है, वैसे ही शान्तिकी तीव्र इच्छा रहनेपर भी वह हमसे क्यों कोसों दूर भागती है, तो उसका कारण ढूँढ़ते देर नहीं लगेगी।

विश्वके समस्त प्राणियोंकी बुद्धिका विकास एक-सा नहीं होता, अतः शान्तिके उपायोंकी शोधके लिये विचारशील व्यक्तियोंकी जिम्मेवारी बढ़ जाती है। जो साधारण बुद्धिका प्राणी समुचित रीतिसे अशान्तिके कारणोंको जान नहीं पाता, उसके लिये वे विचारशील पुरुष ही मार्ग-प्रदर्शक होते हैं।

दुनियाके इतिहासके पन्ने उलटनेपर सर्वदा विचारशील व्यक्तियोंकी ही जिम्मेवारी अधिक प्रतीत होती है। विश्वके थोड़ेसे व्यक्ति ही सदा दुनियाकी अशान्तिके कारणोंको ढूँढ़नेमें आगे बढ़े, निःस्वार्थभावसे मननकर उनका रहस्योद्घाटन किया और समाजके समक्ष उन कारणोंको रक्खा। उन्होंने स्वयं अशान्तिके कारणोंसे दूर रहकर सच्ची शान्ति प्राप्त की और वही मार्ग विश्वके प्राणियोंके सामने उनके एकान्त हितबुद्धिसे रक्खा।

हाँ, तो व्यक्तिकी अशान्तिका मूल कारण होता है अज्ञान अर्थात् व्यक्तिका अपने वास्तविक स्वरूपको सहीरूपसे न समझकर, काल्पनिक स्वरूपको सच्चा समझना और उसी व्यक्ति या वस्तुकी प्राप्तिके लिये लालायित होना, सतत प्रयत्नशील रहना। इससे गलत या भ्रामक मार्ग पकड़ लिया जाता है और प्राणीको अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। उन कष्टोंके निवारणार्थ वह स्वार्थान्ध हो ऐसी अधार्मिक तथा नीतिविरुद्ध क्रियाएँ करता है कि जिससे जनसमुदायमें हलचल मच जाती है और अशान्ति आ खड़ी होती

है । यह अज्ञान, जिसे जैनपरिभाषामें मिथ्यात्व कहते हैं—क्या है ? यही कि जो वस्तु हमारी नहीं है, उसे अपनी मान लेना और जो वस्तु अपनी है उसे अपनी न समझकर छोड़ देना या उससे उदासीन रहना । उदाहरणार्थ—जड पदार्थ जैसे वस्त्र, मकान, धन इत्यादि नष्ट होनेवाली चीजोंको अपनी समझकर उनकी प्राप्ति एवं रक्षाके लिये सर्वदा इच्छुक रहना तथा सत्-चित्-आनन्द और बोधस्वरूप आत्मा जो हमारी सच्ची सम्पत्ति है—उसे भुला डालना । वस्तुतः दुःखोंका जन्म ही क्षणभङ्गुर वस्तुओंकी प्राप्तिमें लगे रहनेसे होता है । दृश्यमान सारे पदार्थ पौद्गलिक हैं, जड हैं । आत्मा तो हमें दिखायी देता नहीं अतः शरीरको ही हमने सब कुछ मान लिया है । इसीको सुखी रखनेके लिये धन-सम्पत्ति इत्यादिको येन-केन-प्रकारेण जुटानेमें हम संलग्न रहते हैं । इस तरह हम पौद्गलिक-भौतिक पर-वस्तुओंकी प्राप्तिकी तृष्णामें ही जीवनयापन करते हुए अपनी वस्तु अर्थात् आत्म-स्वभाव, आत्मानुभवसे पराङ्मुख हो रहे हैं । यही अशान्तिका सबसे प्रधान और मूल कारण है ।

जड पदार्थ सीमित है और मानवकी इच्छाएँ अनन्त हैं । अतः ज्यों ही एक वस्तुकी प्राप्ति हुई कि दूसरी वस्तुके संग्रहकी इच्छा जाग्रत् हो उठती है । इस तरह तृष्णा बढ़ती चली जाती है और उत्तरोत्तर अधिक संग्रहकी कामना मनमें उद्वेलित हो उठती है, जिससे हम व्यग्र और अशान्त हो उठते हैं । इसी प्रकार अन्यान्य व्यक्ति भी संग्रहकी इच्छा करते हैं । फलतः हममें प्रतिस्पर्धा बढ़ जाती है एवं संघर्षका अविर्भाव होता है । अशान्तिकी चिनगारियाँ छूटने लगती हैं; और जहाँ व्यक्ति तथा देशमें अशान्तिकी ज्वाला धधकी कि वह सारे विश्वमें फैल जाती है और एक विश्वव्यापी युद्धका अग्नि-कुण्ड प्रज्वलित हो आता है । जिससे सारे विश्वका साहित्य, जनसमूह और सम्पत्ति जलकर राख हो जाती है । यही दुनियाकी अशान्तिकी राम-कहानी है । इसलिये समय-समयपर विभिन्न देशोंमें उत्पन्न हुए महापुरुष यही उपदेश दिया करते हैं कि 'अपनेको पहचानो, परायेको पहचानो, फिर अपने स्वरूपमें रहो और अपनी आवश्यकताओंको सीमित कर तृष्णाको दूर करो । जब तृष्णा न रहेगी तो संग्रह अति सीमित होगा । इससे वस्तुओंकी कमी न रहेगी और वे आवश्यकतानुसार सबको सुलभ हो सकेंगी, अतः जनसमुदाय सहज ही शान्त और संतुष्ट रहेगा । किसीके भी किसी वस्तुकी कमी न रहेगी । जनसमुदाय भौतिक वस्तुओंकी सुलभ प्राप्ति होनेपर उनमें आसक्त भी कम होगा और तभी आत्मज्ञानकी ओर झुक सकेगा । वह ज्यों-ज्यों अपने आत्मस्वरूपको समझनेका प्रयत्न करेगा, त्यों-ही-त्यों वह समझता जायगा कि भौतिक वस्तुएँ, जिनके लिये वह मारा-मारा फिर रहा है·······नष्ट होनेवाली हैं, उनमें मोह रखना मूर्खता है । इस प्रकार वह संग्रह (परिग्रह) न करेगा और अन्तमें उसे आत्मा ही ग्रहण करनेयोग्य है—यह स्पष्ट माल्रम हो जायगा । इस तरह एक दिन वह यह भलीभाँति समझ लेगा ही कि आत्मामें मग्न रहना ही सच्ची शान्ति है । यदि इस प्रकार विश्वका प्रत्येक प्राणी समझ ले तो फिर विश्वमें अशान्तिका कोई कारण न रहेगा ।

लेकिन आजका विश्व भौतिक विज्ञानकी तरफ आँख मूँदकर बढ़ता चला जा रहा है । यूरोपकी बात छोड़िये । वह तो भौतिक विज्ञानके अतिरिक्त—आध्यात्मिक विज्ञानको जानतातक नहीं, और भौतिक विज्ञानके अधिकाधिक विकासमें ही मनुष्योंकी बौद्धिक शक्तियोंकी पराकाष्ठा मानता है । फलतः अणुबम-जैसे संहारक, हिंसक अस्त्र-शस्त्रका आविष्कार करता है । केवल भारतवर्ष ही ऐसा देश है, जहाँ आध्यात्मिक ज्ञानकी छटा छिटकती रहती है । यही एक ऐसा देश

है कि जहाँ अनादिकालसे आध्यात्मिक धारा मन्थरगतिसे प्रवाहित होती जा रही है और समय-समयपर इस देशके महापुरुषों, ऋषियोंने इसे और भी निर्मल तथा सतेज बनाया और इस धाराका पीयूष-सम जल पीकर अनेक मानव संतुष्ट हुए। अब यूरोप भी भारतकी ओर आशाकी दृष्टि लगाये देख रहा है; क्योंकि उसे इस देशकी अहिंसामूर्ति महात्मा गांधीकी आत्मिक शक्तिका आभास मिल चुका है। यह समझ गया है कि अहिंसा कितनी बड़ी शक्ति है जिसके द्वारा भारतवासी अंग्रेज-जैसे शक्तिशाली साम्राज्यसे बिना शस्त्रोंके लोहा लिये स्वराज्य-प्राप्तिमें समर्थ तथा सफल हुए। उन्होंने बड़ी सफलतापूर्वक अपनी चिर-अभिलषित स्वतन्त्रता प्राप्त की। वे समझने लगे हैं कि विश्वका कल्याण भारत ही अपने आध्यात्मिक ज्ञानद्वारा कर सकता है और आत्मानुभवसे ही अखण्ड शान्ति प्राप्त हो सकती है। 'यह मेरा है, वह व्यक्ति या देश मेरा नहीं है'—इसी अलगावके कारण प्राणी अन्य प्राणियोंके विनाशमें उद्यत होता है। आत्मीयताका विस्तार ही इस अलगावको मिटायेगा। दूसरेके दुःखको अपना दुःख मानकर हम दुखी होंगे और अवनत प्राणियोंके उत्थानमें आत्मभावसे सहयोग देंगे, तभी विश्वप्रेम प्रकट होगा—विस्तृत होगा। हिंसा और द्वेष भावना नष्ट होती जायगी।

भारत एक अध्यात्मप्रधान देश है। इस देशमें ही बड़े-बड़े अध्यात्मवादियोंने जन्म ग्रहण किया है, उनमें प्रायः ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध अवतीर्ण हुए थे। अहिंसा उनका प्रधान संदेश था। महात्मा गांधीकी 'अहिंसा' और 'विश्व-प्रेम' भारतके लिये कोई नवीन वस्तु न थी। सिर्फ इसकी अपार शक्तिको हम भूल-से गये थे। इन्हीं अहिंसा, सत्य आदि सिद्धान्तोंको भगवान् महावीर और भगवान् बुद्धने अपने अजस्र उपदेशोंद्वारा भारतके कोने-कोनेमें प्रचारित किया था। इनमेंसे भगवान् महावीरने तो 'अहिंसा' यानी 'विश्वप्रेम' का बड़ा ही सूक्ष्म और सुन्दर विवेचन किया है। उनका कथन था 'मनुष्यको अपनी आत्माको पहचानना चाहिये कि मैं स्वयं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, चैतन्य हूँ, सर्वशक्तिसम्पन्न एवं वाञ्छारहित हूँ। मुझे किसी भी भौतिक पदार्थमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। उनसे मेरा कोई चिरस्थायी सम्बन्ध नहीं।' अगर मानव इस उपदेशको ग्रहण करे तो हममें अनावश्यक वस्तुओंके संग्रहकी वृत्ति (परिग्रहबुद्धि) ही न रहेगी। उनमें तीव्र आकाङ्क्षा और आसक्ति भी न रहेगी; और जब चाहना न रही तो प्रतिस्पर्धा, वैमनस्य और कलह भी न रहेगा। जब ये सब नहीं रहेंगे तो फिर जनसमुदायमें अशान्तिका काम ही क्या है? सर्वत्र शान्ति-ही-शान्ति छा जायगी और विश्वमें फिर अशान्तिके काले बादल—युद्धकी भयंकर आशङ्का न रहेगी। मानव सर्वत्र महान् सुखी दिखलायी पड़ेगा। अतः उपर्युक्त विवेचनसे विश्व-शान्तिके निम्नलिखित कारण सिद्ध हुए।

१. आत्मबोधकी चेष्टा और भौतिक वस्तुओंसे विराग='आत्मज्ञान'।

२. स्वार्थसहित व्यर्थ अन्न-वस्त्रादिका संग्रह नहीं करना='अपरिग्रह'।

३. 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः' अपने आत्माके समान विश्वके प्राणियोंके आत्माको समझना यानी 'अहिंसा—आत्मीयताका विस्तार'।

* * *

सुमिरु राम, भजु रामपद, देखु राम, सुनु राम।
तुलसी समुझहु राम कहँ, यह निसिदिन तव काम॥

गो-सेवा-व्रत

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

गावो मे अग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः । गावो मे सर्वतः सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥

गो-सेवा-व्रतकी आवश्यकता

गौओंको लोककी माता माना है । हमारे यहाँ गौसे पवित्र कोई नहीं है । जन्म देनेवाली जननी जैसे पूजनीया है उससे भी बढ़कर गौ-माता पूजनीया है । गौ-माताकी पूजासे सभी देवताओंकी पूजा मानी गयी है; क्योंकि तैंतीस करोड़ देवता उसके अङ्गोंमें निवास करते हैं । गौओंके लिये प्राण देनेवालोंकी सद्गति होती है, वेद-पुराणोंमें इसकी अनेकों कथाएँ हैं । शास्त्रकारोंने गो-वधको मनुष्य-वधसे भी बढ़कर बताया है । भारतमें जबतक गो-वध होता रहेगा, तबतक न तो कोई तन्त्र-मन्त्रात्मक धार्मिक अनुष्ठान पूर्ण होगा, न संसारमें सुख-शान्ति ही होगी । जबतक देशी राज्य थे नियमानुसार वहाँ गो-वध बंद था । राजस्थान, मध्यभारत, काश्मीर, नैपाल तथा देशी सभी राज्योंमें कहीं भी गो-वध नहीं होता था । अब तो भारतमें भारतीय शासन है, इसमें तो नियमानुसार गो-वध बंद होना ही चाहिये । जबतक भारतमें वैधानिकरूपसे पूर्ण गो-वध बंद न हो, तबतक हमें सुखकी साँस न लेनी चाहिये, अपनी शक्तिभर प्रयत्न करते ही रहना चाहिये ।

गो-वध बंद कैसे हो ?

गो-वध-बंदीके लिये यथाशक्ति सभी प्रयत्न कर रहे हैं और सभीकी सम्मिलित शक्तिसे यह परमावश्यक कार्य होगा, किंतु केवल कहनेमात्रसे ही यह काम न होगा । हमें इसके लिये बलिदान करनेके लिये तत्पर हो जाना चाहिये । बलिदान उसी वस्तुके लिये होता है, जिसमें हार्दिक प्रेम हो । इसलिये हमें गौओंके प्रति प्रेम पैदा करना चाहिये ।

गौओंसे प्रेम कैसे हो ?

प्रेम हृदयकी स्वाभाविक वृत्ति है । जो हृदयहीन है, जिस हृदयमें प्रेमका अंकुर नहीं, उसमें मूलतः प्रेम पैदा नहीं किया जा सकता । प्रेम स्वाभाविक होता है, उसे बढ़ाया जाता है । प्रेम बढ़ता है सङ्ग रहनेसे, निष्काम सेवासे, दर्शन, स्पर्श, आलिंगन और सेवनसे । जैसे बच्चोंके प्रति प्रेम स्वाभाविक है, किंतु जो बच्चा सदा साथ बना रहता है, जिसको सदा खिलाते, चुम्बन, आलिंगन करते हैं उससे अत्यधिक स्नेह हो जाता है । जो लोग गौको दूध देनेका यन्त्र मानकर गो-दूधका व्यापार करते हैं, वे बच्चा देते समय गौकी आँखोंमें पट्टी बाँध देते हैं, बच्चा पैदा होते ही उसे पृथक् कर देते हैं, माताको देखने, चूमने, चाटने नहीं देते । उसको माताके थनसे दूध नहीं पिलाते, इसीलिये गौका उस बच्चेमें प्रेम भी नहीं बढ़ता । व्यापारी उन बच्चोंको बेच देते हैं, गौ बिना बच्चेके दूध देती है । वह दूध प्रेमहीन रक्तके समान है, उसके पीनेसे स्वार्थके भाव बढ़ेंगे; प्रेम, दया, परोपकारके भाव कभी न बनेंगे । यदि हमें गौओंसे अत्यधिक प्रेम बढ़ाना है, तो हमें गो-सेवा-व्रत लेकर निरन्तर गौओंमें ही कुछ काल रहना पड़ेगा, अपने हाथों उनकी सेवा-शुश्रूषा करनी पड़ेगी । यह गो-सेवा-व्रतसे ही सम्भव है ।

गो-सेवा-व्रतके नियम

(१) गो-सेवा-व्रतीको निरन्तर गौओंके ही बीचमें रहना होगा ।

(२) मुखसे या मनसे गायत्री या नाम-स्मरण करते रहना होगा ।

(३) गौका दूध अथवा गौको जौ खिलाकर फिर उसके गोबरसे जो अन्नके दाने निकलें उन्हें ही खाकर रहना होगा ।

(४) स्वयं गौका गोबर-मूत्र उठाना, उनके नीचे सफाई करना, दूध दुहना, उनको कुट्टी-भूसा देना, उन्हें चराने जंगलमें ले जाना, उनकी डाँस-मच्छरसे रक्षा करना और सभी प्रकारकी सेवा स्वयं करनी होगी । जैसे माता अपने शिशुकी सभी प्रकारसे निष्काम भावसे प्रेमपूर्वक देख-रेख करती है वैसे ही प्रेम-श्रद्धापूर्वक गौकी परिचर्या करनी होगी ।

(५) गौओंको ही इष्ट समझकर उनके लिये यथाशक्ति बलिदानके लिये तत्पर रहना होगा ।

गो-सेवा-व्रतकी योजना

(१) इस गो-सेवा-व्रतको आषाढ़ी-पूर्णिमा (गुरु-पूर्णिमा) से आरम्भ करनेका विचार है ।

(२) संकीर्तन-भवन, झूसी (प्रयाग) में यह व्रत आरम्भ होगा ।

(३) विचार तो ऐसा है, सवत्सा एक सौ आठ गौएँ रक्खी जायँ, मिलनेपर अधिक भी रक्खी जा सकती हैं, न मिलनेपर कम भी । जो पुरुष चाहें कि हमारी दी हुई गौ व्रतके अनन्तर अमुक व्यक्तिको अमुक संस्थाको दान दे दी जाय, तो उसीको दान दी जायगी । दानके योग्य पात्र न मिलनेपर प्रबन्धवाली गोशालाओंको बची गौएँ दे दी जायँगी ।

(४) चार गौओंपर एक गो-सेवा-व्रती रक्खा जा सकता है, जितने भी गो-सेवा-व्रती मिल सकेंगे रक्खे जा सकेंगे ।

(५) गौओंकी रक्षाके लिये गौ-प्रेमियोंकी एक छोटी-सी सात आदमियोंकी समिति रहेगी, जो उनका ऊपरी व्यय आदिका प्रबन्ध करेगी ।

(६) गौओंके चारेके लिये कुछ भूमि किरायेपर ली जायगी । जिसमें वे चर सकें और कुछ हरा चारा भी पैदा कर सकें । गौका बचा हुआ दूध छोटे शिशुओंको बाँट दिया जायगा, इसी प्रकार मट्ठा भी बाँटा जायगा, दूधसे कोई व्यवसाय न होगा ।

(७) यह व्रत आषाढ़ी पूर्णिमासे कार्तिकी पूर्णिमा तक चार महीनेका होगा । कार्तिकी पूर्णिमा (२० नवम्बर) को ये सब गौएँ योग्य व्यक्तियोंको दान कर दी जायँगी । उनसे प्रतिज्ञा करा ली जायगी कि वे गौको बेचें नहीं और उसकी कम-से-कम एक बछिया भी समयपर योग्य व्यक्तिको दान करा दें ।

(८) कार्तिकी पूर्णिमाके पश्चात् गो-सेवा-व्रती अपने-अपने नगरोंको चले जायँगे ।

(९) कार्तिकी पूर्णिमाके पश्चात् जो गो-सेवा-व्रती चाहें अपने देशसे एक गौ लेकर पैदल-पैदल पुनः प्रयागकी यात्रा करें । अबके प्रयागमें बारह वर्षका कुम्भका मेला है, अतः मकर-संक्रान्तिमें कभी भी वे प्रयाग पहुँच जायँ । प्रयागमें त्रिवेणी-स्नान करें और माघकी पूर्णिमाको उस गौको दान कर दें । इस प्रकार यह सात महीनेका गो-सेवा-व्रत है ।

(१०) गौ-प्रेम जिनका जितना अधिक बढ़ेगा, उनमें उतनी ही अधिक गौके लिये बलिदानकी भावना होगी । माघकी पूर्णिमाके पश्चात्‌का कार्यक्रम पुनः प्रकाशित होगा ।

जो सज्जन हमारी इस योजनामें सम्मिलित होना चाहें, गो-सेवा-व्रती बनना चाहें या अन्य किसी प्रकारसे सहायता करना चाहें, जैसे गौ देना—गौओंको मँगाना, उनके चारा आदिका प्रबन्ध करना आदिसे सहायता करना चाहें वे निम्नलिखित पतेसे पत्र-व्यवहार करें ।*

श्रीहिम्मतसिंह महेश्वरी, संयोजक, गो-सेवा-व्रत समिति
संकीर्तन-भवन, पो० झूसी, प्रयाग ।

◆

---

* जो भाई या माता अपने घरपर यह व्रत करना चाहें वे घरपर ही करें ।

गो-रक्षाके लिये मानसका अनुष्ठान और गोरक्षा-प्रश्नावली

(लेखक—श्रीश्रीनिवासदासजी पोद्दार)

सन् १८५७ से गोवध शुरू हुआ था। मुगल-राज्यमें कभी होता था, कभी बंद होता था, परंतु गदरके बाद यूरोपनिवासियोंकी कूटनीतिसे भारतकी साक्षात् भूदेवी भगवती विश्व-माता गौका वध निरंतर अबाध गतिसे हो रहा है । हम भारतीयोंके वेद-पुराणादि सभी ग्रन्थोंमें गौका महत्त्व इतना भरा पड़ा है कि जिसका कोई पार ही नहीं है । सब शास्त्र एक मतसे गौके शरीरमें सभी देवी-देवताओंके वासका विशेष वर्णन करते हैं । चौरासी लक्ष योनियोंमें एकमात्र गौ ही ऐसी है जिसका गोबर-मूत्र परम पवित्र माना जाता है । गोमूत्र-गोबरकी परम पावनता यहाँतक मानी गयी है कि हवनादि देव-कार्य तथा श्राद्धादि पितृ-कार्योंमें गोमूत्र-गोबरके बिना शुद्धि ही नहीं होती । हमें थोड़ा तो विचार करना चाहिये । जिस मानवी माताके गर्भमें हमने नौ मासतक मल-मूत्रमें वास किया, उस माताका मल-मूत्र भी परम पावन नहीं, तब गोमाताके मूत्र-गोबरको शास्त्र परम पावन बताते हैं, इन विशेषताओंको हम भूल गये । हमारे त्रिकालज्ञ महर्षियोंने बड़े अनुभवकी बातें लिखी हैं । वे गौके महत्त्वको आर्थिक दृष्टिसे बहुत ऊपर आध्यात्मिक और मौलिक विज्ञानोंके आधारपर मानते थे । यहाँतक शास्त्र बताता है, 'यतो गावस्ततो वयम्' इसकी सही व्याख्या शास्त्रकार ही जानते हैं । आज जैसे-तैसे गोमाता नष्ट होती जा रही है वैसे-ही-वैसे वैदिक शाखाएँ लुप्त हो रही हैं । गत शताब्दिसे गोवधके साथ ही वैदिक अध्ययन, कर्म और ज्ञान लोप हो रहा है । आज विदेशियोंके दूषित शिक्षा-क्रमके प्रभावसे भारतीय स्वराज्याधिकारी भी गौके आर्थिक महत्त्वके नामपर गोवध बंद नहीं करते हैं । क्या गौको परम पूजनीया भगवती माता साक्षात् भू-देवी माननेवाले हमलोग आज सचमुच मानव हैं या मानवरूपधारी दानव हैं, जो प्रतिवर्ष भारतमें एक करोड़के लगभग हमारी माताका वध देखते हैं, हम गौकी संतान होकर उस महापापको सहन करते हैं ? गौएँ मारी जायँ और हम खाने-कमानेमें मस्त पैर पसारकर सोवें, यह तो हमारा घोर निम्न-से-निम्न स्तरका पतन है । दानवताका नंगा नाच है । गत ९५ वर्षोंमें कई बार करोड़ों हस्ताक्षर कराये, सभाएँ हुईं, प्रस्ताव हुए, तार-पत्र दिये गये । सत्याग्रह भी हुआ । 'स्वराज्य होते ही गोवध बंद होगा । स्वराज्यसे अधिकाधिक प्रिय गौ है । हम गोवध बंद करेंगे' यह नेताओंकी घोषणा हुई परंतु आज सभी असफल हैं । राजनीतिक आन्दोलन होते रहने चाहिये । परंतु इनकी सफलताके लिये हमारे त्रिकालज्ञ महर्षियोंद्वारा प्रदर्शित मार्ग अपनाना होगा । वह यह कि हम अपने इष्ट बलको प्राप्त करें और उसके द्वारा गोवध शीघ्र बंद हो । गौको सुखी करनेके लिये प्रभु शीघ्र अवतरित हों, इस संकल्पसे अनुष्ठान करना है । अनुष्ठान अनेक प्रकारके हैं। परंतु ऐसे अनुष्ठानोंका आयोजन होना चाहिये, जिनमें नामवरी और धनप्राप्तिका लालच न हो, चंदा-चिट्ठा न हो, नहीं तो, आजकल अनेकों दोष आ जाते हैं, बाह्याडम्बरसे शुद्ध-सात्त्विकभाव कम हो जाते हैं। अतः सार्वजनिक हिंदी-भाषा-भाषी ग्रामोंमें गरीब, अमीर सभी सब समान भाग ले सकें, ऐसी एक योजना एक-दो जगह करके अनुभव किया गया है। आशा है कि पाठकगण इसपर ध्यान देंगे । यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि सन् १९३० में ३० करोड़ गायें थी, किंतु सन् १९४० में १४ करोड़ ही रह गयीं । सन् ५० की सरकारी रिपोर्ट १० करोड़ बताती है, परंतु अनुमानतः वर्तमानकालीन समयमें ६ या ७ करोड़के लगभग हैं । यदि इसी प्रकार गोवंशका क्रमशः ह्रास जारी रहा

तो सन् ६०-६५ तक क्या होगा ? फिर तो गोदर्शन दुर्लभ हो जायगा । विज्ञजन स्वयं सोच लें ।

श्रीरामचरितमानसका १०८ का प्रयोग है, दशांश निमित्त ११ पारायण, तर्पण-मार्जन, ब्राह्मण-भोजनके लिये ५ पारायण हैं । सब मिलकर १२४ पारायण हो । गोवध शीघ्र बंद हो और गौको सुखी बनानेके लिये प्रभु शीघ्र अवतरित हों, इस संकल्पसे ये पारायण किये गये । खर्चमें सिर्फ साधारण पूजा-सामग्री, गो-घृतका छोटा-सा अखण्ड दीपक, रातमें पारायण करनेवालोंके लिये रोशनी और दर्शनार्थियोंके लिये पीनेका पानी । एक जगह ५० व्यक्तियोंने दिनमें एक घंटा और रात्रिमें एक घंटा स्वार्थ-रहित गोप्रेमसे समय-दान दिया । श्रीमन्मानसरामायणके पाठके अधिकारी सभी शामिल हुए । १२४ व्यक्ति हुए । ४ व्यक्ति एक साथ पाठ करते थे । घड़ी बजते ही पहलेवाले उठ जाते थे, दूसरे आ जाते थे । इस तरह पंद्रह दिनतक अखण्ड यज्ञ हुआ । भगवान्‌से अवतरित होनेकी प्रार्थना होकर कार्य सफलतापूर्वक निर्विघ्न सम्पन्न हुआ ।

अतः आपसे निवेदन है कि आपके शहर या ग्राममें जहाँ भी हो, १२४ पारायण करवानेके लिये प्रयत्न करें । श्रद्धा-विश्वासके साथ आर्तभावसे प्रभुको त्राहि-त्राहिकी करुण-पुकार सुनावें, जिससे हमारी गोमाता सुखी होकर श्वासमें स्थित चारों वेदोंका शुद्ध प्रसरण करके विश्वको सुखी बनावे । भारत ही विश्वका आध्यात्मिक गुरु है । भारतकी मूल विधि तथा मूल जीवनीशक्ति गौके सुखी श्वासोंसे निकला हुआ वेद-ज्ञान विश्व-कल्याण करेगा । अनन्तश्री स्वामीजी करपात्रीजी महाराजका इस कार्यके साथ सदा आशीर्वाद रहेगा, यह आज्ञा प्राप्त हो चुकी है । इस विषयमें पत्रव्यवहार इस पतेसे करें । श्रीनिवासदास पोद्दार, नं० १४ क्वीन्स पार्क बालीगंज, कलकत्ता ।

गोरक्षा-प्रश्नावली

१—गौको विश्वमाता क्यों कहा जाता है ?

२—गौके विश्वरूपमें, शरीरमें, अङ्ग-प्रत्यङ्गमें देवताओंका निवास बताया है । इस ढंगसे गौके अतिरिक्त अन्य प्राणियोंमें वास नहीं है । ऐसा क्यों है ? इसका हमारे साथ आध्यात्मिक भावोंके अतिरिक्त क्या कोई भौतिक-विज्ञान-दृष्टिसे भी सम्बन्ध है या नहीं है ?

३—'यतो गावस्ततो वयम्' शास्त्रमें ऐसा क्यों कहा है ?

४—गौके श्वासोंमें चारों वेद, षडङ्ग पदक्रम-सहित विराजमान बताया गया है । उसका क्या श्वासके साथ गान होता है या श्वासके साथ मूर्तिवत् शब्दाक्षर प्रवाहित होते हैं ? ऋषि मन्त्रद्रष्टा कहलाते हैं तो वे मन्त्रदर्शन कहाँ करते थे ? गौके श्वासोंसे सुखी अवस्थामें वेद प्रस्रवित होता है तो दुखी श्वासोंमें क्या प्रस्रवित होता है ?

५—छान्दोग्योपनिषद्‌में वर्णित सत्यकाम जाबालने गोसेवा करके जो ब्रह्मवेत्तापद प्राप्त किया था, उसके साथ गौके श्वासोंमें स्थित वेदोंका सम्बन्ध है या नहीं ?

६—सायंकालमें गौके चरणोंसे उठी धूलिके कारण चारों दिशाएँ पवित्र होती हैं, क्या इसलिये गोधूलिवेला शुभकामोंमें शुभ मानी जाती है ? प्रातःकाल जब गौ घरसे जंगलमें चरने जाती है, उस समयको भी गोधूलि-वेला क्यों न माना गया ? गोधूलि तो भौतिक वस्तु है, अतः क्या भौतिक विज्ञानसे यह बात सिद्ध होती है ?

७—क्या सब गोजाति ही कामधेनु है या वह अन्य कोई गौ-विशेष होती है ; गौमें कामधेनुत्व हमारी तपस्यासे आता है या नहीं ?

८—गौके गोबर-मूत्र परमपावन, प्राशनीय और

देवपूजन, पितृश्राद्ध, हवनादिमें अनिवार्य आवश्यक हैं। जब कि सभी अन्य प्राणियोंके मल-मूत्र धर्मशास्त्रानुसार अपावन हैं, तो ये ही पावन क्यों है ?

९—भैंस भी दूध, दही, घी, गोबर-मूत्र खादके लिये और भैंसे खेती, बोझ ढोनेके लिये देती हैं। आर्थिक दृष्टिसे, कुछ कम-ज्यादा भले हो, परंतु भैंसका महत्त्व भी है। अतः इसे गौके सदृश उपर्युक्त महत्त्व क्यों नहीं दिया गया ?

१०—यावदस्यां गोपतिर्नोपश्रृणुयादृचः स्वयम्।
चरेदस्य तावद् गोषु नास्य श्रुत्वा गृहे वसेत्॥
यो अस्या ऋच उपश्रुत्याथ गोष्वचीचरत्।
आयुश्च तस्य भूतिं च देवा वृश्चन्ति हीडिताः॥
वशा चरन्ती बहुधा देवानां निहितो निधिः।
आविष्कृणुष्व रूपाणि यदा स्थाम जिघांसति॥
आविरात्मानं कृणुते यदा स्थाम जिघांसति।
अथो ह ब्रह्मभ्यो वशा याञ्चयाय कृणुते मनः॥
(अथर्ववेद १२ । ४ । ४ । २७–३०)

क्या उपर्युक्त मन्त्रोंका सम्बन्ध गौके श्वासमें स्थित वेद-मन्त्रोंसे भी है ?

११—गौका आर्थिक महत्त्व रहते हुए भी उसे केवल आर्थिक दृष्टिसे ही देखना, क्या पाप नहीं है ?

१२—पद्मपुराणमें गौके दूध, दही, घी, गोबर, मूत्रका सेवन न करनेवाले मानवको, मांस-पिण्डवत् कहकर निन्दनीय क्यों ठहराया गया है ?

१३—गो-स्पर्श करना एवं गो-पुच्छका शरीरपर फेरना लाभकारी क्यों बताया गया है ?

१४—गौके मांसको मुस्लिम-धर्ममें रोग-रूप कहा है। बादशाह हुमायूँ गोमांससे घृणा करते थे, इसका क्या रहस्य है ?

१५—सुना है, अमरीकाने नये अनुसंधान-द्वारा, जिस खेतमें गौ बैठे, चले, फिरे (यानी गोधूलि, गोचरण-अङ्ग-स्पर्शसे) और गोबर-मूत्र गिरनेसे, खेतीमें उपजे पदार्थोंमें अनेक लाभ माने हैं, जो अन्य खादोंमें नहीं; यह कहाँतक सत्य है और क्यों है ?

१६—सुना है, जर्मनीके फील्ड मार्शलने कहा कि गौके स्तनोंको मुँहमें लेकर दुग्धपान करना विशेष लाभदायक है। गौ शरीरको चाटते हुए प्रेमपूर्वक दूध दे, वह और भी लाभदायक है, यह कहाँतक ठीक है और कैसे है ?

१७—इसी ढंगसे गोवध चालू रहा तो भविष्यमें भारतमें गोधन कितने वर्षोंतक बना रहेगा ? क्या गो-दर्शन दुर्लभ हो जायगा ?

१८—जिस संकटमयी स्थितिमें महर्षिगण भगवान्‌से प्रार्थना किया करते थे, क्या वैसी स्थिति आज उपस्थित नहीं है ?

१९—कलकत्ताके भूतपूर्व प्रधान न्यायाधीश सर जान उडरफने ‘तन्त्र-सिद्धान्त’ में शास्त्रीय आधारपर लिखा है कि ‘जहाँ गोवध हो वहाँ मन्त्र-तन्त्र कैसे सफल हों !’ इसका शास्त्रीय प्रमाण कहाँ है तथा बुरा प्रभाव कैसे होता है ?

२०—वर्तमान स्थितिमें भगवान्‌का अवतार होकर गोरक्षा करनेके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय गोवध-बंदीका है क्या ? जब कि जनतामें मानवताहीन दानवताका प्रसार हो रहा है। कायरता, निराशा और हृदयहीनता घर कर चुकी है।

२१—सन् १८५७ ई० से भारतमें गोवध चालू है। जब गत ९५ वर्षोंके राजनैतिक आन्दोलनोंसे सफलता न मिली, तो अब कैसे मिलेगी ? इस प्रकार समय निकल जानेपर क्या गोवंश लोप नहीं हो जायगा ?

२२—गौ-सेवासे संतानकी प्राप्ति कैसे होती है ? गौको चक्रवर्ती सम्राट् स्वयं क्यों चराते थे ?

२३—गौ-द्वारा वैतरणी पार लँघानेका क्या रहस्य है ?

२४—'सद्यः शक्तिकरः पयः,' 'भोजनान्ते पिबेत् तक्रम्', का क्या रहस्य है ?

२५—'आयुर्वै घृतम्', 'घृतं वै अग्निः'का क्या रहस्य है ?

२६—और क्या उपर्युक्त प्रश्नोंपर गो-सम्मेलनोंमें विचार होकर जनताका अज्ञान दूर किया जायगा ?*

गोहत्याका कलङ्क कैसे दूर हो ?

(लेखक—लाला श्रीहरदेवसहायजी)

भारतकी जनताको विश्वास था कि देशके स्वतन्त्र होनेपर गोहत्या सर्वथा बंद हो जायगी । नस्ल-सुधार आदिके द्वारा भी गोवंशकी उन्नति होकर दूध-घीका उत्पादन बढ़ेगा । खेतीके लिये पर्याप्त रूपमें सुदृढ़ बैल सुलभ होंगे । पर आज देशको स्वतन्त्र हुए साढ़े पाँच वर्ष हो गये । अपंग ही नहीं अपितु बड़ी संख्यामें अच्छी नस्लकी नौजवान दुधारू गायोंकी हत्या हो रही है ! संसारके उन देशोंमें भी जहाँके लोगोंको मांससे परहेज नहीं, ऐसी गायें कत्ल नहीं होतीं, जैसी यहाँ शत-प्रतिशत लाभ, चमड़ेके व्यवहार और निर्यात आदिके लिये होती हैं । नस्ल-सुधार तथा चारेका उत्पादन बढ़ानेके लिये कोई ठोस कार्य नहीं, वरं नकली घी, नकली दूध, नकली दही, नकली खाद आदिके निर्माणद्वारा गोवंशको निकम्मा बनाकर सर्वनाश करनेके दुष्प्रयत्न बड़ी तीव्रगति तथा पूरी शक्तिसे जारी हैं । गोरक्षाके लिये भी कहीं-कहीं प्रचार तथा कुछ रचनात्मक कार्य हो रहा है, पर गोधनके ह्रास और विनाशके लिये जो कार्य किये जा रहे हैं उनकी तुलनामें गोरक्षाका प्रयत्न समुद्रमें बूँदके बराबर नहीं । गोरक्षाका प्रश्न हमारे देशकी जनताके लिये धार्मिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक ही नहीं—शारीरिक और आर्थिक भी है । वास्तवमें हमारे जीवनका मुख्य आधार एवं हमारे देशके आर्थिक ढाँचेका प्रमुख आधार-स्तम्भ गोधन ही है । अतः अपने तथा अपने राष्ट्रके अभ्युदय और निर्माणके लिये गोवंशके इस भीषण ह्रास और विनाशके कलङ्कको दूर करनेके लिये तन-मन-धनसे सचेष्ट होना परमावश्यक है । यदि समय रहते गोवंशको न बचाया गया तो न हम बचेंगे न हमारी स्वतन्त्रता, संस्कृति और धर्म ही । गोरक्षाका प्रश्न जीवन-मरणका प्रश्न है । अतएव इसे गौण न समझकर, विशेष महत्त्व देकर निम्न प्रार्थनापर ध्यान दें—

(१) गोहत्याबंदी तथा गोवंशके संवर्द्धनका कार्य न केवल सरकार ही कर सकती है और न अकेली जनता ही । दोनोंके परस्पर सहयोगसे यह कार्य हो ।

(२) जिस तरह छेदवाले बरतनमें पानी डालनेसे परिश्रम और समय व्यर्थ जाता है, इसी तरह जबतक गोहत्या कानूनके द्वारा पूर्णरूपेण बंद नहीं होगी, केवल नस्ल-सुधारसे विशेष लाभ नहीं होगा ।

(३) गोहत्या बंद करानेके लिये जिले और प्रान्तोंमें दृढ़ संगठन बनाये जायँ, जो सरकारद्वारा सम्पूर्ण रूपसे गोहत्या-बंदीके कानून ही नहीं बनवावें, जहाँ कानून है, उसपर पूरी तरह अमल भी करवावें । जहाँ-जहाँ गोवध होता हो उसकी जाँच करके सरकार तथा जनताको बतावें । अपंग तथा वृद्ध गोवंशको रखनेके लिये सरकार, गोशालाओं, अन्य संस्थाओं तथा संगठनोंद्वारा 'गोसदन' जारी करवानेका यत्न करें ।

(४) जबतक गोवध कतई बंद न हो, प्रयत्न चालू रक्खें ।

(५) गोरक्षाका प्रश्न—स्कूलों, कालेजों और अस्पतालोंसे भी अधिक महत्त्व रखता है । गायको हम माता कहते एवं गायमें देवताओंका निवास मानते हैं, अतः गोरक्षाके प्रश्नको स्कूल, कॉलेज और अस्पताल नहीं; नये बनाये जानेवाले मन्दिरोंसे भी अधिक महत्त्व दें ।

(६) मौखिक तथा साहित्यिक प्रचारद्वारा जनतामें सुप्त हुई गोरक्षाकी भावना जाग्रत् करें; परंतु प्रचार संकीर्ण नहीं, उदार, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रिय दृष्टिकोणसे किया जाय ।

(७) सर्वसाधनसम्पन्न मन्दिरों, मठों, जागीरदारों और धनाढ्योंको गोरक्षाका प्रत्यक्ष रचनात्मक कार्य बड़े

---

* इन प्रश्नोंका उत्तर श्रीश्रीनिवासदास पोद्दार, १४ क्वीन्सपार्क, बालीगंज कलकत्ता—१९ को लिखना चाहिये ।

परिमाणमें स्वयं करना चाहिये । धन और जायदादोंके नये-नये कानूनोंको दृष्टिमें रखते हुए भी गोरक्षाका काम उनके लिये सब प्रकारसे लाभदायक ही है ।

(८) साधनसम्पन्न लोग स्वयं गाय रक्खें, स्वयं सेवा करें । यदि गाय रखनेके साधन न हों तो गोदर्शन तथा गोग्रासका नियम करें जिससे गोरक्षाकी भावना जाग्रत् होकर दृढ़ और स्थायी बने ।

(९) चमड़े आदि जिन चीजोंके लिये गाय मारी जाती है तथा नकली घी आदि जो गोवंशकी आवश्यकताको कम करते हैं, उन सारी चीजोंका व्यवहार तथा व्यापार स्वयं न करें तथा इनके व्यवहार-व्यापारसे होनेवाली हानि जनताको भी समझावें । मारी हुई गायके नहीं, स्वाभाविक मृत्युसे मरी गायके चमड़े या अन्य अहिंसक चीजोंको ही काममें लावें ।

(१०) स्थान-स्थानमें गोरक्षाके प्रचारार्थ सम्मेलन-सभा आदि की जायँ ।

(११) हवन, यज्ञ और सभी धार्मिक कृत्योंमें शुद्ध गो-घृत, दूध, दही आदिका ही व्यवहार करें । अपने निजी व्यवहारमें भी जहाँतक हो सके, गायके ही घी-दूध-दहीका व्यवहार करें ।

(१२) सरल भाषामें गो-साहित्यका प्रचार करें । स्कूलों-कॉलेजोंके विद्यार्थियोंका ध्यान इस ओर आकर्षित किया जाय ।

(१३) स्थानीय गोशालाके कार्यकर्त्ताओंसे सहयोग करके गोशालाओंका सुधार करवावें तथा सहायता दें और दिलावें ।

(१४) चारेके उत्पादन, संरक्षण और उन्नतिके लिये ध्यान दें । जहाँ गोचरभूमि है, उसे उपयोगी बनावें और जहाँ नहीं है, वहाँ छुड़ावें यानी गोचरभूमि नियत करें । चारेके उत्पादन, संरक्षण आदिका प्रदर्शन करके जनताका ध्यान इधर दिलावें ।

(१५) प्रातः और सायंकाल गोरक्षार्थ भगवान्से प्रार्थना की जाय और गोरक्षाका व्रत पालन करनेके लिये जनताको प्रेरित किया जाय ।

प्रभु श्रीराधारमणदेव

[पुरी धामके बड़े बाबाजी महाराजका संक्षिप्त जीवन-चरित्र]

(अनुवादक तथा प्रेषक—श्रीव्रजगोपालदासजी)

भक्तिधर्म-प्रचारक महात्माओंके पुण्यचरितका अध्ययन एवं उनकी लौकिकी लीलारसका आस्वादन आत्मशोधनका प्रधान उपाय बतलाया गया है । यह बात शास्त्रानुमोदित एवं पूर्व-पूर्वके महाजनवाक्यसे सिद्ध है । मधुर-भगवत्-लीलारसकी भाँति उनके चरणाश्रित एकान्त भक्तोंका लीलारस भी मधुर-से-मधुर है ।

आज हम एक ऐसे ही श्रीश्रीनित्यानन्द प्रभुके सविशेष कृपापात्र एवं श्रीश्रीगौराङ्गदेवके चिह्नित दास, परम प्रेमिक, भक्त-चूडामणि सिद्ध चरणदासबाबाजी महाशय एवं उनकी पुण्य चरित्र-कथाका संक्षेपमें वर्णन करेंगे । इन महापुरुषकी पुण्य चरित्र-कथा परम रहस्य एवं विविध भावोंसे पूर्ण है ।

परम दयालु श्रीनिताइचाँदकी कृपासे ये बिना किसी भेदके नाम-प्रेमका प्रचार कर कलिहत जीवोंका महान् उपकार एवं अशेष कल्याण कर गये हैं । बाबाजी महाशय गौरभक्त-चूडामणि थे । उन्होंने अपने इन अनुगत शिष्यको निजशक्ति प्रदान करके भक्ति-बलसे बलवान् बना दिया था ।

श्रीश्रीनित्यानन्द प्रभुने कृपा करके बाबाजी महाशयको निज-शक्ति प्रदान की थी । उस अलौकिक नित्यानन्द-शक्तिके बलसे ही वे युगधर्म नाम एवं प्रेमका पूर्णरूपसे प्रचार करनेमें पूर्ण समर्थ हो सके ।

(भज) निताइ गौर राधेश्याम,
(जप) हरे कृष्ण हरे राम ।

यह मधुर नाम-गान बाबाजी महाशयद्वारा ही रचित है । उन्होंने ही इसका प्रचार किया था । उनके चरणाश्रित शिष्य एवं भक्तगण इसी नाम-गानमें उन्मत्त होकर नृत्यकीर्तनानन्दमें मत्त हो उठते हैं । इस दृश्यको जिन्होंने एक बार भी देखा है, उन्होंने समझा है कि इस नाम-गानमें नित्यानन्द-शक्ति पूर्णरूपसे भरी हुई है एवं यही नाम-मन्त्र भजन-शक्तिको बढ़ाता है ।

मृदङ्ग, करतालके साथ जो मधुर हरिनाम-संकीर्तन होता है, उसके सृष्टिकर्त्ता हमारे प्रभु श्रीगौरसुन्दर हैं। अन्नगत प्राण, अल्पायु, दुर्बल, कलिहत जीवोंका एकमात्र अवलम्बन, परम मङ्गलमय श्रीमन्महाप्रभु-प्रचारित वही हरि-नाम-संकीर्तन जीवोंके दुर्भाग्यवश काल-प्रभावसे जिस समय विलुप्तप्राय होता जा रहा था, उसी समय श्रीसिद्ध चरणदासबाबाजी महाशयने आविर्भूत होकर निताइचाँदकी पूर्ण कृपाशक्ति लाभ करके उस युगोचित हरिनाम-संकीर्तनका पुनः प्रचार किया और विशुद्ध वैष्णवधर्मके याजन एवं उपदेशके द्वारा जगत्‌के निवासियोंको शिक्षा प्रदान की।

(१)

यशोहर जिलेके अन्तर्गत नड़ाइल परगनामें चित्रा-नदीके पश्चिम तीरपर महिषखोला नामक ग्राम है। वह न बहुत छोटा है, न बहुत बड़ा। वहाँकी प्राकृतिक शोभा देखकर जान पड़ता है कि मानो लक्ष्मीदेवी ही मूर्तिमती होकर विराजमान हैं। गाँवमें दक्षिण राढ़ीकुलीन कायस्थोंकी संख्या ही सर्वाधिक है। उनमेंसे घोष महाशय लोग ही प्रतिष्ठित जमींदार हैं। ग्रामवासी सभी इन्हें 'बाबू' के नामसे सम्बोधन करते हैं।

इसी ग्राममें श्रीयुक्त मोहनचन्द्र घोष महाशय निवास करते थे। उस समयकी प्रथाके अनुसार बाबू मोहनचन्द्र घोषके चार विवाह हुए थे। उनकी प्रथम पत्नीसे कोई संतान नहीं हुई। दूसरी पत्नीके गर्भसे चार पुत्र और एक कन्या, तीसरीके गर्भसे केवल एक कन्या तथा चौथी पत्नीके एकमात्र पुत्र हुए।

अठारह वर्षकी अवस्थामें द्वितीय पत्नी श्रीमती कनकसुन्दरी देवीके एक पुत्रका जन्म हुआ। चार वर्ष पश्चात् पुनः द्वितीय पुत्र हुआ। उसके तीन वर्ष पश्चात् बंगाब्द १२६० में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी तिथिको संक्रान्तिके दिन शुभ बृहस्पतिवारके उषाकालमें तृतीय पुत्र प्रकट हुए। पुनः क्रमशः दो वर्ष पश्चात् एक कन्या तथा कुछ वर्ष पश्चात् एक पुत्र उत्पन्न हुए। इनके नाम क्रमशः लालचाँद, विपिनबिहारी, राइचरण, वसंतकुमारी तथा राखालदास हुए।

राइचरणकी पाँच वर्षकी अवस्थामें इनके पिता घोष महाशय परलोक सिधार गये। पिताके दो वर्ष ही बाद मध्यम भ्राता विपिनबिहारीका भी शरीर छूट गया। इसके दो वर्षके भीतर ही सर्वश्रेष्ठ भ्राता लालचाँद तथा सर्वलघु भ्राता राखालदासका भी देहावसान हो गया।

कुछ सम्भ्रान्त लोगोंकी सम्मतिसे राइचरण नड़ाइल हा० स्कूलमें पढ़ने लगे। जब आपकी उम्र पंद्रह वर्षकी हुई तो माता आपके विवाहके सम्बन्धमें बात-चीत करने लगी, परंतु आपके कथनानुसार पहले वसंतकुमारीका विवाह यशोहर जिलेके अन्तर्गत सिंगानिवासी श्रीयुक्त रजनीकान्त वसु महाशयके साथ निश्चित हो गया। इसके दो वर्षके पश्चात् जयपाशा ग्रामके श्रीयुक्त मंगलचन्द्रदत्त महाशयकी कन्या श्रीमती स्वर्णमयीके साथ राइचरण बाबूका विवाह-सम्बन्ध निश्चित हो गया। कुछ समय पश्चात् देवी कनकसुन्दरीने पुत्र और पुत्रवधूका मुखचन्द्र देखते हुए 'हरे राम नारायण ब्रह्म' कहकर मानवलीला संवरण की।

शुभक्षणमें देवी स्वर्णमयीके एक पुत्रका जन्म हुआ। इसी समय कुछ सज्जनोंके कहनेसे राइचरण बाबूने दक्षिणवाड़ी पदुम्दी ग्राम निवासी श्रीयुक्त कृष्णचरणदत्त महाशयकी कन्याके साथ विवाह किया। दुःखकी बात है कि उपर्युक्त नवजात पुत्र माता-पितादिको रुलाकर चल बसा। विवाहके दो वर्ष बाद नयी पत्नीका भी देहान्त हो गया। राइचरण बाबूकी उम्र इस समय लगभग पचीस वर्षकी थी। इस समय वे प्रायः निम्नलिखित बंगला पद गाया करते थे—

> आर हरिनाम बलबि कबे ?
> भाविते शुनिते रे मन, दिने दिने दिन फुराबे।
> पद्मपत्रेर वारि जेमन, तेमनि जीवेर जीवन।
> ढलिया पड़िबे जखन, अमनि अंग अवश हबे।
> देहेर बाति एइ दुइ नयन, जाते कर दिक्‌ दरशन,
> प्रबल हइले काल पवन, (अमनि) ज्वाला बाति निवे जाबे।
> जदि बल बन्धु जने, नाम शुनाबे सेइ दिने,
> शुनते पाबिने पाबिने, अमनि कर्ण बधिर हबे।'

अर्थात् 'फिर रामनाम कब बोलेगा ? अरे मन ! प्रतिदिन सोचते और सुनते हुए ही दिन बीत जायँगे। जैसे कमलके पत्तेपर जल (स्थिर नहीं) रहता है, वैसे ही जीवका जीवन है। जब ढल पड़ेगा, तभी शरीर अवश हो जायगा। देहकी बत्तियाँ ये दो आँखें हैं, जिनसे तू दिशाओंके दर्शन करता है, कालपवनके प्रबल होते ही यह ज्योतिवाली बत्तियाँ बुझ जायँगी। यदि कहे कि उस दिन मेरे बन्धुगण मुझे नाम सुनावेंगे सो तेरे कान तो बहरे हो जायँगे, तू सुन नहीं पायेगा, सुन नहीं [illegible]। (इसीलिये अभीसे नाम लेना आरम्भ कर दे)।'

कुछ दिनों बाद घोड़ाखालीनिवासी श्रीयुक्त बदनचन्द्र सरकार महाशयकी हार्दिक इच्छाके कारण उनकी कन्या श्रीमती त्रैलोक्यतारिणीके साथ आपका तृतीय विवाह हुआ। राइचरण बाबूने खुलना जिलाके मूलधर ग्राम निवासी श्रीयुक्त योगेन्द्रनाथ भट्टाचार्यसे दीक्षामन्त्र ग्रहण किया। नौकरी भी की, परंतु अनिच्छाके कारण नौकरी छोड़ दी।

(२)

दोपहरके आहारका समय था। भोजन तैयार हुआ, परंतु आज राइचरण बाबूने भोजन नहीं किया। उनके हृदयमें अनुतापानल धाँय-धाँय करके जल उठा। संसाररूप शुष्क तृण और कबतक रह सकता था ? उस समय देश-विदेश, समयासमय, स्थानास्थानका कुछ भी विचार नहीं रहा। वे रास्तेमें निकल आये, परंतु उन्हें दिशाओंका ज्ञान नहीं रहा, जिधर मुँह उठा, उधर ही चल दिये। उस दिन उन्होंने कुछ भी नहीं खाया-पीया। दूसरे दिन एक स्थानमें आकर कुछ दुग्ध पान किया। फिर एक घाटपर आकर, नदी पार किया। मनमें आया कि भवानीपुर ही चलें, वहाँ माँ कालीके आदेशानुसार ही कार्य करेंगे और चल पड़े। वहाँ माँके दर्शन कर अति आनन्द प्राप्त किया। सूर्यग्रहणके दिन स्नान करके गीले वस्त्रोंसे ही एक स्थानमें आकर मन्त्र-पुरश्चरण करने लगे। पूर्णग्रास सूर्यग्रहणके समय वे अकस्मात् मूर्छित होकर गिर पड़े। उस समय उनके हृदयमें आनन्द छा रहा था। अङ्ग पुलकित थे तथा काँप रहे थे। कुछ समय पश्चात् एक ब्राह्मण कुछ दूध लाया। प्रायः बीस मिनटके बाद उन्हें चेत हुआ। परंतु उनमें उठनेकी शक्ति नहीं रही। चैतन्य होनेपर दो दिन पश्चात् ब्राह्मणने उनसे कुछ दिन और ठहर जानेको कहा, परंतु वे बोले—'मैं क्या करूँ ? माँके आदेशका पालन करना ही होगा। कई दिन पूर्व माँने स्वप्नमें कहा था 'देख ! तू अब अधिक दिन घर मत रह। मेरे पास बैठकर पुरश्चरण कर, तेरी सारी मनोवासना पूर्ण होगी।' गत परसों सूर्यग्रहणपर मैंने मन्त्र-पुरश्चरण किया, जपसंख्या पूर्ण होनेके कुछ ही समय पूर्व माँने मेरे माथेपर हाथ फेरा और कहा 'जा, तेरी सब इच्छा पूरी हो गयी। सरयूके तीरपर मनोगत गुरु मिलेंगे।' तदनन्तर उनका स्वरूप बतलाकर माँ अन्तर्धान हो गयीं। और माँने अन्तमें कहा था कि वे साक्षात् नित्यानन्दके अवतार हैं।'

दूसरे दिन यथासमय उन्होंने अयोध्या सरयूतीरपर आकर देखा कि माँने जिन महापुरुषके सम्बन्धमें बताया था, वे स्नान करके वनमें प्रवेश कर रहे हैं। राइचरण बाबूको देखते ही उन्होंने कहा 'आ ! मैं तेरी ही प्रतीक्षामें बैठा था।' बाबू दौड़कर उनके श्रीचरणोंमें गिर पड़े। फिर आज्ञानुसार नदीमें स्नान करके आये। महापुरुषने पहले शिष्यको तिलक आदि करनेका आदेश दिया। तदनन्तर प्रेमपूर्वक उनके कर्णमें मन्त्र प्रदान किया। मन्त्रको सुनकर बाबू अचेत हो गये।

(३)

कुछ दिनों पश्चात् गुरुदेवने आदेश दिया कि 'देखो बाबा ! तुम यहाँ अधिक दिन मत ठहरो। प्राप्त वस्तुको हृदयमें धारण करके देश-देश, नगर-नगर, ग्राम-ग्राममें जाकर हरिनाम-संकीर्त्तनका प्रचार करो।' क्या करते ? गुरुका आदेश तो पालन करना ही है। गुरुदेवके श्रीचरणोंमें प्रणाम तथा ज्येष्ठ गुरुभाईको दण्डवत्-प्रणाम करके तथा उनका आशीर्वाद ग्रहण करके चल पड़े। शरीर बड़ा होनेके कारण आप 'बड़े बाबाजी महाशय'के नामसे प्रसिद्ध हुए।

विदा लेकर गुरुके आज्ञानुसार आपने तीर्थपर्यटन करके स्थान-स्थानमें हरिनामका प्रचार किया। असंख्य पतितोंका उद्धारकर जीवन सफल बनाया। भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें भ्रमणकर कलिपावनावतार, परमदयालु प्रेमदाता श्रीनिताइ-गौराङ्ग तथा श्रीराधागोविन्दके नामलीला-गुणगानमें असंख्य भगवद्विमुख, नास्तिक, मद्यपायी, असच्चरित्र, प्राणिहिंसक, देव-द्विज-गुरु-वैष्णवद्वेषी, कलिहत, मायामुग्ध जीवाधमोंको, भगवदभिमुखी विशुद्ध भक्ति-पथके पथिक और धर्मपरायण करके जगत्का अशेष कल्याण किया।

उन्होंने अनेक असम्भव कार्य किये तथा नामकी शक्ति प्रकट करके दिखायी। उनकी उस अनुपम लीलाकथाका प्रकाश करना मुझ-जैसे अज्ञ जीवके लिये सम्पूर्ण धृष्टता है

एक सच्चा सफल व्यापारी श्रीगंडाराम भावड़ा

(लेखक—श्रीनिरञ्जनदासजी धीर)

ऐसा कहा जाता है कि पिछले महायुद्धमें ईमानदारी-पर सबसे पहली गोली लगी थी और वह मर गयी । व्यापारी-समाजकी जितनी आध्यात्मिक अधोगति पिछले दस-बारह वर्षोंमें हुई है यह सभीको विदित है । प्रायः यह कहा जाता है कि सत्य और नियमसे व्यापार नहीं चल सकता । पर यह उक्ति केवल मानसिक और आध्यात्मिक दुर्बलताकी द्योतक है और सत्यनिष्ठाके सर्वथा विपरीत है । यह बात एक साधारण परंतु सत्यनिष्ठ सज्जनके जीवनसे व्यक्त होती है, जिनको स्वर्गलोक सिधारे लगभग बीस-पचीस वर्ष हुए होंगे ।

पंजाबके कपूरथला राज्यान्तर्गत सुलतानपुर नामक छोटा-सा नगर है, वहाँ श्रीगंडाराम भावड़ा निवास करते थे (पंजाबमें जैनी सज्जनोंको भावड़ा कहते हैं) । इनकी आर्थिक स्थिति बहुत हीन थी और कोई पचास वर्ष पूर्व इन्होंने तीन-चार सौ रुपयेकी पूँजीसे बाजारसे हटकर एक गलीमें कपड़ेकी परचूरन दूकान खोली थी । इन्होंने अपने कारोबारके निम्नलिखित नियम बनाये थे, जिनका दृढ़तापूर्वक आजीवन पालन किया—

(१) दूकानपर ठीक दस बजे दिनको आना और सायंकाल पाँच बजे दूकान बंद कर देना ।

(२) सूती कपड़ेपर एक आना रुपया और रेशमी तथा ऊनीपर डेढ़ अथवा दो आना प्रति रुपयासे अधिक मुनाफा नहीं लेना ।

(३) सबके लिये एक कपड़ेका एक ही भाव रखना, चाहे खरीदनेवाला कोई भी हो ।

(४) जो भाव कहना, उससे न्यूनाधिक कभी न करना ।

पहले एक दो वर्ष तो इनके बड़े कष्टसे निकले; क्योंकि ग्राहकोंको विश्वास ही नहीं होता था कि इनका नियम-पालन केवल दिखावा है या सच्ची दृढ़ निष्ठा है । परंतु जब ग्राहकोंने बार-बार परीक्षा करके देख लिया कि यहाँ सभी कार्य सत्यकी अडिग शिलापर स्थित हैं तो इनका व्यापार इतना बढ़ा कि इनके लिये सँभालना कठिन हो गया । इनका नौकर करीमबख्श प्रतिदिन साढ़े नौ बजे दूकान खोलता और झाड़-बुहारके पश्चात् जो ग्राहक पहले आया हो, उसको पहले तथा पीछे-वालेको पीछे—जो जिस क्रमसे आये हों, उनको उसी क्रमसे बैठा देता और ठीक दस बजे वे दूकानके भीतर घुसते । एक दो मिनट पहले आते तो बाहर ही खड़े रहते, जबतक कि दूकानकी घड़ी दसकी घंटी न बजा देती । उधर साढ़े चार बजे ही विक्रय बंद कर देते और पाँच बजे दूकानको ताला लगा देते, चाहे कोई ग्राहक कितना ही लोभ दे और अनुरोध करे, पर वे नियमसे विचलित नहीं होते और विनयपूर्वक कहते कि 'भाईजी, यदि मेरी दूकानसे और सामान लेना है तो कृपापूर्वक कल आ जायँ, नहीं तो बाजारमें बहुत दूकानें हैं उनसे ले सकते हैं ।'

चाहे कोई इनका कितना ही मित्र हो, चाहे कोई अबोध ग्रामीण स्त्री हो, ये सबको एक वस्तु एक ही भाव देते । मित्रोंको आवश्यकता पड़नेपर कह देते कि भाव तो यही रहेगा, परंतु यदि आप चाहें तो वैसे ही ले जायँ; क्योंकि आप मेरे मित्र हैं । और बिना मूल्य दे भी देते । बालक और ग्रामीण स्त्रियोंको भी वस्तु ठीक उसी भावपर मिलती, जिसपर किसी कुशल व्यापारीको मिलती । फल यह हुआ कि इनकी दूकानपर सदा ही भीड़ लगी रहती और विवाहोंकी ऋतुमें बहुत लोगोंको हताश ही होना पड़ता ।

प्रायः देखा जाता है कि धर्मकी कमाई शुभ कर्मोंमें व्यय होती है और इस कमाईके खानेवाले भी सच्चरित्र निष्ठावान् और सुखी होते हैं । इन्होंने अपनी कमाईका एक निश्चित अंश धर्मोपयोगी कार्यों तथा परोपकारमें व्यय किया और मृत्युके समय लाखोंकी सम्पत्ति अपने वंशजोंके लिये छोड़ गये । परंतु इन सबसे मूल्यवान् तो इनका सच्चा यश और दूकानकी ख्याति थी, जिसका लाभ इनके वंशजोंको अभीतक प्राप्त होता रहता है ।

* * *

भ्रम

(रचयिता--श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

(१)

कहाँ गयी वह तेरी माया ?
मिट्टी है या कंचन-काया ?
मिली दृष्टि, पर देख न पाया ,
रंच न भेद समझमें आया—
क्यों तू पड़ा अचेत !
अरे नर चेत ! चेत ! अब चेत !

(२)

तृष्णा-सरितामें बहता था,
काम-चक्र चलता रहता था;
क्रोध-लोभ-मदमें दहता था,
हरिको तू मिथ्या कहता था—
क्यों तू पड़ा अचेत !
अरे नर चेत ! चेत ! अब चेत !

(३)

शत्रु-मित्रका जाल बिछाया,
रंग जमाया, धोखा खाया;
जगको क्या आदर्श दिखाया ?
सचमुच कुछ भी हाथ न आया !
क्यों तू पड़ा अचेत !
अरे नर चेत ! चेत ! अब चेत !

(४)

'हाय-हाय' था नारा तेरा,
'पत्नी मेरी, यह धन मेरा;'
इसी तरह डाले थी घेरा—
मोहरात्रि, कब हुआ सबेरा ?
क्यों तू पड़ा अचेत !
अरे नर चेत ! चेत ! अब चेत !

(५)

कोई तेरे काम न आया,
झूठा जग यह झूठी माया;
जीवन भर भ्रमने चकराया,
पकड़ न पाया अपनी छाया !
क्यों तू पड़ा अचेत !
अरे नर चेत ! चेत ! अब चेत !

(६)

कोई काम नहीं आता है,
जगमें सब झूठा नाता है;
पर प्राणी धोखा खाता है,
भज प्रभुको, क्यों भरमाता है ?
क्यों तू पड़ा अचेत !
अरे नर चेत ! चेत ! अब चेत !

नामकीर्तन-महिमा

'कल्याण'के गत अप्रैलके अङ्कमें श्रीअमरनाथजी शर्मा, एडवोकेटका 'नाम-कीर्तन-महिमा' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ था । उसमें अखण्ड-नाम-कीर्तनमें बनाये हुए काजलकी महिमा लिखी थी तथा यह भी लिखा था, किसीके माँगनेपर श्रीशर्माजी कुछ काजल उन लोगोंको भेज देंगे जो श्रद्धा-विश्वासके साथ स्वयं २४ घंटेका अखण्ड-कीर्तन करना स्वीकार करेंगे । इस लेखको पढ़कर काजल माँगनेवालोंके इतने अधिक पत्र उनके पास तथा कल्याण-सम्पादकके पास आये और अबतक आ रहे हैं कि उन सबको काजल भेजना तो दूर रहा, उनका उत्तर लिखना भी कठिन हो गया । स्वयं कीर्तन करनेकी बात तो बहुत थोड़े लोगोंने स्वीकार की, अधिकांशने तो काजल ही माँगा । शर्माजीके पास काजल कितना संग्रहमें था, जो इतने लोगोंको दिया जाता । अतएव लोगोंको निराश ही होना पड़ा । इससे अब काजल मँगानेके लिये श्रीअमरनाथजीको, श्रीस्वामीजीको और कल्याण-सम्पादकको कोई भी सज्जन कृपया पत्र न लिखें । जिनको भगवान् और भगवन्नाममें श्रद्धा-विश्वास हो, वे अपने यहाँ कम-से-कम २४ घंटेतक, हो सके तो तीन या सात दिनोंतक—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

इन सोलह नामोंके मन्त्रका अखण्ड-कीर्तन करावें । कीर्तनके स्थानपर भगवान्‌की मूर्ति या चित्रके पास शुद्ध घृतका दीपक रक्खें । दीपक अखण्ड रहे यानी जबतक कीर्तन होता रहे, तबतक बुझे नहीं और उसी दीपकसे काजल बना लें । काजल बनाना गृहस्थमें प्रायः सभी जानते हैं । दीपकके ऊपर टेढ़ा सकोरा रख दें । अथवा एक हाड़ीमें पाँच-सात छेद करके उस हाँड़ीको दीपकपर रख दें । काजल बनता जायगा और दीपक बुझेगा नहीं । घी बीच-बीचमें दीपकमें देते रहें, जरूरत हो तो बत्ती भी बदलते रहें, पर खयाल रक्खें, बत्ती बुझने न पावे । दूसरी बत्ती जला देनेपर ही पहलीको निकालें ।

अखण्ड कीर्तनकी विधि यह है कि कम-से-कम दो-दो आदमी लगातार दो घंटेतक कीर्तन करते रहें, (आदमी कम हों और कर सकें तो चार घंटेतक दो आदमी कीर्तन करते रहें) उनका समय पूरा होते ही दूसरे दो सज्जन आ जायँ और वे जब कीर्तन करने लगें, तब पहलेके दोनों चले जायँ । यों कीर्तन जारी रहे । दो घंटे दिनमें और दो घंटे रातमें वही आदमी कीर्तन करें तो २४ आदमियोंसे अखण्ड कीर्तन हो सकता है । घरके, मुहल्लेके लोगोंको मिलकर कीर्तन करना चाहिये । स्त्रियाँ भी कीर्तन कर सकती हैं, परंतु उनके साथ पुरुष नहीं रहना चाहिये—इस प्रकार कीर्तन करके काजल बनाया जा सकता है और श्रद्धा-भक्ति तथा विश्वास होगा तो वह काजल श्रीअमरनाथजीके लेखमें बताये हुए काजलसे कम महत्त्वका नहीं होगा । लोगोंको पत्र न लिखकर कीर्तन करने-करानेका श्रम स्वीकार करके स्वयं काजल बना लेना चाहिये ।

* * *

राम नाम कलि कामतरु सकल सुमंगल कंद ।
सुमिरत करतल सिद्धि सब पग पग परमानंद ॥

कामके पत्र

(१)

भक्त या ज्ञानी गाली नहीं बकते

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । उत्तरमें निवेदन है कि 'कोई सज्जन यदि अपनेको भगवद्भक्त, ज्ञानी मानते हैं और कल्याण तथा गीताप्रेसके ग्रन्थोंपर प्रगाढ़ आस्था रखते हैं, पर बात-बातमें क्रोध करते हैं, गालियाँ बकते हैं, ऐसा स्वभाव है कि उनके कारण घरका तथा मुहल्लेका भी प्रत्येक व्यक्ति पीड़ित है।' सो इन दोनों बातोंमें मेल नहीं खाता। भगवद्भक्त तथा ज्ञानी पुरुष किसीको न तो गाली बक सकते हैं और न भक्ति या ज्ञानके नामपर किसीको पीड़ा ही पहुँचा सकते हैं। भक्ति या ज्ञानका मिथ्या अभिमान हो तो दूसरी बात है। रही 'कल्याण' तथा गीताप्रेसके ग्रन्थोंपर प्रगाढ़ आस्थाकी बात, सो यह भी ठीक नहीं है। कल्याण तथा गीताप्रेसके किसी भी ग्रन्थमें किसीको भी पीड़ा पहुँचाने, गालियाँ बकने, क्रोध तथा असंयम करनेका उपदेश नहीं रहता, अतएव इस सम्बन्धमें इतना ही कहना है, आपको तो यह मानना चाहिये कि वे यथार्थ ज्ञानी या भक्त नहीं हैं। और उनसे यह निवेदन है कि यदि सचमुच वे क्रोध करते, गाली बकते, संयम नहीं पालते और लोगोंको पीड़ा पहुँचानेका काम करते हैं तो उन्हें सावधान होकर अपना सुधार करना चाहिये। अपनेमें कमीका अनुभव करना चाहिये और पूरे प्रयत्नसे उसे दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

(२)

पत्नीको मारने-सतानेवाले राक्षस हैं

प्रिय बहिन ! सस्नेह हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आपने पतियोंके द्वारा पत्नियोंके अपमानित किये जाने, सताये जाने, उन्हें अन्न-वस्त्रादि न देनेकी कई घटनाएँ लिखीं, सो ऐसी ही बात है। पुरुषजातिके कई लोग स्त्रियोंके प्रति अत्यन्त असद्व्यवहार करते हैं, और वह वस्तुतः महापाप है। हिंदू-धर्ममें कहीं भी पुरुषोंको यह छूट नहीं दी गयी है कि वे स्त्रियोंके साथ दुर्व्यवहार करें, उन्हें सतायें तथा स्वयं अच्छा खायें-पीयें उनको न दें, बल्कि यहाँतक कहा गया है कि जिस घरमें स्त्रियाँ दुखी होकर रोती हैं, वह घर और वह कुल ध्वंस हो जाता है। देवता वहीं रमते हैं, जहाँ स्त्रियाँ सम्मानित और पूजित होती हैं। जो पुरुष अपनी पत्नीके साथ दुर्व्यवहार करता है, वह अपने लिये घोर दुःखकी तैयारी करता है, अपने ही हाथों आप नष्ट होनेका प्रयास करता है। पर सभी पुरुष ऐसे नहीं हैं। मैं ऐसे बहुतसे पुरुषोंको जानता हूँ, जिनके घरमें पत्नी सम्मान और सत्कार प्राप्त करती है और बहुत सुखी है। पातिव्रत्य स्त्रीका धर्म है, पुरुषका अधिकार नहीं है। पुरुष यदि अपनेको स्त्रीके द्वारा पूजे जानेका अधिकारी मानता है तो वह भूल करता है। और जो पुरुष स्त्रीको सताने और दुःख देनेका और मारने-पीटनेका अपना अधिकार मानता है, वह तो राक्षस है। ऐसे पुरुष समाजमें हो गये हैं, इसीसे समाजमें दुःख तथा संताप बढ़ रहा है। पद्मपुराणमें तो यहाँतक लिखा है कि पत्नी तीर्थ है और जो पुरुष पत्नीके बिना धर्म-कर्म, तीर्थ-यात्रादि करता है, वे भी उसके निष्फल होते हैं। इसका अर्थ स्त्रैण होना नहीं है। धर्मसङ्गत कार्योंमें स्त्रीका सहयोग रखना आवश्यक है; क्योंकि उसको साथ लेकर ही गृहस्थ सिद्ध होता है*। शेष भगवत्कृपा।

× × ×

---

* पत्रका अगला अंश व्यक्तिगत होनेके कारण प्रकाशित नहीं किया गया।

श्रीहरिः

नये संस्करण ! *प्रकाशित हो गये !!*

संक्षिप्त महाभारताङ्क

यह सं० १९९९ में 'कल्याण' के १७ वें वर्षके विशेषाङ्क तथा साधारण अङ्कोंके रूपमें प्रकाशित हुआ था। उस समय इसकी ५०,६०० प्रतियाँ छपी थीं, जो उसी वर्ष हाथों-हाथ बिक गयीं। तत्पश्चात् ग्राहकोंकी माँगके अत्यन्त आग्रहपूर्ण पत्र बराबर आते ही रहे, इसलिये सं० २००१ में इसका ५,००० प्रतियोंका दूसरा संस्करण दो खण्डोंमें विभक्त करके छापा गया। वह भी प्रकाशित होते ही समाप्त हो गया। पुनरपि जनताकी माँग पूरी न हुई और इसके पुनः प्रकाशनके लिये बार-बार अनुरोधपूर्ण पत्र आते ही रहे, अतः १५,००० प्रतियोंका यह तीसरा संस्करण छापा गया है।

इसमें तिरंगे चित्र १२ तथा इकरंगे लाइन चित्र पूरे ९७५ ज्यों-के-त्यों दिये गये हैं। पूरी फाइल दो जिल्दोंमें है। मूल्य १०) रक्खा गया है।

आशा है, प्रेमी सज्जन इससे लाभ उठानेकी कृपा करेंगे। दोनों जिल्द एक साथ ही दिये जाते हैं, अतः अलग एक जिल्दके लिये माँग करनेका कोई सज्जन कष्ट न करें।

व्यवस्थापक—**'कल्याण', गोरखपुर**

शरणागतिरहस्य

(वाल्मीकि-रामायणमें भगवच्छरणागति)

लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी भट्ट शास्त्री

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ ३६०, सचित्र, मूल्य ॥।=) मात्र। डाकखर्च ॥।=)

प्रभुको प्राप्त करनेके लिये 'शरणागति' का मार्ग ही सबसे सहज और सुगम है। सर्वमान्य गीताके अन्तमें जिस 'शरणागति'का उपदेश दिया गया है, उसी शरणागतिका रहस्य भगवान् श्रीराम और विभीषणके आख्यानमें पूरा-पूरा खोला गया है। सुन्दर कथाके रूपमें आप इस तत्त्वको इस पुस्तिकामें सहज ही समझ सकते हैं।

आवश्यक सूचना

प्रेमी ग्राहक बन्धुओ ! सूचनार्थ निवेदन है कि—

१—भारतीय डाक-विभागने एकाएक ता० १ मई सन् १९५३ ई० से पुस्तकोंके पैकेटोंपर लगनेवाले बुकपोस्ट डाकमहसूलको पहलेसे दुगुना कर दिया है। अर्थात् जो पहले ॥) प्रतिसेर लगता था, वह अब १) प्रतिसेर हो गया है। इस कारण बढ़े हुए डाकखर्चको स्वीकार करते हुए डाकसे पुस्तकें मँगवानेके लिये आर्डर भेजना चाहिये और साथमें अनुमानतः आधी कीमत पेशगी अवश्य भेजनी चाहिये। बढ़े हुए डाकखर्चकी स्वीकृति और पेशगी प्राप्त होनेपर ही आर्डरकी पुस्तकें अविलम्ब भेजी जा सकेंगी।

२—यदि समीपमें कोई रेलवे-स्टेशन हो और रेल-पारसलद्वारा पुस्तकें मँगवा सकें तो डाककी अपेक्षा बहुत कम खर्च पड़ेगा। रेल-पारसलद्वारा प्रायः ।) सेर खर्च लगता है। कम-से-कम १०) की पुस्तकें रेल-पारसलद्वारा मँगवानेमें खर्चकी बचत होगी [illegible] तथा डाकद्वारा ही मँगवानेमें सुविधा है। रेल-पारसलसे मँगाना हो तो स्टेशनका नाम स्पष्ट लिखते हुए साथ आधी कीमत पेशगी भेजनेकी कृपा करें। रेलवेविभागकी गड़बड़ीके कारण पारसल गुम होने अथवा ठीक समयपर न पहुँचनेका उत्तरदायित्व कार्यालयपर नहीं होगा।

३—कार्यालयमें सीधे आर्डर भेजनेके पूर्व आप अपने स्थान, निकटके बड़े स्थान अथवा किसी बड़े शहरसे जहाँपर हमारी पुस्तकें मिलती हों, आवश्यकतानुसार पुस्तकें खरीद लेने अथवा किसी परिचित आने-जानेवालेद्वारा मँगवा लेनेका प्रयत्न करें। इस प्रकार आपको छपे मूल्यमें हमारी पुस्तकें पुस्तक-विक्रेताओंसे प्राप्त हो सकती हैं और भारी डाकखर्चकी बचत हो सकती है। यदि ऐसा सम्भव न हो तो सहर्ष अपना आर्डर पेशगीसहित सीधे कार्यालयको भेजनेकी कृपा करें।

४—डाकमहसूल १) का पुस्तक मँगानेसे १) तथा ५) का पुस्तक मँगानेसे २॥), ३) के लगभग लगता है।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

श्रीहरिः

नयी पुस्तकें ! प्रकाशित हो गयीं !!

आरती-संग्रह

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ ७२, मूल्य ≡) मात्र। —इस पुस्तकमें संस्कृत तथा हिंदी भाषामें आरतीके अनेकों प्रचलित पदोंका संग्रह है। पूजा करनेवालोंको इस संग्रहसे विशेष सुविधा होगी। इसमें भगवानके स्वरूपों तथा देवताओंकी आरतीके ८९ पद हैं।

भगवच्चर्चा भाग ४

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ ४३६, सचित्र, मूल्य ।।।-) सजिल्द १≡) मात्र। डाकखर्च ।।।=)। इसमें भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके लेखोंका, जो समय-समयपर 'कल्याण' में प्रकाशित हुए हैं, अनूठा संग्रह है। इसमें बहुत-से उपयोगी विषय आये हैं। पुस्तक बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभीके लिये अत्यन्त उपयोगी है।

शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ १२८, मूल्य ।) मात्र। —इस पुस्तकमें श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा लिखी हुई शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियोंका संग्रह है। ये 'कल्याण' में समय-समयपर प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें परमार्थ-पथके पथिकोंके लिये उत्तम-से-उत्तम उपदेश तथा आदर्श प्राप्त हो सकते हैं।

ईशावास्योपनिषद्

[अन्वय तथा सरल हिंदी-व्याख्यासहित]

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ १६, मूल्य -) एक आना मात्र। —इस पुस्तिकामें मूल मन्त्रोंका अन्वयसहित अर्थ तथा अलग व्याख्या भी की गयी है, जिससे उपनिषद्के गूढ़ तत्त्वके समझनेमें बड़ी सुविधा हो गयी है।

तीर्थोंमें पालन करने योग्य कुछ उपयोगी बातें

आकार बत्तीसपेजी, पृष्ठ १६, मूल्य)। एक पैसा मात्र। —यह ट्रैक्ट तीर्थयात्रियोंके लिये बड़े कामकी है।

भगवान राम [प्रथम भाग]

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ ५२, १ रंगीन तथा ७ एकरंगा चित्र, सुन्दर बहुरंगा टाइटल **मूल्य ।) मात्र।** —इसमें भगवान् श्रीरामके चरित्रोंका वर्णन है। यह बालकोंके बड़े कामकी पुस्तक है।

भगवान राम [द्वितीय भाग]

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ ५२, १ रंगीन तथा ७ एकरंगा चित्र, सुन्दर बहुरंगा टाइटल **मूल्य ।) मात्र।**

स्वास्थ्य, सम्मान और सुख (बालकोंके उपयोगकी बातें)

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ ३२, मूल्य -)॥ मात्र। —इस पुस्तिकामें स्वास्थ्य, सम्मान और शान्तिकी प्राप्तिके लिये बड़े उत्तम-उत्तम नियम बतलाये गये हैं। यह बालकोंके लिये बड़े कामकी पुस्तक है।

बाल-प्रश्नोत्तरी

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ २८, मूल्य -)॥ मात्र। —इसमें प्रश्नोत्तररूपमें धर्मके तात्त्विक विषयोंको बड़ी सरल भाषामें समझाया गया है। इसके पढ़नेसे बड़ी उम्रके समझदार बालकोंकी बुद्धिका धर्मकी ओर अनायास ही हो सकता है।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोर**

नोट—शरणागतिरहस्यसे [illegible] ।।।=) तथा डाकखर्च १।।)।।। कुल ४।=)

कल्याण

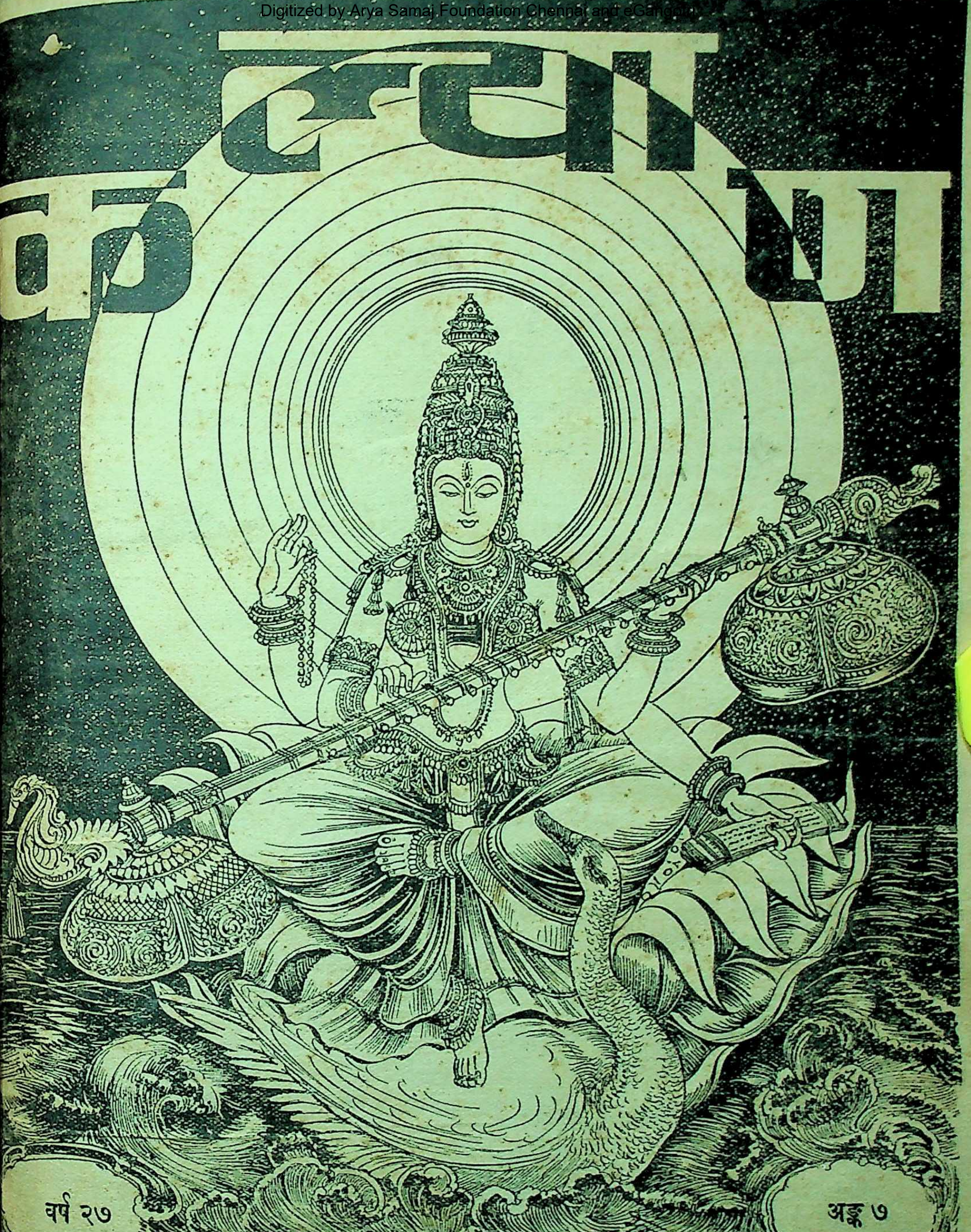

वर्ष २७

अङ्क ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

जयति शिवाशिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण २०१०, जुलाई १९५३

विषय पृष्ठ-संख्या

१–परछाईं पकड़नेके लिये रोने लगे [कविता] ११२१
२–कल्याण ('शिव') ११२२
३–संसार-बन्धन (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज) ११२३
४–ममता त्यागकर रामको भजो [कविता] (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी) ११२७
५–स्त्रियोंके लिये कर्तव्यशिक्षा और पातिव्रत्यका प्रभाव (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ११२८
६–प्रार्थना [कविता] (श्रीनन्दकिशोरजी झा काव्यतीर्थ) ११३३
७–मन्त्रोंकी छान्दस शक्ति (पं० श्रीवीरसेनजी) ११३४
८–श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन ११३५
९–वैराग्यकी निर्मल भावना (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ११४१
१०–श्रीभगवन्नामका रहस्य (प्रो० श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय एम्० ए०, बी० एस्-सी०) ... ११४४
११–प्रार्थना [कविता] (महात्मा जयगौरीशंकर सीतारामजी) ११४८
१२–सत्य-आधार (साधुवेषमें एक पथिक) ११४९
१३–भगवान्‌की पूजा [कहानी] (श्री 'चक्र') ११५०
१४–भक्त-गाथा [आन्ध्रके भक्त कवि रामदास] (श्रीगुरुनाथजी शर्मा) ११५६
१५–अधिकार (महात्मा श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल महोदय) ११५८
१६–मेरा कुछ नहीं ! (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०) ११६१
१७–किससे कहें ! (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा) ११६२
१८–आदर्श दानकी महत्ता [कहानी] (श्रीगणात्रा दयालजी लक्ष्मीदास) ११६६
१९–ब्राह्मणत्वकी ओर (डा० मुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... ११६९
२०–बिल्व और इमली [लघु कथा] (पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न) ... ११७२
२१–एक गौकी नहीं, तीन गौओंकी रक्षा (आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ, सदस्य विधान-सभा, उत्तरप्रदेश) ११७४
२२–सर्वसमर्पण [कविता] (पु० श्रीप्रतापनारायणजी) ११७६
२३–कामके पत्र ११७७
२४–बाल-कल्याण (श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल बी० ए०, एल्-एल्०बी०) ... ११८०
२५–जगद्गुरु शङ्कराचार्य अनन्तश्री स्वामीजी श्रीब्रह्मानन्दजी महाराज ११८४

चित्र-सूची

तिरंगा

१–परछाईं पकड़नेके लिये रोने लगे ११२१

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।=)
विदेशमें ॥-)
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

२५-6-

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

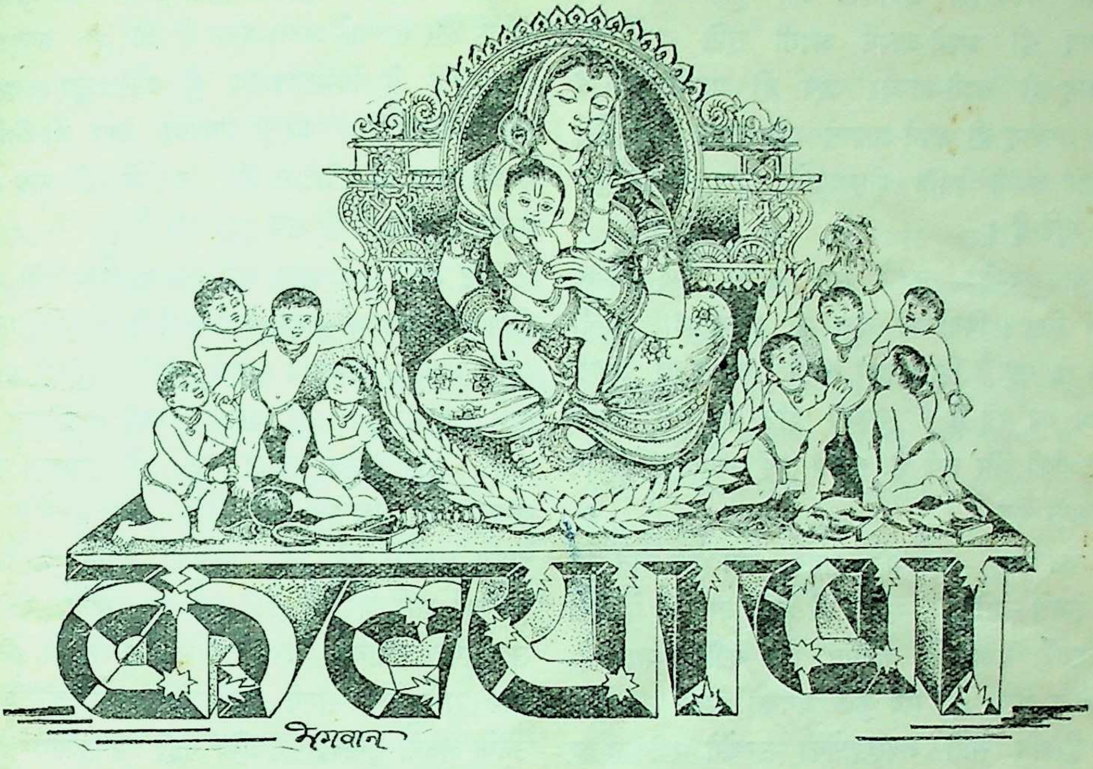

कल्याण

उपासतामात्मविदः पुराणाः परं पुमांसं निहितं गुहायाम् ।
वयं यशोदाशिशुबाललीलाकथासुधासिन्धुषु लीलयामः ॥

वर्ष २७ } गोरखपुर, सौर श्रावण २०१०, जुलाई १९५३ { संख्या ७
पूर्ण संख्या ३२०

परछाईं पकड़नेके लिये रोने लगे

रतनभूमि पर चलत बकैयाँ।
चकित भये अति कान्ह बिलोकत निज मुखपंकजकी परछैयाँ ॥
निज अनुहार निहारि सखा इक, पकरन हेतु पसारी बैयाँ।
पकरि न सके, सखेद हेरि जननीमुख रोवन लगे कन्हैया ॥

याद रक्खो—यह सारी सृष्टि और सृष्टिका समस्त व्यापार भगवान्के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भगवान् ही अपने-आपमें अपनी सृष्टि करते हैं, भगवान् ही अपने-आपका आप ही पालन करते हैं और भगवान् ही अपने-आपका आप संहार करते हैं। वे स्वयं अपनी शक्ति योगमायासे आप ही सब कुछ बन जाते हैं।

याद रक्खो—तुम्हारे साथ उनका कभी वियोग नहीं होता। वियोगकी बात तो अलग रही, सच्ची बात तो यह है कि तुम्हारे रूपमें भगवान् ही अपनी लीला कर रहे हैं। तुम्हारी दृष्टि संसारकी मिथ्या वस्तुओंकी ओर लगी है, इसीसे तुम्हें भगवान्का वियोग दिखायी देता है।

याद रक्खो—भगवान् सबमें, सब कुछ होते हुए भी सबसे न्यारे हैं—सबसे परे हैं। जगत्की ये तीनों अवस्थाएँ भगवान्में कल्पित हैं—कल्पित क्या है, भगवान् आप ही सब कुछ बनकर सबमें प्रविष्ट हो रहे हैं और सारी अवस्थाओंको उन्होंने स्वीकार कर लिया है।

याद रक्खो—भगवान् तुमसे कभी अलग नहीं हो सकते और तुम भगवान्से कभी अलग नहीं हो सकते; क्योंकि अलग हो ही नहीं। पर इसका अनुभव तुम्हें तभी हो सकता है, जब तुम सर्वत्र भगवान्को देखो और सबको भगवान्में देखो।

याद रक्खो—मिट्टीके भाँति-भाँतिके बरतन बने हैं, सोनेके तरह-तरहके गहने बने हैं? चीनीके विविध नाम-रूपोंके खिलौने बने हैं? परंतु क्या वे मिट्टीके सब बरतन मिट्टीसे अतिरिक्त कोई वस्तु हैं, क्या वे सोनेके गहने सोनेको छोड़कर और कुछ हैं? और क्या वे चीनीके खिलौने सर्वत्र मिठासभरी चीनी ही नहीं हैं? जैसे ये नाम-रूपोंका महान् और असंख्य प्रकारका अन्तर होनेपर भी वस्तु-तत्त्वकी दृष्टिसे मिट्टी, सोना और चीनी ही हैं, वैसे ही यह विविध नाम-रूपमय संसार भी वस्तुतः ही भगवान् ही है। हाँ, अन्तर इतना अवश्य है कि इन वस्तुओंका निर्माण करनेवाले कुम्हार, सोनार और हलवाई अलग-अलग हैं और इन वस्तुओंसे भिन्न हैं। वे निमित्तकारण हैं और मूल वस्तुएँ उपादानकारण हैं। परंतु भगवान् आप ही निमित्त हैं और आप ही उपादान हैं। उन्होंने ही सब कुछ बनाया है और वे ही सब कुछ बने हैं।

याद रक्खो—जबतक मूल तत्त्व-पदार्थपर दृष्टि नहीं होगी और जबतक बाहरी नाम-रूपोंको ही सत्य मानते रहोगे, तबतक वस्तुतत्त्व तुम्हारे सामने, तुम्हारे हाथोंमें रहते हुए भी तुम उसे पाओगे नहीं। खोजते ही रहोगे। तत्त्वपदार्थको खोजो मत, उसे पहचान लो। जबतक यह पहचान नहीं होगी, तबतक जैसे अज्ञ बालक चीनीसे बने सर्प, सिंहको देखकर डरता है, चीनीका स्वाद चखकर सुखी नहीं हो सकता, वैसे ही सदा-सर्वदा भयानक भवाटवीमें भटकते रहोगे, नित्य-सत्य सर्वत्र सब समय रहनेवाले भगवान्को पाकर उनके अनन्त सुखकी उपलब्धि नहीं कर सकोगे।

याद रक्खो—न तो भगवान्को कहींसे लाना है और न भगवान्के लिये तुमको कहीं जाना है। तुम अपने नाम-रूपसे अलग होकर अपने असली स्वरूपकी ओर दृष्टि लगा दो और जगत्के नाम-रूपके आवरणको हटाकर भगवान्को तुम्हारी ओर देखने दो। बस, भगवान् तो सदा मिले ही हुए हैं।

याद रक्खो—भगवान्के न मिलनेकी बात तभीतक है, जबतक भगवान्की पहचान नहीं हो जाती और अपनी आँखोंका परदा नहीं हट जाता। भगवान्के सिवा तुम्हारे नित्य साथ रहनेवाली, सभी अवस्थाओंमें सदा जाग्रत् रहनेवाली, तुम्हारे रूपमें अपनेको ही अभिव्यक्त करनेवाली वस्तु और कोई है ही नहीं। उसकी उपलब्धि करो, सदा सर्वत्र उपलब्धि करो और कृतार्थ हो जाओ। कृतार्थ तो हो ही। कृतार्थ न माननेकी भूलको मिटा दो।

'शिव'

संसार-बन्धन

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज)

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान् ।
तावन्तो हि निखन्यन्ते हृदये शोकशंकवः ॥

मनुष्य सम्बन्धको बढ़ाता तो है अपनी मनः-कामनाकी पूर्तिके लिये, परंतु फल इसका उलटा ही होता है । सुखकी आशासे मनुष्य 'यह मेरा है, यह मेरा है' कहकर ममत्व जोड़ता जाता है । वैसे-वैसे सुख तो नहींके समान मिलता है, पर शोक-मोहके प्रसङ्ग बढ़ते ही जाते हैं । संयोग तो बहुत मीठा लगता है, परंतु प्रिय माने गये प्राणी और पदार्थोंका वियोग होनेपर मनुष्य हाय-हाय करता है । जिसके साथ संयोग हुआ है, उसका वियोग तो एक दिन होना ही है । या तो वह अपनेको छोड़कर चला जाता है, या अपने ही उसे छोड़कर चला जाना पड़ता है । इस प्रकार 'मेरा-मेरा' कहते हुए मनुष्य बन्धनमें जकड़ जाता है और संसार-चक्रमें घूमा करता है । यदि मनुष्य ममत्वका सम्बन्ध न बाँधे तो दूसरा तो कोई बन्धन है ही नहीं कि जिसकी निवृत्ति करनी पड़े ।

'संसार बन्धन, संसार बन्धन' कहते तो सभी हैं, परंतु संसारका स्वरूप क्या है, इस सम्बन्धमें विचार तो विरले ही किसीको होता है । जबतक संसारका स्वरूप न जाने, तबतक मनुष्यकी समझमें बन्धनका स्वरूप कैसे आयेगा ?

इसलिये आज अपने संसारका स्वरूप समझनेका प्रयत्न करेंगे और उसके बाद बन्धनका स्वरूप समझेंगे, इसके अनन्तर संसार-बन्धनकी निवृत्ति किस प्रकार करनी चाहिये, इस सम्बन्धमें विचार करेंगे; क्योंकि इस बन्धनकी निवृत्ति केवल मनुष्य-शरीरमें ही हो सकती है । दूसरे सारे शरीर तो केवल भोग-योनियाँ ही हैं, यानी पूर्वजन्मोंमें किये गये शुभाशुभ कर्मोंके फल सुख-दुःख भोगनेके लिये ही वे उत्पन्न होते हैं । इससे शरीरका एक अर्थसूचक नाम 'भोगायतन' है । इसका अर्थ इतना ही है कि सुख-दुःख भोगनेके लिये निश्चित अवधिके लिये एक धर्मशालाका आश्रय लेना । भोग भोग लेनेके बाद इस धर्मशालाको अवश्य ही छोड़ना पड़ता है, और अन्य कर्मफलोंको भोगनेके लिये दूसरी धर्मशालाका आश्रय लेना पड़ता है । इस प्रकार धर्मशालाके बाद धर्मशाला बदलती जाती है, और मनुष्य भी यदि अन्य प्राणियोंके समान धर्मशालामें भटकनेको ही जीवन माने तो फिर मनुष्य और दूसरे प्राणियोंमें अन्य कोई अन्तर ही नहीं रह जाता ।

संसारका स्वरूप समझनेके लिये श्रीविद्यारण्य मुनिने जगत्को 'सृष्टि' और 'संसार' इन दो भागोंमें बाँटा है, और इससे संसारका स्वरूप बहुत सुन्दरतापूर्वक समझमें आ जाता है ।

ईक्षणादि प्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन निर्मिता ।
जाग्रदादि विमोक्षान्तः संसारः जीवकल्पितः ॥

परमात्मा योगनिद्रामें सोये थे । उससे जागकर देखा तो कुछ भी न दीख पड़ा । परंतु सहज इच्छा स्फुरित हुई कि 'एकोऽहं बहु स्याम्' मैं अकेला हूँ और बहुत रूप हो जाऊँ । यह संकल्प प्रकृतिके ऊपर प्रतिफलित हुआ और प्रकृति माताने पुरुषकी प्रसन्नताके लिये अनेक प्रकारकी सृष्टि रची । परंतु यह सृष्टि जडवत् जैसी-की-तैसी खड़ी रही और उसमें क्रिया या गति कुछ दीख न पड़ा । परमात्माको तो अनेक रूप होकर खेल करना था, इसलिये अपने अनेक अंशोंसे सारी सृष्टिमें स्वयं प्रवेश किया और सारी सृष्टि चेतनामय बन गयी । इसका नाम है सृष्टि और यह 'ईशेन निर्मिता' यानी प्रभुने इसकी रचना की है या इसको बनाया है ।

अब इस सृष्टिमें भौतिक सृजन त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका है, और ये तीनों गुण जबतक विषम अवस्थामें रहते हैं, तबतक ही सृष्टि टिकी रह सकती है। इस प्रकार भौतिक पदार्थोंमें भी विषमता रहेगी ही यानी वृद्धि, ह्रास हुआ ही करेगा। शास्त्रोंने इसे छः प्रकारके विकारोंके रूपमें वर्णन किया है, परंतु हम स्थूल दृष्टिसे तीन विकारवाली मानें तो भी काम चल सकता है। वे हैं उत्पत्ति, स्थिति और लय—अर्थात् जन्मना, जीना और मर जाना। ईश्वरकी सृष्टिमें कोई घट-बढ़ नहीं होती, केवल विकार यानी रूपान्तर हुआ करता है। एक क्षण भी ऐसा नहीं जाता, जिसमें असंख्य शरीर उत्पन्न न होते हों और तदनुसार असंख्य शरीरोंका नाश न होता हो। शरीरोंके उत्पन्न होनेसे सृष्टिमें कोई वृद्धि नहीं होती तथा नाश होनेपर उसमें कोई कमी नहीं होती। वहाँ तो सब जैसा है वैसा ही रहता है। केवल विकार यानी रूपान्तर उत्पत्ति और विनाशके रूपमें दीख पड़ता है। इस बातको एक दृष्टान्तके द्वारा समझिये। समुद्रमें प्रतिक्षण असंख्य तरङ्गें उत्पन्न होती हैं और नाशको प्राप्त होती हैं। इस तरह वहाँ उत्पत्ति और विनाश प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं, तथापि कुछ भी नया उत्पन्न नहीं होता तथा न किसीका नाश ही होता है। केवल जलका विकार उत्पत्ति और विनाशके रूपमें दीख पड़ता है; जल तो ज्यों-का-त्यों ही रहता है। तरङ्गोंकी उत्पत्तिके समय वह कोई बढ़ता नहीं और न तरङ्गोंके नाश होनेपर कुछ घटता ही है।

इसी प्रकार ईश्वरकी सृष्टिमें भी पञ्चमहाभूतोंकी तरङ्गें प्राणी-पदार्थके रूपमें उत्पन्न होती और नाशको प्राप्त होती दीख पड़ती हैं। तथापि पञ्चमहाभूतोंमें कोई घट-बढ़ नहीं होती। वह तो जैसे-के-तैसे सृष्टिसे लेकर प्रलयतक रहते हैं। उन पञ्च महाभूतोंमें जो विकार या रूपान्तर होते हैं उनको हम उत्पत्ति-विनाश कहते हैं। वस्तुतः जल-तरङ्गके समान न कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ नाशको प्राप्त होता है। परंतु तरङ्गोंका विवेचन करते समय हम यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि न कुछ उत्पन्न होता है न नाशको प्राप्त होता है, क्योंकि यहाँ 'अहंता, ममता' रूपी अविद्याका पर्दा हमारी दृष्टिके सामने नहीं रहता। परंतु शरीरकी उत्पत्ति और नाशके समय यह तटस्थ दृष्टि नहीं रहती है; क्योंकि यहाँ अविद्याका पर्दा हमारी आँखोंके सामने आ जाता है। इस प्रकारकी तटस्थ दृष्टिका सदा बना रहना ही सच्चा ज्ञान है।

'जाग्रदादि विमोक्षान्तः' यानी जीवके शरीर धारण करके माताके पेटसे बाहर आनेके बाद और उसके शरीरान्तपर्यन्त जो संसार होता है वह 'संसारो जीवकल्पितः' जीवका रचा हुआ संसार उसकी कल्पनामात्र है। इस जीवकल्पित संसारमें घट-बढ़ हुआ ही करती है। इसमें कुछ भी स्थिर नहीं। अब यह देखना है कि जीवकल्पित संसारकी रचना कैसे होती है!

जीव शरीर धारण करके माताके उदरसे बाहर आया। परमेश्वरने उसका पालन-पोषण करनेके लिये उसको एक माता दी, जिसने उसको पाल-पोसकर बड़ा किया। दो वर्षके बाद परमेश्वरने उससे पूछा—'भाई! यह कौन है?' तो वह बोला—'मेरी माँ।' प्रभुने कहा—'ठीक।' फिर प्रभुने उसे एक भाई दिया और पूछा—'भाई! यह कौन है?' तो वह बोला—'मेरा भाई।' फिर दो-तीन भाई-बहिन और देकर पूछा—'ये कौन हैं?' तो वह बोला—'मेरे भाई-बहिन।' फिर तो प्रभुने उसको स्त्री ब्याह दी और उस स्त्रीको भी दो-तीन बालक दिये और पूछा—'भाई! ये कौन हैं?' तो वह बोला—'मेरे स्त्री-पुत्रादि हैं।' इस प्रकार जीवका संसार रचा जाता है।

पश्चात् एक दिन प्रभुको उसके बड़े पुत्रकी जरूरत पड़ी। अपनी सृष्टिमें उसको दूसरा काम सौंपना था। प्रभुने कहा, 'तुम्हारा बड़ा लड़का मुझे वापस चाहिये।'

तो वह बोला—'मैं अपना लड़का तुमको क्यों दूँ ?' प्रभु तो थप्पड़ मारकर उस लड़केको ले जाते हैं और वह वहाँ ही रोता खड़ा रहता है । इस प्रकार जीवका संसार रचा जाता है और यहाँ हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि इसमें मेरे-तेरेकी कल्पनाके सिवा संसार-जैसी कोई वस्तु नहीं होती । इसीलिये संसारको मिथ्या कहा गया है, क्योंकि इसका स्वरूप जीवकी कल्पनाके सिवा कुछ नहीं है ।

संसार इस प्रकार रचा जाता है इसलिये प्रत्येक जीवका संसार अपनी-अपनी कल्पनाके अनुसार अलग-अलग होना चाहिये । इस व्यक्तिगत संसारमें घट-बढ़ हुआ ही करती है, इसे हमने प्रत्यक्ष देखा और इसमें ममताके कारण सुख-दु:ख उत्पन्न होता है । 'क' के संसारमेंसे एक-दो आदमी कम होते हैं, तो इससे वहाँ रोना-पीटना मच जाता है और 'ख' और 'ग' के संसारमें एक-दो आदमी बढ़ जाते हैं तो वहाँ आनन्द-मङ्गल होने लगता है ।

इस प्रकार जन्मसे मरणपर्यन्त 'मेरा-मेरा' करता हुआ जीव संसार रचा करता है । उसमें बढ़ती होनेपर आनन्द मानता है और घटती होनेपर दुखी होता है । इस शरीरके प्रारब्धके भोगके अनुसार सुख-दु:खकी तरङ्गोंमें डूबता-उतराता जीव संसारमें भटकता रहता है और प्रारब्धका भोग समाप्त होनेपर उसको अपना शरीर भी छोड़ देना पड़ता है । शरीरके साथ सम्बन्ध छूटते ही शरीरके द्वारा रचे हुए संसारके साथ भी सम्बन्ध छूट जाता है और दूसरे जन्ममें उसकी स्मृति भी नहीं रहती ।

अबतक हमने देखा कि जीवकी 'मैं और मेरी' कल्पनाके सिवा संसारका दूसरा कोई स्वरूप नहीं । प्राणी तो अपने-अपने कर्मोंके अनुसार लेन-देनके सम्बन्धसे इकट्ठे होते हैं और फिर बिखर जाते हैं, उनमें ममताका सम्बन्ध बाँधना मूर्खताके सिवा और कुछ भी नहीं है । यह ममताका सम्बन्ध संयोग-वियोगके साथ चित्तके ऊपर सुख-दु:खके संस्कार डालता है और इसीके कारण जन्म-मरणका चक्र चलता रहता है । इसीका नाम 'बन्धन' है ।

जब ऐसी वस्तु-स्थिति है तब मनुष्यको विचार करना चाहिये कि प्राणी तो अपने-अपने कर्मफलको भोगनेके लिये ही उत्पन्न होते और नाशको प्राप्त होते हैं । यह विचार यदि पूरी तरहसे दृढ़ हो जाय तो फिर मनुष्य उसमें ममताका सम्बन्ध बाँधे ही नहीं । और यदि ममता नहीं है तो इकट्ठे होने तथा बिछुड़ जानेपर सुख-दु:खके संस्कार चित्तपर नहीं पड़ते और इससे सहज ही भवबन्धन कट जाता है । इस प्रसङ्गको शास्त्रने यों समझाया है—

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद् भूतसमागमः ॥

भाव यह है कि जिस प्रकार लकड़ी या घासके तिनके समुद्रमें अनायास ही इकट्ठे हो जाते हैं और फिर बिखर जाते हैं, उसी प्रकार प्राणी अपने-अपने प्रारब्धके अनुसार लेन-देनके सम्बन्धसे इकट्ठे होते हैं और फिर अलग हो जाते हैं । तब फिर जीवको उसमें ममताका सम्बन्ध बाँधनेकी क्या आवश्यकता है ?

इस प्रसङ्गको श्रीमद्भागवतमें विशेष प्रभावोत्पादक रीतिसे समझाया गया है—

पुत्रदाराप्तबन्धूनां सङ्गमः पान्थसङ्गमः ।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा ॥

तात्पर्य यह है कि स्त्री-पुत्रादि तथा सगे-सम्बन्धियों-का समागम तो धर्मशालामें इकट्ठे हुए मुसाफिरोंके समान है, मुसाफिर शामको आकर धर्मशालामें इकट्ठे होते हैं, सुख-दु:खकी बातें करते हैं और आमोद-प्रमोद करते हैं, परंतु सबेरा होते ही सब अपने-अपने रास्ते चले जाते हैं और एक दूसरेसे अलग हो जाते हैं ।

इसी प्रकार एक देहके छूटनेपर उसके द्वारा बँधे हुए सम्बन्ध भी छूट जाते हैं । गत जन्मके सगे-सम्बन्धियोंका स्मरण भी दूसरे जन्ममें नहीं होता । दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जिस प्रकार आजका स्वप्न निद्राके टूट जानेपर अदृश्य हो जाता है और दूसरे दिन फिर नये स्वप्नकी सृष्टि होती है, उसीके ही समान यह कुटुम्बका मिलाप है जो हर एक देहमें बदल जाया करता है, तब फिर इसको स्थिर मानकर कौन बुद्धिमान् मनुष्य इसमें ममत्वका सम्बन्ध जोड़ता है ?

इस प्रकार परिवारमें ममत्व-सम्बन्ध बाँधनेसे ही संसार फैलता है और उसीके लिये जीवको भवाटवीमें भटकना पड़ता है । इस प्रसङ्गको श्रुति भगवती इस प्रकार समझाती है—

यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम् ।
एकाकी तेन दह्यामि गतास्ते फलभोगिनः ॥

गर्भोपनिषद्का प्रसङ्ग है । माताके पेटमें जीव पश्चात्ताप करता हुआ कहता है कि परिवारके पालन-पोषणके लिये मैंने जो-जो शुभाशुभ कर्म किये हैं, उनका फल तो दूसरे जन्ममें मुझे अकेले ही भोगना है । परिवारके लोग तो अपना-अपना लेना वसूल करके चले गये । आज उनकी याद भी नहीं है । परंतु कर्मोंका फल तो मुझे अकेले ही भोगना पड़ता है । वस्तुस्थिति ऐसी होनेके कारण, बुद्धिमान् मनुष्यको कहीं भी ममता नहीं बाँधनी चाहिये ।

श्रीमहाभारतमें इस प्रसङ्गको बिल्कुल दूसरे ही ढंगसे समझाया गया है—

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे ॥

अर्थात् जीव ! हर एक जन्ममें तेरे माता-पिता तथा स्त्री-पुत्रादि और परिवारके लोग रहे हैं, चौरासी लाख योनियोंमें घूमते हुए तूने असंख्य परिवारोंके सहवासका भोग किया होगा । परंतु प्रत्येक जन्ममें रचा हुआ परिवारका जाल, देहके नाश होते ही नाश हो गया और उनके साथ तेरा सम्बन्ध छूट गया । इसी प्रकार तेरे गत जन्मोंमें जैसा बीता है, वैसे ही इस जन्ममें भी परिवारके साथका तेरा सम्बन्ध जबतक देह है, तभीतक है । देहका नाश एक दिन होना ही है, तो फिर देहके रहते ही यदि इनमें ममता निकाल ले तो तेरा भवबन्धन छूट जाय ।

श्रीभर्तृहरिजी कहते हैं—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून् ।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥

भाव यह है कि विषयपदार्थ चाहे जितनी लंबी अवधितक हमारे पास रहें, तथापि एक दिन तो वे जायँगे ही । फिर या तो हमें उनको छोड़कर चला जाना पड़ेगा, अथवा अपनी अवधि आनेपर वे ही हमें छोड़कर चले जायँगे । इस प्रकार विषयपदार्थोंका वियोग निश्चित है ही, तथापि ममताके कारण मनुष्य उनको स्वेच्छासे नहीं छोड़ सकता । जब विषयपदार्थोंका नाश होनेसे उनका वियोग होता है, तब मनको अत्यन्त क्लेश भोगना पड़ता है । परंतु मनुष्य यदि अपनी इच्छासे ही इनको छोड़ सके, इनके प्रति ममताको निर्मूल कर सके तो इससे उसको अनन्त सुखकी प्राप्ति होती है ।

एक वीतराग पुरुष जीवनमें ही सारे प्राणी-पदार्थोंसे तथा अपने शरीरसे आसक्ति हटा लेता है और इस प्रकार वह अपने शरीरसे तथा उसे प्राप्त होनेवाले भोगपदार्थोंसे अलग हो जाता है । एक संसारी पुरुष भोगपदार्थोंमें भी आसक्ति नहीं छोड़ सकता, तो फिर शरीरसे उसकी आसक्ति कैसे छूट सकती है ! परंतु उस आदमीको मरनेके समय तो शरीरको छोड़ना ही पड़ता है और शरीरके छूटते ही सारे विषय—प्राणी-पदार्थ—जबर्दस्ती छूट ही जाते हैं । परंतु उनमें

आसक्ति रह जानेके कारण उसको फिर शरीर धारण करना पड़ता है। अब देखो, शरीर और विषय—प्राणी-पदार्थोंके साथका सम्बन्ध तो दोनोंके ही छूट जाते हैं। परंतु छोड़नेके भावमें अन्तर होनेके कारण उसके फलमें बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है।

ज्ञानी पुरुष जीते-जी शरीर तथा उसके भोगोंको समझ-बूझकर स्वेच्छासे छोड़ देता है और इससे अनन्त सुख—मुक्ति या मोक्ष-सुखको प्राप्त करता है। और संसारी मनुष्यको विवश होकर जबर्दस्ती सब कुछ छोड़ना पड़ता है, इससे उसको त्यागका कुछ भी फल नहीं मिलता; यही क्यों—विषयोंमें आसक्ति रह जानेके कारण उसका जन्म-मरणका बन्धन भी चालू रहता है।

यहाँतक यह देखा गया कि जीवकी कल्पनाके सिवा संसारका दूसरा कोई स्वरूप नहीं, और हमने यह भी निश्चय कर लिया कि जीव यदि ईश्वरकी सृष्टिमें ईश्वरकी आज्ञाके अनुसार जीना सीख जाय और ईश्वरके प्राणी-पदार्थोंमें ममताका सम्बन्ध न बाँधे तो उसके बन्धनका दूसरा कोई कारण नहीं। उपसंहारमें श्रीविद्यारण्य मुनिके शब्दोंमें इतना ही कहना है कि—

'अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम्।'

अर्थात् ईश्वरनिर्मित (यानी ईश्वरने जिसकी रचना की है ऐसी) सृष्टि कभी जीवके बन्धनका कारण नहीं होती; इतना ही नहीं, बल्कि वह तो ज्ञानके साधनमें बहुत ही उपयोगी है। अवधूत दत्तात्रेयने ईश्वरकी सृष्टिमेंसे ही चौबीस गुरु किये थे और वे जीवन्मुक्त हो गये थे। प्रत्येक मनुष्य इसी प्रकार सृष्टिका उपयोग करनेके लिये स्वतन्त्र है, केवल विवेक-दृष्टि खुलनी चाहिये।

बन्धन यदि कराता है तो वह ईश्वरके प्राणी-पदार्थोंमें ममत्व बाँधकर उनको अपना मानकर खड़ा किया हुआ संसार है। दूसरेकी वस्तुके ऊपर अपनी मालिकी स्थापित करना तो चोरी ही है। इस लोकमें जिस प्रकार चोरी करनेवालेको कारावासकी यात्रा करनी पड़ती है, उसी प्रकार ईश्वरके यहाँ भी होता है। भागवतकार कहते हैं—'स स्तेनो दण्डमर्हति।' अर्थात् जो ईश्वरकी वस्तुको अपने लिये संग्रह करता है वह चोर ही है, और इससे उसको दण्ड मिलना चाहिये, और होता है भी वैसा ही। फल यह होता है कि जीवको एक कारावाससे छूटकर दूसरा कारावास भोगना पड़ता है। इसे ही श्रुति कहती है—

'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' अर्थात् उसको जन्म-मरणके चक्रमें भटकना पड़ता है। भक्तकवि नरसिंह मेहताने चेतावनी देते हुए गाया है—

सुमिर तू श्रीहरि, छोड़ ममता परे,
देख तो सोचकर भूल तेरा।
अरे तू कौन ? और किससे चिपट रहा,
बिना समझे कहे 'मेरा मेरा'॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

* * *

ममता त्यागकर रामको भजो

सुत, दार, अगारु, सखा, परिवारु बिलोकु महा कुसमाजहि रे।
सबकी ममता तजि कै, समता सजि, संतसभाँ न बिराजहि रे॥
नरदेह कहा, करि देखु बिचारु, बिगारु गँवार न काजहि रे।
जनि डोलहि लोलुप कूकरु ज्यों, तुलसी भजु कोसलराजहि रे॥

(श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी)

स्त्रियोंके लिये कर्तव्यशिक्षा और पातिव्रत्यका प्रभाव

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[गताङ्कसे आगे]

स्त्रियोंका यही उत्तम व्रत, यही परम धर्म और यही एकमात्र देवपूजन है कि वे पतिके वचनको न टालें । पति चाहे नपुंसक, दुर्दशाग्रस्त, रोगी, वृद्ध हो अथवा अच्छी स्थितिमें या बुरी स्थितिमें हो, एकमात्र अपने पतिका कभी त्याग न करे । पतिके हर्षित होनेपर सदा हर्षित और विषाद-युक्त होनेपर विषादयुक्त हो । पतिपरायणा सती सम्पत्ति और विपत्तिमें भी पतिके साथ एकरूप होकर रहे । तीर्थ-स्नानकी इच्छा रखनेवाली नारी अपने पतिका चरणोदक पीये; क्योंकि उसके लिये केवल पति ही भगवान् शिव और विष्णुसे बढ़कर है । जो पतिकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके व्रत और उपवास आदिके नियम पालती है, वह अपने पतिकी आयु हरती है और मरनेपर नरकको प्राप्त होती है । स्त्रीके लिये पति ही देवता है, पति ही गुरु है और पति ही धर्म, तीर्थ एवं व्रत है । इसलिये स्त्री सबको छोड़कर केवल पतिकी सेवा-पूजा करे ।*

इस प्रकार कहकर बृहस्पतिजी लोपामुद्रासे बोले—'पतिके चरणारविन्दोंपर दृष्टि रखनेवाली महामाता लोपामुद्रे ! हमने यहाँ काशीमें आकर जो गङ्गा-स्नान किया है, उसीका यह फल है कि हमें आपका दर्शन प्राप्त हुआ है ।

स्त्रियोंको चाहिये कि रजस्वला होनेपर तीन रात्रितक घरकी वस्तुओंको न छूयें; क्योंकि उस समय वे अपवित्र रहती हैं । आजकल स्त्रियाँ जब स्त्रीधर्मसे युक्त होती हैं, तब घरकी वस्तुओंको तथा बालकोंको छू लेती हैं, ऐसा करना उचित नहीं है । स्त्रियोंको इन तीन दिनोंमें बड़ी सावधानीसे जीवन बिताना चाहिये । इस समय वह आँखोंमें अंजन न लगावे, उबटन न लगावे, नदी आदिमें स्नान न करे, पलंगपर न सोकर भूमिपर शयन करे, दिनमें न सोवे, किसी-से हँसी-मजाक न करे और न घरमें रसोई आदिका काम ही करे । व्यासस्मृतिमें बतलाया है—

रजोदर्शनतो दोषात् सर्वमेव परित्यजेत् ।
सर्वैरलक्षिता शीघ्रं लज्जितान्तर्गृहे वसेत् ॥
(२ । ३७)

'स्त्रीको चाहिये कि रजोदर्शनरूप अशुद्धिके कारण वह शीघ्र घरके सब काम-काज छोड़ दे और सब लोगोंकी दृष्टिसे अलग रहे तथा लज्जाशीला होकर घरके भीतर ही रहे ।'

एकाम्बरावृता दीना स्नानालङ्कारवर्जिता ।
मौनिन्यधोमुखी चक्षुःपाणिपद्भिरचञ्चला ॥
(व्यास० २ । ३८)

'दीनभावसे एक वस्त्र ही धारण करे, स्नान और भूषणादि छोड़ दे । मौन होकर नीचा मुख किये रहे तथा नेत्र, हाथ और पैरोंसे चञ्चल न हो ।'

अश्नीयात्केवलं भक्तं नक्तं मृन्मयभाजने ।
स्वपेद् भूमावप्रमत्ता क्षपेदेवमहस्त्रयम् ॥
(व्यास० २ । ३९)

'रातके समय मिट्टीके पात्रमें एक बार भोजन करे । भूमिपर सोवे । इस प्रकार प्रमादरहित होकर तीन दिन बितावे ।'

स्नायीत च त्रिरात्रान्ते सचैलमुदिते रवौ ।
विलोक्य भर्तुर्वदनं शुद्धा भवति धर्मतः ॥
तच्छौचा पुनः कर्म पूर्ववच्च समाचरेत् ॥
(व्यास० २ । ४०-४१)

'तीन रात्रि बीतनेपर सूर्योदय होनेके बाद वस्त्रोंके सहित

---

* इदमेव व्रतं स्त्रीणामयमेव परो वृषः ।
इयमेका देवपूजा भर्तुर्वाक्यं न लङ्घयेत् ॥
क्लीबं वा दुरवस्थं वा व्याधितं वृद्धमेव वा ।
सुस्थितं दुःस्थितं वापि पतिमेकं न लङ्घयेत् ॥
हृष्टा हृष्टे विषण्णास्या विषण्णास्ये प्रिये सदा ।
एकरूपा भवेत्पुण्या सम्पत्सु च विपत्सु च ॥
तीर्थस्नानार्थिनी नारी पतिपादोदकं पिबेत् ।
शङ्करादपि विष्णोर्वा पतिरेकोऽधिकः स्त्रियः ॥
व्रतोपवासनियमं पतिमुल्लङ्घ्य या चरेत् ।
आयुष्यं हरते भर्तुर्मृता निरयमृच्छति ॥
भर्ता देवो गुरुर्भर्त्ता धर्मतीर्थव्रतानि च ।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत् ॥
(स्कन्द० काशी० पू० ४ । ३०, ३१, ३२, ३४, ३५, ४८)

स्नान करे । इसके बाद पतिके मुखका दर्शन करनेपर वह धर्मपूर्वक शुद्ध हो जाती है । शुद्ध होनेपर वह फिर पहलेकी तरह ही घरका सब काम करे ।'

स्त्रियोंको रजस्वला होनेपर पति-सहवास नहीं करना चाहिये । पति इच्छा करे तो उसे समझाकर अस्वीकार कर देना चाहिये, क्योंकि उस अवस्थामें सहवास करनेपर पतिके तेज, आयु और बलका क्षय होता है । श्रीमनुजी कहते हैं—

नोपगच्छेत् प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने ।
समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥
(मनु० ४ । ४०)

'कामार्त हो तब भी मासिक धर्मके समय अपनी स्त्रीके पास न जाय और उसके साथ एक बिछौनेपर भी न सोवे ।'

रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥
(मनु० ४ । ४१)

'क्योंकि जो मनुष्य रजस्वला स्त्रीके पास जाता है, उसके बुद्धि, तेज, बल, नेत्र और आयुका भी ह्रास होता है ।'

तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम् ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥
(मनु० ४ । ४२)

'उस रजस्वला स्त्रीके साथ समागमका त्याग करनेवाले मनुष्यके बुद्धि, तेज, बल, नेत्र और आयु—ये सब निश्चय ही बढ़ते हैं ।'

जो स्त्री और पुरुष एक दूसरेसे प्रेम करते हैं तथा प्रसन्न रहते हैं एवं ऋतुकालमें ही सहगमन करते हैं, उनकी संतान उत्तम होती है ।

श्रीमनुजीने बतलाया है—

संतुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥
(मनु० ३ । ६०)

'जिस कुलमें स्त्रीसे पति नित्य प्रसन्न रहता है और उसी प्रकार पतिसे स्त्री प्रसन्न रहती है, वहाँ निश्चय ही अचल कल्याण होता है ।'

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥
(मनु० ३ । ६१)

'यदि स्त्री वस्त्राभूषणादिसे शोभायमान नहीं होती तो वह पुरुषको प्रमुदित नहीं कर सकती और पुरुषके प्रमुदित हुए बिना अच्छी संतान नहीं होती ।'

इसलिये दोनोंको परस्पर प्रमुदित करना चाहिये और शास्त्रमें बतलाये हुए शास्त्रोक्त कालमें ही सहवास करना चाहिये ।

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद् व्रतो रतिकाम्यया ॥
(मनु० ३ । ४५)

'मनुष्यको सदा अपनी स्त्रीमें ही अनुरक्त होना चाहिये तथा उसके साथ ऋतुकालमें गमन करना चाहिये । ऐसे व्रतवाला पुरुष रतिकी इच्छासे पर्व दिनोंको छोड़कर उसके पास जाय ।'

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥
(मनु० ३ । ४६)

'सज्जनोंसे निन्दित अन्य चार दिनोंसहित जो सोलह रात्रियाँ हैं, वह स्त्रियोंके लिये स्वाभाविक ऋतुकाल माना गया है ।'

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥
(मनु० ३ । ४७)

'उनमें पहलेकी चार और ग्यारहवीं तथा तेरहवीं रात्रियाँ निन्दित हैं और शेष दस रात्रियाँ प्रशस्त हैं ।'

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥
(मनु० ३ । ४८)

'युग्म (छठी, आठवीं आदि) रात्रियोंमें संगम करनेपर पुत्र होते हैं और अयुग्म (पाँचवीं, सातवीं आदि) रात्रियोंमें संगम करनेसे कन्याएँ उत्पन्न होती हैं । इसलिये पुत्र चाहनेवालेको ऋतुके समय युग्म रात्रियोंमें स्त्रीके पास जाना चाहिये ।'

स्त्रीको उचित है कि वह शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार कम-से-कम पुरुष-सहवास करे । पतिको भी समझाकर इस प्रवृत्तिसे रोकना चाहिये, क्योंकि अधिक सहवाससे बल, बुद्धि, वीर्य, तेज और आयुकी हानि होकर नाना प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं ।

स्त्रीको उचित है कि अपने पतिके पिता, पितामह आदिकी श्राद्धतिथिपर आलस्यरहित हो प्रेमपूर्वक सब कार्य करे। आजकल लोग महालय तथा वार्षिक श्राद्धके समय केवल तर्पण करके ब्राह्मणभोजन करा देते हैं, श्राद्ध प्रायः बहुत ही कम लोग करते हैं। अतः श्राद्ध भी करना चाहिये। शास्त्रदृष्टिसे विधिसहित श्राद्ध करना आवश्यक है। पितरोंकी तृप्तिके लिये निष्कामभावसे श्राद्ध किया जाय तो पितर तो तृप्त होते ही हैं, कर्त्तव्यका पालन करनेके कारण श्राद्धकर्त्ताकी आत्माका भी कल्याण होता है। और सकामभावसे श्राद्ध करके श्रद्धाभक्तिपूर्वक मन्त्रोंसे शास्त्रविधिके अनुसार श्राद्धके मध्यम पिण्डका स्त्री भक्षण करती है तो आयु और बुद्धिसे युक्त, यशस्वी, धार्मिक, सात्त्विक पुत्र उत्पन्न होता है। श्रीमनुजीने कहा है--

पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा।
मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक् सुतार्थिनी॥
(मनु० ३। २६२)

'पितरोंके पूजनमें लगी हुई तथा अच्छे पुत्रको चाहनेवाली पतिव्रता धर्मपत्नी पिण्डोंमेंसे मध्यम पिण्डका 'आधत्त पितरो गर्भम्' इस मन्त्रोच्चारणपूर्वक शास्त्रविधिके अनुसार भोजन करे।'

आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम्।
धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकं धार्मिकं तथा॥
(मनु० ३। २६३)

'वह (ऐसा करनेवाली) पत्नी बड़ी आयुवाला, यश और बुद्धिसे युक्त, धनवान्, प्रजावान्, सात्त्विक और धार्मिक पुत्र उत्पन्न करती है।'

घरवालोंको चाहिये कि सर्वदा साध्वी स्त्रियोंका सत्कार करें, हमारे शास्त्रोंमें स्त्रियोंके सत्कारका बड़ा महत्त्व बतलाया गया है। जो मनुष्य शास्त्रोंके रहस्यको नहीं जानते, वे कह दिया करते हैं कि 'शास्त्रकारोंने स्त्रियोंपर अत्याचार किया है' किंतु बात ऐसी नहीं है। जो लोग स्त्रियोंको अपने पैरोंकी जूतीके समान समझते, उनका अनादर करते और गालियाँ देते हैं तथा जो उनपर मारपीट आदि अत्याचार करते हैं, वे सब पापके भागी होते हैं। स्त्रियोंका इस प्रकार अनादर करनेवाले भाइयोंसे हमारी प्रार्थना है कि वे ऐसा कभी न करें। स्त्रियाँ अपमान करनेके योग्य नहीं हैं, बल्कि उनका मन, वाणी, शरीरसे, वस्त्र, आभूषण, खान-पान और द्रव्यद्वारा सदा आदर-सत्कार करना चाहिये। जिन घरोंमें स्त्रियोंका सत्कार नहीं होता, वे घर सम्पत्तिसहित नष्ट हो जाते हैं एवं उनके किये हुए यज्ञ-दान निष्फल होते हैं। श्रीमनुमहाराज कहते हैं--

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥
(मनु० ३। ५६)

'जहाँ स्त्रियोंका आदर किया जाता है, वहाँ देवता रमण करते हैं और जहाँ इनका अनादर होता है, वहाँ सब कार्य निष्फल होते हैं।'

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा॥
(मनु० ३। ५७)

'जिस कुलमें जामि (स्त्री, पुत्रवधू) स्त्रियाँ शोक करती हैं, वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और जहाँ ये शोक नहीं करतीं, वह कुल निश्चय ही सदा उन्नत होता रहता है।'

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः॥
(मनु० ३। ५८)

'जिन स्त्रियोंका आदर नहीं होता, वे जिन घरोंको शाप देती हैं, वे घर कृत्यासे मारे जानेके समान सब प्रकारसे नष्ट हो जाते हैं।'

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च॥
(मनु० ३। ५९)

'इसलिये वैभव चाहनेवाले मनुष्योंको चाहिये कि आदरके अवसरोंपर तथा उत्सवोंमें वस्त्र, अलङ्कार और भोजन आदिसे स्त्रियोंका सदा आदर करें।'

श्रीविदुरजीने भी कहा है—

पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद् रक्ष्या विशेषतः॥
(महा० उद्योग० ३८। ११)

'घरको उज्ज्वल करनेवाली और पवित्र आचरणवाली महाभाग्यवती स्त्रियाँ पूजा (सत्कार) करने योग्य हैं, क्योंकि वे घरकी लक्ष्मी कही गयी हैं, अतः उनकी विशेषतासे रक्षा करे।'

लौकिक और पारलौकिक सभी कार्योंके सम्पादनमें मूल आधार स्त्रियाँ ही हैं, अतः मनुष्यको इनका आदर-सम्मान यत्नपूर्वक करना चाहिये। श्रीस्कन्दपुराणमें ब्रह्मखण्डके धर्मारण्य-माहात्म्य-प्रकरणमें बतलाया है—

भार्या मूलं गृहस्थस्य भार्या मूलं सुखस्य च ।
भार्या धर्मफलायैव भार्या संतानवृद्धये ॥
(७ । ६४)

'गृहस्थ-आश्रमका मूल भार्या है, सुखका मूल कारण भार्या है, धर्मफलकी प्राप्ति तथा संतानवृद्धिका कारण भी भार्या ही है ।'

श्रीमनुस्मृतिमें भी लिखा है--

प्रजनार्थ महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥
(मनु० ९ । २६)

'परम सौभाग्यशालिनी स्त्रियाँ संतानोत्पादनके लिये हैं । ये सर्वथा सम्मानके योग्य और घरकी शोभा हैं । घरकी स्त्री और लक्ष्मीमें कोई भेद नहीं है ।'

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥
(मनु० ९ । २७)

'संतान उत्पन्न करना, उत्पन्न हुई संतानका भलीभाँति पालन-पोषण करना और प्रतिदिन भोजन आदि बनाकर लोकयात्राका निर्वाह करना—यह सब प्रत्यक्षरूपसे स्त्रीके अधीन है ।'

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥
(मनु० ९ । २८)

'संतानकी प्राप्ति, धर्मकार्यका अनुष्ठान, सेवाकार्य, उत्तम (धर्मयुक्त) रति, पितरोंकी स्वर्गप्राप्ति और अपनी भी पारलौकिक उन्नति निस्सन्देह स्त्रीके अधीन है ।'

कोई-कोई स्त्री ऐसी दुष्ट स्वभावकी होती है कि वह पतिको झूठा-सचा सिखलाकर अपनी सास, ननद, देवरानी, जेठानी आदिको पतिके द्वारा कष्ट दिलाती है और स्वयं भी नाना प्रकारकी जली-कटी बातें सुनाकर उनको दुखाती है । ऐसा अत्याचार करनेवाली स्त्रियाँ भी पापकी भागिनी होती हैं । ऐसी स्त्रियोंसे हमारी प्रार्थना है कि वे ऐसा अनुचित कार्य कभी न करें तथा दूसरी स्त्रियाँ यदि ऐसा करती हों तो उनको भी समझाकर रोक दें । उन्हें यह विचार करना चाहिये कि जिस प्रकार हमारा कोई सम्मान करता है तो हमें अच्छा मालूम देता है और अपमान करता है तो बुरा मालूम देता है, इसी प्रकार मैं भी दूसरेका सम्मान करूँगी तो उसे अच्छा लगेगा और अपमान करूँगी तो उसे बुरा मालूम होगा । ऐसा सोचकर अपने घरमें सास-ननद आदि जितनी भी स्त्रियाँ हैं, उनको न तो पतिके द्वारा ही कष्ट पहुँचावे और न स्वयं ही कष्ट दे । उनका स्वयं और पतिके द्वारा भी सदा आदर-सत्कार करे तथा सुख पहुँचावे । इस प्रकार करनेपर वे प्रसन्न होकर आशीर्वाद देती हैं, जिससे इस लोक और परलोक—दोनोंमें हित होता है ।

इसी प्रकार सास और ननदको भी चाहिये कि वे अपने पुत्र और भाईको लगाकर निर्दोष, निरीह बहू या भाभीको कष्ट दिलवावे, न स्वयं ही उसे कष्ट दे ।

विधवा माताओंका तो विशेषरूपसे आदर-सत्कार करना चाहिये । जिस किसी प्रकारसे हो, उन्हें प्रसन्न रक्खे, क्योंकि अपने धर्मका पालन करनेवाली विधवा सांसारिक सुखका त्याग करनेके कारण तपस्विनी है । उसकी तन, मन, धन आदिके द्वारा सब प्रकारसे सेवा करके सुख पहुँचाना ही कर्तव्य है । इस प्रकार करनेपर उनके आशीर्वादसे इस लोक और परलोक दोनोंमें सब प्रकारसे हित होता है ।

बहुत-सी सुहागिन स्त्रियाँ विधवा स्त्रियोंकी देखा-देखी विशेष उपवास-व्रत आदि करनेमें अपना कल्याण समझकर उनका अनुष्ठान करती हैं, यह शास्त्रविरुद्ध है । वे इसमें पुण्य समझती हैं, किंतु होता है पाप; क्योंकि सुहागिन स्त्रियोंके उपवास (निराहार) व्रत आदि करनेसे पतिसेवामें बाधा पहुँचती है, जिससे पतिकी आयुका ह्रास हो जाता है । अतः हठसे या मोहसे अथवा देखा-देखी कभी शास्त्रमर्यादाका त्याग नहीं करना चाहिये । अत्रिस्मृतिमें भी लिखा है—

जीवद्भर्तरि या नारी उपोष्य व्रतचारिणी ।
आयुष्यं हरते भर्तुः सा नारी नरकं व्रजेत् ॥
(अत्रि० १ । १३४)

'जो स्त्री पतिके जीते हुए निराहार उपवास-व्रतका आचरण करती है, वह स्त्री स्वामीकी आयुका हरण करती है, अतः नरकको प्राप्त होती है ।'

इसलिये सुहागिन स्त्रियोंको कभी निराहार व्रत नहीं करना चाहिये ।

विधवाओंके साथ व्यवहार और उनका धर्म

विधवा स्त्रियाँ तो ऐसे ही घोर दुखी हैं, फिर उनको जो दूसरे स्त्री-पुरुष दुःख देते हैं, तंग करते हैं, वे इस लोकमें निन्दाको पाते हैं और मरनेपर घोर नरकोंकी प्राप्ति होती

है । पतिके मरनेपर विधवा स्त्रीका पीहर और ससुराल दोनोंमें बहुत जगह तिरस्कार होता है और उसपर अनेक प्रकारके अत्याचार होते हैं । इससे उसके दुःखका वर्णन करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं है । विधवाओंकी यह कष्टमयी कथा प्रत्यक्ष देखनेमें भी आती है । थोड़ा ध्यान देकर देखनेसे हरेक आदमीको यह अनुभव हो सकता है । अतः प्रत्येक नर-नारीका कर्तव्य है कि अपनी जानकारीमें जो दुखी विधवा स्त्री हो, उसकी यथाशक्ति तन, मन, धनसे सहायता करे ।

विधवा माता-बहिनोंको चाहिये कि वे शास्त्रमें बतलाये हुए अपने कर्तव्यकी ओर ध्यान दें तथा ऐश-आराम, भोग, स्वाद-शौक आदि जो शारीरिक सुख हैं, उनको नाशवान् क्षणभङ्गुर समझकर उनका त्याग कर दें । सांसारिक सुखभोगके लिये दूसरोंके बहकानेपर भी कभी नाता या विधवा-विवाह नहीं करना चाहिये; क्योंकि यह सुखरूपमें प्रतीत होता है, पर वास्तवमें दुःख ही है । जो भोले-भाले नर-नारी उसे सुख बतलाकर—विधवाको पुनर्विवाह करनेको कहते हैं, वे भूलमें हैं और दयाके पात्र हैं; क्योंकि उन स्त्रियोंसे पुनर्विवाह-जैसा घृणित और अनुचित कार्य कराकर इस लोक और परलोकसे भ्रष्ट कर देना और परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त सुखसे वञ्चित रख देना बड़ी भारी गलती है । उनको चाहिये कि वे उनको, जो वास्तवमें सुख नहीं है, केवल धोखा है उससे, हटावें और आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करने, घरका काम-काज करने तथा ईश्वरकी भक्ति करनेके लिये शिक्षा दें ।

वर्तमान समयमें अशिक्षित होनेके कारण कोई-कोई विधवा माता-बहिन अज्ञानवश ईश्वर और धर्मको न माननेवाले नास्तिक पुरुषोंके बहकावेमें आकर पुनः विवाह करनेको तैयार हो जाती हैं, उन भोली माता-बहिनोंसे प्रार्थना है कि वे सतीत्वके नाशकी शिक्षा देनेवाले उन शास्त्रानभिज्ञ नास्तिक नर-नारियोंकी बात कभी न सुनें, क्योंकि शास्त्र-विरुद्ध होनेके कारण उनकी वे बातें विश्वास करने योग्य नहीं हैं, बल्कि भ्रममें डालनेवाली हैं । उनमें कोई-कोई तो ऐसे धूर्त्त होते हैं कि वे अपने घरकी विधवा स्त्रियोंका पुनः विवाह न करके दूसरोंकी स्त्रियोंके धर्म-कर्म तथा लोक-परलोकको नष्ट करनेके लिये ही ऐसा उपदेश देते फिरते हैं । अतः माता-बहिनोंको चाहिये कि वे उनके बहकावेमें न फँसें तथा इस निन्दित और निर्लज्ज कार्यको करके अपने पीहर और ससुरालको कलङ्कित न करें एवं अपने लोक-परलोकको नष्ट न करें ।

पतिके मरनेके बाद विधवा स्त्रीको किस प्रकार अपना जीवन बिताना चाहिये, इस विषयमें मनु महाराज कहते हैं—

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥
(मनु० ५ । १५७)

'विधवा स्त्री फल-फूल, कन्द-मूल आदि सात्त्विक पदार्थोंसे जीवन-निर्वाह करती हुई भले ही अपने शरीरको सुखा डाले; परंतु पतिकी मृत्युके बाद किसी पराये पुरुषका कभी नाम भी न ले ।'

आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥
(मनु० ५ । १५८)

'पतिव्रता स्त्रियोंका जो सर्वोत्तम धर्म है उसे पानेकी इच्छा रखनेवाली विधवा मृत्युपर्यन्त क्षमाशील, मन-इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाली तथा ब्रह्मचारिणी रहे ।'

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ।
दिवङ्गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ॥
(मनु० ५ । १५९)

'कई हजार कुमार ब्रह्मचारी ब्राह्मणोंने कुलमें बिना संतान उत्पन्न किये ही अपने ब्रह्मचर्यके प्रभावसे स्वर्गलोक प्राप्त किया है ।'

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥
(मनु० ५ । १६०)

'पतिकी मृत्युके बाद ब्रह्मचर्यव्रतमें दृढ़तापूर्वक स्थिर रहनेवाली साध्वी स्त्री पुत्रहीना होनेपर भी स्वर्गलोकमें जाती है, जैसे कि वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी (पुत्रके बिना भी) स्वर्गमें गये हैं ।'

अपत्यलोभाद् या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते ।
सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ॥
(मनु० ५ । १६१)

'किंतु जो स्त्री पुत्रके लोभसे पतिका उल्लङ्घन (व्यभिचार) करती है, वह इस लोकमें तो निन्दा पाती ही है, पतिलोकसे भी वञ्चित रह जाती है ।'.

यान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे ।
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते ॥
(मनु० ५ । १६२)

'परपुरुषसे उत्पन्न हुई संतान यहाँ अपनी संतान नहीं मानी जाती, इसी प्रकार परायी स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुई संतान भी अपनी नहीं है । कुलीन स्त्रियोंके लिये कहीं भी दूसरा पति बनानेका उपदेश नहीं दिया गया है ।'

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥
(मनु० ९ । ४७)

'कुटुम्बमें धन आदिका बँटवारा एक बार ही होता है, कन्या किसीको एक बार ही दी जाती है तथा 'मैं दूँगा' यह प्रतिज्ञा भी एक ही बार की जाती है; सत्पुरुषोंके लिये ये तीन बातें एक-एक बार ही होती हैं ।'

नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।
अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥
(मनु० ९ । ६४)

'द्विजातिको उचित है कि अन्य (देवर आदि) में विधवाको नियुक्त न करे, क्योंकि अन्य (देवर आदि) में नियुक्त कर देनेसे वे सनातन धर्मको नष्ट करती हैं ।'

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥
(मनु० ९ । ६५)

'विवाहके मन्त्रोंमें कहीं भी नियोगकी चर्चा नहीं है, विवाहकी विधिमें विधवाका पुनर्दान भी नहीं कहा गया है ।'

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः ।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥
(मनु० ९ । ६६)

'यह तो पशुधर्म है, जिसकी विद्वान् द्विजोंने सदा ही निन्दा की है । मनुष्योंमें इसका प्रचार वेन राजाके ही राज्यमें हुआ था ।'

स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा ।
वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥
(मनु० ९ । ६७)

'प्राचीनकालमें सम्पूर्ण पृथ्वीके पालन करनेवाले तथा राजर्षियोंमें मुख्य उस वेन राजाने कामसे नष्टबुद्धि होकर इस वर्णसंकरपनेको फैलाया था ।'

ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम् ।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥
(मनु० ९ । ६८)

'उसके राज्यके पश्चात् जो पुरुष मोहके वश होकर विधवा स्त्रीको संतानके लिये नियुक्त करता है, साधुजन उसकी निन्दा करते हैं ।'

* * *

प्रार्थना

(रचयिता—श्रीनन्दकिशोरजी झा काव्यतीर्थ)

सच्चिदानन्द ! दो ज्ञान हमें, शुभ ब्रह्म-जीव-विज्ञान हमें;
तुम प्रभु व्यापक–यह ध्यान रहे, अपना न वृथा अभिमान रहे ।
तुम यन्त्रीके हम यन्त्र रहें, जपते तव नाम सु-मन्त्र रहें;
कण-कणमें तुमको देखें हम, तुझसे न भिन्न कुछ लेखें हम ।
'किस हेतु जगतमें हम आये ? कर्त्तव्य कौनसे कर पाये ?'
इसपर हम नित्य विचार करें; सद्धर्म-ज्ञान-प्रचार करें ।
हम सार्वभौम व्रत-व्रती रहें, गृहमें रहकर भी यती रहें;
भव-द्वन्द्वोंमें सम भाव रहे, नित आत्म-शुद्धिका चाव रहे ।
प्रभु-प्रभुता पर विश्वास रहे, चलती जबतक यह साँस रहे ;
भव-मुक्ति न केवल पावें हम, जन-जनको मुक्त बनावें हम ।

* * *

मन्त्रोंकी छान्दस शक्ति

(लेखक—पं० श्रीवीरसेनजी)

वेद-मन्त्रोंके स्वरसहित उच्चारणद्वारा भौतिक तत्त्वों एवं भौतिक जगत्पर एवं जिस मन्त्रका जो देवता है उन मन्त्रोंद्वारा उस-उस देवतापर प्रभाव डाला जा सकता है या उसको वशीभूत किया जा सकता है । अर्थात् उन-उनके गुणोंका सूक्ष्म अध्ययन एवं निरीक्षण करके उनके यथाविधि उपयोग लेनेका रहस्य ज्ञात हो सकता है । तात्पर्य यह है कि वेद-मन्त्रोंके शुद्ध स्वर-सहित उच्चारण एवं उनकी क्रियाओंके द्वारा अग्नि, जल, वायु, मेघ, विद्युत् आदि तत्त्व एवं शक्तियोंका विविध उपयोग मन्त्र-शक्तिके द्वारा किया जा सकता है । वैदिक कर्मकाण्ड इसी विज्ञानसे ओतप्रोत है । प्राचीन कालमें दिव्यद्रष्टा महर्षि एक-एक मन्त्रके ही रहस्य एवं विज्ञानके अन्वेषणमें अपना सुदीर्घ ब्रह्मचर्यमय जीवन अर्पित कर देते थे ।

वेद-मन्त्रोंमें प्रयुक्त उदात्तादि स्वर तथा षडजादि स्वर एवं उनका छन्दोमय रूप विशेष सामर्थ्यमय है । स्वरोंमें पर्याप्त सामर्थ्य है । संगीत-शास्त्रमें दीपक राग-द्वारा दीपकोंका जलना, मल्हार रागद्वारा वर्षाका होना इत्यादि बातें भारतके कोने-कोनेमें सदियोंसे आबाल-वृद्ध श्रुत हैं । अभी वैज्ञानिकोंने परीक्षणोंद्वारा सिद्ध कर दिया है कि तीव्र स्वरोंके भोंपू, जिनकी फ्रीक्वेन्सी ३००० से लगाकर ३४००० साइकल प्रति सेकण्ड हो तो उसके द्वारा उत्पादित ध्वनि-तरंगोंके बीच काफीकी एक बड़ी केटली रखनेसे वह काफी उबल जाती है और यदि उनकी गति और बढ़ा दी जाय तो छोटे-छोटे सिक्के हवामें भी तैराये जा सकते हैं । अतः वर्तमान विज्ञानने जो शक्ति स्वरोंमें या ध्वनिमें ज्ञात की है उससे हमें अपने प्राचीन स्वर-विद्याकी उपेक्षा न करते हुए उसके अनुसंधानमें और अग्रसर होना चाहिये ।

'छन्दांसि छादनात्' की व्युत्पत्तिसे छन्दोंका प्रसारण-कर्म एवं आच्छादन-कर्म प्रकट होता है । पिंगल शास्त्रमें छन्दोंका नियत मात्रा और वर्णमें छादन-कर्म बताया है । संगीत-शास्त्रमें उन्हीं छन्दोंका नियत-कालमें छादन-कर्म होता है और वेद-मन्त्रोंके यथाविधि उच्चारणद्वारा छन्दोंका छादन-कर्म ब्रह्माण्डपर होता है ।

गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि, जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि।

(यजुः अ० १ मं० २७)

एवं—

'गायत्रेण त्वा छन्दसा मंथामि, त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मंथामि'

एवं—

'रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेनच्छन्दसा भक्षयन्तु आदित्यास्त्वा जागतेनच्छन्दसा भक्षयन्तु, वसवस्त्वा गायत्रेणच्छन्दसा भक्षयन्तु,

—इत्यादि मन्त्रवाक्य छन्दोंकी उक्त व्युत्पत्तिको सार्थक करते हैं ।

जब छन्दोंका छादन-कर्म अथवा प्रसारण-कर्म अथवा उनके द्वारा इष्टकी प्राप्ति उपर्युक्त प्रमाणसे प्रतीत होने लगती है तब यह बात स्वभावतः ज्ञात होने लगती है कि उन छन्दोंका ग्रहण या उनका लाभ दूर-देशस्थ व्यक्ति, देश या स्थान आदिको भी प्राप्त हो सकता है, यदि किसी एक स्थानसे उपयुक्त साधनोंद्वारा छन्दोंका प्रसारण किया जाय ।

अथवा यह भी समझ सकते हैं कि छान्दस क्रिया वह है जिसके द्वारा याज्ञिक द्रव्य एवं वाक्को अथवा विचारोंको इस विश्वमें यथास्थान पहुँचाते थे । इस छान्दस क्रियाकी क्रमानुसार शक्ति या स्थानान्तरण-सामर्थ्य छन्दोंके पृथक्-पृथक् वर्गीकरणद्वारा नियत की गयी ज्ञात होती है । वैदिक विविध छन्दोंके इस छान्दस विज्ञान एवं उनके सामर्थ्यको ज्ञात करके जनताके सम्मुख रखनेके लिये समय एवं परीक्षणकी सुविधाकी अपेक्षा है।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(६३)

उन अखिललोकपाल बालगोपालका वनविहार भी निराला ही है। वे जा तो रहे हैं अरण्यकी शोभा निहारते हुए—

> **राम स्याम आगे चले बन सोभा देखत।**
> **संग सखा सुख कौं लहैं सुभ भाग बिसेखत॥**
> **डुलत सुमन मधु स्रवत तहँ, धुंधर उड़त पराग।**
> **बहतु गंध अलि बंध जे, लेत उमगि अनुराग॥**

किंतु साथ ही एक-से-एक मनोरम कौतुकका निर्माण भी होता जा रहा है। कभी तो वे अपने ही श्रीअङ्गके सौरभपानसे मदान्ध हुए भ्रमरोंका 'गुन-गुन' रव सुनकर उस गुञ्जनका ही अनुकरण करने लगते हैं। इतनी सफल एवं सरस अनुकृति कि उनके नित्य सहचर अग्रज श्रीबलरामको भी अनुजके मुखसे निःसृत गुञ्जन स्वरका यह झङ्कार विस्मित कर देता है और वे उल्लासमें भरकर स्वयं भी इस क्रीड़ामें योगदान करने लग जाते हैं। तथा उन गोपशिशुओंके आनन्दका तो कहना ही क्या है। उनके सरल, सख्य-रसभावित हृदयकी भावना बरबस बाहरकी ओर उमड़ चलती है, अपने कोटि-कोटि प्राणप्रिय कन्हैया भैयाके लिये प्रशंसाके गीतका एवं 'अहाहा ! अरे ! वाह रे कन्नू भैया !'—इस साधुवादका मञ्जुघोष पद-पदपर गूँजने लगता है। इतना ही नहीं, उन शिशुओंका हृत्तल न जाने नीलसुन्दरके कितने शतसहस्र पुनीत प्रेमिल रसमय चरितोंके संस्मरणसे नित्य पूर्ण है। किसका द्वार खुले, यह नियम थोड़े ही है। इसके अतिरिक्त वे बालक भी असंख्य जो हैं। आनन्दविभोर होकर—जिसके मनमें श्रीकृष्णचन्द्रकी जिस लीलाकी स्फूर्ति हो जाय, बस, उसीका गीत—सर्वथा अपनी विलक्षण प्रतिभासे ही रचकर वह गाने लगता है। और आश्चर्य तो यह है कि उसने कभी तालस्वरकी योजना सीखी नहीं, फिर भी कहीं स्खलन नहीं है। ठीक लयमें बँधी-सी उसके कण्ठकी धारा भी मानो दौड़ी जा रही है—नीलसुन्दरके श्रीअङ्गसे व्यक्त हुई उन-उन कौतुकमयी चेष्टाओंके पीछे-पीछे, उस चिन्मय रस-प्रवाहको छूती हुई-सी। उधर तो दल-के-दल मधुमत्त भौंरे मँडरा रहे हैं, कुछ व्रजेन्द्रनन्दनके कण्ठदेश एवं वक्षःस्थलपर झूलती हुई वनमालापर भी आ विराजे हैं—इन सबका एक स्वाभाविक गुञ्जन है, और इधर नीलसुन्दरकी अद्भुत अलौकिक परम मनोहारिणी अनुकृतिका रागमय स्वर स्पन्दित हो रहा है। तथा उनमें मिल रही हैं शिशुओंके आह्लादपूर्ण श्रीकृष्णसुयशसङ्गीतकी ललित लहरियाँ। तीनोंका विचित्र सुन्दर सम्मिश्रण है—

अत्र भ्रमराणां स्वजातीयस्य स्वरमात्रस्य गानं श्रीभगवतस्तदनुसारिस्वरस्य तदुचितरागस्य च अनुव्रतानां तु तयोर्गीतबद्धतच्चरितस्य चेति मिथोगानमेलनं ज्ञेयम्—(वैष्णवतोषिणी)

विचित्र-सा समा बाँधा है वृन्दावनविहारीने।

> **क्वचिद् गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतैः।**
> **उपगीयमानचरितः स्रग्वी संकर्षणान्वितः॥**
> (श्रीमद्भा० १०। १५। १०)

> **जे मदांध अलि रव सुभ गाना। तेहि अनु सुभग गान हरि ठाना॥**
> **गोप सुजस गावत हरि केरे। बिहरत बिपिन सुखन सुख हेरे॥**

कभी व्रजराजनन्दनके कर्णपुटोंमें मधुर कोमल आलाप करते हुए शुककी वह मनोहारिणी ध्वनि भर उठती है और वे तत्क्षण उससे भी अधिक सरस स्वरमें कीरका ही अनुकरण करने लगते हैं। कभी कोकिल-कूजनकी मधुर पञ्चम तान सुनकर उसकी अपेक्षा भी मृदुलतर कण्ठसे ठीक वैसे ही राग वे भी भरने लगते हैं। और फिर तो कुछ ही क्षणोंमें वे शुक-पिक आदि विहङ्गम मौन धारण करेंगे ही, कर ही लेते हैं; शान्त-स्थिर होकर वे अपने इस अनोखे प्रतिद्वन्द्वी गायककी ओर मानो देखने लग जाते हैं, उन्हें लज्जा-सी लगने

लगती है—आह ! कहाँ हमारी यह कर्कश ध्वनि और कहाँ इन नीलसुन्दरका मधुस्यन्दी स्वर !—

अनुजल्पति जल्पन्तं कलवाक्यैः शुकं क्वचित् ।
क्वचित्सवल्गु कूजन्तमनुकूजति कोकिलम् ॥

कभी आनन्दमें भरे सुन्दर अस्फुट रवका सृजन करते हुए कलहंसोंका वह शब्द ही उनके कौतुकका विषय बनता है । उस हंसकुलके अत्यन्त समीप वे जा पहुँचते हैं । उनके कूजनमें ही अपना स्वर मिलाने लगते हैं । उस समय किसकी सामर्थ्य है जो तनिक-सा भी अन्तर पा सके उन हंसोंके नैसर्गिक सुन्दर रवमें तथा व्रजेशके स्नेहजालमें नित्य उलझे हुए इन अद्भुत बालमरालके द्वारा रचित आश्चर्यमयी अनुकृतिमें । तथा इसी बीचमें कभी उनकी दृष्टि आकर्षित हो जाती है वनस्थलीके विभिन्न भू-भागोंपर नृत्य करते हुए मयूरोंकी ओर । बस, श्रीकृष्णचन्द्र उधर ही दौड़ चले, वहीं जा पहुँचते हैं । अतिशय शीघ्रतासे अपने पीताम्बरके उत्तरीयको उन्होंने हाथोंके सहारे पीछेसे फैलाकर ऐसा बना लिया मानो किसी नृत्यपरायण अभिनव मयूरका विस्तारित पीताभ पुच्छ हो । तथा यह हो जानेके अनन्तर देखने ही योग्य रहता है उस मयूरदलके तालबन्धपर, उनके सम्मुख ही नीलसुन्दरका अनुकरण-नृत्य ! उनके महामरकत श्यामल श्रीअङ्गोंकी विचित्र भङ्गिमाएँ देख-देखकर वे असंख्य गोपशिशु उच्च कण्ठसे हँसने लग जाते हैं । उनकी वह उन्मुक्त हँसी गिरिपरिसरमें सर्वत्र गूँज उठती है । मयूरदलको संकोच होने लगता है । पुच्छ संकुचितकर, नृत्यका विरामकर वे देखने लग जाते हैं श्रीकृष्णचन्द्रको ही । उन्हें सचमुच यही अनुभूति होती है—ऐसा सुन्दर नृत्य वे कर जो नहीं सकते !—

क्वचिच्च कलहंसानामनुकूजति कूजितम् ।
अभिनृत्यति नृत्यन्तं बर्हिणं हासयन् क्वचित् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १५ । ११)

कबहुँक कल हंसनकी बानी । सुनि तेहि आपु सरिस मन जानी ॥
बिधि बाहनकी सुभ गिरा, तेहि सम बोलत बैन ।
कबहुँक केकी नृत्य लखि, नाचत हरि सुख ऐंन ॥

× × ×

कहुँ कहुँ हंसन मिलि सु-कलोलत ।
वैसैंहि डोलत वैसैंहि बोलत ॥
कहूँ मत्त निरतत दिखि मोर ।
तैसैंहि निरतत नंदकिसोर ॥

और कदाचित् बाल्य-विहारके इस रसमय आवेशमें श्रीकृष्णचन्द्र आत्मविस्मृत-से हो गये, क्रीड़ा-दर्शनके उन्मादी सुखमें डूबकर शिशु अपनी सुध-बुध खो बैठे तथा गायें संरक्षणके अभावमें पूर्णतया स्वतन्त्र होकर विचरण करती हुई बहुत दूर चली गयीं, उस समय व्रजेन्द्रनन्दन अकस्मात् जाग-से उठते, उनके नित्य-नवसुन्दर मुखारविन्दपर एक विचित्र-सी व्याकुलताका चिह्न परिलक्षित होने लगता, 'अरे भैयाओ ! देखो तो सही, गायें कहाँसे कहाँ चली गयीं !' कहकर सखाओंको सावधान करते । शिशुओंके नेत्रोंमें किञ्चित् भयकी छाया-सी भर जाती; किंतु दूसरे ही क्षण नीलसुन्दरके बिम्बारुण अधर-पल्लवपर वह पूर्वका स्मित व्यक्त हो जाता, वे दौड़कर निकटवर्ती कदम्बकी ऊँची शाखापर चढ़ जाते । और फिर गूँज उठता उनका मेघ-गम्भीर नाद—'अरी पिशङ्गि ! मणिकस्तनि ! री प्रणतशृङ्गि ! पिङ्गेक्षणे ! अरी मृदङ्गमुखि ! धूमले ! हंसि ! वंशीप्रिये ! आ जा, आ जा री ! हीओ ! हीओ !'—इस प्रकार प्रत्येकका नाम ले-लेकर, स्नेह-विवश होकर वे आह्वान करने लगते । उनकी यह अतिशय मधुर मनोहर जलद-ध्वनि उस असंख्य गोराशिके, गोप-शिशुओंके कर्णपुटोंमें किस अनिर्वचनीय पीयूषस्रोतका सृजन कर देती, इसे कौन बतावे ?

पिशङ्गि मणिकस्तनि प्रणतशृङ्गि पिङ्गेक्षणे
मृदङ्गमुखि धूमले शबलि हंसि वंशीप्रिये ।
इति स्वसुरभीकुलं मुहुरुदीर्णहीही ध्वनि-
र्विदूरगतमाह्वयन् हरति हन्त चित्तं हरिः ॥

मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान् पशून् ।
क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालमनोज्ञया ॥
(श्रीमद्भा० १० । १५ । १२)

कबहुँक दूरि निहारि, गोधन निज अरु सखन के ।
सखा संत हितकारि, जलद गिरा टेरत पसुन ॥

× × ×

कबहूँ दूरि जाइ जब गाइ । ललित कदंबन पर चढ़ि जाइ ॥
आनँदघन सम सुंदर टेरनि । इत उत वह हेरनि पट-फेरनि ॥
हे गंगे, हे हे गोदावरि । हे जमुने, हे भावरि, चावरि ॥
हे मंजरि, हे कुंजरि, सीयरि । हे हे धौरी, धूमरि, पीयरि ॥

अन्तरिक्षचारी अमरगण देखते—व्रजेन्द्रनन्दनकी पुकार सुनते ही गायोंने तत्क्षण अपने मुखका अर्धचर्वित तृणग्रास उगलकर सिरको ऊपर उठा लिया, प्रेमविवश हुई एक साथ सब-की-सब हाम्बारव कर उठीं तथा प्राणोंका सम्पूर्ण वेग लगाकर दौड़ चलीं अपने नित्य-पालक नन्दनन्दनके समीप—

स्रवन नाद सुनि मुख तृन धरि सब चितईं सीस उठाय ।
प्रेम बिबस ह्वै हूँक मार चहुँ दिसि ते उलटीं धाय ॥

और नन्दनन्दन—जय हो महामहेश्वरकी उस प्रेमाधीनताकी ! वे आनन्द-विह्वल होकर अपने पीताम्बरसे गायोंके मुखपर लगी हुई रजको पोंछते हैं—

चत्रभुज प्रभु पट पीत लिये कर आनँद उर न समाय ।
पोंछत रेनु धेनुके मुख तें गिरि गोवर्धन राय ॥

गायोंकी आँखें छल-छल करने लगती हैं । गोपशिशु यह देखकर आनन्द-विभोर होने लगते हैं । विमानचारी देववर्गका हृदय भी भर आता है । साथ ही इन धेनुसमूहके सजल नयनोंमें उन्हें एक अतिशय रहस्यमय संकेत झाँकता-सा दीख पड़ रहा है; क्योंकि ये साधारण, प्रकृति-परम्परासे सम्भूत गोधनश्रेणी हों, ऐसी बात तो है नहीं । ये तो हैं परब्रह्म परम-पुरुष श्रीकृष्णचन्द्रके सदंशमें विराजित संधिनी शक्तिकी नित्य परिणति । इनकी भी प्रत्येक चेष्टा कुछ विशेष अर्थ रक्खेगी ही—ठीक वैसे ही जैसे इनके पालक नीलसुन्दरके दृगोंका, अधरोंका, श्रीअङ्गोंका प्रत्येक स्पन्दन ही मर्त्यजगत्के लिये, स्थूल-सूक्ष्म कारण—सम्पूर्ण विश्वके लिये, असंख्य ब्रह्माण्डश्रेणीके लिये न जाने क्षण-क्षणमें ही कितने रहस्य-तथ्योंका संकेत करता रहता है । यह साधारणतः सम्भव ही कहाँ है कि ये गायें स्वेच्छापूर्वक अपने कोटि प्राणप्रिय श्रीकृष्णचन्द्रके समीपसे दूर चली जायँ । और यदि गयी हैं तो निश्चय ही अचिन्त्य लीला महाशक्तिकी प्रेरणासे, अघटन-घटना-पटीयसी योगमायाके नियन्त्रणमें ही यह संघटित हुआ है । व्रजेन्द्रनन्दनके लीलाक्रमका साङ्गोपाङ्ग सुचारु निर्वाह होते रहनेके लिये ही ऐसा हुआ है । तथा उस परिस्थितिमें आश्चर्य ही क्या है कि कोई इनसे—इनकी किसी भावमयी चेष्टासे एक सुन्दर-सा संकेत पा ले । इसीलिये देवसमाजको प्रतीत हो रहा है, मानो वे गायें मूक इङ्गित कर रही हों—प्रपञ्चके जीवो ! देखो, हमारी दशा ! सच्चिदानन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम गोपेन्द्रनन्दन नित्य हमारे साथ हैं; एक-से-एक बढ़कर मनोरम विहारकी अवतारणा कर वे नित्य हमारा आनन्दवर्द्धन कर रहे हैं; फिर भी पशुस्वभाववश हम सब उन्हें परित्याग कर मृदुल तृणोंके लोभसे चली ही जाती हैं । किंतु धन्य है करुणावरुणालयकी अहैतुकी कृपा ! वे हमें कदापि भूलते नहीं; दूर हट जानेपर भी वे हमारा आह्वान करते ही हैं । और समीप आते ही अपने अपरिसीम स्नेहसिन्धुमें हमें निमग्न कर ही देते हैं । ठीक ऐसी-सी दशा तुम्हारी है । श्रीकृष्णचन्द्र नित्य तुम्हारे भी सहचर हैं । तुम्हारे सुखके लिये एक-से-एक सुन्दर रचनाओंका प्रकाश कर, तुम्हारे पीछे नित्य अवस्थित रहकर खेल रहे हैं ये । कदाचित् तुम इनकी ओर दृष्टि केन्द्रित कर इनके समीप ही स्थित रहकर उन रचनाओंका आनन्द ले सकते । फिर तो व्रजेन्द्रकुलचन्द्रका यह नित्य

लीलाविहार भी तुम्हारा निजस्व होता । किंतु तुम भ्रान्त हो रहे हो, पशुता ही तुममें नित्य जागरूक है । इसीलिये तो अपने नित्य सखा नन्दनन्दनसे दृष्टि हटाकर, उनसे अत्यन्त सुदूर जाकर विषयोंके प्रलोभनमें उलझे हो ! इतनेपर भी इन परम कृपालु नीलसुन्दरकी अनन्त पारावारविहीन कृपा किसी-न-किसी मिससे—अत्यन्त सामान्य नगण्यतम अवसरको निमित्त बनाकर—तुमपर उमड़ ही चलती है, उनका प्रच्छन्न आह्वान तुम्हारी पशुताके निविडतम आवरणको भेदकर तुम्हें आकर्षित करने ही लगता है । अहा ! कैसी अप्रतिम अपरिमित कृपाका दान है यह ! जीवो ! अब भी सचेत होकर अविलम्ब इन विषयोंके चाकचिक्यसे दृष्टि फेर लो; पीछेकी ओर—अन्तर्मुख होकर देखो, श्रीकृष्णचन्द्र तुम्हें पुकार रहे हैं । उनके इन इन्द्रनीलद्युति श्रीअङ्गोंमें ही वृत्तियोंको विलीन कर दो; उनके सान्निध्यका कदापि परित्याग मत करो; उनके चरणसरोरुहमें ही नित्य अवस्थित रहो । यहाँ ही तुम्हें सम्पूर्ण अपेक्षित वस्तुएँ प्राप्त हो जायँगी । सत्य-सत्य—ध्रुव सत्य यह है—इन नीलसुन्दरके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी सुख है ही नहीं । इनसे विरहित सुखकी अनुभूति तो भ्रान्तिमात्र है । जो पशु—निर्बुद्धि, विवेकहीन हैं, उन्हें ही यह भ्रम होता है । वे ही श्रीकृष्णचन्द्रसे दूर-दूर हटते रहकर भी सुख ढूँढ़ते फिरते हैं—

पशूनिति श्लेषेण श्रीकृष्णपार्श्वतो दूरं गत्वा निर्बुद्धित्वमुक्तम् ।

(वैष्णवतोषिणी)

अस्तु, दूर गयी हुई गायें निकट आ गयीं । बस, इतना-सा अभिप्रेत था लीलाविहारीको और यह हो चुका । अब फिर क्या कौतुक हो ? यह लो, आगेसे आगे शिशुओंका प्रस्ताव प्रस्तुत है । एकने कहा—'अरे कन्नू ! चकोरकी बोली बोल सके तो जानूँ ?' दूसरेने क्रौञ्चकी, तीसरेने चक्रवाककी, चौथेने लवाकी बोली सुननी चाही । एकने गम्भीर मुद्रा बनाकर कहा—'देख रे कन्हैया ! मयूरके समान नाच लेना तो उतना कठिन मुझे नहीं दीखता । हाँ, उसके-जैसे बोलकर दिखा ।' अनेक शिशु हैं, अलग-अलग रुचि है । और उधर श्रीकृष्णचन्द्रका आकर्षण किसपर नहीं है ? ये चकोर, क्रौञ्च, चकवा-चकवी, भारद्वाज—सभी तो एकत्र हो रहे हैं उनके समीप । श्रीकृष्णचन्द्र सबका मनोरथ पूर्ण करते हैं, सबका अभिनन्दन स्वीकार करते हैं । शिशुओंने देखा—'अद्भुत कला जानता है यह कन्हैया ! देखो न, क्षणोंमें ही पहले तो इसने इन सब पक्षियोंके रवका यथार्थ अनुकरण करके पृथक्-पृथक् दिखाया और अब न जाने कैसे, इसके मुखमें एक साथ इन समस्त विहङ्गमोंका कलरव सुन पड़ रहा है ।' तथा राशि-राशि वे वन-पक्षी शान्त सुस्थिर होकर देख रहे हैं उनके ही रवका अनुकरण करनेमें तन्मय-से हुए व्रजराजनन्दनकी ओर ! वे सब वृन्दावनमें, अपने आवासस्थलमें वनेश्वरका आगमन जानकर, स्नेहके प्रबल आकर्षणसे खिंचकर उन्हें देखने ही तो आये हैं, उनका स्वागत करने ही आये हैं न ? फिर क्यों नहीं वनके राजा भी उनकी ही भाषामें उनके स्वागतका उत्तर दें ! प्रजाके प्राणोंमें अपना प्राण निरन्तर न मिला सके, वह राजा कैसा ? किसी अनिर्वचनीय सौभाग्यसे इन स्थावर-जङ्गम वनवासियोंको ऐसा ही राजा मिला है जो सर्वथा उनके जीवनमें अपना जीवन मिलाकर शासन कर सके । इसीलिये ऐसे स्नेहमय सम्राट्को सामने देखकर, उनकी भाषामें ही उन्हें बोलते देखकर विहगकुलके हर्षका पार नहीं, हर्षातिरेकवश ही वे सब इस समय शान्त स्थिर हो गये हैं । न जाने कितनी देर इस सघन वनमें विहंगोंकी यह प्रेमजन्य नीरवता तथा चञ्चल श्रीकृष्णचन्द्रकी यह अनुकरण-क्रीडा बनी

रहे—यदि अचिन्त्यलीलामहाशक्ति सदा सचेष्ट न रहें, लीलाका नवीन क्रम उपस्थित न कर दें। वे तो करेंगी ही—वह देखो, वनके सघनतम अन्तर्भागसे हिंस्र पशु व्याघ्र-सिंह भी बाहर उन्मुक्त वनस्थलीमें पगडंडियोंपर चले आये। नीलसुन्दरके प्रति कितना स्नेह भरा है उनकी आँखोंमें, यह देखते ही बनता है। किंतु नीलसुन्दर—बलिहारी है लीलाविहारीकी इस लीलाकी! वे तो भगे, 'अरे दादा रे दादा! सिंह आया रे, भैयाओ! भगो, भगो!'—इस प्रकार अत्यन्त भयभीत-से बनकर चीत्कार कर भागे जा रहे हैं। अवश्य ही उन शिशुओंको कोई भय नहीं। वे सब तो ताली पीट-पीटकर हँस रहे हैं, हँस-हँसकर आनन्दभरी दृष्टिसे इन हिंस्र पशुओंकी ओर निहारकर, उनके और भी समीप जाकर श्रीकृष्णचन्द्रको पुकार रहे हैं—'अरे कन्नू! नेक इधर आ!' तथा उनके कन्नूको भी तो लौटना ही है। यह तो भयका एक अभिनय था। किसे पता नहीं है—वृन्दावनके हिंस्र पशुओंमें अहिंसाकी नित्य प्रतिष्ठा है, निसर्गसे ही परस्पर वैरसम्पन्न जन्तुओंमें भी वहाँ श्रीकृष्णचरण-सरोरुहके प्रभावसे सदा स्नेहकी सरिता उमड़ती रहती है। पर श्रीकृष्णचन्द्रको तो खेलना है। उन्होंने सोचा था—'सब सखा तो हँसेंगे ही; हाँ, एक-दो भी कहीं अचानक मेरे चीत्कारसे चञ्चल होकर मेरे साथ भाग चलें, तब देखना है ········।' किंतु उनकी यह इच्छा इस समय पूर्ण न हो सकी। जिनके भृकुटी-स्पन्दनमात्रसे असंख्य ब्रह्माण्डोंका सृजन, पालन, लय होता है, उन सत्यसंकल्प महामहेश्वर प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रका यह मनोरथ अपूर्ण रह गया! बस, यही आश्चर्यमयी, त्रिभुवनमोहिनी लीला है लीलामयकी! जो हो, श्रीकृष्णचन्द्र अधरोंपर मन्द मुसकान लिये लौट आये वहीं सखाओंके समीप, तथा वे व्याघ्र, सिंह आदि स्नेहविह्वल होकर उनके चरणसरोजोंके निकट लोटने लगते हैं—

चकोरक्रौञ्चचक्राह्वभारद्वाजांश्च बर्हिणः।
अनुरौति स्म सत्त्वानां भीतवद् व्याघ्रसिंहयोः॥
(श्रीमद्भा० १०।१५।१३)

चक्र चकोर क्रुंच अरु भारत।
मोरादिक द्विज जे बन राजत॥
तेहि अनुकरन बोल गति तासू।
एहि बिधि खेलत कृपानिवासू॥

इस प्रकार नये-नये कौतुक करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र वनमें न जाने कितनी दूर चले जाते हैं। क्षणभरके लिये भी कहीं विश्राम नहीं, उन शिशुओंको भी तनिक-सी श्रान्तिका भान नहीं। उनकी यह क्रीडा अविराम चलती ही रहती है। अग्रज श्रीबलराम भी अनुजके प्रत्येक खेलमें सम्मिलित हैं ही। इस मण्डलमें सबसे अधिक बलशाली भी वे ही हैं। पर आश्चर्य यह है कि यदि कहीं क्रीड़ाश्रमजन्य एक सुन्दर-सी क्लान्ति आती है तो वह आयेगी सर्वप्रथम श्रीरोहिणीनन्दनके गौरमुखारविन्दपर ही। और जहाँ यह हुआ कि श्रीकृष्णचन्द्र सब कुछ छोड़कर अपनी वाम भुजासे श्रीबलरामके कण्ठको वेष्टित कर लेंगे एवं दक्षिण करपल्लवसे अपना पीताम्बर लेकर अग्रजका मुख पोंछते हुए पूछेंगे ही—'दादा! अब तो तुम थक गये दीखते हो!' तथा उस समय अग्रज वास्तवमें थके हैं या अनुजके प्रति उमड़ा हुआ अन्तस्तलका स्नेह ही स्वेदबिन्दुओंके रूपमें व्यक्त हुआ है, श्रीकृष्णचन्द्रको क्रीड़ासे विरत करके विश्राम करा देनेकी भावना ही क्लान्तिरूपमें बाहर आयी है—इसका कोई निर्णय न होनेपर भी श्रीबलरामके मुखसे निश्चय ही यह उत्तर मिलेगा—'हाँ रे भैया कृष्ण! मैं तो थक गया रे!' तो आज भी ऐसा ही हुआ और इसीलिये अब दूसरा आयोजन होना ही है। बस, तुरंत ही समीपवर्ती उस विशाल वटकी स्निग्ध शीतल छायामें मण्डली जा विराजती है। वहाँ अतिशय मनुहारपूर्वक श्रीबलरामकी परिचर्या आरम्भ होती है। एक वयस्क गोपशिशुके अङ्कमें अपना मस्तक रखकर

उन्हें लेट जाना पड़ता है। अनुजकी यही इच्छा है। इस इच्छाका सर्वथा अनुसरण करना उनके लिये अनिवार्य है। अन्यथा वे जानते हैं—इससे तनिक-सा प्रतिकूल चलनेपर श्रीकृष्णचन्द्रकी चञ्चल चेष्टाओंका विराम तो होनेसे रहा, अनुजके प्रत्येक प्रेमिल आदेशका पालन करके ही वे उन्हें अपने पास कुछ समयके लिये बैठाये रखनेमें समर्थ हो सकते हैं। इसीलिये नीलसुन्दरकी प्रत्येक प्रार्थना किसी ननु, न च के बिना ही स्वीकृत होती जा रही है। उस शिशुका अङ्क तो सुन्दर उपधान (तकिया) बन ही चुका। हरित मृदुल तृणराजिका सुन्दर आस्तरण भी अरण्यने वहाँ पहलेसे ही प्रस्तुत कर रक्खा है। श्रीबलरामके पृष्ठदेशसे संलग्न उनका सुन्दर नील दुकूल अपने आप उस तृणशय्याका आवरणवस्त्र (बिछौनेकी चादर) बन रहा है। और अग्रजके पादपद्मोंको धारण कर लेते हैं नीलसुन्दर अपने अङ्कमें। यह व्यवस्था हुई है अपने कोटि प्राणप्रिय दादाको विश्राम करानेकी और दादा भी बाध्य हैं इसे ज्यों-की-त्यों स्वीकार करनेके लिये। अस्तु, यह हो जानेके अनन्तर अब अपने सुकोमलतम करपल्लवोंसे नीलसुन्दर श्रीबलरामका पादसंवाहन आरम्भ करते हैं। इस समय श्रीरोहिणीनन्दनके हृदयकी क्या दशा है, इसकी थाह पा लेना सहज नहीं। कोई तटस्थ इतना ही कह सकता है—स्नेहके अतिशय प्रबल झंझावातको हृत्तलमें ही रुद्ध रखकर अनुजकी ऐसी प्रत्येक रसपूरित सेवाको स्वीकार करते चले जाना बस, एकमात्र उन्हींके लिये सम्भव है! जो हो, बड़ी देरतक पादसेवाके द्वारा अग्रजका श्रम हरणकर श्रीकृष्णचन्द्र देखते हैं—'दादाको निद्रा आयी या नहीं।' किंतु दादा तो वैसी ही मुग्ध-दृष्टिसे अनुजको निहार रहे हैं। 'ठीक है, अरे सुबल! दादाके चरणतलको मेरी ही भाँति तू अपने अङ्कमें लेकर दबा, मैं व्यजन करूँगा; अभीतक दादाको नींद नहीं आयी रे!'—इस आदेशके साथ नीलसुन्दरने वटपत्र-निर्मित एक छोटी सुन्दर-सी पंखी दाहिने हाथमें ले ली और श्रीबलरामके मुखपर बयार करने लगे वे। पर दादाके नेत्र-सरोजोंमें अब भी तन्द्राका संचार न हो सका। 'अच्छा दादा! मैं तुम्हारा सिर सहलाऊँ, फिर तो तुम्हें नींद आ ही जायगी!'——व्यजन तो चल ही रहा है, साथ ही वाम-करपल्लवसे श्रीकृष्णचन्द्र बड़े भैया बलरामके सुन्दर केशोंको सहलाने लगते हैं। ओह! कितनी अनुरागपूरित आतुरता समायी हुई है श्रीकृष्णचन्द्रके उन सलोने दृगोंमें——'कैसे मेरे दादाकी आँखोंमें थोड़ा-सा आलस्य भर आये!'

क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपबर्हणम्।
स्वयं विश्रमयत्याय पादसंवाहनादिभिः॥
(श्रीमद्भा० १० । १५ । १४)

जुगल बन्धु बन भ्रमन में, राम श्रमित कछु गात।
पग चाँपत करुना अयन, कोमल कर जलजात॥

इस बार अग्रजके नेत्र अर्द्धनिमीलित अवश्य हो गये—तन्द्रासे नहीं, स्नेहकी बाढ़से। किंतु रह-रहकर वे पूर्वकी भाँति ही, आँखें खोलकर अब भीं अनुजको देखने लग जाते हैं। इसी समय सहसा श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय उत्फुल्ल होकर मधुमय कण्ठसे कह उठते हैं—'बस-बस, दादा! अब उपाय ध्यानमें आ गया, तुम निश्चय ही सुख-निद्रामें सो जाओगे!'—अविलम्ब व्रजेन्द्रनन्दनने अपनी मुरली कटिसे निकालकर होठोंपर रख ली और उसमें स्वर भरना आरम्भ किया। दूसरे ही क्षण श्रीबलरामके नेत्रकमल मुकुलित हो गये। इसके अतिरिक्त एक साथ ही ध्वनि प्रसरित होने लगी वनस्थलीके सब अंशोंमें। और फिर इसके महादिव्योन्मादमय प्रभावको कोई सह ले सके, यह सम्भव ही कहाँ है? चर-अचर—सभी वनवासी विमोहित होने लगते हैं। सबके कर्णपुटोंके पथसे हृत्तलमें एक अनिर्वचनीय सुधाकल्लोलिनी उमड़ी आ रही है तथा

दृगञ्चल भर रहा है उस मुरलीवालेकी महामरकत श्यामल छबिसे । और तो क्या, स्वयं मुरलीमनोहर वृन्दारण्यविहारी भी अग्रजके निकट विराजित रहकर, आनन्दविवश हुए झूम रहे हैं—

मुख मुरली सुर साधियौ तहँ रूप उज्यारे ।
सुनि मोहे बन जीव जे सुर श्रवननि धारे ॥
मगन महा मन मोद में ब्रज बिपिन बिहारी ।
खग म्रग पसु सब मोहियौ प्रभु छबिहि निहारी ॥

वैराग्यकी निर्मल भावना

(लेखक—पण्डित श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

यदि ध्यानसे देखा जाय तो सम्पूर्ण सद्गुणोंका मूल वैराग्य ही दीखता है । यदि पूर्ण वैराग्ययुक्त भगवद्भक्ति हो तो सम्पूर्ण दुर्गुण देखते-देखते ही भाग जायँ और सारी सिद्धियाँ, तथा—ऋतम्भरा प्रज्ञा, व्यवसायात्मिका बुद्धि, पूर्ण विवेक तथा अन्य समस्त सद्गुण तत्काल उपस्थित हो जायँ । प्रह्लादकी—

'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।'

—इस युक्तिमें जो अकिञ्चना भक्तिका उल्लेख आता है, उसमें अकिञ्चना पदसे वैराग्यमिश्रिता भक्ति ही विवक्षित है । वस्तुतः सद्बुद्धिका मूल है वैराग्य तथा दुर्बुद्धिका मूल है—राग । रागके परिणाम हैं—लोभ, काम तो वैराग्यके परिणाम हैं—विवेक, मनोनिग्रह, आत्मशक्ति, भगवत्प्राप्ति आदि । वैरागी पुरुषके हृदयमें ही पक्षपातविहीन विचार उठ सकते हैं । पक्षपातविहीन विचार ही सद्विचार हैं । इन्हें ही सुमति या सद्बुद्धि कहा जाता है । शारीरिक रोगोंमें मानसिक रोगोंकी भी गणना है । व्यक्तिको दैहिक रोगोंका तो पता भी चल जाता है पर मनोरोगोंका पता बिरले अन्तर्मुख विवेकी जनोंको ही होता है । यद्यपि ये रोग सभीको ही रहते हैं । यहाँतक कि महामहिम यत्नशील मुनियोंतकको भी नहीं छोड़ते, फिर साधारण मनुष्योंका क्या प्रश्न है ?

मानस रोग कछुक मैं गाए । हहिं सब कें लखि बिरलेन्ह पाए ॥
बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे । मुनिहु हृदयँ का नर बापुरे ॥
एहि बिधि सकल जीव जग रोगी । सोक हरष भय प्रीति बियोगी ॥

केवल नीरोग मन उनका ही समझने योग्य है, जिनके हृदयमें बराबर वैराग्यका बल वृद्धिपर ही हो और सर्वदा सद्विचारोंकी तरंगें लहरा रही हों—

जानिअ तब मन बिरुज गोसाँई । जब उर बल बिराग अधिकाई ॥
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई । बिषय आस दुर्बलता गई ॥

विषयोंकी अभिलाषा अस्वस्थ मनका घोर दौर्बल्य है, इसके आत्यन्तिक त्यागकी भावना स्वस्थ मनकी परिचायक है ।

वैराग्यसे लाभ

वैराग्यसे साधारण पक्षपातविहीन विचार ही उदय हों, तो कोई बड़ा लाभ नहीं । इससे हृदयकी इतनी विमलता प्राप्त होती है कि जन्म-जन्मान्तरका सम्पूर्ण घटनाचक्र ही उपस्थित हो जाता है । भूत, भव्य, वर्तमानका पूर्ण ज्ञान सामने आ जाता है । भरद्वाज, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठादिकोंकी—

जानहिं तीनि काल निज ग्याना । करतल गत आमलक समाना ॥
गुर बिबेक सागर जगु जाना । जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना ॥

यच्च भूतं भविष्यं च भवच्च परमश्नुते ।
तत्सर्वमनुपश्यामि पाणौ फलचिकीर्षितम् ॥
(शां० प० ५४ । १)

यह स्थिति वैराग्य अथवा वैराग्यरूपी भक्तिसे ही प्राप्त थी । 'योगदर्शन'के—

'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासम्बोधः । (२ । ३९)

—सूत्रके 'व्यास-भाष्य'में बतलाया गया है कि पूर्ण विरक्तको 'मैं' कौन था ? कैसे था ? यह वर्तमान शरीर क्या है ? कैसा है ? आगे मैं क्या होऊँगा ? कैसे रहूँगा इत्यादि बातोंका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है—

'कोऽहमासं कथमहमासं किंस्विदिदं कथं स्विदिदं के वा भविष्यामः कथं वा भविष्याम इत्येवमस्य पूर्वान्तं परान्तं मध्ये स्वात्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते । एता यमस्थैर्ये सिद्धयः ॥'

किंतु इस प्रकारके दिव्य अबाध सत्य-परिज्ञानके लिये शरीरतकमें अनासक्ति आवश्यक होती है और जिस तरह मदिरा-मदान्ध व्यक्ति अपने वस्त्रोंके रहने या जानेपर ध्यान

नहीं देता, उसी प्रकार पूर्ण सिद्ध विरक्त पुरुष अपने शरीरके योगक्षेमादिका कुछ भी ध्यान नहीं रखता, यहाँतक कि जीने-मरनेकी भी कोई चिन्ता नहीं करता, कुछ स्मरण नहीं करता।* भोजदेवने अपनी वृत्तिमें इसे स्पष्ट करते हुए ठीक ही लिखा है कि—

न केवलं भोगसाधनपरिग्रह एव परिग्रहो यावदात्मनः शरीरपरिग्रहोऽपि परिग्रहः, भोगसाधनत्वाच्छरीरस्य। तस्मिन्सति रागानुबन्धाद्बहिर्मुखायामेव प्रवृत्तौ न तात्त्विकज्ञानप्रादुर्भावः। यदा पुनः शरीरादिपरिग्रहनैरपेक्ष्येण माध्यस्थ्यमवलम्बते तदा मध्यस्थस्य रागादित्यागात्सम्यग्ज्ञानहेतुर्भवत्येव पूर्वापरजन्मसंबोधः।

(योगदर्शन साधनपाद ३९ वें सूत्रकी भोजदेवविरचित राजमार्तण्डवृत्ति)

इसके अतिरिक्त आत्मविजय, मनोविजय भी, जिसकी राजनीति, संसारयात्रा तथा अध्यात्मपथमें युगपत् आवश्यकता होती है, वैराग्यसे ही सम्भव है। जब अर्जुनने भगवान्से कहा कि 'प्रभो! मनका निग्रह तो मैं समझता हूँ कि हो ही नहीं सकता। इसका नियमन वायुके नियमनकी भाँति सर्वथा अशक्य प्रतीत होता है।' तब कृपासिन्धु भगवान्ने बतलाया कि 'निस्संदेह मन दुर्निग्राह्य तथा अत्यन्त चञ्चल है, फिर भी वह सर्वथा अनिग्राह्य तथा अजेय नहीं। सतत अभ्यास तथा वैराग्यके सहारे उसका ग्रहण, नियमन हो ही सकता है—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'

योगदर्शनकारने भी—

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।' (१ । १२)

इस सूत्रसे यही उपदेश किया है, कुछ संतोंका तो यहाँतक कहना है कि वैराग्यवान्को सांसारिक पदार्थोंकी भी प्राप्ति बड़े विचित्र ढंगसे हो जाती है। वह अनुरक्तावस्थामें जिन भोग-सामग्रियोंके लिये प्राण देता था और वे नहीं प्राप्त होती थीं, वे ही भगवान्की ओर चलनेपर, विरक्तावस्थामें उसके पीछे दौड़ने लग जाती हैं, ठीक छायाकी तरह—जो सूर्यकी ओर दौड़नेपर पीछा करती है और अपनी ओर दौड़नेवालेसे आगे भागती जाती है—

'छाया माया एक सी बिरला जान कोय।
भगताँके पीछे फिरे सन्मुख भागे सोय॥'
(कबीर)

वैराग्यकी परिभाषा और प्रभेद

वियोगार्थक 'वि' उपसर्गके* परे भ्वादिगणीय 'रञ्ज रागे' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय करनेपर रज्यतेऽनेनेति इस अर्थमें 'घञि च भावकरणयोः' इस सूत्रसे 'न-लोप' करनेसे 'विराग' शब्द बनता है, जिसका भाव है रागका अभाव। कुछ महानुभावोंने योगदर्शनके—

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।' (१ । १५)

—इस सूत्रपर 'दृष्ट-आनुश्रविक विषयोंमें विगततृष्णाके भावकी वैराग्य संज्ञा है' ऐसा अर्थ किया है, जिससे अच्छी व्याख्या हो जाती है। (भोजदेवविरचित वृत्ति)। किंतु व्यासभाष्य, मधुसूदनस्वामी तथा वाचस्पति मिश्रकी मान्यता कुछ और है, जिसे हम आगे दिखलायेंगे। भोजदेवने अगले सूत्र—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। (१ । १६)

—की वृत्तिमें विषयोपभोगविषयक वैराग्यको उत्तम तथा ख्यातिप्रतिष्ठाविषयक वैराग्यको द्वितीय श्रेणीका माना है। भगवान् शंकराचार्यने ब्रह्मलोकसे लेकर स्थावरपर्यन्त विषयभोगोंमें काकविष्ठावत् हेयत्व भावनाको निर्मल वैराग्य माना है।

ब्रह्मादि स्थावरान्तेषु वैराग्यं विषयेष्वनु।
यथैव काकविष्ठायां वैराग्यं तद्धि निर्मलम्॥
(अपरोक्षानुभूति ४)

'विवेक-चूडामणि'में भी आपने यही बात दुहरायी है—

देहादि ब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोगवस्तुनि।
विरक्तविषयव्राता दोषदृष्ट्या मुहुर्मुहुः॥
(१२)

तत्त्वबोधमें भी—

'विरागः कः? इह स्वर्गभोगेषु इच्छाराहित्यम्।'

---

* उपर्युक्त स्थितिका वर्णन श्रीमद्भागवतके इस श्लोकमें उपलब्ध होता है—

देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥
(११ । १३ । ३६)

* वैयाकरणोंने 'वि' उपसर्गके 'नानावियोगातिशये भृशमोहेश-वाङ्मृधे। पैशुन्यासरणे भूषेषदर्थानाभिमुख्यके। अनवस्थामुख्ये शौर्य-दर्शने [illegible]' । इतने अर्थोंमें बतलाये हैं।

इन शब्दोंसे यही भाव प्रकट किया है ।

गोस्वामीजीके मनमें सम्पूर्ण सिद्धियोंतकको भी तृणवत् माननेवाला त्यागी पुरुष ही वैरागी है—

'कहिअ तात सो परम बिरागी । तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ॥'

यों तो वैराग्यके दो प्रमुख भेद हैं—पर और अपर । फिर यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकारके भेदसे अपर वैराग्य चार तरहका होता है । मधुसूदन स्वामीके मतसे योगसूत्रकारने पूर्वभूमिकी जय हो जानेके कारण उत्तर-भूमि सम्पादनकी विवक्षासे चतुर्थ वशीकार संज्ञा वैराग्यको ही सूचित किया है (गीता ६ । ३५ गूढार्थदीपिका व्याख्या) । स्त्रियाँ, भोजन, पान और ऐश्वर्य ये दृष्ट विषय हैं । स्वर्ग, वैदेह, प्रकृतिलयादि शास्त्रोंमें वर्णित होनेसे आनुश्रविक विषय हैं । इन दोनोंकी तृष्णा प्राणीको होती है । इन्हें निरुद्ध करनेकी भावनासे विवेकके तारतम्यसे यतमानादि चार वैराग्य होते हैं । इस विश्वमें क्या सार है, क्या निस्सार है, इसे गुरु-शास्त्रोंद्वारा जाननेकी अभिलाषा और यत्न ही 'यतमान' वैराग्य है । अपने चित्तमें पूर्व विद्यमान दोषोंमेंसे, कितने पक्व हुए और कितने अवशिष्ट रह गये हैं, ऐसे अभ्यस्यमान विवेकके द्वारा चिकित्सककी भाँति विवेचन 'व्यतिरेक' वैराग्य है । दृष्ट और आनुश्रविक विषयोंकी प्रवृत्तिसे, आत्म-दुःखके बोधसे, इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको रोककर भी जो तृष्णासे, उत्सुकतामात्रसे ही मनमें ही अवस्थान होता है, वह 'एकेन्द्रिय' वैराग्य है । मनमें भी तृष्णाके शून्य होनेसे जो सर्वथा वैराग्य अर्थात् तृष्णाविरोधिनी, ज्ञानप्रसादरूपा चित्तवृत्ति होती है, वही 'वशीकार' वैराग्य है। वैराग्य सम्प्रज्ञात समाधिका अन्तरङ्ग तथा असम्प्रज्ञात समाधिका बहिरङ्ग साधन है । उसका अन्तरङ्ग साधन है प्रथम 'पर' नामक वैराग्य । इसीको भगवान् पतञ्जलिने आगे सूत्रित किया——

'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।' (१ । १६)

'पुनः सम्प्रज्ञात समाधिपाटवसे गुणातीत पुरुषको ख्याति-साक्षात्कार होता है । तदनन्तर अशेष त्रिगुण व्यवहारमें जो वैतृष्ण्य प्राप्त होता है, वही श्रेष्ठ फलभूत वैराग्य है । इसके परिपक्व होते ही अविलम्ब 'कैवल्य' हो जाता है। स्वयं भगवान् व्यासके शब्द हैं—

'ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्, एतस्य नान्तरीयकं कैवल्यमिति।'

(पूर्वोक्तसूत्रका भाष्य)

वैराग्य और भगवद्भक्ति

इसपर यह जिज्ञासा होती है कि तब वैराग्य उदय हो कैसे ? इसका समाधान है——'भक्तिके आश्रयसे' ।

श्रीमद्भागवतके पाद्मोक्त माहात्म्यमें वैराग्यको भक्तिका पुत्र कहा गया है । साक्षात् भगवान्‌ने अपनी प्रपत्ति-शरणागतिसे वैराग्यका उदय होना कहा है—

'भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः । प्रपद्यमानस्य······

(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४२)

गोस्वामी तुलसीदासजीने भी इसका छायानुवाद करते हुए लिखा—

भोजन करिअ तृपिति हित लागी । जिमि सो असन पचवै जठरागी ॥
असि हरि भगति सुगम सुखदाई । को अस मूढ़ न जाहि सोहाई ॥
(उत्तरकाण्ड ११९)

साथ ही भक्तिमें भी वैराग्यकी आवश्यकता होती है, क्योंकि प्रभुको अकिञ्चन भक्त ही अधिक प्यारे होते हैं ।

तेहि ते कहत संत श्रुति टेरे । परम अकिंचन प्रिय हरि केरे ॥

'नमोऽकिंचनवित्ताय' 'निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः।'

——इत्यादिसे यह सूर्यके आलोककी भाँति सुस्पष्ट है । वैराग्यसंदीपनीमें गोस्वामीजीने—

कंचन को मृतिका करि मानत । कामिनि काष्ठ सिला पहिचानत ॥
तुलसी भूलि गयो रस एहा । ते जन प्रगट राम की देहा ॥

तथा—

दास को भूषन भक्ति है, भक्ति को भूषन ग्यानु ॥
ग्यान को भूषन ध्यान है, ध्यान को भूषन त्याग ।
त्याग को भूषन शांतिपद, तुलसी अमल अदाग ॥

आदि शब्दोंसे एकको दूसरेसे भूषित होना बताते हैं । वैराग्य उद्दीपनके लिये 'वैराग्याम्बुजभास्कर' भगवान् शंकरकी भी कृपा वे आवश्यक बतलाते हैं ।

उपसंहार

इस तरह शान्त एवं सुस्थिर होकर देखनेसे यह पता चलता है कि अशेष देहधारियोंके स्व-सखा, परमसुहृद्, अन्तरात्मा, जगन्मङ्गलमङ्गलात्मा प्रभुकी निश्छल आराधना ही प्राणिमात्रका सर्वप्रथम तथा सर्वप्रधान कर्तव्य है । अत्यन्त

वैराग्यपूर्वक, निश्चलभावसे सर्वस्व परित्यागकर उस परमहित-चिन्तक स्वामीका ही सर्वभावेन भजन-स्मरण करना सर्वोत्तम सर्वश्रेष्ठ सर्वावश्यक कार्य है ।

'सर्वधर्मान्परित्यज्य' 'स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनाम्' 'स्वभावो भजनं हरेः' 'स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य'

—आदि हृदयस्पर्शी सूक्तियोंका यही आशय है । रागसे सिद्धि नहीं मिलती, यह—

किं तज्जपेन तपसा मौनेन च श्रुतेन च ।
सुरार्चनेन दानेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम् ॥

—से स्पष्ट है । साथ ही त्याग एवं वैराग्यसे भगवान् शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं, इसीलिये—

'भूप राज तजि होहिं बिरागी ।'

'यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽङ्गवैन्य-
जायन्तनाहुषगयादय ऐकपत्यम् ।
राज्यं विसृज्य विविशुर्वनमम्बुजाक्ष
ग्रामाद्वनं क्षितिभुजोऽपि ययुर्यदर्थाः ॥'

(श्रीमद्भा० १० । ६० । ४१)

राजाधिराज, महाराज, सम्राटोंने भी वनकी शरण ली थी । वस्तुतः कोई किसी भी प्रकार सर्वात्मा सर्वभूतसुहृद् प्रभुकी शरणमें जाकर उनका भजन करता हो तो वह सर्वथा धन्य तथा वन्द्य ही है—

धन्य धन्य माता पिता धन्य पुत्रबर सोइ ।
तुलसी जो रामहिं भजे, जैसेहुँ कैसेहुँ होइ ॥
तुलसी जाके बदन ते धोखेहुँ निकसत राम ।
ताके पग की पगतरी मेरे तन को चाम ॥
तुलसी भगत सुपच भलो, भजै रैन दिन राम ।
ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम ॥

(वैराग्यसंदीपनी ३६–३८)

श्रीभगवन्नामका रहस्य

(लेखक—प्रो० श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय एम्० ए०, बी० एस्-सी०)

कहा जाता है कि नेपोलियनने ला-प्लेस नामक फ्रान्सके एक वैज्ञानिकसे पूछा था कि 'सृष्टिकी रचना समझनेके लिये क्या उनके द्वारा आविष्कृत नेबुलर सिद्धान्त (Nebular Theory) यथेष्ट है ? क्या इस अद्भुत रचनामें भगवान्का कोई हाथ नहीं है ?' ला-प्लेसने उत्तर दिया था कि 'उनका सिद्धान्त (Theory) बुद्धिसे समझनेकी चीज है; परंतु भगवान् एक अज्ञात और अविज्ञेय पदार्थ है; उनको इस सिद्धान्त (Theory) की संज्ञामें लानेसे सृष्टि-प्रणालीके समझनेमें कठिनाई बनी ही रहेगी ।' इसलिये ला-प्लेसने भगवान्का नामतक नहीं लिया ।

आजकल भी बहुतसे लोग इसी मतके अनुगामी हैं । वे कहते हैं जिनके विषयमें निःसन्देह हम कुछ जानते नहीं हैं, ऐसे भगवान्पर भरोसा करना और उनकी शक्तिके सहारे अपना कर्तव्य-कर्म करना बल-बुद्धिसम्पन्न मनुष्यके लिये सराहनीय नहीं है । अनिर्देश्य भगवान्पर विश्वास करनेका अभिप्राय तो अपनेपर विश्वास खोना है और आत्मबलका सर्वथा विनाश करना है । इससे लाभदायक तो यह है कि हम अपना काम अपने आप करनेके लिये आत्म-विश्वास उत्पन्न करें, कार्य-क्षमता संग्रह करें, अपनी विचार-शक्तिके अनुसार सब कार्योंका भलीभाँति निर्वाह करें और उसका फल, इष्ट हो या अनिष्ट, अपने-आप भोगनेके लिये तैयार हों । कर्मफल तो हमें भुगतना है ही; यद्यपि ईश्वर कहीं हों भी तो वे हमारे कर्मोंका खण्डन नहीं कर सकते । तो फिर 'भगवन्, भगवन्' कहनेसे या उनके नामकी माला फेरनेसे क्या लाभ ?

ठीक है; भगवन्नाम जपनेसे कहीं कोई लाभ हो सकता है ? परंतु उनसे यदि कहा जाय कि 'आप चाहें या न चाहें भगवान् सदा आपके साथ रहते हैं, और आप उनका नाम सर्वदा जपा करते हैं, आप जानते हों या नहीं' तो निश्चय उनको बड़ा आश्चर्य होगा । फ्रान्सके लेखक मोलियरके एक चरित्रसे जब कहा गया कि आप सदासे ही 'गद्य'में बातचीत करते चले आये हैं, तो उनको बड़ा अचंभा हुआ । यही दशा हमारे उन भलेमानुस आत्माभिमानियोंकी है—भगवान्के साथ रहते हुए भी वे भगवत्-सान्निध्यका अनुभव नहीं करते, भगवन्नाम जपते हुए भी उसपर विश्वास नहीं करते । परंतु भगवान्की यह असीम कृपा है कि मनुष्य चाहे उनका त्याग कर दे, परंतु वे उसका न त्याग करते हैं और न जीवनके शेष श्वासपर्यन्त उसे नाम-जपसे वञ्चित करते हैं ।

यह तत्त्व वेदों और उपनिषदोंमें, जिनको मनुष्य बुद्धि और ज्ञानकी पराकाष्ठा कहते हैं—विस्तारपूर्वक वर्णित है। उनमें मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंका वचन है कि भगवान् समस्त सृष्ट पदार्थोंमें—जीव और जडमें, स्थावर और जङ्गममें नित्य आत्मरूपसे स्थित हैं। तैत्तिरीयोपनिषद्के एक मन्त्रमें लिखा है—

स इदं सर्वमसृजत···तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।
(२।६)

अर्थात् 'उस परमेश्वरने इस समस्त जगत्की रचना की और रचनाके अनन्तर स्वयं उसीमें अनुप्रविष्ट हो गया।' यहाँ केवल यह बात बतायी गयी है कि भगवान् हमारे साथ साधारणतः किस भावसे रहते हैं। छान्दोग्योपनिषद्में इसी तथ्यका विशेष भावसे मनुष्यके सम्बन्धमें इस प्रकार वर्णन किया गया है—

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति। (८।१।१)

अर्थात् यह मानव-शरीर ब्रह्मपुर है; क्योंकि इसके भीतर एक कमलाकार गृह, जिसके भीतर आकाश है और उसमें रहस्यमय ब्रह्म रहते हैं, उसको जानना होगा, उसीका अन्वेषण करना होगा, इसका यह अर्थ स्पष्ट है कि मनुष्य-शरीरका गठन स्वभावतः ऐसा है कि उसके दहराकाशमें ब्रह्मका स्थान है; अतः जबतक यह शरीर है तबतक भगवान् उसके अन्तःस्थलमें निवास करते हैं, उनका साथ कभी छूट ही नहीं सकता।

ये ब्रह्म हमारे शरीरमें किस स्वरूपमें हैं, भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अर्जुनको समझाया है—

अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर। (८।४)

'हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! इस शरीरमें मैं वासुदेव अधियज्ञरूपमें अवस्थित हूँ।'

इस शरीरमें प्राणशक्तिके द्वारा जो क्रियाएँ हुआ करती हैं और जीव इन्द्रियोंकी सहायतासे जो-जो कर्म करता है, उनको यज्ञ कहा जाता है, भगवान् इस यज्ञके नियन्ता होनेके कारण जीव-शरीरमें अधियज्ञ हैं।

और भगवान्ने यह भी कहा है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
(१०।२०)

'अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ।' ऐसे उदाहरण गीता और उपनिषदोंसे अनेक दिये जा सकते हैं; उन सबका सारांश यह है कि यदि मनुष्यको इस बातकी उपलब्धि न हो, उसको इसकी चेतना ही न हो, तो भी निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि भगवान् सर्वत्र, सर्वदा, हमारे साथ हैं। और यह बात हृदयङ्गम होनेपर जब वह भक्तिसे भगवान्के भजनमें तत्पर हो जाता है, तब भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु·········· ··········।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(९।२९)

अर्थात् 'सब भूतोंमें मैं अवश्य ही समभावसे व्याप्त हूँ, परंतु जो मुझे भक्तिसे भजते हैं वे मुझमें रहते हैं और मैं भी उनमें रहता हूँ।'

बस, मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, उसका जीवन धन्य हो जाता है, और जीवनका उद्देश्य सफल हो जाता है। पर गीता या उपनिषद्की वाणी जिनको ग्राह्य न हो, वे इन वाक्योंको कैसे स्वीकार कर सकते हैं, और कैसे विश्वास कर सकते हैं कि भगवान् इस समय इस स्थानपर उपस्थित हैं! वे अपनी बुद्धिकी बड़ाईमें, प्रमाणकी खोजमें रत्नको खो देते हैं। अब तो वर्तमान युगके वैज्ञानिक भी परमेश्वरकी सन्निधिको अस्वीकार नहीं करते। पदार्थ-विज्ञान (Physics) के द्वारा उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि चाहे जीवका शरीर हो, मिट्टीका ढेला हो, या सोनेका अलंकार हो—सभी जागतिक वस्तुएँ इलेक्ट्रन, प्रोटन, ड्युटेरन इत्यादिसे बने हैं। ये अविभाज्य, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, वैद्युतिक परमाणु हैं। इसलिये किसी भी पदार्थका उपादान-कारण ज्योति या प्रकाशका कण कहा जाता है। और प्रकाश (Light) को सब शास्त्रोंमें ईश्वरका प्रकट, व्यक्त रूप निरूपण किया गया है। अतः मनुष्य कहीं रहे, वह सदैव ईश्वरके साथ और उनके पास रहा करता है; क्योंकि वे उसमें हैं और उसके आस-पासके जड-जीव सभी पदार्थोंमें ज्योतिरूपसे रहते हैं। श्रीगीताका वचन है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥
(१३।१७)

'वह ब्रह्म सूर्याग्नि प्रभृति ज्योतिगणोंका ज्योति है, वह तमोमय प्रकृतिसे अति परे है; वह ज्ञान-स्वरूप है, और

विवर्तनसे ज्ञेय-स्वरूप भी है; ज्ञान-साधनोंसे लब्ध है । वह सबके हृदयमें विशेष रूपसे प्रतिष्ठित है ।' इन युक्तियोंके साथ श्रीपाल ब्रण्टन (Paul Brunton) साहबका एक लेखांश पठनीय है। उन्होंने 'The Inner Reality' (आभ्यन्तरिक वास्तविकता) नामक पुस्तकमें लिखा है—

If God be light, and if all material objects without a single exception—whether you take your own physical body or the chair upon which you are sitting—if all of these are nothing but condensations of that radiant energy of Light, do you not see that God is, therefore, everywhere present ? It is not merely a poetical fancy, but a literal fact that you cannot run away from God, no matter where you go. The whole material world is built up out of God, and is filled with Him, and you are near and within God all the time. There is no escape from Him, go where you will. He is infinite.

अर्थात् भगवान् यदि प्रकाश हैं और बिना अपवादके जागतिक सभी पदार्थ—चाहे वह आपका भौतिक देह हो या जिसपर आप बैठे हुए हैं वह कुर्सी क्यों न हो—यदि ये सभी एक ज्योतिर्मयी जाज्वल्यमान शक्तिके घनरूप हैं तब फिर आप कैसे नहीं देखते कि सर्वत्र भगवान् ही विराजमान हैं । यह बात कोरी कवि-कल्पना नहीं, वरं अक्षरशः सत्य है कि आप चाहे जहाँ भी जायँ भगवान्से दूर नहीं भाग सकते । सम्पूर्ण भौतिक जगत्की सृष्टि भगवान्मेंसे ही हुई है, उन्हींसे परिप्लुत है और आप सदा उनके समीप एवं उन्हींमें स्थित हैं । आप चाहे जहाँ भी जायँ उनसे बच नहीं सकते । वे अनन्त हैं ।

यद्यपि उपर्युक्त वाक्योंका अविश्वासी लोगोंपर कुछ भी प्रभाव नहीं है, तो भी यह बात वे अस्वीकार नहीं कर सकते हैं कि भगवन्नाम-जपरूपी यज्ञमें वे भी—बिना जाने ही सही, सर्वदा लिप्त रहते हैं; परंतु यह उक्ति विचारणीय है ।

मनुष्य प्रायः अपने समस्त कर्मोंका ज्ञानपूर्वक आचरण करता है, कदाचित् कोई कर्म अज्ञानतः हो जाय । परंतु जीवनके एक प्रकृष्ट कर्मका उसे चेत भी नहीं है और वह कर्म सर्वदा होता चला जा रहा है । जिस कार्यसे उसके जीवनकी स्थिति बनी रहती है उसका उसे बोध भी नहीं है । वह जीवित है, इसका प्रधान लक्षण यह है कि उसका श्वास-प्रश्वास चल रहा है । परंतु वायुके इस प्रवाहका शरीरके भीतर जाना और शरीरसे बाहर निकलना, स्वभावतः ऐसे सरल भावसे चलता है कि उसका ध्यान उस ओर जाता ही नहीं है । जबतक इस प्रवाहका यन्त्र ठीक है, तबतक इस ओर दृष्टि डालनेकी आवश्यकता नहीं होती है।

यद्यपि साधारण मनुष्योंमें वायुकी इस गतिकी कोई धारणा भी नहीं है; परंतु मुनि-ऋषियोंने, योगी-तपस्वियोंने इस विषयपर गम्भीर भावसे सूक्ष्म विचार किया है। उन्होंने शरीरके भीतरके वायुकी अङ्ग-अङ्गमें परीक्षा की है; नाड़ियोंमें उसकी गतिका निरीक्षण किया है; विशेष-विशेष स्थानपर उसका कार्य अवलोकन किया है । इस अन्वेषणके फलस्वरूप एक श्वास-विज्ञान Science of Breathing—का निर्माण हुआ जो कि संसारके किसी देशमें नहीं है ।

इस विज्ञानके अनुसार हमारे शरीरमें वायुके पृथक्-पृथक् नाम और कार्य हैं—यथा (१) प्राणवायु–यह नासिकाके अग्रभागसे बहिर्गमनकारी है; (२) अपान—यह अधोगमनशील है, पायु इसका स्थान है; (३) समान-यह अन्नादिका समीकारक है, शरीरके मध्य भागमें इसका स्थान है; (४) उदान–यह उत्क्रमणकारी है; कण्ठमें इसका स्थान है; (५) व्यान–यह शरीरके सब भागोंमें गमनकारी है । इनके अतिरिक्त (६) उद्गारके लिये नाग वायु; (७) उन्मीलनके लिये कूर्म; (८) क्षुधाके लिये कृकर; (९) जृम्भणके लिये देवदत्त और (१०) शरीर-पोषणके लिये धनञ्जय वायु भी शरीरमें है ।

मुनियोंने यह भी दिखाया है कि चन्द्र नाडी, सूर्य नाडी और सुषुम्णा मार्गसे जब वायुका चलाचल होता है, तब शरीर और मनपर इसका क्या प्रभाव पड़ता है। योगशास्त्रमें कहा है—

श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।
(२ । ४९)

—श्वास-प्रश्वासकी स्वाभाविक गतिका छेदन करना प्राणायाम है ।

और योगेश्वर श्रीहरिने गीतामें कहा है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥
(४ । २९)

'प्राणायामपरायण योगी कोई तो अपान-वायुमें प्राण-वायुको हवन करते हैं; कोई प्राणवायुमें अपानवायुको हवन करते हैं तथा अन्य योगी प्राण और अपानकी गतिको रोकते हैं ।'

और यह भी—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥
(५ । २७)

'बाहरके विषयभोगोंको बाहर ही त्यागकर और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटिके बीचमें रखकर, नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपानवायुको सम करे ।'

यह एक राजयोगकी प्रणाली है, जिसको योगशास्त्रमें चौथे प्रकारका प्राणायाम कहा गया है । यह अनायास होनेवाले प्रकरणकी अद्भुत शक्ति है । यह मन जो सदैव महान् चञ्चल है इस उपायसे शान्त हो जाता है । प्राण और अपानकी गतिको रोकते-रोकते जब वह केवल नासाभ्यन्तरचारी बन जाता है, तब मनकी चञ्चलता कम होते-होते वह शान्त हो जाता है । मन्त्र-जप, धारणा-ध्यान इत्यादिमें समाहित होनेकी उसकी प्रवृत्ति बढ़ती है । उसकी विक्षिप्त अवस्था दूर हो जाती है और वह एकाग्र भावको प्राप्त होता है । अथवा इस प्रकरणका प्रयोग विपरीत भावसे भी हो सकता है—अर्थात् मनको मन्त्रमें या इष्ट-चिन्तनमें दृढ़तासे लगानेका अभ्यास करना । इससे उसकी चञ्चलता दूर होती रहती है । मन शान्त होनेपर प्राणापानकी गतिका ह्रास अपने-आप धीरे-धीरे होता रहता है, तब वायु नासाभ्यन्तरचारी बन जाता है । दोनों उपायोंसे फल एक ही होता है ।

परंतु श्वास-प्रश्वासका चलाचल अज्ञानतः होता है । हमारे शास्त्रकारोंको इसका पूर्ण अङ्क-ज्ञान था । वर्तमान शारीर-विज्ञानसे यह पता चला है कि प्रत्येक स्वस्थ मनुष्य स्वाभाविक रीतिसे एक मिनटमें १५ बार श्वास-प्रश्वास ग्रहण और त्याग करता है । अर्थात् एक दिनके २४ घंटेमें २१,६०० बार श्वास-प्रश्वासकी क्रिया होती है । हमारे शास्त्रकार भी अनेक वर्षों पहले इस निर्दिष्ट संख्याको जानते थे । वे धर्मपरायण थे; जीवनको ईश्वरका दान समझते थे । इसलिये उन्होंने जीवन-धारक इन श्वास-प्रश्वासोंको भगवान्के नामसे युक्त कर दिया । जिससे एक भी श्वास व्यर्थ न जाय । उन्होंने इस प्रकारसे देवताओंमें उनका विभाजन किया—

षट् शतानि गणेशस्य षट् सहस्रं प्रजापतेः ।
षट् सहस्रं गदापाणेः षट् सहस्रं पिनाकिनः ॥
सहस्रमात्मलिङ्गस्य सहस्रं परमात्मनः ।
गुरोरेकसहस्रं स्यात् संकल्पोऽयमुदाहृतः ॥

'छः सौ गणेशजीके लिये, छः हजार प्रजापति (ब्रह्माजी) के लिये, छः हजार स्वयं गदाधर भगवान् विष्णुके लिये, छः हजार पिनाकपाणि भगवान् शिवके लिये, एक हजार आत्माके लिये, एक हजार परमात्माके लिये और एक हजार गुरुके लिये—इस प्रकार यह संकल्प है ।'

इन पदोंमें २१,६०० की पूर्ण संख्या है ।

यह संकल्प प्रातःकालका है । जिससे दिन-रातका श्वास और प्रश्वास, जिनका हमें चेत नहीं रहता है, देवताओंके निरीक्षणमें रहते हुए स्वधर्म-पालन करें । इस संकल्पको अजपा संकल्प कहते हैं; क्योंकि इन २१,६०० श्वास-प्रश्वासोंमें जो जप स्वभावतः चलता रहता है, उस जपको विरला ही कोई मनुष्य जान-बूझकर करता है; यही कारण है कि इसको अजपा कहते हैं । इस अजपामें भगवान्का नाम सर्वदा चलता रहता है । मनुष्य ध्यान दे या न दे, जन्मसे मरणतक यह जप कभी बंद होता ही नहीं है । मानो यह शरीर सदा उन परमेश्वरका नाम-कीर्तन किया करता है, जिनकी अनुकम्पासे उसकी सृष्टि हुई है । मनुष्य अपने ज्ञान, बुद्धि, बलके अहंकारसे चाहे उन करुणामयकी करुणाको भूल जाय, उनके अस्तित्वको स्वीकार न करे, पर इस जड शरीरमें जो प्राण-क्रिया चलती है, भगवन्नाम ही उसकी जीवनीशक्ति है । नामका रट लगा रहता है, श्वास-श्वासमें शरीरके भीतरसे भगवन्नामका शब्द उत्थित हो रहा है, रोम-रोममें हरि बस रहे हैं—यह सूचना मिलती है ।

श्वास-प्रश्वासकी गतिसे जो पूर्वोक्त स्वाभाविक नाम-जप होता है, उसको योगियोंने इस रूपसे देखा है—

हं-कारेण बहिर्याति स-कारेण विशेत् पुनः ।
हंसेति परमं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥

वायु जो शरीरसे बाहर आता है उससे 'हं' शब्द उच्चारित होता है और जो बाहरसे भीतर जाता है उससे 'स' शब्द उच्चारित होता है; यह 'हंस' शब्द महामन्त्र है जिसका जीव सर्वदा जप किया करता है ।

हिंदू-शास्त्रमें 'हंस' एक रहस्यमय शब्द है । उसके गुह्य-अर्थादि तत्त्वका अन्वेषण न कर, सरल अर्थ 'नारायण' 'भगवान्' 'परमेश्वर' कुछ स्वीकार कर लेनेसे ही हमारा प्रयोजन सिद्ध होता है । यह शब्द इसी अर्थमें उपनिषदोंमें व्यवहार किया गया है । यथा—

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलयते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥
(श्वेताश्वतरोपनिषद् ३ । १८)

नव द्वारवाले शरीररूपी नगरमें रहनेवाला देही स्थावर और जङ्गम सम्पूर्ण जगत्को वशमें रखनेवाला 'प्रकाशमय परमेश्वर' बाह्य जगत्में लीला कर रहा है ।

तथा हि—

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
(६ । १५)

इस ब्रह्माण्डमें एक 'प्रकाशस्वरूप परमात्मा' स्थित है, वही जलमें स्थित अग्नि है; उसे जानकर ही मनुष्य मृत्युरूप समुद्रसे पार हो जाता है; परमधामकी प्राप्तिके लिये दूसरा मार्ग नहीं है ।'

अतः श्वास-प्रश्वासमें जो भगवन्नाम स्वतः चल रहा है और हमारी अज्ञान-अवस्थाके कारण मानो धिक्कार दे रहा है, उस नाम-रहस्यसे परिचित न होनेके कारण मनुष्य भगवान्के निकट अपराधी है । धृति-युक्त बुद्धिसे उस नामका व्याहरण करनेसे मनुष्य स्वधर्म-पालन कर सकता है । विपथगामी मनुष्य यदि अनिर्विण्ण होकर इस नाममें मन लगावे, इसीमें उसकी रति हो जाय तो वह एक ऐसी दैवीशक्ति आहरण कर सकता है, जिससे वह भगवान्की संनिधिका अनुभव करनेमें समर्थ होता है । इस अनुभूतिका स्वाद साधकोंने अपने जीवनमें ग्रहण किया है । किसीको संदेह हो तो इसे हेय न समझकर वह इस बातकी अवश्य श्रद्धापूर्वक परीक्षा करे । साधनका पथ तो सरल है—अजपाका ज्ञानपूर्वक जप करना, 'हंसकी गतिपर ध्यान देना' । परंतु किसी अनुभवी व्यक्तिकी सहायतासे जप-यज्ञमें प्रवृत्त होना ही युक्तियुक्त है ।

भगवान्का परम पावन नाम मनुष्यके अन्तर सदा प्रवाहित हो रहा है । उसकी पवित्र धारामें वह अपनेको और अपने जीवनको 'निर्धूत-कल्मष' बना सकता है । यह पावन कर्म शीघ्रातिशीघ्र आरम्भ करनेमें ही कल्याण है; क्योंकि एक-न-एक दिन मनुष्यको उस परमकी शरणमें अवश्यमेव आना है । मनीषी जेरल्ड हर्ड (Gerald Heard) की उक्ति है कि 'इस काममें जितना विलम्ब होगा मनुष्यको उतना ही दण्ड भोगना पड़ेगा ।'

प्रार्थना

(प्रेषक—महात्मा जयगौरीशंकर सीतारामजी)

अब प्रभु कृपा करहु रघुराई । सब तजि भजन करौं मन लाई ॥
असरन सरन दीन-हितकारी । मोहिं जनि तजहु भक्त-भयहारी ॥
मोरे प्रभु तुम गुरु पितु माता । जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता ॥
बालक अबुध ज्ञान-बलहीना । राखहु सरन जानि जन दीना ॥
हा रघुनन्दन प्रान पिरीते । तुम बिनु जियत बहुत दिन बीते ॥
प्राननाथ तुम बिनु जग माहीं । मो कहँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं ॥
संकट विकट हरहु रघुराया । मम हिय बसहु करहु प्रभु दाया ॥
दीन दयालु विरद संभारी । हरहु नाथ मम संकट भारी ॥
कमल चरन प्रभु ध्यान लगाऊँ । हाथ जोड़ तव पद सिर नाऊँ ॥

सत्य आधार

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

मननशील मानवको यह समझ लेना चाहिये कि वह जिसका आधार लेकर जी रहा है, सुखी हो रहा है वह विनाशी है या अविनाशी है, स्वतन्त्र है या परतन्त्र है, शक्तिसम्पन्न है या दुर्बल है ।

जबतक मनुष्यको अविनाशी सत्याधारका ज्ञान नहीं होता है तबतक वह विनाशी और दुर्बलको ही अपना आधार मानकर अनेक प्रकारके दुःख उठाता रहता है । किसीने देहको, किसीने धनको, किसीने परिवारको, किसीने उच्च पदाधिकारको ही अपने सारे सुखोंका आधार मान रक्खा है; ऐसे व्यक्ति निरे अज्ञानी हैं। वे नहीं जानते हैं कि हमने जिनका आश्रय लिया है वे पदार्थ हमसे किसी समय भी हटा लिये जा सकते हैं और उनके हटते ही घोर दुःख देखना पड़ता है ।

सत्यदर्शी ज्ञानी गुरुजनोंके सुसङ्गसे ही यह ज्ञात होता है कि समस्त संसारका परमाधार एक परमात्मा ही है । उसीसे सब कुछ प्रकाशित है, उसीकी सत्तासे सबका जीवन गतिशील हो रहा है । उसीमें सब कुछ स्थिर है । उसीमें नव-सृजन और भीषण संहारकी क्रीड़ा होती रहती है ।

सत्य तत्त्वके जिज्ञासुओ ! यदि अभीतक आपने उस परमात्माको ही परमाधार नहीं जाना है तो अब जान लो और उन वस्तुओं तथा व्यक्तियोंको अपना आधार न मानो जिनको सदा अपने साथ नहीं रख सकते और न जिनके साथ स्वेच्छासे रह सकते हो । परिवर्तनशील और विनाशी सम्बन्धी आपके साथ सदा नहीं रह सकेंगे । ऐसी दशामें विनाशी पदार्थोंका आश्रय लेकर अपना सुख उनमें निर्भर न करो । उनका वियोग निश्चित है । आप उस अविनाशी परमात्माको ही परमाधार अनुभव करो, वह आपसे कभी भी दूर नहीं हुआ है, न होगा । आप स्वयं उस सत्याधारसे विमुख भले ही हो जाओ, पर उससे अलग नहीं हो सकते ।

जहाँतक आप सांसारिक व्यक्ति तथा सम्पत्ति अथवा शक्तिके मोही, लोभी और अभिमानी हो वहाँतक आप अपने-आपको सत्याधार परमात्मासे विमुख ही समझो । यह स्मरणीय बात है कि सत्याधार परमात्मासे विमुख रहनेपर और मनोवाञ्छित ऐश्वर्य, वैभव तथा बल प्राप्त कर लेनेपर परम शान्ति किसीसे भी नहीं मिल सकती । जिस मनुष्यका आहार शुद्ध होता है, विहार पवित्र होता है, व्यवहार निर्दोष होता है उसीका अन्तःकरण पवित्र कहा जा सकता है । ऐसे मनुष्यको ही सत्याधार परमात्माका योगानुभव होना सुगम है । जिस प्रकार शुद्ध आहारसे शरीर शुद्ध होता है, पवित्र विहारसे मन निर्मल रहता है तथा निर्दोष व्यवहारसे बुद्धि निर्दोष और संस्कृत रहती है उसी प्रकार सत्याधारसे अहंता बन्धनमुक्त हो जाती है । जीवात्मा मुक्तस्वरूप पा लेता है ।

परमाधार परमात्माकी सत्ता-महत्ताका अनुभव बाह्य दृश्यमान जगतद्वारा भी होता है और भीतर अपने-आपद्वारा भी होता है । जगत्में होकर परमात्मानुभवका मार्ग लंबा है पर यात्रा सरल और सुगम है और अपने-आपमें होकर उस सत्यानुभवका मार्ग निकट है पर चढ़ाई कठिन और दुर्गम है । पहला मार्ग चक्करदार है, दूसरा सीधा है । दोनों मार्गोंमें तप, त्याग, ज्ञान और प्रेमकी पूर्णता आवश्यक है । जो तपस्वी, त्यागी नहीं है वही भोगी और रागी है; जो ज्ञानी, प्रेमी नहीं है वही अज्ञानी और मोही है ।

विरक्त ज्ञानी महापुरुषोंका श्रद्धापूर्वक सङ्ग करनेसे तप, त्याग, ज्ञान और प्रेमका बोध होता है । तपसे

मनुष्यकी दुर्बलता दूर होती है, शक्तिसम्पन्नता आती है; त्यागसे दोषोंकी निवृत्ति होती है, शान्ति मिलती है। ज्ञानसे मोह मिटता है, प्रकाशमें सब कुछका दर्शन होता है। प्रेमसे सत्यका योगानुभव होता है, परमानन्दकी अनुभूति होती है।

यदि आपकी विवेकवती बुद्धिको यह दीख रहा है कि संयोगका अन्त वियोगमें होगा, सुखका अन्त दुःखमें तथा जीवनका अन्त मृत्युमें होगा तो अभीसे अपने अविनाशी नित्य सत्याधारको जान लो और विनाशी आधारोंके बीचमें रहते हुए उनसे विरक्त हो जाओ। इस स्थितिमें संसारमें किसी प्रकारके अन्तसे दुःख न होगा, अपने-आपको अनन्त सत्याधारमें सुरक्षित पाओगे।

भगवान्‌की पूजा

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

एक साधारण कृषक है रामदास। जब शुक्र तारा क्षितिजपर ऊपर उठता है, वह अपने बैलोंको खली-भूसा देने उठ पड़ता है। हल यदि सूर्य निकलनेसे पहले खेतपर न पहुँच जाय तो किसान खेती कर चुका। दोपहर ढल जानेपर वह खेतसे घर लौट पाता है। बीचमें थोड़े-से भुने जौ या चने और एक लोटा गुड़का शर्बत—यही उसका जलपान है। जाड़ेके दिन सबसे अच्छे होते हैं। उन दिनों जलपानमें हरी मटर उबालकर नमक डालकर घरसे आ जाती है खेतपर और गन्नेका ताजा रस आ जाता है।

दोपहरमें थोड़ा-सा विश्राम मिलता है कृषकको। भोजन करके वह आध घड़ी ही तो बैठ या लेट पाता है। उसे खेत गोड़ने हैं, मेड़ ठीक करनी है, बैलोंके लिये चारा काटना है। ये कार्य चलते रहते हैं रात्रितक। वह रात्रिको भी निश्चिन्त कहाँ सो पाता है। रात्रिमें पशुओंका, घरका, खेतका, खलिहानका—पता नहीं किन-किन चीजोंका उसे ध्यान रखना पड़ता है। कई बार उसे घरका, खेतका रातमें ही चक्कर काटना पड़ता है।

किसानकी चिन्ता, किसानका परिश्रम, किसानकी निरन्तर सावधानी नगरमें रहकर नहीं समझी जा सकती। लेकिन रामदास तो साधारण किसानसे भी अधिक व्यस्त रहता है। पहले भी भूखे, गरीबलोग यदा-कदा दूसरोंके खेतसे दो-चार मुट्ठी अन्न चोरीसे काट लेते थे। पहले भी चारा न रहनेपर लोग रातमें अपने पशु दूसरोंका खेत चरने छोड़ देते थे। लेकिन यह जो पिछली लड़ाई बीती है—पता नहीं क्या हो गया है इस लड़ाईसे। मनुष्य मनुष्य रहा ही नहीं। वह तो जैसे धनके लिये रात-दिन हाय-हाय करनेवाला प्रेत हो गया है। न धर्मका विचार, न दीन-दुखीका ध्यान, न उचित-अनुचितकी चिन्ता। अब तो अच्छे-अच्छे पेटभरे लोग भी दूसरोंका खेत रातको कटवा लेते हैं। दूसरोंके पशुओंको रातमें लोग खोल ले जाते हैं और पता नहीं कितनी दूर बेच डालते हैं। चोरी, डाका, हत्या—गाँवके सीधे लोगोंमें भी यह सब नित्यकी बात हो गयी! आज किसीका खेत पूरे-का-पूरा कट गया चोरीसे, आज किसीके घर डाका पड़ा, आज किसीके पशु खोल लिये गये। बेचारे किसान रात-रातभर जागकर खेतोंका चक्कर काटते हैं। गाँवभरके पशु एक स्थानपर बाँधे जाते हैं और वहाँ बारी-बारीसे गाँवके लोग जागते हैं। घरोंमें सदा यही चिन्ता रहती है—'पता नहीं कब क्या हो जाय।'

रामदास बहुत सीधा है । उसका सीधा स्वभाव उसके लिये और कठिनाईका कारण है । सीधेका मुँह कुत्ता भी चाट जाता है । लोग दिनमें ही रामदासके खेतसे अन्न काट लेते हैं । उसके खेतमें लोग अपने पशु हाँक देते हैं । वह किसीको उलाहना देता है तो उलटे उसे डाँटा जाता है । लोग झगड़ा करनेको उतारू हो जाते हैं । रामदास क्या करे, वह मन मारकर रह जाता है । किस-किससे वह झगड़ा करे । कहाँ-कहाँकी वह रात-दिन सम्हाल करे । जहाँसे दो क्षणको हटता है, वहीं लोग घात लगाये बैठे रहते हैं ।

रामदासके घरमें पत्नी है, दो बच्चे हैं । भरपेट रूखा-सूखा भोजन किसानको मिलता जाय तो वह अपनेको बड़ा भाग्यवान् मानता है । वैसे कोई घूमते-फिरते बाबाजी रामदासके यहाँ आ जायँ तो उनको वहाँसे भूखे नहीं जाना पड़ता । गाँवके लोग कोई गाँवमें भूला-भटका साधु या भिखारी आवे तो उसे रामदासका घर बता देते हैं और रामदास है कि चाहे उसके घरमें उपवास ही हो रहा हो, आनेवालेको तो वह कहीं-न-कहींसे भोजन करायेगा ही । आये दिन उसके यहाँ कोई-न-कोई टिका ही रहता है ।

गाँवके लोग समझते हैं, रामदास ऊपरसे ही फटे हाल रहता है । उसके खपरैलके घरमें कहीं-न-कहीं अवश्य बड़ी रकम गड़ी होगी । अनेक बार लोग उसपर व्यंग करते हैं इस बातको लेकर । वह कुछ भी कहे कौन विश्वास करेगा कि जो इस महँगीके दिनोंमें इस प्रकार साधु-भिखारी टिकाये रहता है, उसके घरमें कोई बड़ी पूँजी नहीं होगी ।

पत्नी झल्लाती है, बच्चे अनेक बार रोते हैं अच्छे पदार्थोंके लिये । उन्हें अच्छे वस्त्र भी नहीं मिल पाते । घरमें किसी प्रकार गायका कुछ घी एकत्र भी हो जाय तो वह बच्चोंके कण्ठके नीचे कहाँ पहुँच पाता है । वह तो कोई साधु खा जायँगे । वैसे घी निकलनेकी नौबत ही कम आती है । दूध या दही घरमें हो और अतिथिको न दिया जाय, यह रामदासके घर तो होनेसे रहा । रामदास तो 'पित्तमरू' है । बाहरके लोग, गाँवके लोग उसके खेत काट लें, चरा लें, उसे चार बात कह लें तो और घरमें पत्नी झकझक कर ले, रो ले तो—रामदासको जैसे कुछ सुनायी ही नहीं पड़ता । वह तो ऐसा बना रहता है, जैसे कोई दीवारको डाँटता या उलाहना देता हो । पत्नी बेचारी जब बहुत दुखी होती है, तभी कुछ कहती है । वह भी जानती है कि उसके कुछ कहनेका कोई अर्थ ही नहीं है ।

'दाने-दानेपर मुहर लगी है । जो जिसका है, वह उसे ले जाता है । मेरा और तेरा हाय-हाय करना क्या काम आयेगा ?' रामदास कभी-कभी पत्नीको समझाता है । बड़े विचित्र हैं उसके तर्क । वह कहता है कि उसे एक सच्चे संत मिले थे । वह तब बहुत छोटा था । संतने कहा था—'सब भगवान्-ही-भगवान् हैं । तू जो कुछ करता है, उससे भगवान्की ही पूजा होती है ।' रामदास ठहरा देहाती खड्डूस । उसने उस महात्माकी बात गाँठ बाँध ली । वह कहता है—'चाहे सामने लें, चाहे चोरीसे लें । चाहे अतिथि बनकर खायँ, चाहे डाकू बनकर उठा ले जायँ, लेते तो भगवान् ही हैं । मेरी खेती तो भगवान्की पूजाके लिये है ।'

यह हल जोतना, खाद फेंकना, खेत गोड़ना, घास काटना भगवान्की पूजा है, यह बात रामदासकी स्त्री नहीं समझ सकती । रामदास भी इसे कुछ ठिकानेसे नहीं समझता । वह इतना ही जानता है कि संतने कहा है—'तू जो करता है, सब भगवान्की पूजा है ।'

'मैं तुम्हारी पूजा कहाँ रोकती हूँ ।' स्त्री समझती है कि उसका पति जो थोड़ी-सी रामायणकी पोथी पढ़ लेता है, दो-चार भजन बोल लेता है, शंकरजीकी पिण्डीपर एक लोटा जल डालकर कनेरके दो फूल चढ़ा

देता है, पूजा तो यही है। इस पूजामें स्त्रीको भला क्या आपत्ति हो सकती है। 'तुम डाँटते क्यों नहीं चरवाहोंको। कल कल्लू कह रहा था कि मोहनकी भैंसें अपना आधा खेत चर गयीं।'

कभी भैंसें, कभी गायें, कभी बैल, कभी बकरियाँ खेत तो अब आदमीतक 'चर-चोंथ' जाते हैं। रामदासकी पत्नी अपने पतिपर इसीलिये झल्लाती है—क्यों उसका पति दूसरोंकी भाँति अपने खेतकी रक्षा नहीं करता।

'मैं भगवान्‌से नहीं झगड़ूँगा।' रामदास कदाचित् ही कभी बोलता है। वह तो सिर झुकाकर सुन लेना ही जानता है।

'भगवान्, भगवान्, भगवान्……।' उसकी पत्नी कभी-कभी डर जाती है—उसका पति पागल तो नहीं होने लगा है?

× × ×

[२]

वे एक साधु हैं। बहुत दिन हो गये उस बातको जब उन्होंने घर छोड़ा था। बड़ा सच्चा वैराग्य था उनका। उनके भाग्यने उनका साथ दिया, उन्हें किसी ऐसे-वैसेके चक्करमें नहीं पड़ना पड़ा। एक अच्छे संतने उनपर कृपा की।

बाबा रामदासजी—अब यही उनका नाम है। घरपर भजन करनेकी कोई सुविधा नहीं थी। वे पूजा करने बैठते थे तो कमरेके बाहर बड़े भाईके बच्चे परस्पर लड़ते-झगड़ते या खेल-कूदमें हँसते-चिल्लाते थे। कभी भाई कोई ऐसा काम बता देते थे जो उन्हें पसंद नहीं था और कभी कोई परिचित मित्र या सम्बन्धी कोई आग्रह करने लगते थे। उनको इच्छानुसार सात्त्विक भोजनतक नहीं मिलता था। क्रोध करके, थाली पटककर, उपवास करके वे हार थके थे; किंतु उनकी भाभीकी समझमें यह बात नहीं आयी कि तनिक-सा मसाला सागमें डाल दिया तो हो क्या गया।

कोई उनकी बात नहीं सुनता था। छोटे बच्चेतक उनकी हँसी उड़ाते थे। कोई वस्तु ठीक समयपर, ठीक तरहसे उन्हें नहीं दी जाती थी। भला इतनी प्रतिकूलतामें कहीं भजन हो सकता है। वे भजन करना चाहते थे। इस मनुष्य-जीवनको व्यर्थ खो देना तो बड़ी भारी हानि है। घरपर भजन हो नहीं सकता, यह उन्होंने निश्चित समझ लिया। एक दिन चुपचाप घरसे निकल पड़े और साधु हो गये।

भजनके लिये एकान्त चाहिये। आश्रमोंमें तो वहाँके अध्यक्ष मजदूरसे भी अधिक सेवा कराना चाहते हैं। वनमें न फल हैं, न कंद, और वृक्षोंके नीचे रह भी लिया जाय तो पाँच दिनमें ही दर्शन करनेवालोंकी भीड़ लगने लगती है। संसारके लोगोंका तो स्वभाव है कि वे जिससे प्रेम करते हैं, उसे नष्ट कर देते हैं। जिस कामपर श्रद्धा करते हैं, उस कामके करनेका अवकाश करनेवालेको नहीं देना चाहते।

पत्तियाँ, बेर, कड़वे-कसैले कंद—भला इनसे कोई कै दिन पेट भरेगा? क्षेत्रोंकी रोटियाँ मिल सकती हैं; किंतु बहुत कदन्न होता है वह। पेटमें दर्द, ज्वर, कब्ज—अनेक रोग हैं भोजन-सम्बन्धी संयम न रखनेके साथ। जब शरीर ही स्वस्थ नहीं रहेगा तो भजन कहाँसे होगा। भिक्षा, मधुकरी—लेकिन अब लोगोंमें श्रद्धा रही नहीं। साधुको एक टुकड़ा भी बहुत-से लोग देना नहीं चाहते। बहुत अपमान सहना पड़ता है, बहुत भटकना पड़ता है, पेटकी चिन्तामें ही बहुत-सा समय नष्ट हो जाता है।

यह सब बहुत पुरानी बातें हैं। बाबा रामदासजी अब वृद्ध हो चले हैं। वृद्धावस्थामें शरीरको कुछ सुविधा चाहियें ही। एक पक्की कुटिया भक्तोंने बनवा दी है। एक कुआँ है। सामान रखने और सत्सङ्गके

लिये दो कमरे और बन जायँ तो पूरी सुविधा हो जाय। भक्तलोग आते हैं, कहा भी जाता है। धीरे-धीरे यह भी हो जायगा। ये पासके खेतवाले, ये सरकारी कर्मचारी—आज युग ही बड़ा अद्भुत है। ये सब एक साधुको भी तंग करते रहते हैं। कोई-न-कोई झगड़ा इनका खड़ा ही रहता है। क्या हुआ यदि आश्रमकी गायने दो मुँह कहीं मार लिया। साधुकी ही गाय है न। दर्शन करने आनेवालोंके बच्चे—भला बच्चोंको कैसे रोका जाय। वे खेतसे चने या मटरके चार दाने तोड़ ही लेते हैं तो इसमें ये लोग इतना लाल-पीले क्यों होते हैं। ये सरकारी कर्मचारी साधुसे भी भूमि-कर चाहने लगे हैं। इनकी सेवा-सत्कार न की जाय तो……।

दो फूसकी झोपड़ियाँ पड़ गयी हैं। आगे-पीछे उन्हें पक्की करा देना है। ये साधक न रहें तो आश्रमकी स्वच्छता, भंडारा, गो-सेवा आदिकी व्यवस्था कैसे हो? यह सब तो करना ही पड़ता है। इतनी सब सुविधा न हो तो भजन कैसे हो। इसमें दोष क्या है कि भोजन और आवास (घर) की ओरसे निश्चिन्त होकर मनुष्य भजनमें लग जाय। लेकिन भजन—भजन तो होता ही है। बाबा रामदासजीकी यह प्रशंसा करनी होगी कि वे बड़े भजन-निष्ठ संत हैं। उनके हाथमें सुमिरनी घूमती ही रहती है। उनका जप प्रायः चलता रहता है। एकान्तमें भी नियमपूर्वक वे डेढ़-दो घंटे बैठते हैं। उस समय वे क्या करते हैं; यह तो कोई बतानेकी बात नहीं है। जप, ध्यान, पाठ, ठाकुर-सेवा—साधु एकान्तमें भजन करने बैठेगा तो और क्या करेगा।

कुटियाके बनवानेका प्रयत्न, पड़ोसके खेतवालोंका झगड़ा, सरकारी कर्मचारियोंका स्वागत-सत्कार, आश्रममें रहनेवाले साधक-सेवकोंकी सम्हाल, उनको यदा-कदा भूलोंके लिये डाँटना-डपटना—यह सब तो आवश्यक कर्तव्य हैं। इनको न किया जाय तो आश्रम रहे कैसे। आश्रमकी सारी सामग्रीकी पूरी खोज-खबर बड़ी सावधानीसे रखनी पड़ती है। ये साधक-सेवक बड़े उड़ाऊ और निश्चिन्त होते हैं। जिधरसे दृष्टि हटी, उधर ही कुछ-न-कुछ गड़बड़ अवश्य हो रहेगी।

सत्सङ्गकी बात तो कहनी ही नहीं चाहिये। साधु जो कोई चर्चा करे, वही तो सत्सङ्ग है। वैसे दर्शनार्थी भक्त आते हैं, उनका सुख-दुःख सुनना पड़ता है। उनकी रुचिका ध्यान रखकर उनकी बातें सुनना और उनसे बोलना पड़ता है। उन्हें आशीर्वाद देना पड़ता है, अनुष्ठान या उपासना बतलानी पड़ती है। भगवच्चर्चा भी बीच-बीचमें होती ही है। इन आगत लोगोंमें बहुत-से प्रतिष्ठित, सम्पन्न, सम्मानित, अधिकारी लोग भी होते हैं। अपने यहाँ आनेवालेका स्वागत-सत्कार तो करना ही चाहिये। जो जिस श्रेणीका होता है, उसका सम्मान भी उसी प्रकार किया जाता है। यह सब सत्सङ्गका अङ्ग ही तो है।

बाबा रामदासजी बहुत व्यस्त रहते हैं। वे बहुत सबेरे उठ जाते हैं। रातको भी देरतक भक्तलोग उनके पास बैठे रहते हैं। दोपहरीमें केवल दो घंटे वे बड़ी कठिनाईसे विश्राम कर पाते हैं। कभी-कभी तो उस समय भी कोई सत्सङ्गी भक्त आ जाते हैं। भक्तोंके आनेका तो कोई समय नहीं है, वे आते ही रहते हैं। आश्रमके सभी कामोंकी खोज-खबर रखना और भक्तोंको सत्सङ्गसे संतुष्ट करना क्या थोड़ी उलझनका काम है।

एक बात है—बाबा रामदासजी सीधे हैं। उनमें किसीके नाम-यशसे डाह नहीं है। बड़ा भारी मठ बनाने या शिष्योंकी संख्या बढ़ानेका लोभ नहीं है। बहुत अधिक धन आता रहे, यह भी लालसा उनमें नहीं। उन्होंने अपनी किसी सिद्धिका भी कभी वर्णन नहीं किया। वे बड़ी सरलतासे कभी-कभी कहते हैं

'मेरा जीवन व्यर्थ ही गया । रघुनाथजीके चरणोंमें मेरी भक्ति हुई नहीं । भजन बनता नहीं मुझसे ।'

लोग कहते हैं—'बाबा रामदासजी बड़े अच्छे साधु हैं । वे बहुत अधिक भजन करते हैं ।'

× × ×

[३]

बाबा रामदासजीके आश्रमपर उनके गुरुदेव पधारे हैं । बड़ी भारी जटा, लंबा-तगड़ा गोरा शरीर । कोई नहीं जानता कि वे कितने वर्षके हुए । उनके सारे शरीरके रोम श्वेत हो गये हैं । पूरे शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयी हैं । उनका न कहीं मठ है, न मढ़िया । रमते-राम संत हैं । घूमते-घामते आज बाबा रामदासजीकी कुटियापर आ गये । इधर-उधर देखा और बोले—'रामदास ! तू तो अब बड़ा साधु हो गया है । तेरा आश्रम तो अच्छा बन गया है ।'

'मैंने ये ईंट-पत्थर ही बटोरे हैं । मेरा हृदय तो अब भी वैसा ही अशान्त है । मैं क्या सचमुच कभी साधु बन सकूँगा ? मुझसे क्या सचमुच कभी भगवान्की आराधना होगी ?' बाबा रामदासजी गुरुदेवके चरणोंमें मस्तक रखकर फूट-फूटकर रोने लगे ।

'तू जप तो करता है । पाठ भी करता है । ध्यान भी····।' गुरुदेव पता नहीं और क्या-क्या कहनेवाले थे ।

बाबा रामदासजी बीचमें ही बोले—'सब करके भी नहीं किये जैसा है । मेरे मनमें अब भी वैसा ही क्रोध, लोभ आदि भरा है । श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें मेरी प्रीति नहीं हुई सो नहीं ही हुई ।'

'तू रघुनाथजीकी प्रीति कहाँ चाहता था । तुझे भजन करना कहा था । तू तो सुविधा चाहता था । असुविधाओंसे ऊबकर घरसे भागा था । सुविधा चाहिये थी तुझे सो मिल गयी ।' गुरुदेव सहज भावसे बोलते गये । 'रामनाम तो कल्पवृक्ष है । नामका जप और भगवान्का भजन व्यर्थ नहीं जाता । लेकिन तू सुविधा चाहता था न ?'

बाबा रामदासजीसे बोला नहीं गया । उनके नेत्र फटे-फटे-से हो रहे । एकटक गुरुदेवके मुखकी ओर देखते रह गये वे । गुरुदेव जैसे उनकी ओर देखते ही नहीं थे । वे कहते जा रहे थे—'तुझे तो घरमें असुविधा थी, साधु होनेपर असुविधा थी । जब तुझे रघुनाथजीके व्यवहारसे ही असुविधा हो तो रघुनाथजी मिलें कैसे ।'

'रघुनाथजीके व्यवहारसे असुविधा ?' बाबा रामदासजी चौंके ।

'क्यों ? तू चौंकता क्यों है ? सब कहीं रघुनाथजी नहीं हैं क्या ? प्राणियोंकी सब चेष्टाएँ उनकी ही सत्ता और प्रेरणासे नहीं होतीं क्या ?' अबकी गुरुदेवने डाँट दिया ।

'लेकिन घरमें तो सेवा-पूजा, भजन हो ही नहीं पाता था ।' बाबा रामदासजीको बहुत पुरानी बात स्मरण हुई ।

'तू क्या जानता है कि माला घुमाना ही पूजा है ? यह जप और पूजा तो पूजा है; किंतु इससे भी बड़ी पूजा है एक । सारे जीवनको ही रघुनाथजीकी पूजा बना देना । जबतक पूजाके कुछ घंटे हैं रघुनाथजीके लिये और जीवनके अधिकांश घंटे हैं अपने लिये, तबतक जीवन अपने लिये है । वह रघुनाथजीके लिये है ही नहीं तो उसमें रघुनाथजीका प्रेम आवे कहाँसे ।' गुरुदेवके नेत्रोंमें वात्सल्य आ गया था ।

'सारा जीवन पूजा बन जाय—कौन-सी विधि है वह ?' बाबा रामदासजीने घुटनोंके बल बैठकर दोनों हाथ जोड़ लिये ।

'कोई विशेष विधि नहीं । तू देखेगा उस विधिको ?'

बिना उत्तरकी प्रतीक्षा किये वे महापुरुष चल खड़े हुए।

× × ×

[४]

'रामदासका घर है न इस गाँवमें ?' महात्माने एक ग्रामीणसे पूछा। बाबा रामदासजी चौंके; किंतु उनके चौंकनेका कोई कारण नहीं था। यह उनकी जन्मभूमि नहीं है। यह तो दूसरे ही किसी रामदासकी बात हो रही है।

'महाराज ! वह पागल हो गया है। उसके बच्चे भूखों मर जायँगे। उसकी स्त्री रो-रोकर पछाड़ खा रही है। आप उसपर दया कीजिये ! यह सब हत्या हमलोगोंको लगेगी।' ग्रामीण संतके चरणोंपर गिर पड़ा।

'वह पागल तो पहलेसे है।' संत हँसे—'किंतु तुमलोगोंको हत्या क्यों लगेगी ?'

'महाराज ! पाप तो हमने ही किया है।' ग्रामीणके नेत्रोंसे झर-झर आँसू झरने लगे। इस साल ओले पड़े थे, खेतोंमें बहुत कम अन्न हुआ। उसका खलिहान मेरे पास ही था। जब उसके अन्नकी राशि तैयार हुई, मेरे मनमें पाप आ गया। मेरे पास भी अन्न बहुत थोड़ा हुआ था। उसकी आँख बचाकर उसका सब-का-सब अन्न मैंने अपनी ढेरमें डाल दिया। वह मुझसे झगड़ सकता था, उसके मुँह खोलते ही सारा गाँव मुझे धिक्कारता; किंतु वह तो एक शब्द कहना जानता ही नहीं।'

'क्या हो गया इससे, तुम उसका अन्न उसे लौटा दो !' संतने उसी सरलभावसे कह दिया।

'महाराज ! मैं दो मन अपना भी दे दूँगा; किंतु आप उसे ठीक कर दीजिये। वह पागल हो गया है। उछल रहा है, कूद रहा है और बार-बार पृथ्वीमें लोट रहा है। वह ठीक नहीं होगा तो उसके बाल-बच्चे भूखों मर जायँगे। दूसरा कोई उसके घरमें करने-धरनेवाला नहीं।' ग्रामीणने साधुके पैर पकड़ लिये।

'तुम डरो मत ! वह ठीक हो जायगा। जो श्रीरघुनाथके लिये पागल होता है, उसके बाल-बच्चोंका पालन अयोध्याके चक्रवर्ती महाराजको करना पड़ता है।' साधुकी पूरी बात ग्रामीणकी समझमें भले न आवे, उसे आश्वासन मिल गया।

साधु जब रामदासके घर गये, वह सचमुच नाच रहा था, कूद रहा था, पृथ्वीमें लोट-पोट हो रहा था। हँस रहा था वह बार-बार। उसे एक ही धुन थी—'रामने गेहूँ खाये ! रामने गेहूँ खाये मेरे।'

'लेकिन अब तुम श्रीरामको फिर गेहूँ नहीं खिलाओगे क्या ? खेती ही नहीं करोगे तो श्रीरामको गेहूँ खिलाओगे कैसे ? भला कहीं हँसने और नाचनेसे खेती होती है।' साधु हँसते-हँसते बोले।

'श्रीराम ! गुरुदेव !' एक क्षणमें उसका उन्माद दूर हो गया। वह संतके चरणोंमें लेटा पड़ा था—मैं खेती करूँगा गुरुदेव ! खेती ही तो मेरी पूजा है।'

संतने मुख पीछे घुमाकर बाबा रामदासजीकी ओर देखा और गीताकी भगवद्वाणी उनके मुखसे उद्घोषित हुई—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८। ४६)

* * *

तुलसी ममता राम सों समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख दास भए भवपार॥

भक्त-गाथा

[आन्ध्रके भक्त कवि रामदास]

(लेखक—श्रीगुरुनाथजी शर्मा)

गोदावरीके पवित्र तटपर भद्राचलम् प्रसिद्ध तीर्थ है । भद्राचलम्को दक्षिणकी अयोध्या कहा जाता है । कहा जाता है कि वनवासके समय भगवान् श्रीराम यहाँ कुछ समय रहे थे । यहाँपर भगवान् श्रीराम, श्रीजानकीजी एवं श्रीलक्ष्मणजीकी भव्य मूर्तियाँ हैं । विशाल मन्दिर है । इस मन्दिरका निर्माण भक्त श्रीरामदासजीने कराया था ।

श्रीरामदासजीका घरका नाम गोपन्न था । वे एक अकिञ्चन नियोगी ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न हुए थे । आन्ध्रके नियोगी ब्राह्मण वंशपरम्परासे विद्वान् तथा शूरवीर होते आये हैं । श्रीगोपन्न विद्वान् एवं भगवद्भक्त-कुलमें उत्पन्न हुए थे । वे बचपनसे भगवान् श्रीरामके सहज भक्त थे । भगवती सरस्वतीकी उनपर कृपा थी । वे अच्छे प्रतिभाशाली कवि थे ।

उस समय दक्षिणकी राजगद्दीपर नवाब तानाशाह थे । श्रीगोपन्न राज्यके कर्मचारी हो गये थे । वे भद्राचलम्में तहसीलदारके पदपर नियुक्त थे । एक बार लगानवसूलीका समय आया । लगान वसूल होकर तहसीलमें जमा हुआ । ग्यारह लाख सोनेकी मुहरें तहसीलमें लगानमें वसूल होकर जमा हो गयी थीं । भद्राचलम्के तहसीलदार श्रीगोपन्नने रात्रिमें स्वप्न देखा । स्वप्नमें उन्हें श्रीसीताजी तथा लक्ष्मणजीके साथ भगवान् श्रीरामजीके दर्शन हुए । प्रातः उठनेपर श्रीगोपन्नके मनमें यह बात आयी कि यहाँ भगवान्का मन्दिर बनना चाहिये ।

श्रीगोपन्नके पास इतना धन कहाँ कि वे मन्दिर बनवा सकें । लेकिन रात्रिमें स्वप्नमें उन्होंने जो कोसलराजकुमारके दर्शन किये थे, उस दिव्य छविने उनके मन, प्राण—सबको एक अद्भुत उन्मादसे भर दिया था । उन्हें सर्वत्र वही मूर्ति दिखायी पड़ती थी । स्नान-पूजनसे निवृत्त होकर वे तहसीलमें पहुँचे । सरकारी खजानेका निरीक्षण करते समय सहसा उनके चित्तमें यह बात आयी—‘संसारका सब धन तो श्रीरामका ही है । श्रीदाशरथि प्रभु ही चक्रवर्ती सम्राट् हैं । उनको छोड़कर दूसरेका धन आवेगा कहाँसे । ये ग्यारह लाख मुहरें उन्हींकी तो हैं । उनका मन्दिर इसी धनसे बनेगा ।’ मनमें बात आयी और कार्य प्रारम्भ हो गया । कारीगर बुलवाये गये, मजदूर एकत्र हुए, पत्थर गिरने लगा, सामग्री आने लगी । सरकारी खजानेका धन खर्च होने लगा । मन्दिर बनने लगा ।

श्रीगोपन्नको न भूख लगती न प्यास, न नींद आती न थकान । वे जुट गये मन्दिर बनवानेमें । कभी कारीगरोंका काम देखते, कभी मजदूरोंका । कभी सामान जुटानेकी व्यवस्था करते, कभी स्थान देखते घूमते । एकान्तमें भी मन्दिरकी बात ही उनके मनमें घूमती रहती । क्या कैसे बनेगा, कौन-सा कोना या द्वार किधर बनेगा । कहाँसे क्या सामग्री आयेगी—बस, यही बात उनके चित्तमें घूमती रहती थी । वे नवाबका धन खर्च कर रहे हैं, नवाब विधर्मी हैं, सरकारी खजाना मन्दिर बनानेमें लगनेसे कोई दण्ड मिल सकता है, यह कल्पना भी गोपन्नके चित्तमें नहीं उठी । वे तो श्रीरघुनाथकी झलक पाकर परम निर्भय हो चुके थे ।

सभी श्रीगोपन्न नहीं होते । सब कहीं सब प्रकारके लोग होते हैं । नवाब तानाशाहको यह समाचार मिल गया कि उनके भद्राचलम्के तहसीलदारने पूरा

सरकारी खजाना मन्दिर बनवानेमें लगा दिया है । नवाबने सैनिक भेज दिये गोपन्नको पकड़ लानेके लिये।

मन्दिर पूरा बन गया था । भगवान् श्रीराम, श्रीजानकी तथा लक्ष्मणजीकी मूर्तियाँ स्थापित हो चुकी थीं । बड़ी सुन्दर, बड़ी भव्य मूर्तियाँ थीं । गोपन्नने अपने आराध्यके दर्शन किये। उनका हृदय गद्गद हो गया । वे कृतकृत्य हो गये । इसी समय नवाबके सैनिक वहाँ पहुँचे । उन्होंने गोपन्नको बंदी बना लिया !

जब बंदी बने गोपन्न नवाबके सामने पहुँचे और नवाबने पूछा—'तुमने किससे पूछकर सरकारी खजानेको मन्दिर बनानेमें लगा दिया ?' तो गोपन्नने निर्भयतासे उत्तर दिया—'संसारकी सारी सम्पत्ति तो चक्रवर्ती श्रीअयोध्यानाथकी ही है । उनकी सेवामें लगाना ही सम्पत्तिको सार्थक करना है। मैंने उनकी ही सेवामें धनको लगाया है ।'

नवाब तानाशाह स्वभावके अच्छे थे । श्रीगोपन्नने इससे पहले कोई ऐसा कार्य नहीं किया था, जिससे नवाब असंतुष्ट हुए हों। गोपन्नका कार्य सदा सब तहसीलदारोंसे उत्तम रहता था । भद्राचलम्‌की प्रजा उनसे संतुष्ट रहती थी। नवाबको लगा कि गोपन्न इस समय कुछ पागल-से हो गये हैं । अतः नवाबने उनको कारागारमें बंद करनेकी आज्ञा दे दी । गोपन्न कारागारमें डाल दिये गये ।

कारागारमें बंदी होनेका गोपन्नको कोई दुःख नहीं था । उन्हें एक ही दुःख था कि वे भद्राचलम्‌में अपने आराध्यसे दूर कर दिये गये हैं । इसके लिये भी उन्हें नवाबपर कोई क्रोध नहीं था । वे तो कारागारमें ही भगवान्‌की स्तुति लिखने लगे। 'श्रीदाशरथी-शतक' नामक एक काव्य ही उन्होंने लिख डाला । जब काव्य पूरा हो गया तो कारागारकी अपनी कोठरीकी खिड़कीसे उसे उन्होंने बाहर गोदावरीकी धारामें फेंक दिया । उस समय चाँदनी रातमें कोई मल्लाह गोदावरीमें अपनी नौका लिये जा रहा था । उसने देखा कि जलके प्रवाहसे ठीक उलटी ओर एक ग्रन्थ अपने-आप मानो तैरता उसीकी ओर आ रहा है । कुतूहलवश मल्लाहने वह ग्रन्थ उठा लिया । इस प्रकार अपने भक्तके द्वारा निर्मित उस शतकको श्रीदाशरथि प्रभुने स्वयं सुरक्षित किया ।

श्रीगोपन्नको कारागार भिजवाकर नवाब तानाशाह राजमहलमें चले आये थे। एक दिन रात्रिमें वे बड़े सुखसे सो रहे थे। आधी रातके समय दो युवकोंने उन्हें जगाया । नवाबके जगते ही दोनोंने मुहरोंकी थैलियाँ नवाबके सामने उलट दीं । सोनेकी चमकती पीली ग्यारह लाख मुहरोंका ढेर नवाबके सामने लग गया । नवाब चकित-से मुहरोंके ढेरको देखते रह गये। युवकोंने कहा—'हमारा नाम रामन्न और लच्छन्न है । हम श्रीगोपन्नके सेवक हैं । अपने स्वामीका यह ऋण आपके पास पहुँचाने आये हैं । आप अपना धन सम्हाल लीजिये ।' इतना कहकर दोनों युवक उस कमरेसे बाहर चले गये ।

नवाबकी समझमें कोई बात नहीं आयी। श्रीगोपन्नके पास इतना धन कहाँसे आया ? उनके ये सेवक कौन थे ? आधी रातके समय ये मेरे महलमें आये कैसे ? ये बातें नवाबके चित्तमें हलचल मचाने लगीं । श्रीगोपन्नने नवाबका धन भगवान्‌की सेवामें लगाया था, भगवान्‌के दर्शन नवाबको हुए थे। अब नवाबका चित्त शुद्ध हो गया था । वे समझ गये कि अपने भक्तकी रक्षाके लिये स्वयं श्रीराम और लक्ष्मण उनके पास आये थे। नवाब उसी समय कारागारके लिये चल पड़े।

श्रीगोपन्न अपने आराध्यके कीर्तनमें तन्मय हो रहे थे । नवाब जाकर उनके पैरोंपर गिर पड़े और क्षमा माँगने लगे । नवाबने सब बातें सुनाकर कहा—'आप धन्य हैं, जिसके लिये संसारके स्वामी सेवकका वेश बनाकर रात-रातको भटकते हैं ।'

श्रीगोपन्नने कहा—'धन्य तो आप हैं जो आपको उन दशरथराजकुमारोंके साक्षात् दर्शन हुए। मुझे तो उन दयामयने अपनी कृपाका अधिकारी नहीं माना है।'

नवाब गोपन्नके चरण पकड़कर बोले—'आप सच्चे रामदास हैं। मैं तो अभागा हूँ। मेरी आँखें तो मुहरोंके ढेरपर लगी थीं। मैं उन श्रीराम, लक्ष्मणके आनेपर भी उनके दर्शन नहीं कर सका।'

श्रीगोपन्न बोले—'प्रभु तो सदा सर्वत्र प्रत्यक्ष ही हैं। माया-मोहके वश संसारके पदार्थोंपर दृष्टि लगाये रखनेके कारण ही हमलोग उन्हें देख नहीं पाते। इस मोहकी निवृत्ति उनके चरणोंकी कृपासे ही होती है।'

नवाबने श्रीगोपन्नको कारागारसे मुक्त किया। उनके साथ ही नवाब भी भद्राचलम् आये और उन्होंने वहाँ भगवान्‌के दर्शन किये। मन्दिरकी सेवा-पूजाकी नवाबने उत्तम व्यवस्था कर दी। श्रीगोपन्न भद्राचलम्‌में अब अपने आराध्यका कीर्तन, भजन, पूजन करते हुए निवास करने लगे। अब उन्हें रामदास कहते थे।

भक्त कवि रामदासजीका 'दाशरथी-शतक' आन्ध्रमें बहुत प्रख्यात है। इसमें अध्यात्मज्ञानका बड़ी भावपूर्ण पद्धतिसे निरूपण हुआ है।

भक्त कवि रामदास आजीवन भद्राचलम्‌में श्रीराम, श्रीजानकी एवं श्रीलक्ष्मणजीको अपने कीर्तनोंसे प्रसन्न करते रहे और अन्तमें उनके दिव्यधाम गये।

बोलिये भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

अधिकार

(लेखक—महात्मा श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल महोदय)

सभी लोगोंका अधिकार एक प्रकारका नहीं है। हिंदू-धर्मकी यही एक मौलिक बात है। इस अधिकार-तत्त्वको भलीभाँति समझना चाहिये। अधिकार-विचार जितना ही धीरे-धीरे घटता जा रहा है, हमलोग भी उसी परिमाणमें सफलतासे वञ्चित होते जा रहे हैं। पाश्चात्त्य शिक्षाभिमानी ज्ञान-विज्ञानमें, पारदर्शी आजकलके अनेक लोगोंने कहना सीख लिया है कि सभी विषयोंमें सबका अधिकार न रहना अन्याय है, और यह है सम्भवतः हमारे समाजका बहुत बड़ा एक कलङ्क।

साधारण लोग कहना चाहें तो कहें; किंतु जब कि अनेक बुद्धिमानोंकी बुद्धिमें भी यह एक संदेह जाग उठता है, तब इस विषयकी आलोचना आवश्यक है।

अधिकारका अर्थ है योग्यता। योग्यता सबकी सभी बातोंमें रहती है ऐसा तो दिखायी नहीं पड़ता। कोई-कोई असाधारण पुरुष हैं, जिनकी योग्यता प्रायः सभी विषयोंमें दिखायी पड़ती है; किंतु इस श्रेणीके लोगोंकी संख्या अत्यन्त कम है, मुट्ठीभर कहें तो ठीक है। इसी कारण ये लोग असाधारण पुरुषके नामसे प्रसिद्ध हैं; किंतु जो लोग साधारण मनुष्य हैं, उनमें दो-एक विषयोंकी योग्यता दिखायी पड़ती है। फिर ये योग्यताएँ भी एक प्रकारकी नहीं हैं। किसीकी अङ्कशास्त्रमें योग्यता है, किसीको दर्शन-अध्यापनमें योग्यता है, किसीको इतिहासमें, किसीको शिल्पमें, किसीको चिकित्सामें, किसीको गो-रक्षणमें, किसीको वाणिज्यमें, किसीको दास्यमें इत्यादि; किंतु जिसकी योग्यता गो-रक्षणमें है, हमलोग उससे क्या सुचिकित्साकी आशा करते हैं? या जिसकी योग्यता दर्शनशास्त्रमें है, हम क्या उसके सिरपर गट्ठर लादने जाते हैं? यदि हमलोग उनसे एक कुलीका काम लेनेकी आशा करें, तो क्या हमलोगोंको निराश होनेकी सम्भावना नहीं है? इस प्रकार एक व्यक्ति चिरदिन दास्यवृत्ति अवलम्बन करके ही जीवन-यात्रा निर्वाह करता है,

और इस विषयमें सम्भवत: उसकी यथेष्ट योग्यता भी रह सकती है; किंतु उसकी यह योग्यता है इसीलिये उसको चित्रशालामें अध्यक्षपदपर नियुक्त किया जाय यह कहनेसे क्या बुद्धिमानीका कार्य करना होगा या यह समदर्शिताकी बात होगी, इस कारण इसकी विशेष प्रशंसा करनी पड़ेगी ? आशा है, कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति समदर्शिताका स्वरूप सुरक्षित रखनेको तत्पर होकर ऐसे असम्भव कामको सम्भव करनेकी चेष्टा न करेंगे। इसलिये देखा जाता है, योग्यताके अनुसार ही अधिकारकी भिन्नता दिखायी पड़ती है। इस अधिकारको अस्वीकार करनेका उपाय नहीं है। यही यदि होगा तो मनुष्यके क्रम-विकासकी ओर भी इस तत्त्वको अस्वीकार करनेसे काम चलेगा क्यों ?

आमके पेड़पर आम फलता है, जामुन नहीं फलता, इससे हमलोग दु:खित नहीं हैं। रबीकी फसलें फागुन-चैतमें पक जाती हैं उसके लिये भी हमलोग कोई प्रश्न नहीं करते। नदीकी बालूमें धान पैदा नहीं होता, किंतु अन्य फसलें खीरा-तरबूज शायद पैदा होते हैं, इसके लिये भी हमलोग अधैर्य नहीं दिखाते। किंतु मनुष्य और मनुष्यत्वका विकास भी इसी नियमके अधीन है, इस बातको स्वीकार करनेमें ही हमारे मन-प्राण व्यथित हो उठते हैं ! क्यों ऐसा होता है ? यह क्या अधैर्यका चिह्न नहीं है ? जैसे कोई-कोई चञ्चल व्यक्ति किसी भी बातके लिये विलम्ब सहन नहीं कर सकते, प्रतीक्षा नहीं कर सकते। ये लोग भी उसी प्रकार क्रम-विकासके लिये समय बितानेके इच्छुक नहीं हैं। समय होनेके पहले ही ये लोग फूट उठना चाहते हैं। इसको कभी स्वाभाविक अवस्था नहीं कहा जा सकता। बहुत-से फलोंको असमयमें पका देनेसे या बलपूर्वक पका देनेसे वे पक जाते हैं जरूर, किंतु स्वाभाविक अवस्थामें पकनेसे जैसे सुन्दर और सुस्वादु होते, असमयकी चेष्टासे कभी उनमें वैसे रसका आविर्भाव सम्भव नहीं होता। अवैध उपायोंसे फल पकना तो दूर रहा, वे गिर जाते हैं। जब मनुष्य अस्वाभाविकताके कारण क्रम-विकासके लिये प्रतीक्षा नहीं कर सकता, जब वह मोहमें पड़ जानेके कारण बलपूर्वक फूट जाना चाहता है, तब वह फूट जाता है अवश्य, किंतु मुरझा जाता है अर्थात् वह फिर किसी काममें नहीं लगता। देवता या मनुष्य— किसीके भोगमें नहीं लगता।

हमलोगोंके दुर्भाग्यवश ऐसे अनेक मनुष्य-फल इस अस्वाभाविक विकासके फलस्वरूप दुनियाके किसी काममें ही नहीं लग सके हैं। और जिस तरह असमयमें ही वे उदित हुए थे, उसी तरह असमयमें ही ध्वंस हो गये हैं। मनुष्योंमें भी इस क्रम-विकासकी पद्धतिको अस्वीकार करनेसे काम न चलेगा। अस्वीकार करनेसे असमयमें ही ध्वंस प्राप्त होना पड़ेगा।

ब्रह्मज्ञानका भी उसी तरह एक अधिकार है। यों ही जब-तब मनमें सोच लेनेसे ही यह जिस किसीको नहीं मिल जायगा। इसका भी एक समय है, इसका भी एक योग्य अधिकारी है। ब्रह्मज्ञान लाभ करना तो दूर रहे, ब्रह्मजिज्ञासा करनेका अधिकार भी सबको नहीं है, इसीलिये तत्त्वदर्शी त्रिकालज्ञ महर्षि व्यासने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्रकी अवतारणा की थी। असमयमें या कुक्षेत्रमें बीज बो देनेसे जिस प्रकार उसमें फसल होनेकी सम्भावना नहीं रहती, उसी प्रकार जिनको ब्रह्मज्ञान पानेकी योग्यता प्राप्त नहीं हुई है, वे यदि ब्रह्मजिज्ञासा करते हैं, तो कभी उनमें ब्रह्मज्ञानका उदय नहीं होगा।

विहित ब्रह्मचर्यादिका अनुष्ठान करनेसे जिन्होंने 'ब्रह्मवर्चस' प्राप्त किया है, जिन्होंने शम-दमादि षट्-सम्पत्तियोंपर अधिकार प्राप्त कर लिया है, जिनके शरीरमें बल है, तो भी मनमें विकार नहीं होता, ऐसे वीर्य-सम्पन्न पुरुष ही ब्रह्मजिज्ञासाके अधिकारी हैं। इन सभी गुणावलियोंका प्रकृतक्षेत्र है विप्रका शरीर; क्योंकि

स्वाभाविक उपायसे ही इन सब गुणोंमें वे लोग अधिकारी हुए हैं। यह भी क्रम-विकासका फल है। जिसने ब्राह्मणका शरीर प्राप्त किया है, समझना होगा कि उसमें एक स्वाभाविक योग्यता मौजूद है। फिर वे यदि तपस्वी हों, जितेन्द्रिय और मुमुक्षु हों, तब तो कोई बात ही नहीं है। जिनका ब्राह्मण-शरीर नहीं है, फिर भी जो तपस्वी और मुमुक्षु हैं, तो समझना होगा कि, उनमें बीज ठीक गिरा है, किंतु क्षेत्र उपयुक्त नहीं है। इस कारण उपयुक्त क्षेत्रमें जो फल-लाभ होता वैसे फल-लाभकी उसमें सम्भावना नहीं है।

यह अविचार नहीं है, पक्षपात करना नहीं है—जिस क्षेत्रमें धान पैदा होता है, उसी क्षेत्रमें तो धान होगा। पटुआ जिस तरहकी चीज है, उसका खेत उस प्रकारका होता है। तुम यदि बलपूर्वक उसमें चना बोओगे तो उसमें बिलकुल ही चना न पैदा होगा ऐसी बात नहीं है; किंतु चनेके खेतमें स्वभावतः चना जैसा हो सकता था, उस तरह बिलकुल ही न होगा। सभी जमीनमें ईख पैदा नहीं होती, तुम यदि बलपूर्वक बिना विचारके सभी खेतोंमें ईख रोप दोगे तो देखोगे सभी खेतोंमें समान फसल न होगी। खूब चेष्टा करनेपर भी न होगी। यदि होगी तो किसी खेतमें खूब पुष्ट सुन्दर रसयुक्त होगी, और अयोग्य खेतकी ईख पतली-पतली, छोटी-छोटी टहनियोंकी तरह होकर अपने खेतोंकी अयोग्यता ही प्रमाणित करेगी।

इसी कारण अधिकारको लेकर हिंदू-शास्त्रमें इतना विचार किया गया है। अधिकार न माननेसे हिंदुत्वकी जड़में ही आघात करना होता है, आजकल किसी काममें ही कोई किसी तरहका फल नहीं पा रहे हैं। 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।' अपने-अपने प्रकृतिगत, जातिगत कर्मोंमें नियुक्त रहनेसे उन-उन कर्मोंमें कर्म करनेवालोंका सफलता-लाभ अत्यन्त स्वाभाविक है। इस बातको न माननेसे जो फल मिलता है, आजकलके बातोंके ही ब्रह्मज्ञानीलोग उसके एक उज्ज्वल प्रमाण हैं। जहाँ ब्रह्मज्ञान स्वाभाविक रूपमें उदय नहीं हुआ है, केवल पोथी पढ़नेसे हुआ है, उस ज्ञानमें तो उसका अधिकार नहीं है। इसलिये देखा जाता है कि, मौखिक ब्रह्मवादियोंको पग-पगपर ठोकर खानी पड़ रही है, उनका स्वरूप पकड़में आ रहा है, किंतु जिन्होंने सचमुच ही ब्रह्मज्ञान लाभ किया है, उनको इस तरह ठोकर खानी नहीं पड़ती और पग-पगपर असमर्थता प्रकट हो जानेके भयसे झूठे दिखावेका आश्रय नहीं लेना पड़ता। हमलोग अयोग्य हैं इसी कारण आजकल ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मविद्याकी जितनी भरमार हो रही है, उतना ही हमारा मस्तिष्क विकृत होता जा रहा है और अहंकार अधिकतर बढ़ता जा रहा है। ब्रह्मज्ञानका आस्फालन बढ़ रहा है, किंतु ब्रह्मविद्याका एक शब्द भी मस्तिष्कमें नहीं समा रहा है, ऐसा ही भाग्यका परिहास है! *

---

* यह लेख श्रीसान्याल महोदयकी 'दीक्षा और गुरुतत्त्व' नामक पुस्तकसे उद्धृत है। श्रीसान्याल महोदय ज्ञानवृद्ध वयोवृद्ध महानुभाव हैं; उन्होंने बंगलामें बहुतसे ग्रन्थ लिखे हैं। उनके दो हिंदी ग्रन्थ 'दिनचर्या' और 'बिल्वदल' पहले गीताप्रेससे प्रकाशित हुए थे। अब उनके हिंदी ग्रन्थोंके प्रकाशनार्थ एक 'गुरुधाम हिंदी प्रकाशक विभाग' बौंसी (भागलपुर) में स्थापित हो गया है। उसने 'बिल्वदल', 'अभ्यासयोग', 'दिनचर्या' और 'दीक्षा और गुरुतत्त्व' नामक पुस्तकें प्रकाशित की हैं। पुस्तकें बहुत उपयोगी हैं। उपर्युक्त प्रकाशक विभागको अथवा श्रीबाँकेबिहारीलालजी, सिद्ध माताकी गली, बनारस सिटीको पत्र लिखनेसे पुस्तकें मिल सकती हैं।—सम्पादक

मेरा कुछ नहीं ?

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

मेरे पास एक मकान है, जिसे मैंने खरीदा है और इधर-उधरसे सुधारकर खूबसूरत शिष्ट व्यक्तियोंके रहने योग्य बना लिया है। मैं इसपर प्रतिवर्ष पुताई और रोगन सफाई तथा चित्रोंमें खूब व्यय करता हूँ।

पर क्या यह वास्तवमें मेरा है ? नहीं, कदापि नहीं। मेरे इसमें आनेसे पूर्व न जाने वह जमीन, जिसपर यह खड़ा है, कितने व्यक्तियोंके अधिकारमें आकर निकली होगी ? इस घरमें कितने ही व्यक्ति आते-जाते रहे होंगे, कोई मरकर, कोई गरीबीके कारण, कोई प्रकृतिके किसी आक्रमणद्वारा बिखर गये होंगे, और तब मेरे पास आया होगा, यह मकान। मेरे जन्मसे पूर्व यह मकान किसी औरका था, मेरी मृत्युके पश्चात् न जाने इसका वासी कौन होगा ?

पर यह निश्चय है, यह मेरा नहीं है। मैं जबतक जिंदा हूँ इसमें आश्रय भर लेता हूँ, बस ! केवल मेरा इससे इतना ही सरोकार है।

कृषकका खेत उसका सर्वस्व है। वह उसे रखनेके लिये असंख्य आफतें मोल लेता है। सम्पूर्ण आयुपर्यन्त उसे अच्छा बनानेमें, उपजकी वृद्धिमें प्रयत्नशील रहता है; पर वह यह नहीं सोचता कि उसका वास्तवमें कुछ नहीं ! न जाने वह खेत कितने व्यक्तियोंके पाससे गुजर चुका है। भविष्यमें न जाने कितने उसके मालिक बनेंगे !

मेरे हाथमें एक रुपया आ जाता है। मैं इसे अपना कहता हूँ, प्यार करता हूँ। प्यारसे बटुवेमें छिपाकर रखता हूँ। थोड़ी देरके लिये मैं भूल जाता हूँ कि यह रुपया आवारा है। एक जगह नहीं टिकता। इसकी गति बड़ी तीव्र है। एकसे दूसरे, दूसरेसे तीसरे, तीसरेसे चौथे, पाँचवें, पचासों, हजारों हाथोंमें यह चलता-फिरता रहता है। किसी एकका नहीं बनता। किसी एकका होकर नहीं रहता। फिर, मैं भी कैसा मूर्ख हूँ जो इसे अपना-अपना कहकर घमंडमें फूल उठता हूँ। मैं क्यों यह ध्रुव सत्य विस्मृत कर बैठता हूँ कि इससे मेरा क्षणिक सम्बन्ध है। न जाने कल यह किसके पास होगा ! इसका भावी कार्य-क्रम, गति-विधि क्या है ?

मेरे पास असंख्य पुस्तकें हैं, घरकी सैकड़ों छोटी-बड़ी वस्तुएँ हैं; आरामकी वस्तुएँ हैं; गाय और भैंसें हैं; साइकिल-मोटर है; अच्छे वस्त्र हैं; लेकिन क्या ये वास्तवमें मेरे हैं ? क्या इनसे मेरा सच्चा सम्बन्ध है; क्या ये सदा मेरी होकर रहनेवाली वस्तु हैं ?

मैं फिर भूलता हूँ। क्षुद्र सांसारिक वस्तुओंके लोभमें उन्हें 'अपना' कहनेकी मूर्खता करता हूँ। मैं प्रमाद एवं अज्ञानवश यह समझने लगता हूँ कि ये मेरे व्यक्तित्व, मेरी आत्माके अङ्ग हैं। यही मेरी बड़ी गलती है। ये नाना वस्तुएँ भला क्योंकर मेरी हो सकती हैं। न जाने किस-किसका इनपर कब-कब अधिकार रहा होगा। थोड़ी देरके लिये ये मेरे पास एकत्रित हो गयी हैं। फिर न जाने कौन कहाँ बिखर जायगी।

मैं बाल-बच्चोंका पिता हूँ। मेरी पत्नी बच्चोंसे अपनेको पृथक् नहीं कर पाती। 'हमारे बच्चे बड़े होंगे; हमें न जाने किस-किस प्रकारसे सहायता प्रदान करेंगे, हमारे दुःख दूर करेंगे।' मैं भी कभी-कभी यही समझनेकी मूर्खता कर बैठता हूँ। पर क्या वास्तवमें ये बच्चे हमारे हैं ? क्या हम ही इनके सब कुछ हैं ? क्या इनका कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व, आशा, अभिलाषा, इच्छाएँ नहीं हैं ? नहीं, ये हमारे नहीं हैं। हमारा इनसे

क्षणिक सम्बन्ध है । जिस प्रकार पक्षियोंके बच्चे समर्थ हो जानेपर उड़ जाते हैं; लौटकर फिर माँ-बापके पास आकर नहीं रहते; उसी प्रकार ये मानव-परिन्दे भी न जाने कब, कहाँ, किस ओर किसअभिप्रायसे उड़ जानेवाले हैं । फिर मैं इन्हें क्योंकर अपना कह सकता हूँ ?

मैं अपने शरीरको 'अपना' 'अपना' कहता हूँ । साज-शृंगारमें यथेष्ट समय व्यय करता हूँ । शीशेमें शक्ल देखकर फूला नहीं समाता । अपने नेत्र, कपोल, नासिका, मुखमुद्राको सर्व-श्रेष्ठ समझता हूँ । अपने शरीरके प्रत्येक अवयवपर मुझे गर्व है । पर क्या वास्तवमें यह शरीर मेरा है ?

शरीर मेरा नहीं । वह तो हाड़, मांस, रक्त, मज्जा-तन्तु, वीर्य इत्यादिका पुतलामात्र है । क्या मैं हाथ हूँ ? क्या मैं उदर, मुख, पाँव, सिर इत्यादि हूँ ? क्या मैं रक्त हूँ, मांस हूँ ? अस्थियोंका पिंजर हूँ ? क्या मैं श्वास हूँ, वाणी हूँ ? क्या हूँ ?

वास्तवमें, उपर्युक्त वस्तुओंमेंसे मेरा कुछ भी नहीं है । इन सब सांसारिक पदार्थोंसे मेरा सम्बन्ध क्षणिक, अस्थायी और झूठा है । अज्ञान-तिमिरमें मुझे इन वस्तुओंसे अपना साहचर्य प्रतीत होता है । मैं तो आत्मा हूँ । इस शरीररूपी पिंजरेमें अल्पकालके लिये आ बँधा हूँ । मैं ईश्वरका दिव्य अंश हूँ । संसारसे निर्लिप्त हूँ । सांसारिक वस्तुओंसे मेरा सम्बन्ध क्षणिक है । यदि मैं अल्प लोभके वश स्वार्थ और तृष्णामें लिप्त होता हूँ, तो यह मेरा अज्ञान है, मूढ़ता है ।

किससे कहें ?

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

डेढ़ वर्ष पहलेकी बात है, कलकत्तेमें समाज-सेवकोंका एक नीम-सरकारी सम्मेलन हुआ था । उसमें एक विचारार्थ विषय यह भी था कि 'संसारमें बढ़ते हुए अपराधोंमें रोक-थाम कैसे की जाय ।' इस विषयकी समितिके अध्यक्ष थे—एक अमेरिकन विद्वान् तथा मुख्य वक्ता मैं था । मैंने बड़े परिश्रमसे यह सिद्ध कर दिया कि सभ्य जगत्के अनेक वैज्ञानिक प्रयोगों तथा सुधारोंके उपरान्त भी अपराध उत्तरोत्तर बढ़ते जा रहे हैं । पहले लोगोंका ऐसा ख्याल था कि गरीबी-अमीरीके विषम भेदके कारण अपराध बढ़ते हैं । पर, यह तर्क असंगत सिद्ध हो चुका । संयुक्तराज्य अमेरिकामें प्रतिव्यक्तिकी औसतन आमदनी ५०००) रुपया साल है । उत्तरप्रदेशमें औसतन आमदनी २६०) रुपया साल है । पर उत्तरप्रदेशमें प्रति ढाई मिनट पीछे एक अपराध होता है, चाहे चोरी हो या हत्या । संयुक्तराज्य-अमेरिकामें प्रति १८ सेकेण्डपर एक अपराध होता है । वहाँ लगभग चार सौ मोटरें रोज चोरी जाती हैं । रूसमें भी अपराध काफी बढ़ रहे हैं । ब्रिटेनमें १४ वर्षसे कम उम्रके बच्चोंमें शराबखोरी दुगुनी हो गयी है । इन सब बातोंका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि कोरे भौतिक विज्ञानसे अपराधोंकी रोक-थाम नहीं हो सकती । सभ्यताकी प्रगतिके साथ जीवनकी कृत्रिमता बढ़ती जा रही है । अतएव जनसमूहको अधिक सुखमय बनानेके लिये यह जरूरी है कि समाज पुनः धर्मकी ओर बढ़े । उसमें नैतिकता तथा धार्मिकताकी भावनाका उद्रेक हो । हम ईश्वरको, पापको, पुण्यको भूल गये हैं । इसीलिये समाजमें अपराध बढ़ रहा है । साथ ही, हमको संस्कारका सिद्धान्त, पूर्वजन्मके कर्मोंका सिद्धान्त भी मानना होगा ।

बस, उस फैशनेबुल जमातमें यह कहना था कि लोगोंकी हँसी रोके न रुक सकी । धर्म, पुण्य, पाप,

ईश्वर—अरे मूर्ख मानव ! क्या इन चीजोंकी भी अब कोई जरूरत रह गयी है ? अब तो बड़ी-बड़ी संस्थाएँ इसलिये बन रही हैं कि ईश्वरको मार डालो, तभी संसारमें सुख-शान्ति स्थापित होगी । कम्यूनिस्टोंका एक प्रभाव तो पड़ा ही है । वे ईश्वरको इतना नीचे गाड़ देना चाहते हैं कि वह कभी जिंदा न हो सके । पर हम भारतीय अभी भी संस्कारवश भगवान्‌को त्याग नहीं सकेंगे ।

अस्तु, उस दिन उस सभामें मेरी ओर उँगली उठानेवाले कम नहीं थे । मैंने सुना कि लोग अपने व्याख्यानोंमें मेरे संस्कार तथा कर्मके सिद्धान्तकी खिल्ली उड़ा रहे हैं और खिल्ली उड़ानेवालोंमें सबसे आगे थे बंबई 'ताता स्कूल ऑव सोशल साइंसेज' के धुरंधर विद्वान् । मैं खिन्न हो उठा । मुझे ऐसा लगा कि किससे कहूँ कि धर्म तथा कर्मका इस प्रकारका अनादर ही हमारी सभ्यताको खाता जा रहा है । हम निकम्मे और निर्जीव होते जा रहे हैं । हम जितना ही सुख तथा शान्ति ढूँढ़ते हैं, उतनी ही वह हमसे दूर होती जा रही है । मुझे ऐसा लगा जैसे पढ़े-लिखे विद्वानोंके बीचमें मैं एक बे-पढ़ा-सा, गँवार-सा मानव हूँ जिसके देशवासी स्वयं उसकी हँसी उड़ानेमें अपनी मॉडर्निटी (आधुनिकता) का परिचय दे रहे हैं ।

किंतु, अब मुझे लगा कि मैं अकेला नहीं हूँ । ईश्वरको आगे रखकर विश्वमें शान्ति-स्थापनका जो सिद्धान्त मैंने प्रचारित करना शुरू किया, उसका पुरस्कार मुझे मिला । विश्वशान्ति-सम्मेलनने मुझे केवल आदरित ही नहीं किया, उसने भी हमारे देशके दर्शनको अपनाना शुरू कर दिया है ।

स्टेफन वी० सर्गियोने संदेश भेजा कि 'हमको हरेकको भाई समझकर एकताके सूत्रमें बँध जाना चाहिये । मानव-समाज मुक्ति चाहता है, जीवनकी चिन्ताओं तथा व्यथाओंसे मुक्तिके लिये मनमें भी शान्ति चाहिये । मनकी शान्ति आध्यात्मिक सद्भावसे ही हो सकती है ।'

भौतिकताका दुष्परिणाम

फिलिपाइनकी राजधानी मनिलासे प्रकाशित होनेवाले 'लैम्पलाइटर' में श्री जे० ट्रोपा महोदय लिखते हैं—

'हड़ताल और सरकारको उलटनेके प्रयाससे अराजकता फैलती है । एक धर्मको दूसरे धर्मसे ऊँचा-नीचा समझनेसे धार्मिक विद्वेष पैदा होता है । आज चारों ओर भ्रष्टाचार छाया हुआ है । रुपयेके पीछे लोग ऐसे पागल हो गये हैं कि हरेक जल्दी अमीर बननेका सपना देख रहा है । जनसमूहका दिमाग रोगी हो गया है । उसकी बुद्धि अस्वस्थ हो गयी है । विवाहके विषयमें ठीकसे विचार न करनेके कारण वैवाहिक जीवन दूषित हो गया है । घरेलू जिंदगी झगड़ोंमें बीत जाती है, इसका परिणाम बच्चोंपर बुरा पड़ता है ।'

ट्रोपा उसी आध्यात्मिक जीवनकी ओर बढ़ना चाहते हैं जिसकी परिभाषा वे ठीक-से समझ नहीं पाये हैं । उनके मनमें जो हो, उसको जरा-सा ठीकसे समझा देनेसे सबके मनमें बैठ सकता है । पर, समाज सुनना नहीं चाहता तो फिर हम किससे कहें ?

हाँ, तो मैं बात लिख रहा था अपराधमें वृद्धिकी । उसके सम्बन्धमें धर्मके मार्गद्वारा निरूपणकी—ऐसे विषयमें मुझे अभीतक कोई साथी नहीं मिला था, जो खुलकर, साहसके साथ यह कहे कि जबतक सभ्यता धार्मिकता तथा नैतिकताको प्रश्रय न देगी, समाजमें बढ़ता हुआ अपराध कदापि कम नहीं होगा; किंतु मुझे साथी मिला । बहुत बड़ा साथी । लन्दनमें क्लार्क हॉल फेलोशिपके द्वारा प्रतिवर्ष एक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान कराया जाता है । मई, १९५२ में बारहवाँ व्याख्यान हुआ था । उस अवसरपर लौर्ड टेम्पुलउड सभापतिके आसनपर थे तथा व्याख्याता थे क्रॉयडनके लार्ड विशप । उन्होंने अपने

व्याख्यानका विषय यही रक्खा था कि समाजमें अपराधोंकी वृद्धिकी रोक-थाम कैसे की जाय और बहुत कुछ तर्क-वितर्क करनेके बाद वे इस नतीजेपर पहुँचे कि विश्वास, चरित्र और आचरणका प्रतिपादन करके ही समाजको उसके अभिशापोंसे मुक्त किया जा सकता है। विश्वास एक धार्मिक प्रवृत्ति है। इसीसे आत्मविश्वास भी पैदा होता है। इसीसे मनमें बल आता है। इसीसे मनुष्य अपनी सत्ताकी सार्थकता समझ सकता है। आज मानव-समाज विश्वासहीन हो रहा है। उसके सामने कोई आत्मिक संकल्प या विश्वास नहीं है, जिसके सहारे वह अपने जीवनको चला सके। वह जो कुछ करता है, केवल भौतिक प्रेरणासे भौतिक लाभके लिये। यदि उसे बतला दिया जाय कि मानवका सबसे बड़ा संकल्प 'मानव' होना है तो शायद वह आत्म-समीक्षामें लग जाय। अभी तो उसे किसी चीजपर विश्वास करनेका अवसर ही नहीं दिया जाता। विश्वासकी उत्पत्ति धर्मके संस्कारसे या उसके ज्ञानसे होती है। बिना विश्वासके मनुष्य या राज्य बिना पतवारकी नौकाके समान है। आजका समाज पतवारहीन नौका बनकर डूब रहा है।

श्रीचार्ल्स मौर्गनका यह कथन सत्य है कि भय या पीड़ासे मानवमें निराशा नहीं उत्पन्न होती। वह तब आन्तरिक निराशासे पीड़ित हो उठता है जब उसमें निष्ठा, श्रद्धा तथा विश्वासका अभाव होता है। इसके लिये बिना उसके जाने ही उसका जी कचोटता है और निराश होकर वह पाकेटमारीसे लेकर डाका, कत्ल सभी कुछ करता रहता है। आज हरेक प्राणीके मनमें यह शङ्का होती है कि 'किस लिये, किसके लिये जीवित रहें, किस लिये प्यार करें' इसका उत्तर यदि हम न दे सकें तो मानवका उच्छृंखल हो जाना स्वाभाविक ही है। श्रद्धासे चरित्र बनता है। चरित्रसे ही सदाचारका विकास होता है अतएव यदि समाजका सुधार करना है तो उसे श्रद्धालु बनाइये, धर्मकी ओर ले चलिये! पाप-पुण्यका संस्कार मनमें उत्पन्न कीजिये, नहीं तो, जब डाका या कत्लमें केवल भौतिक सजा ही मिलती है, भविष्य या मरनेपर कोई महत्त्व नहीं रहता, तो कोई हमसे क्यों डरे?

गुरुका धर्म

विशप महोदयने एक बात बड़ी मार्केकी कही थी। उन्होंने कहा कि वर्षोंकी शिक्षाके बाद हम किसी कल-कारखानेमें काम करने लायक होते हैं। पर हमको सही पिता-माता बननेकी कोई शिक्षा नहीं देता। आजकलके जमानेमें जब विवाहका ही महत्त्व नहीं रहा, जब कि कम्यूनिस्ट-विचारधारामें स्त्रीका काम केवल संतान उत्पन्न कर उसे राज्यके हवाले कर देना है, पिता-माताकी शिक्षा देना क्यों आवश्यक होगा? और वास्तवमें, हमारे शास्त्रके मतानुसार भी, पिता-माताका काम केवल शारीरिक जन्म देना है, वास्तविक जन्म तो गुरु देता है। मनुने इस सम्बन्धमें सुन्दर उपदेश दिया है। विष्णुपुराण (२।५७), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।२।२७) सभीकी इस विषयमें एक राय है कि माता-पिताका काम शरीरको जन्म देना है वास्तविक जन्म गुरु देता है। इसीलिये मनुष्यके जीवनमें सबसे बड़ा महत्त्व आचार्यका है। वही सब कुछ है। वही ज्ञानदाता होनेके कारण वास्तविक पिता-माता है।

पर, आज तो अध्यापक या गुरुका कोई महत्त्व नहीं रहा। दोनों ही एक-दूसरेका महत्त्व खो बैठे हैं। न तो वह अध्यापक यह सोचकर पढ़ाता है कि मुझे इस बच्चेका जीवन बनाना है, इसका संसार बनाना है, देशका नागरिक बनाना है; और न तो विद्यार्थी गुरुके चरणोंमें सिर रखकर उसे अपना सब कुछ इसलिये अर्पण करता है कि गुरु उसको नया जन्म देता है। यह सब भावना कैसे मिटी। किसने इसको मेटा? सभ्यताकी भौतिकतामें हम अपना

सब कुछ खो रहे हैं । यदि गुरुने न सुधारा तो समाज क्या सुधरेगा ? गुरुसेवाके लिये विश्वास तथा धर्मभावका होना आवश्यक है ।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

मनुका यह वाक्य या श्रीयाज्ञवल्क्यका ‘सम्यक् संकल्पजः कामः’ आज किसके कानोंमें पड़ता है ? किसे सुननेका समय है ? सदाचारको धर्मका मूल माना गया है । सदाचारको जीवनका मूल माना गया है । मनःपूतं समाचरेत्’ मनुका प्रसिद्ध वाक्य है । पर अब कोई इन चीजोंको सुनना नहीं चाहता ।

आज जो कुछ है वह अपने लिये है । ईश्वरके लिये कहीं कुछ नहीं है । इसीलिये समाज तड़प रहा है, रो रहा है । पर सँभलता नहीं है । तोप-बंदूकसे युद्ध नहीं रुकता, शान्ति नहीं होती । जेल या दंडसे अपराध नहीं रुकता, अपराधी नहीं कम होते । आज मानवके पास है क्या ? एक अंग्रेजने लिखा है कि हमारे पास केवल अपना ऋणभार है । कर्जेसे पीठ लदी है । टैक्स है, ऋण है, जीवनकी समस्याएँ हैं । सुखका पता भी नहीं कि वह किस कोनेमें बैठा सिसक रहा है ! जिसे हम सुख समझे बैठे हैं, वह केवल विडम्बना है । ऐसी दशामें चारों ओर फैले अन्धकारसे बचनेका क्या मार्ग है—केवल यही न कि शान्तिकी तथा नैतिकताकी तलाश धर्मके द्वारपर, श्रद्धाके द्वारपर, विश्वासके द्वारपर की जाय । यदि हम धार्मिक न हो सके तो निस्संदेह हमारा मन वासनाओंमें तड़प-तड़पकर दम तोड़ देगा । हम कभी भी सुखी न होंगे, हमारी समस्याएँ कभी हल न हो सकेंगी ।*

---

* जबतक अपराधको अपराध न माना जाय, ‘अपराधका भयंकर फल परलोकमें भोगना पड़ेगा’—यह विश्वास न हो ‘मेरे अपराधको सर्वव्यापी भगवान् देखते हैं’—यह निश्चय न हो, तबतक किसी भी बाहरी क्रियासे, कानूनसे या दंडसे अपराधोंका अन्त नहीं हो सकता । धर्मके सिद्धान्तमें विश्वास होनेपर जब मनुष्य अपराधको पाप समझेगा, तब एकान्तमें भी वह अपराध नहीं करेगा । मनमें भी अपराधके भाव आनेपर वह अन्तर्यामी प्रभुसे संकोच करेगा, उनसे डरेगा । नहीं तो, चोरोंको दंड देनेका काम करनेवाला मनुष्य भी स्वयं चोरीका धन लेनेमें नहीं हिचकेगा, किसीको खूनका अपराधी सिद्ध करके उससे घृणा करनेवाला भी स्वयं स्वार्थवश खून करने-करानेमें पश्चात्पद नहीं होगा । और दूसरेको व्यभिचारी बताकर उसकी घोर निन्दा करनेवाला भी स्वयं व्यभिचारमें रस लेगा । वस्तुतः अपराधके मूल स्रोतका नाश होना चाहिये । वह रहता है मनमें । उसका नाश धर्मकी अग्निसे ही होता है । आज हमारा मानसिक जगत् अत्यन्त दूषित और अपराधमय बन गया है । इसीसे हम अपराध मिटानेकी बात करते और उसके लिये प्रयत्न करते हुए भी स्वयं अपराध करते रहते हैं । धर्मभावनाका अभाव तथा पापमें निर्भयता ही इसमें प्रधान कारण है । कहीं-कहीं तो पापमें गौरव-बुद्धि हो गयी है । अमेरिका, रूस, चीन—कहीं भी अपराधोंका ह्रास नहीं हुआ है । अपने मतसे विरोधियोंके प्रति रूस, चीन आदिमें जैसा अमानुषिक और क्रूर व्यवहार होता है—वह भयंकर-से-भयंकर है । यह जो ह्रास बतलाया जाता है, सर्वथा काल्पनिक है । बल्कि आजकी दुनियामें बहुतसे अपराध तो अपराध न माने जाकर सिद्धान्त, अधिकार, कर्तव्य या सुधार माने जाते हैं । जैसे—

(१) आज ब्याह किया, कल तलाक़ कर दिया । यह अपराध नहीं—सुधार है ।

(२) परपुरुष और परस्त्रियोंका परस्पर अबाध संसर्ग आदि अपराध नहीं है—सभ्यता है ।

(३) खून, डकैती, आग लगाना आदिको भी सिद्धान्त बतलाया जाता है और विरुद्ध मतवालोंके प्रति ऐसा व्यवहार गौरवपूर्वक किया जाता है । कुछ महीनों पूर्व मेरे एक मित्र संसद्के सदस्यने मुझसे कहा था कि ‘यदि कोई पुरुष किसी ‘वाद’ के सिद्धान्तकी दृष्टिसे खून, लूटपाट, आग लगाने या रेलकी लाइन तोड़ने आदिकी क्रिया करता है तो वह अपराध नहीं है ।’

आदर्श दानकी महत्ता

[कहानी]

(लेखक—श्रीगणात्रा दयालजी लक्ष्मीदास)

जो दान दिखावेके लिये दिया जाता है, वह आदर्श दान नहीं है।

जो दान कीर्तिके लोभसे दिया जाता है, वह आदर्श दान नहीं है।

जो दान बहुत आडम्बरपूर्वक दिया जाता है, वह आदर्श दान नहीं है।

आदर्श दान वह है जो गुप्त रूपसे दिया गया हो, दयाकी सच्ची प्रेरणासे दिया गया हो और जिसमें यथार्थतः त्याग हो। ऐसा आदर्श दान अमूल्य है। ऐसे दानकी महत्ता सोची ही नहीं जा सकती।

एक करोड़पति सेठ थे। उनका नाम था बिहारीलालजी। वे नगरसेठ थे। राजके प्रमुख सहायक थे और बड़े दानी थे। उनके यहाँ आकर कोई भी याचक खाली नहीं लौटता था। नगरसेठ बिहारीलाल-

---

(पिछले पृष्ठसे आगे)

(४) बड़े-से-बड़े सुसभ्य देश अमेरिकाने जापानके लाखों निरीह नर-नारी-बालकोंको अणुबमसे भस्म कर दिया; पर किस राष्ट्रने उसे अपराधी बतलाया ? आज भी इन भयंकर अपराधमूलक अणुबम और इससे भी भयानक विनाशक साधनोंका आविष्करण और परीक्षण बड़े गौरवके साथ किया जा रहा है !

धर्म और ईश्वरका भय न रहनेके कारण ही अपराधमें अपराधबुद्धि नहीं रह गयी है इसी कारण आज—

(क) धर्मका झंडा फहरानेकी बात करनेवाला प्रमुख धनीवर्ग और व्यापारीवर्ग नाना प्रकारसे नये-नये अपराध करता है।

(ख) कानूनकी रक्षा और अपराधोंके निर्मूल करनेके लिये ही नियुक्त सरकारी कर्मचारी धनके लोभसे स्वयं अपराध करते और दूसरोंके लिये अपराध करनेका मार्ग प्रशस्त कर देते हैं।

(ग) उन्नति और विकासके नामपर सरकारें नित्य नये-नये टैक्स, कर आदि लगाकर व्यापारीवर्गको उससे बचनेके उद्देश्यसे बेईमानी करनेको बाध्य करती हैं। हमारे धर्मशास्त्रानुसार अधिक 'कर' लगाना अपराध है।

(घ) पुलिसविभाग चोरी, डकैती, खून आदि अपराधोंके नाशके लिये ही बना है, पर अनेकों पुलिसके लोग चोरी, डकैती और खूनमें प्रकारान्तरसे हिस्सा लेते पाये जाते हैं और असली अपराधियोंको छिपाकर निर्दोषोंको दोषी सिद्ध करनेमें गौरवका बोध करते हैं।

(ङ) अपराधियोंको सुधारनेके लिये बने हुए जेलखानोंमें चोरी आदि अपराध अनर्गल रूपसे हुआ करते हैं।

यदि ईश्वर और धर्मका भय होता तथा परलोकमें पापके फलभोगका निश्चय होता तो आज न तो रक्षक ही भक्षक बनते और न अपराधोंकी ही इतनी बाढ़ आती। यह पापप्रवाह तभी सूखेगा, जब दुनिया धर्म और भगवान्में दृढ़ विश्वास करेगी। नहीं तो, पाप (और उसके साथ ही ताप भी) उत्तरोत्तर बढ़ते ही जायँगे। भले ही उस पतित स्थितिको किसी भी 'वाद' की विजय बताया जाय या उन पापोंको ही विकास तथा उन्नतिका स्वरूप मानकर उनकी गुणगाथा गायी जाय और ऐसे अपराधियोंको चाहे जितना पुरस्कृत किया जाय। जैसे—हिरण्यकशिपु और रावणादिके राज्यमें यज्ञादिका विनाश, सतीत्वनाश, गो-ब्राह्मणकी हत्या और धर्मका निर्मूलन गौरवका कार्य माना जाता था और ऐसा करनेवाले गुणवान् तथा पुरस्कारके पात्र समझे जाते थे। पर यह निश्चय है कि जबतक ये पाप रहेंगे, तबतक वास्तविक शान्ति-सुख दूर-से-दूर ही रहेंगे। उनकी प्राप्ति होगी ही नहीं।

अतएव विद्वान् लेखकने इस लेखमें जो मत व्यक्त किया है, वह सर्वथा उपयोगी और गहराईसे विचार करनेयोग्य है।

—सम्पादक

जीकी पत्नी यमुनाबाई भी बड़ी पतिव्रता थीं । वे सदा पतिके अनुकूल ही व्यवहार करती थीं ।

प्रारब्ध बड़ा बलवान् है । सबके दिन सदा एक-जैसे नहीं रहते । नगरसेठ बिहारीलालजीको अपने व्यापारमें प्रचुर घाटा होने लगा। जिनको उन्होंने ऋण दे रक्खा था, उन्होंने वह धन लौटाया नहीं । बहुत-सा कर्ज हो गया । अब बिहारीलालजीने देखा कि नगरमें रहनेसे दरिद्रताके कारण अपमान सहना होगा । उन्होंने अपने घरका सब सामान तथा स्त्रीके आभूषण भी चुपचाप बेच दिये और जिन लोगोंका ऋण चुकाना था, उनका ऋण चुका दिया । उनका बड़ा भारी मकान भी ऋण चुकानेमें दूसरेको लिख दिया गया। एक दिन रातको पत्नीके साथ वे चुपचाप नगरसे निकले और वहाँसे दूर जाकर उस गाँवमें रहने लगे, जहाँ उनके पूर्वजोंकी जन्मभूमि थी । वहाँसे व्यापारके लिये आकर उनके पितामह नगरमें बस गये थे ।

गाँवमें जाकर बिहारीलालजी बीमार पड़ गये । बहुत चिकित्सा करनेपर भी उनकी बीमारी बढ़ती ही गयी । जो थोड़ा-बहुत सामान नगरसे वे अपने साथ लाये थे, वह भी उनकी चिकित्सामें समाप्त हो गया । अब बेचारी सेठानी यमुनाबाई गाँवमें लोगोंके घर कूटने-पीसनेका काम करने लगी । जो कुछ मजदूरीसे मिल जाता था, उसीसे वह अपने बीमार पतिको पथ्य देनेकी व्यवस्था करती थी और स्वयं भी रूखा-सूखा खाकर दिन काटती थी । एक दिन जो नौकरानियोंसे घिरी बड़े भारी महलमें आभूषणोंसे लदी रहती थी, भाग्यके फेरसे उसे अब स्वयं मजदूरनी बनना पड़ा था । ऊपरसे यह विपत्ति थी कि उसके पतिका रोग असाध्य होता जा रहा था । वे अब चारपाईसे उठ भी नहीं पाते थे ।

उस गाँवमें एक ब्राह्मण एक दिन आये । ब्राह्मण गरीब थे । उनकी कन्या विवाहयोग्य हो गयी थी । वे गाँवके लोगोंसे सहायता माँगने आये थे । कुछ लोग दुष्ट-प्रकृतिके होते हैं । दूसरोंकी दयनीय दशाका उपहास करना उन्हें अच्छा लगता है । ऐसे ही कुछ लोग ब्राह्मणको पहले मिल गये । उन लोगोंने ब्राह्मणसे कहा—'हमारे गाँवमें सेठ बिहारीलालजी ही सबसे बड़े दानी हैं । आप उनके घर जायँ ।'

ब्राह्मण बिहारीलालजीका घर पूछते वहाँ पहुँचे । चारपाईपर विवश पड़े रोगी बिहारीलालजीने ब्राह्मणको प्रणाम किया । ब्राह्मणके आनेका कारण जानकर उनके नेत्रोंमें आँसू आ गये । वे समझ गये कि उनसे ईर्ष्या करनेवाले उनकी जातिके लोगोंने उनका उपहास किया है । लेकिन घरपर आया ब्राह्मण निराश होकर चला जाय, यह बड़े दुःखकी बात थी । बिहारीलालजीने ब्राह्मणसे थोड़ी देर बैठनेकी प्रार्थना की और कहा—'सेठानीको आने दीजिये ।' ब्राह्मण बैठ गये ।

थोड़ी देरमें सेठानी आयीं । ब्राह्मण बिहारीलालजीके घरकी दरिद्र-दशा देखकर ही समझ गये थे कि उन्हें दुष्ट लोगोंने यहाँ भेजा है । जब उन्होंने फटे, मैले वस्त्र पहने, बाल बिखेरे मजदूरनीके वेशमें सेठानीको देखा तो उनको बड़ा दुःख हुआ । ऐसे गरीबसे कुछ माँगना तो बड़ी निर्दयताका काम है । यह सोचकर वे उठकर चलनेको तैयार हो गये ।

पतिव्रता सेठानी यमुनाबाईने अपने घरमें ब्राह्मणको बैठे देखा । पतिकी ओर देखा तो उनकी आँखोंमें आँसू भरे थे । वे समझ गयीं कि ब्राह्मण कुछ माँगने आये हैं । सेठानीके दोनों हाथोंमें सोनेकी दो चूड़ियाँ सौभाग्य-चिह्नके रूपमें बच गयी थीं । झट उस देवीने वे चूड़ियाँ निकालकर ब्राह्मणके हाथपर धर दीं । ब्राह्मणने कहा—'बेटी ! मैं तेरी ये चूड़ियाँ नहीं लूँगा । मैं तुमलोगोंपर प्रसन्न हूँ ।' लेकिन सेठ बिहारीलालजी तथा यमुनाबाईने ब्राह्मणसे बहुत आग्रह किया

चूड़ियाँ स्वीकार करनेके लिये । ब्राह्मणने उनके आग्रहको मानकर चूड़ियाँ स्वीकार कर लीं और हृदयसे हजारों सच्चे आशीर्वाद देते हुए वे चले गये । उन चूड़ियोंको बेचकर ब्राह्मणने अपनी कन्याका विवाह सानन्द कर दिया ।

ब्राह्मण देवता जिस दिनसे सेठानी यमुनाबाईकी चूड़ियोंका दान स्वीकार करके गये, उसी दिनसे सेठ बिहारीलालकी दशा सुधरने लगी । उनका रोग धीरे-धीरे अच्छा होने लगा । थोड़े दिनोंमें वे घूमने-फिरने योग्य हो गये ।

इतने समयमें नगरके बूढ़े राजा परलोकवासी हो चुके थे । राजकुमार राजा हो गये थे । उनकी छोटी बहिनको कोई योगी मिले थे और उन्होंने दो यन्त्र राजकुमारीको दिये थे । उन यन्त्रोंमें एक यन्त्र यह बताता था कि किसके पास कितने पुण्य हैं । दूसरे यन्त्रके दर्पणमें कोई भी अपने पुण्य देख सकता था । राजकुमारीने पूरे राज्यमें घोषणा करा दी थी कि जो कोई अपने पुण्य बेचना चाहे, उसे वे खरीद लेंगी । लाला बिहारीलालजीने भी यह घोषणा सुनी । उन्होंने सोचा कि 'नगरमें अब इतने दिनों बाद उन्हें कौन पहचानेगा । बूढ़े राजा भी नहीं हैं । अतः नगर जाकर अपने कुछ पुण्य बेच देना चाहिये । पतिव्रता पत्नीके भरण-पोषणका प्रबन्ध करना मेरा पहला कर्तव्य है ।' अपने मनकी बात उन्होंने पत्नीसे कही । पत्नीने पहले तो पुण्य बेचनेकी बात स्वीकार नहीं की, किंतु पतिका हठ देखकर वह चुप हो गयी । पतिके काममें बाधा देना उसे ठीक नहीं लगा । उसने थोड़ा-सा सत्तू जो घरमें था, पतिके वस्त्रोंमें बाँध दिया मार्गमें भोजन करनेके लिये ।

सेठ बिहारीलालजी सत्तू लेकर घरसे चल पड़े । पैदल चलते-चलते दोपहर हो गया । उन्हें भूख लगी । एक स्थानपर तालाबके पास वृक्षके नीचे वे बैठ गये । कुछ देर आराम करके उन्होंने तालाबमें स्नान किया । सत्तूको पानीमें घोलकर वे जैसे ही खाने बैठे, एक कुतिया आकर उनके पास बैठ गयी । कुतियाने वहीं पास ही नालेमें बच्चे दिये थे । वह बहुत भूखी जान पड़ती थी । बिहारीलालजीको कुतियापर दया आ गयी । उनके पास बहुत थोड़ा सत्तू था । उन्हें बड़ी भूख भी लगी थी, पर दयावश वह सब सत्तू उन्होंने कुतियाको दे दिया और स्वयं केवल पानी पीकर आगे चल पड़े ।

नगरमें पहुँचकर बिहारीलालजी सीधे राजमहल गये । पुराने बूढ़े सैनिक और चौकीदार उन्हें पहचानते थे । राजकुमारीकी आज्ञा थी कि कोई पुण्य बेचने आवे तो उसे उनके पास पहुँचा दिया जाय । बिहारीलालजीको सेवकोंने राजकुमारीके पास पहुँचा दिया । राजकुमारीने उनके सामने योगीका दिया एक यन्त्र रखकर कहा—'आप अपने जो पुण्य बेचने चाहें, उनको मनमें सोचकर इस यन्त्रपर हाथ रक्खें ।'

बिहारीलालजीने कुछ पुण्योंको सोचकर यन्त्रपर हाथ रक्खा; किंतु यन्त्रने तो एक भी पुण्य नहीं बताया । उन्होंने और पुण्य सोचे, यन्त्र फिर भी जैसे-का-तैसा ही रहा । बिहारीलालजीने अपने सब पुण्य सोच लिये, किंतु यन्त्र हिलातक नहीं । वे निराश हो गये । उनका मुख उदास हो गया । यन्त्रपरसे उन्होंने हाथ हटा लिया । वे सोचने लगे—'इतने दान-पुण्य किये, वे सब क्या हुए ?'

राजकुमारीने उन्हें उदास होते देखकर कहा—'आप इस दूसरे यन्त्रके दर्पणमें देखिये । इसमें आपको अपने सच्चे पुण्य दिखायी पड़ेंगे । जो पुण्य कीर्तिके लोभसे किये जाते हैं, वे सच्चे पुण्य नहीं हैं । उनसे कीर्ति मिल जाती है । वे पुण्य इस यन्त्रके द्वारा पुण्यमें नहीं गिने जाते ।'

दूसरे यन्त्रके दर्पणमें बिहारीलालजीको ब्राह्मणको चूड़ियाँ देती अपनी पत्नी दिखायी पड़ी और उनका

दिया सत्तू चाटती कुतिया दीख पड़ी । राजकुमारी भी दर्पणकी ओर देख रही थी । उसने कहा—'ये दोनों आपके सच्चे पुण्य हैं । आप इन्हें बेचें तो मैं दो लाख सोनेकी मुहरें दूँगी ।'

लाला बिहारीलालजीको अब दानके सच्चे रूपका ज्ञान हुआ । उन्होंने कहा—'ये दोनों पुण्य मैं नहीं बेचूँगा ।'

राजकुमारीने दस लाख मुहरें देनेको कहा । बिहारीलाल बोले—'राजकुमारीजी ! ये पुण्य मैंने किसी इच्छासे नहीं किये हैं । इन्हें मैं दस करोड़ या दस अरब मुहरोंमें भी नहीं बेचूँगा ।'

इसी समय राजकुमारीके भाई राजा वहाँ आ गये । उन्होंने बिहारीलालजीको पहचान लिया । वे बोले—'नगर सेठजी ! मैं आपको बहुत दिनोंसे ढूँढ़ रहा था । आपने मेरे पिताके साथ बहुत उपकार किये हैं । मुझे आपने गोदमें खिलाया है । कठिन अवसरपर आपने राज्यको दस लाख मुहरें ऋणमें दी थीं । आपका ऋण ब्याजके साथ राज्यके कोषमें जमा है । अब आप कृपा करके उसे ले लें और नगरमें आकर रहें । आप तो मेरे अच्छे नगर सेठ चाचा हैं । मैं आपको अब यहाँसे जाने नहीं दूँगा ।'

सेठ बिहारीलालजी फिर नगर सेठ हो गये । उनकी पतिव्रता पत्नी अपने बड़े भवनमें फिर आ गयीं । लेकिन अब नगर सेठजी पहलेके समान धूम-धामसे दान नहीं करते । वे गरीबोंके घरकी दशाका पता लगाते रहते हैं और इस प्रकार उनके घर सहायता भेजते रहते हैं कि सहायता कौन भेजता है, इसका पता सहायता पानेवालोंको भी नहीं लगता !

ब्राह्मणत्वकी ओर

(लेखक—डा० मुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

द्विपद मानव सप्राण सृष्टिमें सर्वश्रेष्ठ है, ऐसा मन्तव्य आजतकके सभी दार्शनिकोंका रहा है; परंतु सापेक्ष एवं तुलनात्मक दृष्टिसे समस्त मानव भी एक स्तरके नहीं हैं । उनकी विचार-प्रणाली, विषय-प्रवृत्ति, प्रेरक तत्त्व, कार्य-संचालन, बुद्धि-वैभव, शारीरिक सम्पत्ति आदि सभीमें विभिन्नता है । सबकी अपनी-अपनी कमाई है जो कभी एक समान नहीं होती । एक-जैसे अवसर मिलनेपर भी मानव एक-जैसे नहीं बन पाते । एक ही दम्पतिकी संतति विषम गुणोंवाली देखी जाती है । एक ही गुरुसे शिक्षाप्राप्त विद्यार्थियोंमें श्रेणीगत वैषम्य होता है । विश्वकी विविधरूपताको सिद्ध करनेके लिये प्रमाण एवं तर्ककी आवश्यकता नहीं है । वह तो स्वयं सिद्ध है । यह विविधरूपता मानव-जगत्में भी ज्यों-की-त्यों विद्यमान है ।

अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा मानवकी श्रेष्ठता उसके बुद्धि-वैभवके कारण ही है । अतः बौद्धिक स्तरका उच्चावच होना ही मानवोंके विभिन्न स्तरोंका भी प्रधान कारण है । कुछ मनुष्य बुद्धिके रहते हुए भी उससे कार्य नहीं लेते । वे दूसरोंकी बुद्धिद्वारा यन्त्रवत् परिचालित होते रहते हैं । ऐसे व्यक्ति दूसरोंके कार्य-साधक तो बनते हैं, पर अपना कार्य नहीं कर पाते और इसी कारण उनके अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्वका भी विकास नहीं हो पाता । साधनरूपमें प्रयुक्त होनेपर जो कुछ मिल जाता है, उसीके आधारपर उनका जीवन-यापन होता है । आहार, निद्रा, भय और भोगतक ही उनकी निर्मिति सीमित रहती है । इससे ऊपर उठकर वे स्वतन्त्रचेताके गौरवशाली पदको प्राप्त नहीं कर पाते । आर्य संस्कृतिकी वर्ण-मर्यादामें ऐसे व्यक्तियोंको शूद्र संज्ञा दी गयी है । शारीरिक श्रम—कठोर दैहिक तप—इनकी विशेषता है । वैदिक उक्ति 'तपसे शूद्रम्'का यही भाव है ।

इस स्तरसे ऊपर ऐसे व्यक्तियोंका वर्ग है जो शारीरिक श्रम तो करते हैं, पर उसका लक्ष्य उनकी अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति होता है । किसान खेती करता है, पशु-पालन करता है, वैश्य वाणिज्य-व्यवसाय करता है, तो उसका उद्देश्य उसके अपने लिये है, किसी अन्यके लिये नहीं । इन सभी कार्योंमें कठोर तप करना पड़ता है, शीत-उष्ण, सुख-

दुःख आदिके द्वन्द्व सहने पड़ते हैं, पर सबका परिणाम अपना हित होता है—यही इस स्तरका पूर्व स्तरसे अन्तर है । इस अन्तरमें बुद्धिकी क्रियाशीलता भी निहित है । विना बुद्धिका उपयोग किये कोई भी व्यक्ति न खेतीसे लाभ उठा सकता है, न वाणिज्य-व्यवसायसे । और यदि वह बुद्धिका उपयोग नहीं करता, तो स्वयं दूसरोंके साध्यका साधन बन जाता है । ऐसी अवस्था प्रथम स्तरसे ऊपरकी नहीं कही जा सकती । बुद्धि क्रियाशील होकर ही व्यक्तिको साधनमात्र होनेसे बचा देती है । यह स्तर वैश्य-वर्गका है ।

मानवका तीसरा स्तर ऐसे व्यक्तियोंका है जो वैश्य-वर्गकी अपेक्षा बुद्धिसे अधिक काम लेते हैं । इनका कार्य समाजकी रक्षा करना है जिसके लिये इन्हें अनेक उपाय सोचने पड़ते हैं । आन्तरिक तथा बाह्य दोनों ही प्रकारके घातकोंसे सावधान रहना, उनकी कुटिल चालोंकी जानकारी रखना, उपयुक्त समयपर जागरूक रहते हुए तत्परतापूर्वक रक्षाके साधनोंको जुटाना और निर्दिष्ट स्थानपर पहुँच जाना, शारीरिक बलके साथ विविध प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग करना, उनके संचालनकी विधिसे पूर्णतया अभिज्ञ होना आदि ऐसे कार्य हैं जिनमें इस वर्गको दक्ष होना पड़ता है । शारीरिक श्रम यहाँ भी है, पर पूर्वोक्त दोनों वर्गोंकी अपेक्षा अधिक बुद्धिपूर्वक । लक्ष्यमें यहाँ आकर एक विशिष्ट अन्तर पड़ जाता है । वैश्यवर्गके कार्योंका लक्ष्य वह वर्ग स्वयं है। जो कुछ उत्पादन उसके द्वारा होता है, उसका उपयोग अधिकांशमें उस वर्गके लिये ही होता है । पर इस वर्गके कार्योंका लक्ष्य समग्र समाजकी रक्षा है । शूद्र बुद्धिरहित होकर एक व्यक्तिकी सेवा करता है, पर यह वर्ग बुद्धिपूर्वक समग्र समाजकी सेवा करता है । अतः कई दृष्टियोंसे यह वर्ग पूर्वोक्त दोनों वर्गोंके स्तरसे उच्चकोटिका है । यह क्षत्रियवर्ग है ।

चौथे स्तरपर ऐसे व्यक्ति हैं जिनका लक्ष्य बुद्धिके उपयोगद्वारा किसी सांसारिक उद्देश्यकी पूर्ति नहीं, प्रत्युत स्वयं बुद्धिका अधिक-से-अधिक विकास करना है । जीवन-यापनके लिये प्रभुका सहारा तथा बुद्धिसम्बन्धी कोई कार्य जैसे अध्यापन, पौरोहित्य आदि—इसके अनन्तर सारा समय मस्तिष्कको आलोकित करनेमें लगाना—यही एकमात्र उद्देश्य इस स्तरके व्यक्तियोंका होता है । आर्य-संस्कृतिमें यह स्तर ब्राह्मण-वर्गका माना गया है ।

ऊपर जिन चार वर्गोंके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा गया है, उनमेंसे एक-एक वर्गके अंदर भी कार्य तथा बुद्धि-स्तरके आधारपर कई विभाग किये जा सकते हैं और किये भी गये हैं । सत् और असत्के आधारपर सभी वर्गोंके दो-दो मोटे विभाग हो सकते हैं । पुनः इन दोके भी अनेक विभाग हो सकते हैं । यों मानवताकी एक श्रेणी है, पर यह एक श्रेणी नानारूपा बनकर कम-से-कम विकासके चार स्तरोंमें विभाजित की जा सकती है ।

अन्तर्मनोदशा तथा भावनाकी दृष्टिसे शूद्र-वर्ग चिन्तारहित जीवन व्यतीत करना चाहता है । लम्बी आयु, अनेक पुत्र-पौत्रोंके बीच मनोरञ्जन करना, अपने स्वामीसे प्राप्त धनके आधारपर, किसी भी जोखमको उठाये विना, निश्चिन्त होकर रहना—शूद्र-वर्गकी विशेषताएँ हैं । ऐसा जीवन मानवताके विकासका द्योतक नहीं है । चिन्ता विकासकी प्रथम आवश्यक सीढ़ी है । चिन्ता चिन्तनकी जननी है । मानवकी सार्थकता इसी चिन्तन या मननद्वारा सिद्ध होती है । जिस व्यक्तिके जीवनमें चिन्तनने प्रवेश नहीं किया, वह तस्थुषकी भाँति स्थिर रह सकता है, चरकी तरह गतिशील नहीं बन सकता । जो गतिशील नहीं है वह विकसित भी नहीं है । आर्य-संस्कृतिमें 'जन्मना जायते शूद्रः' का भी यही अर्थ है । निश्चिन्त, मननरहित सभी बालकोंकी संज्ञा शूद्र है । संस्कारसम्पन्न होकर ही वे द्विज कहलानेके अधिकारी बनते हैं । संस्कार निश्चितरूपसे मनका ही होता है।

वैश्यवर्गमें यह चिन्ता पद-पदपर दिखायी देती है। कृषिके लिये भूमिकी जुताई करनी है, उसमें खाद डालना है, बीज बोना है, पानी देना है, अङ्कुरित दलोंकी कीड़ोंसे रक्षा करनी है, फसलके तैयार होनेपर पशु-पक्षियोंसे उसे बचाना है, फिर काटना, गाहना, राशि करना—ऐसी एक नहीं, न जाने कितनी चिन्ताओंसे कृषकका जीवन आक्रान्त रहता है । वह इन समस्त चिन्ताओंका साम्मुख्य करता है । अल्पवृष्टि, अतिवृष्टि, उपलवृष्टि, टिड्डीदल आदि अनेक दैवी आपदाएँ आकर उसके जीवनको झकझोरती रहती हैं । वह स्थिर निश्चिन्त जीवन व्यतीत कर ही नहीं पाता और इसी हेतु उसके जीवनका विकास भी होता है । इस वर्गकी विशेष चिन्तन-प्रणाली धन, समृद्धि, वैभव आदिकी वृद्धिमें अनुभूत होती है । वाणिज्य-व्यवसाय तथा उससे सम्बद्ध अन्य जोखमसे भरे कार्य करनेवाले व्यक्तियोंकी गणना इसी वर्गमें होती है । मनुने इस वर्गको सत्यानृतका सम्मिलित वर्ग माना है ।

क्षत्रिय-श्रेणी वैश्यकी अपेक्षा कहीं अधिक चिन्ताकुल दिखायी देती है । उसके प्राण सदैव हथेलीपर रक्खे रहते हैं। उसे न शरीरका ध्यान है, न अपने पुत्र-पौत्रोंका, न धनका—आवश्यकता पड़नेपर वह इन सबको ठुकरा सकता है। हाँ, उसकी एक कामना है, मनकी एक आकाङ्क्षा है—यह है उसकी और उसके समाजकी कीर्ति । यही उसकी आन है, बाना है, विरुद है। यश रहे, प्राण या धन रहे चाहे न रहे। कीर्तिके पिपासु क्षत्रिय, यशोलिप्साके भूखे वीर एक सत्यकी रक्षाके लिये अपने सर्वस्वकी आहुति दे देते हैं, अपने प्रणपर मर मिटते हैं, पर वचनको नहीं जाने देते। यह है सत्यकी सुरक्षा; पर कभी-कभी क्षत्रियका असत्, कुत्सित, क्रोधान्ध रूप भी दिखायी देता है। निरीहोंकी हत्या, अपने नामके लिये सत्यमूर्ति विप्रोंकी अवमानना, धनिकोंका निर्मम शोषण—दूसरे शब्दोंमें अपने बलका, क्षत्रियत्वका अनुचित एवं गर्हणीय प्रयोग—यह क्षत्रियत्वका उद्योतन नहीं, अवगमन है; उत्थान नहीं, पतन है; विकास नहीं, विनाश है। सच्चा क्षत्रिय अपने समाजको घायल होनेसे बचाता है, सतर्क रहकर अत्याचारियोंसे उसकी रक्षा करता है, प्राचीन प्रतीकात्मक शब्दोंमें 'गो-ब्राह्मणका प्रतिपालक' होता है। वह सत्यसन्ध है, सत्यपक्षी है, सत्यका संरक्षक है । उसकी चिन्ताके प्रधान विषय यही हैं।

ब्राह्मण-वर्गकी चिन्ता न आयु और प्राण हैं, न पशु और प्रजा हैं, न धन और कीर्ति हैं । उसका प्रमुख लक्ष्य ब्रह्मवर्चस्वकी प्राप्ति है। समष्टि दृष्टिसे जो बुद्धितत्त्व द्यौके रूपमें सर्वत्र समाया हुआ है, सत्का जो आलोक सर्वव्याप्त है, उसको पहचान लेना और उसके साथ अपने व्यष्टि बुद्धितत्त्वको मिला देना अर्थात् धी-योगको प्राप्त कर लेना उसके ध्यानका चरम विन्दु है । यह स्थिति चिन्तन और मननसे भी ऊपरकी है।

ब्राह्मण चिन्तनशील तो होता ही है, इससे भी ऊपर वह प्रकाश-सम्पन्न बनता है। ब्रह्मतेजसे युक्त होकर वह अपनी गतिशील स्थितिसे चारों ओरकी परिस्थितिको प्रभावित करता है। उसके सम्पर्कमें आनेवाले व्यक्ति इस प्रकाशका अनुभव करते हैं और उधर चलनेके लिये उन्मुख होते हैं । दिव्यताका आविर्भाव और उसका प्रभाव ऐसा ही होता है।

आर्य-संस्कृतिमें इसे ब्राह्मी वृत्तिका सम्पादन कहा गया है। मनुने इसकी प्राप्तिके लिये स्वाध्याय, व्रत, होम, त्रयी विद्या, इज्या, सुत, महायज्ञ और यज्ञरूप साधनोंका वर्णन किया है। स्वाध्याय—अप्रमत्त होकर वेद-शास्त्रादि, ज्ञान-विज्ञानके ग्रन्थोंके अध्ययनमें निरत रहना, व्रत रखना—उपवास आदिद्वारा इन्द्रिय-संयमको उपलब्ध करना, दैनिक अग्निहोत्र करना, ज्ञान-कर्म-उपासनारूप वेदत्रयीका आचरण, दर्श-पौर्णमास आदि यज्ञोंका करना, गृहस्थ धर्मका पालन—संततिका प्रसव, महायज्ञ—सर्वहुत तथा पञ्चमहायज्ञोंका करना और अन्तमें समग्र यज्ञपूर्ण जीवनको यज्ञमय ही बना देना ब्राह्मणत्व-प्राप्तिके साधन कहे गये हैं। अन्तिम साधन त्यागकी पराकाष्ठाको सूचित करता है। ऐसे ब्राह्मण ही संन्यासीकी उस प्रतिज्ञाको पूर्णतया चरितार्थ कर सकते हैं जिसमें पुत्र-वित्त-यश सभी आकाङ्क्षाओंके त्यागका प्रतिपादन है।

शूद्रका सत्य अपने स्वामीकी सेवा है। वैश्य सत्यानृत है। क्षत्रिय सत्यसन्ध है, परंतु ब्राह्मण सत्यका उपासक और अपने वास्तविक स्वरूपमें सत्यकी मूर्ति है।

शूद्र पराश्रित है। वैश्य स्वाश्रित एवं पराश्रित दोनों ही है। क्षत्रिय स्वाश्रित अधिक है, पराश्रित कम है। ब्राह्मण सम्पूर्णरूपसे स्व=आत्मापर ही आश्रित है।

शूद्र स्वामीकी सेवामें सदैव भयभीत रहता है। वैश्य विविध प्रकारके विघ्नोंसे भयभीत रहते हुए भी निर्भयताका आस्वाद ले लेता है। क्षत्रिय निर्भय होते हुए भी भयसे आक्रान्त रहता है, परंतु ब्राह्मण निर्भय है। उसकी निर्भयताको किसी विशेषणकी आवश्यकता नहीं है । भय द्वितीयसे होता है। जो किसीको द्वितीयरूपमें देखता ही नहीं है, सबको अपना आत्मा ही समझता है, उसे किसीसे भी भय नहीं होता । 'प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो' वेदकी इस मन्त्रपंक्तिको जीवनमें चरितार्थ करनेवाला व्यक्ति प्रत्येक अवस्थामें निर्भय रहता है।

शूद्र स्थिर है। वैश्य गतिशील है। क्षत्रिय उससे भी अधिक गतिशील है । ब्राह्मण परम गतिशील होते हुए भी स्थिर है।

विकासकी दृष्टिसे भी मानवताके ऊपर वर्णित चारों स्तरोंमें एक विशेष क्रम परिलक्षित होता है । शूद्रके निश्चिन्त जीवनमें पराश्रित धन-प्राप्ति कभी-कभी कचोट पैदा कर ही देती है और वह स्वभावतः स्वाश्रित होकर धनके संचयकी ओर झुक जाता है। यही उसका वैश्यत्वकी

ओर प्रयाण है । वैश्य धन तो पैदा करता है, पर उसकी वृद्धि और सुरक्षाकी चिन्ता उसे ऐसे साधनोंसे सम्पन्न बननेकी ओर भी प्रेरित करती रहती है जो उसके लिये निर्विघ्न वातावरणका निर्माण कर सकें । यही वैश्यत्वका क्षत्रियत्वमें परिणमन है । क्षत्रियत्व या राजनीति अनेक वक्रताओंसे संश्लिष्ट है । उसमें साम, दाम, दण्ड, भेद सभीका प्रयोग करना पड़ता है । यशका अर्जन साधारणतया सरल कार्य नहीं है । राजनीतिमें प्रवेश करके उसकी अन्तः-अनार्जव अवस्थाका दर्शन होता है और अन्तमें मानव वक्रतासे आकुल होकर सरलतासे संयुक्त जीवनकी ओर अग्रसर होता है । यही ब्राह्मणत्वकी ओर चलना है । ब्राह्मण सरलताकी प्रतिमा है, छल-छद्मसे कोसों दूर निष्कपट भोलेपनकी मूर्ति है । वह सबका है, सब उसके हैं—फिर किससे कैसा दुराव-छिपाव । वह उन्मुक्त है, गगनवत् खुला हुआ, कुसुमवत् खिला हुआ, चन्द्रिकाके समान आह्लाददायक, सूर्यके समान प्रकाशप्रदायक, ब्रह्मरश्मियोंमें स्नात, धौतमल, विगतकल्मष, शान्त, सौम्य—ऐसा ब्राह्मणत्व किस मूर्खको प्यारा नहीं है ? न हो, तब भी जाने, अनजाने सब उसी ओर चले जा रहे हैं । प्रकृति माता सबको खींच-खींचकर उधर ले जा रही है । जो हठवश, प्रमादपूर्वक उधर नहीं जा रहे, नहीं जाना चाहते, वे अभागे हैं । अन्यथा इस मिट्टीसे हटकर उस द्यौकी ओर गमन करना सभीको अभीष्ट है, अन्नसे आनन्दकी ओर जाना सभीका लक्ष्य है, मृतसे अमृत बनना सभीको प्यारा है।

◆

बिल्व और इमली

[लघु कथा]

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न)

'मेरी महिमासे तुम सर्वथा अपरिचित हो' बिल्ववृक्षने सगर्व कहा । 'जहाँ बिल्वतरु-कानन है, वह भूमि महिमामयी काशीकी भाँति पवित्र है । जिस घरके ईशानकोणमें बिल्वतरु होता है वहाँ विपद्की सम्भावना नहीं रहती । पूर्व दिशामें रहनेसे सुख, दक्षिणमें रहनेसे मृत्युभयका नाश और पश्चिममें रहनेसे प्रजा-लाभ हुआ करता है । श्मशान, सरितातट, प्रान्तर और वनमें बिल्ववृक्ष होनेसे, वह स्थान पीठस्थल कहलाता है । यद्यपि गृह-आँगनमें बिल्ववृक्ष लगाया नहीं जाता, परंतु यदि वह वहाँ दैवात् उत्पन्न हो जाय, तो शिवकी भाँति पूजा जाता है । मेरा ऊर्ध्वपत्र शिव, वामपत्र विधि और दक्षिण-पत्र साक्षात् विष्णु है । तुम्हारी खट्टी हरित पत्तियाँ तो रजकणोंकी ही तुलनामें आ सकती हैं ।'

'अपनी प्रशंसा अपने मुँहसे करनेवाले उत्तम नहीं माने जाते महाफल !' शान्तिपूर्ण उत्तर दिया इमलीने । 'निश्चय ही मेरी पत्तियाँ अत्यन्त लघु हैं, पर उनकी संख्या इतनी अधिक हैं कि मेरी विशाल काया दूरसे ही दीखती है । मुझे देखनेवालेके नेत्र शीतल हो जाते हैं । अंशुमालीकी तीक्ष्ण किरण-राशिसे जब जगत्के प्राणी त्रस्त और व्याकुल हो जाते हैं, उस समय गो-गोवत्स, पशु-पक्षी, चरवाहे और बटोही सभी मेरी घनी शीतल छायामें विश्राम करते हैं । वे मेरा आभार मानते हैं, किंतु यहीं एक बात स्पष्ट कह दूँ तो तुम क्रोधोन्मत्त हो जाओगे, नहीं सह पाओगे तुम ।'

'तुम्हें जो कहना हो स्पष्ट कह दो' स्वाभिमानी त्रिपत्र बोल उठा । 'आलोचनाका मुझे भय नहीं, किंतु मेरे जन्मके सम्बन्धमें तुम्हें पता लग जाय, तो मेरी महानता तुम स्वयं स्वीकार कर लोगे । मैं स्वयं बता देता हूँ ।

'परमादरणीया कमलादेवी नियमित रूपसे प्रतिदिन सहस्र पद्मोंद्वारा आशुतोष शिवकी पूजा करती थीं । एक दिन सहस्र पद्मोंको दो-तीन बार गिनकर वे पूजाके लिये बैठीं, किंतु अन्तमें दो पद्म-प्रसून कम पड़ गये । विष्णुप्रिया चिन्तित हुईं । अन्तमें उन्होंने सोचा, 'भगवान् विष्णु मेरे स्तनोंको पद्म कहा करते हैं' बस, उनके मनमें आशाका संचार हुआ। वे प्रसन्न हो गयीं । उन्होंने तीक्ष्ण अस्त्रसे अपना वाम स्तन काटकर शिवलिङ्गपर अर्पित कर दिया । दाहिना स्तन वे काटने ही जा रही थीं कि मुण्डमाली प्रकट हो गये । उन्होंने कहा 'देवि ! तुम्हारी श्रद्धा और भक्तिसे मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ । अब दूसरा स्तन काटनेकी आवश्यकता नहीं । तुम्हारा छिन्न वाम-स्तन जो मुझपर चढ़ाया गया है, वह पृथ्वीपर श्रीफलके नामसे पुण्यप्रद वृक्षके रूपमें उत्पन्न होगा । श्रीफल-तरु तुम्हारी मूर्तिमती भक्ति समझा जायगा । चन्द्रादित्यके

रहते तुम्हारी कीर्ति अमर रहेगी । वह तरु मुझे अत्यन्त प्रिय होगा। इस तरु-पत्रके बिना मेरी पूजा नहीं हो पायेगी।' भगवान् शशाङ्कशेखर अन्तर्हित हो गये ।

'वैशाख शुक्ल तृतीयाको मेरा जन्म हुआ । मेरे जन्म लेते ही ब्रह्मा, विष्णु, सुराधिप इन्द्र तथा अन्य सुर-समुदाय अपनी-अपनी पत्नियोंसहित एकत्र हुए । मेरी स्निग्धता, मेरी शोभा और मेरे तेजको देखकर सभी आह्लादित हुए । भगवान् विष्णुने प्रसन्न होकर मेरे इक्कीस नाम रक्खे । (१) बिल्व, (२) मालूर, (३) श्रीफल, (४) शाण्डिल्य, (५) शैलूक, (६) शिव, (७) पुण्य, (८) शिवप्रद, (९) देवावास, (१०) तीर्थपद, (११) पापघ्न, (१२) कोमलच्छद, (१३) जय, (१४) विजय, (१५) विष्णु, (१६) त्रिनयन, (१७) वर, (१८) धूम्राक्ष, (१९) शुक्लवर्ण, (२०) संयमी और (२१) श्राद्धदेवक । उन्होंने यह भी कहा कि 'इस वृक्षके मूलसे लेकर सौ धनुषतकका स्थान परम तीर्थस्वरूप माना जायगा । इसके तीन पत्र तीन तीर्थोंके तुल्य हैं ।' अब तुम्हीं सोच लो, मेरी महिमाके सहस्रांशकी तुलनामें भी तुम कितने नगण्य हो ?'

'मैं अपनी इस प्रकारकी अलौकिक महिमाका बखान स्वयं नहीं करना चाहता' इमलीके वृक्षने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया । 'पर मैं इतना जानता हूँ कि लोकोपकारमें मेरा पर्याप्त उपभोग होता है और इस प्रकार मुझे आत्मसंतोषकी प्राप्ति होती है। मेरी काया ८० फीट लंबी और २५ फीटतक चौड़ी है । कड़े गूदेसे भरी ढकी हुई मेरी लंबी फलियाँ मनोहर होती हैं । वे खानेमें खट्टी तो लगती हैं, परंतु पक जानेपर खूब मधुर हो जाती हैं । भारतवर्षमें ओषधियोंके लिये मेरा सदासे उपयोग होता आया है । हिंदुओंने अरबोंको मेरा उपयोग बतलाया था । वैद्य मुझे दाहहर, पाचक और रेचक बतलाते हैं । पित्तज व्याधिमें तो मैं रामबाण-सा उपयोगी सिद्ध होता हूँ । मेरी फलीसे धतूरका कड़े-से-कड़ा नशा उतर जाता है । लड़के मेरी कोमल पत्तियोंको बड़े प्रेमसे खाते हैं । दाल, शाक, चटनी आदि सबके लिये मेरा उपयोग होता है । मैं धनवानोंसे लेकर वित्तहीन स्त्री-पुरुषोंतक सबकी समानरूपसे सेवा करता रहता हूँ । वे मुझे अपना प्राण समझते हैं । यह मेरे प्रेमका ही परिणाम है । इस प्रकार मेरी महिमा किसी प्रकार भी कम नहीं ।'

'तो क्या मेरा मूल-फल व्यर्थ जाता है ?' लक्ष्मीफलने कुछ रोष व्यक्त करते हुए कहा । 'मेरा फल अत्यन्त मधुर होता है । वह पित्त, कफ, ज्वर और अतिसारका नाशक होता है । मेरा मूल त्रिदोषनाशक, मधुर, लघु और वमन-निवारक होता है । मेरी लकड़ी अत्यन्त पवित्र मानी जाती है । अपनी पवित्रताके लिये मैं स्वयं क्या कहूँ, मुझे लाँघनेसे आयु घटती और पैरोंसे स्पर्श कर लेनेसे श्री-हरण होता है । मेरा पत्र लेनेके लिये अत्यन्त आदरपूर्वक उच्चारण करना पड़ता है—

'पुण्यवृक्ष महाभाग मालूर श्रीफल प्रभो ।
महेशपूजनार्थाय त्वत्पत्राणि चिनोम्यहम् ॥'

मेरा पत्र लेनेके अनन्तर श्रद्धाभिभूत हृदयसे मुझे प्रणाम भी किया जाता है ।

ॐ नमो बिल्वतरवे सदा शंकररूपिणे ।
सफलानि समाङ्गानि कुरुष्व शिवहर्षद ॥'

सूर्य और गणेशके अतिरिक्त समस्त देवताओंकी मेरे रमणीय अखण्डित या खण्डित सभी प्रकारके पत्तोंसे अर्चना होती है । अधिक क्या कहूँ, मेरे काष्ठ-घर्षित चन्दन मस्तकपर लगानेसे नरक-भय नहीं रह जाता और मेरे नीचे प्राण-त्याग करनेसे मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ।'

'वारिधि अगाध जल-पूरित होता है' इमलीके मनपर जैसे बिल्वकी इतनी महिमाका कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा । उसने उत्तरमें कहा 'किंतु मरुस्थलके पथिकके लिये उसका कोई उपयोग नहीं ।'

'क्या तात्पर्य है तुम्हारा ?' सरोष प्रश्न किया श्रीफलने।

'तात्पर्य तो सुस्पष्ट है' इमलीने निश्शङ्क उत्तर दिया। 'तुम्हारे फलोंका पक्षियोंके लिये कोई उपयोग नहीं । वे बेचारे तुम्हारे स्वर्ण-सरीखे पीत फलोंको देखकर उड़े चले जाते हैं, परंतु उन्हें निराश वापस होना पड़ता है । चञ्चुपुटोंको तोड़नेके अतिरिक्त रक्खा ही क्या है तुम्हारे पास ?'

'और तुम्हारे फल ?' बिल्वने चिढ़कर तुरंत पूछा । उसके अहंपर आघात लगा था ।

'पृथ्वीपर गिरते ही मेरे पक्के फलोंके छिलके प्रायः पृथक् हो जाते हैं' इमलीने उत्तर दिया । 'छिलके न भी अलग हों तो तनिक-सी चोंच लगाते ही वे अलग हो जाते हैं । पक्षी उन्हें सरलतासे खा सकते हैं ।'

'मेरे पके फल भी पृथ्वीपर गिरनेसे फट जाते हैं' बिल्वने कहा । 'उससे पक्षी अपना पेट भर सकते हैं ।'

'दोषोंको अविलम्ब स्वीकार करना महापुरुषोंका काम

है' इमलीने धीरे-धीरे कहा। 'तुम्हारे फल पक्षी सरलतासे खा सकते हैं, इसे तो तुम्हीं कह सकते हो। उस दिन सरल तपस्वीके मस्तकपर तुम्हारा विशाल फल गिरकर उसे चूर्ण जो कर दिया। वह बेचारा छटपटा उठा। सिर पकड़े दूर भी नहीं जा पाया कि तुम्हारा शूल-सदृश तीक्ष्ण कण्टक उसके पदतलमें धँस गया। 'हाय' कर वह वहीं बैठ गया। कितनी महानता है तुम्हारी ?'

'तुम ठीक कहते हो बन्धु !' त्रिपत्रकी सात्त्विक बुद्धि उदित हुई। 'त मैं उतरना ठीक नहीं। इस प्रकार कलहकी सम्भावना रहती है। मुझमें बहुत दोष हैं। मैं अपने दोषोंपर दृष्टि नहीं डाल सका और अभिमानमें भूला हुआ अपने ही मुँह अपनी बड़ाई करता रहा। अभिमानी लोगोंके द्वारा अपनी प्रशंसा करते दूसरोंकी निन्दा और तिरस्कार होता ही है। तुमने बड़ा अनुग्रह किया जो मुझे सचेत कर दिया। मैं तुम्हारा ऋणी हूँ।'

'बिल्व ! तुम धन्य हो।' इमलीपर प्रभाव पड़ा। 'सचमुच मैं दोषी हूँ। मर्माहत कर दिया मैंने तुम्हें अपनी वाणीसे। खट्टेके अतिरिक्त मुझमें और है ही क्या ? तुम्हारे फल मधुर हैं और तुम हो परम पावन ! तुमसे मेरी कोई समता नहीं।'

'बन्धुवर !' बिल्वने प्रेमपुलकित हृदयसे कहा। 'भगवान्‌के राज्यमें बड़े-से-बड़ेको अधिकार नहीं कि वे लघु-से-लघुको बुरा कह सकें। समस्त प्राणी भगवान्‌के हैं। सबपर भगवान्‌की अनवरत कृपावृष्टि हो रही है। गुण-दोषमय तो जड़-चेतन सभी हैं। गुणवान् भी दोषसे मुक्त नहीं और अत्यन्त दोषी दीखनेवालेमें भी गुण विद्यमान रहते हैं। सर्वथा निर्दोष और सर्वगुण-सम्पन्न तो एकमात्र भगवान् ही हैं।'

'प्राणप्रिय बन्धु !' इमलीकी डालियाँ झूम उठीं।

बिल्वके प्रत्येक पत्र हिल-हिलकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने लगे।

एक गौकी नहीं, तीन गौओंकी रक्षा

(लेखक—आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ, सदस्य विधान सभा, उत्तरप्रदेश)

(१)

आजकल जिधर देखो, गोरक्षा-आन्दोलन तथा गोवध-निषेध-आन्दोलनकी चर्चा है। भारतवर्ष-जैसे कृषिप्रधान देशमें गोवंश-रक्षाकी महत्ताको सब समझते हैं। अंगरेजोंके राज्यमें गोवध चरम सीमाको पहुँच चुका था। गोरे लोगोंका गोमांसके बिना गुजारा नहीं होता था और राज्य भी उन्हींका था, फिर कसर क्यों रहती ? मिलिटरी गोरोंके लिये लाखों गौओंका संहार प्रतिवर्ष होता रहता था। गोरे गुरुगण, गोरे अधिकारी तथा गोराशाही फौजीलोगोंके चले जानेके पश्चात् यह गोवंशका संहार तो बहुत-कुछ बंद हो गया।

अब रही मुसल्मानोंकी बात। ये तो धर्मके नामपर गोवध करते ही रहते थे। सदैव नहीं किंतु उनके धार्मिक विशेष अवसरोंपर। इस कार्यमें गोरे अधिकारी इनके सहायक थे। इस विषयमें हिंदू-मुसल्मानोंमें बड़े-बड़े उपद्रव होते रहे किंतु मुसल्मानोंको पृथक् पाकिस्तान मिलनेके पश्चात् इनकी ओरसे धर्मके नामपर विशेष अवसरपर होनेवाली गोवध-प्रथा भी बंद-सी हो गयी। हम 'बंद-सी' शब्दका प्रयोग इसलिये कर रहे हैं कि अब भी बेसमझ मूर्ख अदूरदर्शी मुसल्मान कभी-कभी झगड़ा कर बैठते हैं।

सरकारने डिस्ट्रिक्ट बोर्डों म्युनिसिपिल बोर्डोंको अधिकार दे रक्खा है कि वे चाहें तो अपने यहाँ गोवध बंद करा सकते हैं। बहुतसे बोर्डोंने बंद भी कर दिया है।

भारतवर्षमें इस युगमें सबसे पहले स्वामी दयानन्द ही हुए जिन्होंने अपने समयमें गोरक्षा-आन्दोलन उठाया था। उनकी 'गोकरुणानिधि' पुस्तक इस विषयमें पुष्ट प्रमाण है। उन्होंने राजस्थानके राजा-महाराजाओंकी सहायतासे अंगरेजोंको समझानेका पूर्ण प्रयत्न किया था, पर उनके दिवंगत होनेके कारण वह प्रयत्न अधूरा ही रहा। उनके पीछे आर्यसमाज यदा-कदा मौखिकरूपमें गोरक्षाका प्रचार करता रहा।*

स्वराज्य मिलनेके पश्चात् जनसंघ अथवा राष्ट्रिय स्वयंसेवक-संघने फिर गोवधनिषेधका आन्दोलन उठाया। इन्होंने

---

* इस बीचमें स्वामी श्रीकरपात्रीजीने बड़े जोरोंका आन्दोलन किया था, लाखों तार-पत्र गये थे, बहुत-से लोग जेल भी गये थे। अन्य कई संस्थाएँ भी आन्दोलन करती थीं।

सरकारसे कहा कि गो-वध-निषेधके लिये कोई क़ानून बनायें। इन संघोंकी देखा-देखी आर्यसमाज भी कुछ जाग पड़ा है और हाथ-पैर चलाने लगा है। यह आन्दोलन जनसंघ तथा राष्ट्रसेवक-संघकी ओरसे उठा था इसलिये सरकार इस आन्दोलनको असामयिक, साम्प्रदायिक कहकर टाल रही है। मान भी लिया जाय कि यह आन्दोलन साम्प्रदायिक लोगोंकी ओरसे उठाया गया है इसलिये मानने योग्य नहीं तो यह तर्कशास्त्र असंगत-सा प्रतीत होता है; यह आन्दोलन असामयिक है यह तर्क भी अशुद्ध है। अंगरेजोंके समयमें भारतवासियोंकी आवाजको कोई नहीं सुनता था। अब स्वराज्य हो गया है, अपना ही राज्य है, अपना ही शासकवर्ग है, इसलिये भारतवासियोंके हितका ध्यान रखकर गोवधनिषेधका कानून बन ही जायगा, इसी आशासे यह आन्दोलन उठाया गया प्रतीत होता है। केवल काँग्रेस सरकारको हैरान करनेके लिये, अपने संगठनको सुदृढ़ बनानेके लिये यदि यह आन्दोलन उठाया गया है तो यह हेतु उतना श्लाघ्य न होनेपर भी गोरक्षा होनी चाहिये, गोवध-निषेधका कानून बनना चाहिये, इस विषयमें तो कोई विवादका स्थान होना ही नहीं चाहिये। भारतसरकार अभी इस विषयमें ध्यान नहीं दे रही है। वह यह कहती है कि प्रान्तीय सरकारें चाहें तो अपने यहाँ गोरक्षा तथा गोवधनिषेधका कानून बना सकती हैं अर्थात् सब प्रान्त अपने यहाँ इस प्रकारका कानून बनायेंगी तब भारतसरकार सोचेगी, अथवा फिर सोच-विचारका अवसर ही क्या रहेगा। भारतसरकारको विवश होकर कानून बनानेके लिये बाध्य होना पड़ेगा। संयुक्तप्रान्तीय अथवा उत्तरप्रदेशकी सरकारने गोरक्षा-कमेटी बना दी है। वह सीधा गोवधनिषेधका प्रश्न हाथमें न लेगी। हाँ, यह सोचती रहेगी, उपाय ढूँढ़ती रहेगी कि गोरक्षा किस प्रकार हो।

यदि सरकार कानूनद्वारा प्रत्येक स्थानमें गोचर-भूमिका प्रबन्ध. करेगी तो गोपालन, गोवंशरक्षणका प्रश्न सुलभ हो सकता है। इस विषयमें वन-विभागकी ओरसे भी सुभीते होने चाहिये। नहीं तो, घरमें गौ रखना और भूसे और चारेको मोल लेकर खिलाना शहरी लोगोंके वशका काम नहीं है। केवल वाचिक उपदेशों, तीव्रवाचिक आन्दोलनोंसे भी हल न हो सकेगा, यदि गोरक्षा हो सकती है तो वह सरकारद्वारा ही हो सकती है। सरकार स्वयं ही स्वेच्छासे इस विषयमें अग्रसर हो तो ठीक है, नहीं तो, किसी समय भी जनताद्वारा वह इस कार्यके लिये विवश की जा सकती है।

(२)

कुछ नेता यह कहते हैं कि अब तो भारतवर्षमें गो-वध कहीं नहीं होता। समझमें नहीं आ रहा है कि वे इस बातको किस आधारपर कहते हैं। जबसे पाकिस्तान बना है और भारतमें मुसल्मानोंकी संख्या आधी रह गयी है, तबसे मुसल्मान भी सहसा ऐसा कोई काम नहीं कर रहे हैं अथवा ऐसा काम करनेके लिये उनका हौसला ही नहीं पड़ रहा है यह बात किसी अंशमें सत्य है। किंतु भारतवर्षकी गौओंका मांस अव्याहतरूपमें विलायत जा रहा है, चमड़ेके निर्यातके लिये निर्बाध गौहत्या होती है। इस बातको मान लेनेके लिये सबल प्रमाण हैं।

यदि ऐसा हो रहा है तो यह भी एक चिन्ताका विषय है और समझमें नहीं आ रहा है कि सरकार इसको बंद क्यों नहीं करती।

सरकार भी गोवंशकी रक्षा तो चाहती है किंतु उसके सामने बूढ़ी असहाय गौओं और बैलोंका प्रश्न है कि इनका क्या करें। इनको चारा कहाँसे लाया जाय। पिंजरापोलोंमें कितनी गौओं और बैलोंकी रक्षा हो सकती है? इत्यादि प्रश्न सरकारको भी परेशान कर रहे हैं। इसीलिये गो-सदन बनाने हैं।

असली बात यह है कि एक गौकी नहीं, तीन गौओंकी रक्षा अपरिहार्य है।

१. दूध देनेवाली गौकी रक्षा

भारतवर्षमें जबसे गोधनका ह्रास एवं नाश हुआ है तभीसे भारतीय संतान निर्बल होकर क्षयरोगसे पीडित हो रही है। भारतीय बच्चोंको दुग्ध, घृत नहीं मिल रहा है इसलिये भारतवर्षमें क्षयरोगियोंकी संख्या ५० लाखतक पहुँच गयी है। विलायती बी० सी० जी० के इंजेक्शन लगाकर क्षयरोगकी रोक-थामका प्रयत्न हो रहा है! तथापि जबतक भारतीयोंको दुग्ध, घृत-जैसे पौष्टिक पदार्थ नहीं मिलेंगे तबतक कोरे इंजेक्शनोंसे काम नहीं चलनेवाला है।

दूसरी बात यह है कि हमारे दुर्भाग्यसे कृषि-साधनोंमें विलायती ट्रैक्टर आ रहे हैं। ये महँगे साधन हमारे देशमें नहीं चल सकेंगे, आखिरमें गोवंशद्वारा ही कृषि चलेगी। इसलिये भी गोवंशकी रक्षा आवश्यक है।

२. गौ अर्थात् भारत-भूमिकी रक्षा

भारत-भूमिरूपी गौकी रक्षा न हो तो दूध देनेवाली गौ और कृषि-प्रसाधन बैलोंकी रक्षा कौन करेगा? स्वतन्त्रताके मिल जानेसे, स्वराज्यके आ जानेसे, इस गौकी रक्षा

अवश्य होगी, इसमें तनिक संदेह नहीं । इस गौ और इसकी संतान भारतवासियोंकी रक्षाके लिये हमारा अपना शासकवर्ग सदैव सतर्क रहेगा और प्राणपणसे रक्षा करेगा । पर यदि इस अपने राज्यमें दुग्ध देनेवाली गौ और उसके वंशकी रक्षा न हुई यह स्वराज्य अधूरा ही समझिये । घृत-दुग्धके बिना भारतका मस्तिष्क खोखला हो रहा है । उसका शरीर निर्बल पड़ रहा है !

३. गौ अर्थात् वेदरूपी गौकी रक्षा

पूर्वोक्त गौओंके अतिरिक्त एक और गौ है, वह है वेदरूपी गौ । उसकी रक्षा न हुई तो यह विलायती ढंगका स्वराज्य भी हमारी यथार्थ रक्षा नहीं कर सकेगा । इसी वेदरूपी गौकी रक्षा-दीक्षापर ही हमारा अस्तित्व, हमारी संस्कृति, हमारा धर्म-कर्म, हमारी सभ्यता, हमारी शिक्षा-दीक्षा, हमारा देश, हमारा राष्ट्र, हमारा स्वाभिमान इत्यादि निर्भर हैं ।

सरकार तो अपने-आपको विधर्मी कहती है अर्थात् वह किसी विशिष्ट धर्मको माननेवालोंकी सरकार नहीं है । उससे यह आशा करना कि वह इस वेदरूपी गौकी रक्षा करेगी, दुराशामात्र ही है । वह सरकार जैसे अन्यधर्मियोंकी रक्षा करेगी, वैसे ही वेद माननेवालोंकी भी रक्षा करेगी सही किंतु विशेष ध्यान नहीं दे सकेगी । ऐसी दशामें यह प्रश्न है कि वेदरूपी गौकी रक्षा कौन करेगा ?

इसकी रक्षाके लिये उन तपःपूत ब्राह्मणोंको फिर आगे आना पड़ेगा जिनकी अपार कृपासे अबतक वेद-शास्त्र बचे हैं और उनकी टूटी-फूटी परम्परा चलती आयी है । जिन्होंने केवल निष्कारण धर्म मानकर, केवल कर्तव्य-बुद्धिसे वेदरूपी गौकी रक्षा की । इसलिये दुग्ध देनेवाली माता गौ, भारत-भूमिरूपी गौ तथा वेदरूपी गौ—इन तीनों गौओंकी पूरी-पूरी रक्षा हो, तब भारत सुखी हो सकता है, तभी भारत सच्चे अर्थोंमें ऋद्धि-सिद्धि-समृद्धिवाला हो सकता है ।

कोरा विलायती ढंगका विधि-विधान तथा उसके आश्रयसे चलनेवाला शासनचक्र हमको सुख-शान्ति नहीं दिला सकता ।

विलायती ट्रैक्टर आये और हमारा ध्यान गोवंशसे हटकर यान्त्रिक सुख-सामग्रीकी ओर गया तो भी भारत मरा ही समझिये । यदि वेदरूपी गौकी रक्षा न हो सकेगी तो हमारा अस्तित्व मिटा-सा ही समझिये । यदि हम विलायत-वालोंसे उधार ली हुई प्रजातन्त्र-पद्धतिमें, भारतीय ढंगका परिवर्तन न करके उसके आश्रयसे जीवित रह सकें तो फिर भारतवर्षके जीनेका ही क्या अर्थ है । विद्वान् लोग सोचें । यदि भारतवर्षकी स्वसत्ता और उसकी विशेष विशेषता आध्यात्मिकता ही शेष न रहेगी तो भारतभूमि और श्मशानमें क्या भेद रह जायगा ?

सर्वसमर्पण

(रचयिता—पु० श्रीप्रतापनारायणजी)

(लावनी)

मैं करनेवाला कैसे हूँ तू ही सब कुछ करता है ।
तू में भी तो तू ही तू है मैं में तू ही रहता है ॥१टेर॥

ओरे कर्त्ता भर्त्ता हर्त्ता मुझको यह तो बतला दे—
यह संसार तुझे तो अच्छा मुझे बुरा क्यों कहता है ॥२॥
तेरी राजीमें मैं राजी मेरी राजी और नहीं ।
कटा हुआ यह कनखा तेरी खुली हवामें डुलता है ॥३॥
मस्त ध्यानमें तेरे ही हूँ अपना कुछ भी ध्यान नहीं ।
यह मतवाला तो बस तेरी मस्तीमें ही बहता है ॥४॥
कठपुतलीने कहा— 'खेल मैं करती हूँ न दिखाती हूँ—
मेरा खेल दिखानेवाला छिपा अनछिपा रहता है' ॥५॥
ओरे सब कुछ देनेवाले देख बड़प्पन तू अपना—
मुझ-जैसा भी तेरे सम्मुख नहीं हाथ अब करता है ॥६॥
तू मुझको यों ही रहने दे और दया अब मत करना ।
तेरा असली रूप मुझे तो इसी हालमें दिखता है ॥७॥

कामके पत्र

(१)

धोखेसे बचिये

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आप साधुके वेषमें हैं, भगवान्‌की चर्चा करते हैं, इसलिये श्रद्धालु जनता आपमें श्रद्धा-भक्ति करे, उसके लिये तो यह उचित ही है । साधु-महात्माओंका सम्मान-सत्कार, उनका सेवन-पूजन महान् लाभदायक है । परंतु आपको दूसरी दृष्टिसे विचार करना चाहिये । आपको जो सैकड़ों-हजारों नर-नारियोंके द्वारा मान-सम्मान, सेवा-पूजा, श्रद्धा-भक्ति प्राप्त हो रही है । आप वस्तुतः उसके अधिकारी हैं या नहीं । जिस महापुरुषत्व या महात्मापनकी भावनासे लोग ऐसा कर रहे हैं, वह महापुरुषत्व या महात्मापन यथार्थमें आपको प्राप्त है या नहीं ? कहीं आप उन सरलहृदय श्रद्धालु नर-नारियोंकी सरलता, साधुता और अकृत्रिम श्रद्धाका अनुचित लाभ तो नहीं उठा रहे हैं । किसीके भी द्वारा अपनी सेवा-पूजा, श्रद्धा-भक्ति करानेका अधिकार तो महापुरुषको भी नहीं समझना चाहिये । सेवा-पूजा, श्रद्धा-भक्ति, मान-सम्मान करनेकी चीज है, करानेकी नहीं । फिर, जो बनावटी महात्मा सजकर ऐसा कराता है, वह तो अपने पतनका पथ ही प्रशस्त करता है ।

यदि मनुष्य ऐसी स्थितिमें गहराईसे विचार करे, अपने जीवनके अबतकके कर्मोंका स्मरण करके देखे तो अधिकांशमें ऐसा पाया जाता है, कि जिन श्रद्धाके धनी सरल-प्राण नर-नारियोंसे वह सेवा-पूजा करवाता है, जिनसे अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होता है, वे नर-नारी उससे कहीं अच्छे हैं, उनके जीवनमें सचमुच उच्चता और यथार्थता है । वहाँ न कृत्रिमता है न अपनेको बड़ा बतानेकी दूषित वृत्ति !

अपने मनमें घुसकर देखना चाहिये कि धन-मान, सुख-आराम, भोग-विलास, यश-कीर्तिकी कितनी और कैसी प्रबल इच्छा मनमें है, इनके लिये कैसे मन ललचाता रहता है और इनके मिलनेपर कितना हर्ष और न मिलनेपर या नष्ट हो जानेपर कितना विषाद होता है । ऐसी स्थितिमें, दूसरे यदि कोई आपको निर्विकार, समदृष्टि, निष्काम महापुरुष बतलाते हैं और आप उसे स्वीकारकर उसका किसी प्रकार भी अनुमोदन करते हैं, तो बताइये यह उनको तथा अपनेको भी धोखा देना है या नहीं । इस धोखेसे बचिये ।

आपके पत्रकी अन्यान्य बातोंसे कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है । अतएव निवेदन यह है कि आप अपनेको देखिये, अच्छी तरहसे देखिये । यदि सचमुच आपके बाहरी (नकली) और भीतरी (असली) रूपमें अन्तर हो और आपने झूठ-मूठ ही नकली रूपको असली बताये जानेपर उसे स्वीकार कर लिया हो तो इस धोखेसे शीघ्र बचिये । अपने असली (भीतरी) रूपको ही अपना रूप मानकर उसके सुधारमें लग जाइये । लोगोंसे स्पष्ट कह दीजिये कि 'मैं ऐसा हूँ ।' इसपर भी वे श्रद्धासे न मानें तो ऐसे जनसमूहको छोड़कर जहाँ आपको कोई न जानता हो, वहाँ चले जाइये और उपदेशादि देना छोड़कर नकली महात्मापनका चोगा उतार फेंकिये । महात्मापनका चोगा उतर जानेपर तो, अभी आप जहाँ रहते हैं, वहाँ भी कुछ दिनोंमें मान-सम्मान घट जायगा । तथापि अलग जाकर अपने सुधारके कार्यमें शीघ्र लग जाना और भी उत्तम है । भगवान्‌का भजन कीजिये । आर्त होकर उनको पुकारिये । उनके सामने अपने जीवनको बिना किसी छिपाव-दुरावके खोलकर रख दीजिये और बिना किसी शर्तके उनके चरणोंपर अपनेको डाल दीजिये । वे परम दयालु आपको अपनाकर वास्तविक महात्मा बना लेंगे । शेष भगवत्कृपा ।

(२)

भगवान्‌की सब लीलाओंका अनुकरण नहीं हो सकता

प्रिय महोदय। सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। भगवान्‌की अवतार-लीलाओंके सम्बन्धमें कुछ भी संदेह न करके ऐसा मानना चाहिये कि वे भगवान् हैं, सर्वसमर्थ हैं, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं, चाहे जैसे, चाहे जो, चाहे जब कर सकते हैं, उनके लिये सभी कुछ ठीक है। पर हमें अनुकरण उन्हीं बातोंका करना चाहिये, जिनके लिये उनका तथा उनकी ही वाणीरूप शास्त्रोंका आदेश हो। और सच बात तो यह है कि भगवान्‌की सारी लीलाओंका अनुकरण किया भी नहीं जा सकता।

भगवान्‌की लीलाएँ प्रधानतया तीन प्रकारकी होती हैं—१. लोकसंग्रह या लोकशिक्षाके लिये की जानेवाली आदर्श लीला, २. अद्भुत, असम्भव जान पड़नेवाली ऐश्वर्यमयी लीला और ३. अन्तरङ्ग प्रेमी भक्तोंके साथ की जानेवाली प्रेममयी लीला।

(१) माता-पिताकी भक्ति, गुरुकी भक्ति, ब्राह्मण-भक्ति, सदाचार, देवपूजन, दीनरक्षण, इन्द्रियनिग्रह, ध्यान-पूजन, सत्यव्यवहार, निष्कामभाव, अनासक्ति, समत्व, नित्य आनन्दमें स्थिति आदि यथायोग्य अनुकरण करने योग्य आदर्श लीलाएँ हैं। इनका अनुकरण अपने-अपने अधिकारके अनुसार किया जा सकता है और करना ही चाहिये। भगवान्‌का आदेश भी है ऐसा करनेके लिये।

(२) अग्नि पीना, वरुणलोकमें जाना, अँगुलीपर सात दिनोंतक पर्वत उठाये रखना, कई प्रकारसे अपने विराट्-रूपके दर्शन कराना, अघासुर-शिशुपाल आदिके मरनेपर उनकी आत्मज्योतिको अपनेमें विलीन कर लेना, हजारों-लाखों मनुष्योंके साथ विभिन्न भावोंसे एक ही साथ मिलना, हजारों रानियोंके महलोंमें एक साथ रहना, दो जगह एक ही साथ एक ही समय आतिथ्य स्वीकार करना, सूर्यको ढक देना, असंख्य गोवत्स, गोपबालक तथा उनकी प्रत्येक वस्तुके रूपमें स्वयं बन जाना; ब्रह्माजीको सबमें भगवत्स्वरूपके तथा महान् ऐश्वर्यके दर्शन कराना, अक्रूरको जलमें दर्शन कराना, मारकर असुरोंका उद्धार करना आदि ऐश्वर्यमयी लीलाएँ हैं। इनका अनुकरण साधारण मनुष्यके द्वारा सर्वथा असम्भव है।

(३) गोपियोंके घरोंसे माखन चुराकर खाना, चीरहरण, रासलीला और निकुञ्जलीला आदि अन्तरङ्ग मधुर प्रेम-लीला हैं, जो भगवान् अपने आत्मस्वरूप पार्षदोंके तथा प्रेमियोंके साथ अनर्गल-अमर्यादरूपमें श्रुति-सेतुका भङ्ग करके अपने-आपमें ही किया करते हैं—

'रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।

'रमानाथ भगवान्‌ने व्रजसुन्दरियोंके साथ वैसे ही खेल किया, जैसे बालक अपनी छायाके साथ करता है।' इन मधुर लीलाओंका अनुकरण कदापि नहीं करना चाहिये। जो मूढ़ इनका अनुकरण करने जाता है, वह शास्त्र और धर्मसे पतित होकर घोर नरकका अधिकारी होता है।

असलमें इन तीनों प्रकारकी लीलाओंमें केवल पहली लीला ही अनुकरणके योग्य होती है। पिछली दोनों लीलाएँ तो श्रवण, कीर्तन, मनन और ध्यान करके भगवान्‌के प्रति भक्ति तथा प्रेम प्राप्त करनेके लिये हैं। शुद्ध मनसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌की ऐश्वर्य और माधुर्यसे भरी लीलाओंका चिन्तन करना चाहिये और आदर्श लोकशिक्षामयी लीलाओंको अपने जीवनमें उतारना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(३)

प्रायश्चित्त

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि पापका वास्तविक प्रायश्चित्त है—घोर पश्चात्ताप और पुनः वैसा पाप न करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा। ऐसा होकर जो पाप-नाशके लिये

110318

भगवान्‌से प्रार्थना करता है, उसके पापोंका नाश हो सकता है। आपके मित्रने तो घोर पाप किया है। हमारे देशका महान् दुर्भाग्य है जो नवयुवकोंकी इस प्रकारके पापोंमें प्रवृत्ति हो रही है। उन्हें भी सच्चे पश्चात्ताप, पुनः पाप न करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञाके साथ ही भगवान्‌से कातर प्रार्थना करनी चाहिये एवं भगवान्‌के किसी नामका कम-से-कम दस लाख जप करना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(४)

साध्वी धर्मपत्नीके साथ दुर्व्यवहार करना बड़ा अशुभ है

प्रिय बहिन ! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने अपने पतिके दुराचार, दुर्व्यवहार तथा अपने दुःख और जीवनके भारस्वरूप होनेकी बात लिखी सो वास्तवमें बड़ी ही दुःखजनक है। वे अपने दुराचारका दोष आपके मत्थे मढ़ते हैं, सो यह उनकी जबरदस्ती है। आपके बार-बार रोकने तथा उनके अनुकूल यथासाध्य रहनेपर भी वे पापमें प्रवृत्त होते हैं तो इसका सारा दोष उन्हींपर है। आपको इस मिथ्या पापके भयसे काँपनेकी आवश्यकता नहीं है। आप चुप रह जाती हैं सो तो अच्छी बात है ही, पर नम्रतासे समझाना भी बुरी बात नहीं है। मेरी समझसे तो उनको सुधारनेके अमोघ उपाय हैं—(१) उनकी सच्चे मनसे सेवा करना, (२) भगवान्‌का भजन करना और (३) उनके सुधारके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करना। आपकी तपस्या और प्रार्थनासे ही उनका सुधार सम्भव है। आपको उनकी ओर न देखकर अपने स्वरूपकी ओर देखना चाहिये।

पुरुषोंके सम्बन्धमें क्या कहा जाय। वे जो साध्वी धर्मपत्नीको दुःख देकर पापाचरणमें प्रवृत्त होते हैं, यह उनके भविष्यके लिये बड़ा ही अशुभ लक्षण है। उन्हें सावधान होकर शीघ्र अपना सुधार करना चाहिये। नहीं तो, वे तो नरकोंके भागी होंगे ही। समाजसे सदाचारका नाश हो जायगा। इस बीसवीं सदीके उच्छृङ्खलतापूर्ण युगमें स्त्रियाँ पातिव्रत्यके नामपर कबतक पुरुषोंके अत्याचारका सहन करेंगी। शेष भगवत्कृपा।

(५)

ईश्वर-विश्वास

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपको ईश्वरपर पूर्ण विश्वास है और ईश्वरपर विश्वास रखते हुए ही आप दैनिक कार्यक्रम बनाते हैं सो यह तो बहुत ही उत्तम है। जिनको ईश्वरमें पूर्ण विश्वास है, उनको भला मैं क्या लिखूँ। मेरा तो आपसे यही निवेदन है कि आप इस 'पूर्ण' विश्वासको 'पूर्णतर' बनाइये, जिससे अशान्ति और चिन्ताके लिये अवकाश ही न रहे। अशान्ति और चिन्ता इसीलिये होती हैं कि हम अपने मनकी कुछ चाहते हैं और सर्वज्ञ प्रभु हमारे हितके लिये उसकी पूर्ति नहीं करते। यदि हम अपनी चाह प्रभुकी मङ्गलमयी चाहमें मिला दें और प्रभुके प्रत्येक मङ्गलविधानमें अपना यथार्थ मङ्गल देखें तो फिर चिन्ता और अशान्ति रहेगी ही नहीं। अशान्तिनाश और शान्तिकी प्राप्तिका बड़ा सहज उपाय भगवान्‌ने स्वयं बतलाया है—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।
(गीता ५ । २९)

'भगवान्‌को सब प्राणियोंका सुहृद् (अकारण भला करनेवाला) समझते ही शान्ति मिल जाती है।' भगवान् हमारे सुहृद् हैं और भगवान् सर्वज्ञ होनेके नाते यह भी जानते ही हैं कि हमारा भला किस बातमें है। फिर वे जो कुछ करेंगे, सब सहज ही हमारे भलेके लिये ही करेंगे। बस, ऐसा विश्वास होते ही शान्ति मिल जायगी।

अब रही—मनके अनुकूल कार्य होने और अशान्त वातावरणका सामना न करना पड़े—इसकी बात, सो भगवान्‌में पूर्ण विश्वास होनेपर प्रतिकूल अशान्त वाता-

वरणका अनुकूल शान्त वातावरणमें परिणत हो जाना भी कोई बड़ी बात नहीं है; (यद्यपि ऐसी चाह है तो अबोधमयी ही, और ऐसी चाहमें पूर्ण विश्वासकी भी कमी है; इसीलिये तो हम भगवान्के मनकी होनेमें संतुष्ट न होकर अपने मनकी चाहते हैं । तथापि) परम शान्तस्वरूप नित्यानन्दमय प्रभुका विश्वास शान्तिका वातावरण भी कर ही देता है । आप अपने विश्वासमें और भी प्रगाढ़ता लाइये । आपका हृदय पिघलकर प्रभुकी ओर ध्यान लगा लेता है सो तो बहुत ही उत्तम है । पर अपनेको भगवान्में पूर्ण विश्वासी मानकर भी आपका यह प्रश्न समझमें नहीं आया कि 'क्या मैं आशा करूँ कि मुझे सफलता होगी।' भगवान्में विश्वास और जीवनकी सच्ची सफलता——दोनोंका एक ही अर्थ समझना चाहिये ।

गीताप्रेससे प्रकाशित छोटी-सी पुस्तिका 'भगवान्पर विश्वास' पढ़िये । शेष भगवत्कृपा ।

बाल-कल्याण

[ज्ञान-विज्ञान]

अनन्त सृष्टिपर एक दृष्टि

(लेखक——श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

पिता—बेटा गोविन्द ! ऊपर आकाशकी ओर देखो । इस स्वच्छ अँधेरी रातमें यह कैसा खिल रहा है । तारोंसे भरा यह सारा नभोमण्डल ऐसा जगमगा रहा है मानो किसी काली मखमलपर खूब घनी कामदानी बूटियाँ काढ़ दी गयी हों अथवा हीरे-मोतीका अपार भंडार छितरा दिया गया हो ।

गोविन्द—पिताजी ! ये तारे हैं क्या ?

पिता—जो प्रश्न तुम इस समय मुझसे कर रहे हो, वही प्रश्न मनुष्यके मनमें आदिकालसे उठ रहा है । परंतु आरम्भमें मनुष्य समझता था कि सारी सृष्टिका केन्द्रस्थल हमारी यह पृथ्वी ही है और ईश्वरकी बाकी सब रचना केवल इसीके हेतु की गयी है । ऊपरकी सारी सजावटको वह स्वर्गलोक मानता था, जहाँ पुण्यात्माओंको मरनेके बाद स्थान दिया जाता है और जहाँ हूर और परियोंका सदा नाच हुआ करता है, तथा नीचेको वह नरक-लोक समझता था, जहाँ पापियोंको यमयातना सहनी पड़ती है । धीरे-धीरे जब ज्ञानकी आँखें खुलीं और बुद्धि फैलने लगी, तब पता चला कि यह सारा सृष्टि-मण्डल, जिसे हम पहले पृथ्वीके ही आस-पासतक सीमित समझते थे, वास्तवमें इतना बड़ा और विस्तृत है कि उसके विस्तारकी हम कल्पना ही नहीं कर पाते ! और ऊपरकी ओर जो हमें ये अनगिनती चमचमाते तारे दीखते हैं, वे स्वर्गकी महिफिलमें टँगे हुए हीरे-मोतीके झालर नहीं, बल्कि एक-एक स्वतन्त्र ब्रह्माण्ड हैं, जिनकी विशालताके आगे हमारी यह पृथ्वी ऐसी नन्ही और अकिञ्चन जान पड़ती है जैसे बड़े-बड़े रेगिस्तानोंके बीच बालूका एक सूक्ष्म कण । इन तारोंकी वैज्ञानिक खोज सबसे पहले करीब चार-पाँच हजार वर्ष पूर्व मिश्र, बेबीलन, चीन तथा हमारे इस भारतवर्षमें की गयी थी । यहींके विद्वानोंने, जिन्हें हम ज्योतिषी कहते हैं, रात-रातभर जागकर पहले-पहल इन तारोंका अध्ययन किया । उस समय आजकलकी तरह बड़ी-बड़ी दूरबीनें न थीं, केवल आँखोंका ही सहारा था । लेकिन फिर भी इन विद्वानोंने आकाशमें इन तारोंके सम्बन्धमें बड़ी गहराईके साथ छान-बीन की और अनेक बहुमूल्य बातोंका पता लगाया । ग्रह और नक्षत्रोंका भेद भी पहले-पहल इन्होंने ही मालूम किया था और पृथ्वीके साथ उनका सम्बन्ध तथा उनकी अलग-

अलग चालोंका अध्ययन भी बड़ी ही बारीकीके साथ किया ।

गोविन्द—ग्रह और नक्षत्रोंमें कैसा भेद है ?

पिता—इन तारोंको यदि तुम ध्यानसे देखो तो इनकी चमक दो प्रकारकी दिखायी देगी । अधिकतर तारे तो हल्की चमकसे लुप-लुप करते हुए जान पड़ते हैं, किंतु कुछ थोड़े-से ऐसे भी हैं, जिनमें चमक तो तेज है परंतु यह चमक शान्त और स्थिर-सी मालूम होती है । जो तारे लुप-लुप करके चमकते हैं, वे ही नक्षत्र कहलाते हैं और जिनकी चमक शान्त तथा स्थिर है वे ग्रह हैं । इनमेंसे पहले हम तुम्हें नक्षत्रोंका थोड़ा हाल बतलायेंगे, कारण कि सारा आकाशमण्डल प्रायः इन्हींसे भरा है । बादमें ग्रहोंकी चर्चा करेंगे ।

गोविन्द—अच्छा तो नक्षत्र क्या हैं ?

पिता—नक्षत्र वास्तवमें प्रचण्डरूपसे जलते हुए अग्निके विशाल पिण्ड हैं । इनकी आँच इतनी ज्यादा तेज है कि सृष्टिकी कोई भी वस्तु उनमें केवल सूक्ष्म और जलते हुए भापके ही रूपमें रह सकती है । आगकी भयंकर आँधियाँ और ज्वालाओंके भीषण तूफान उनमें हरदम चला करते हैं । हमारा सूर्य भी इन्हींकी जातिका, परंतु एक मामूली श्रेणीका नक्षत्र है । किंतु फिर भी वह इतना बड़ा है कि कम-से-कम दस लाख पृथ्वी उसके पेटमें आसानीसे रक्खी जा सकती हैं ।* लेकिन और दूसरे नक्षत्रोंके मुकाबिलेमें वह छोटा ही प्रतीत होता है ।

गोविन्द—तो फिर यह और नक्षत्रोंसे हमें इतना बड़ा और तेज क्यों दिखायी देता है ?

पिता—इसका कारण यह है कि और नक्षत्रोंकी अपेक्षा सूर्यकी दूरी यहाँसे बहुत कम है । इसकी दूरी यहाँसे नौ करोड़ और तीस लाख मील बतलायी जाती है । इस दूरीसे वह हमें अन्य नक्षत्रोंकी अपेक्षा केवल बड़ा-सा ही नहीं दिखायी देता बल्कि प्रकाश और गरमी भी इतनी अधिक देता है कि आकाशमें उसके उदय होते ही यहाँ दिन हो जाता है और कुछ पास आते ही मौसम गरम हो जाता है और हम बेचैनी मालूम करने लगते हैं ।

गोविन्द—अच्छा तो फिर और सब नक्षत्र यहाँसे कितनी दूर हैं ।

पिता—ओह ! इन नक्षत्रोंकी दूरीको तो ध्यानमें लाना भी मानव-मस्तिष्कके लिये सम्भव नहीं । ये हमसे इतनी दूर हैं कि उसे सोचते ही दिमाग चक्कर खाने लगता है । वास्तवमें इन नक्षत्रोंकी दूरी मीलोंमें नहीं, प्रकाश-वर्षोंमें लायी जाती है ।

गोविन्द—प्रकाश-वर्ष क्या चीज है ? उससे दूरी कैसे नापी जाती है ?

पिता—देखो, हमें कोई वस्तु उस समय दिखायी पड़ती है जब प्रकाशकी किरणें उसके पाससे आ-आकर हमारे नेत्रोंतक पहुँचती हैं और उसका स्वरूप हमारी आँखोंमें चित्रित कर देती हैं । प्रकाशकी ये किरणें सदा १,८६,००० मील प्रति सेकंडकी चालसे दौड़ा करती हैं अर्थात् यदि यहाँसे १,८६,००० मील दूरपर कोई रोशनी की जाय, तो उसे यहाँतक पहुँचनेमें एक सेकंडका समय लगेगा और वह हमें यहाँ एक सेकंडके बाद दिखायी पड़ेगी । उदाहरणार्थ सूर्य यहाँसे ९,३०,००००० मील दूर है । अतएव उसके प्रकाशको यहाँतक पहुँचनेमें आठ मिनट बीस सेकंडका समय लगता है, अर्थात् उदय होनेके लगभग सवा आठ मिनट बाद वह हमें दिखायी देता है । इस हिसाबसे यदि

---

* सूर्यका व्यास ८६५००० मील स्थिर किया गया है और पृथ्वीका व्यास केवल ८००० मील है । परंतु सूर्यमें बेहद गरमीके कारण उसका वजन उतना अधिक नहीं है, कारण कि उसमें सम्पूर्ण तत्त्व केवल भापके रूपमें है और इसलिये घनत्व बहुत कम है । सूर्यका ताप-मान कम-से-कम १०००० डिग्री फेरनहाइट कहा जाता है ।

कोई तारा उदय होनेके एक घंटे बाद हमें दिखायी दे तो उसकी दूरी यहाँसे करीब ६७ करोड़ मील समझी जायगी । और यदि वह उदय होनेसे हमें एक वर्ष बाद दिखायी देता है, तो फिर उसकी दूरी यहाँसे ५८ खर्व ६६ अर्व (५८,६६००००००००००) मील होगी । बस, इसी दूरीको एक प्रकाश-वर्ष कहते हैं, और यही प्रकाश-वर्ष इन नक्षत्रोंकी दूरी नापनेमें ज्योतिषियोंके लिये इकाई या गजका काम देता है । अब पृथ्वीके जो सबसे पासवाला नक्षत्र है उसकी भी दूरी कम-से-कम चार प्रकाश-वर्ष नापी गयी है, और अधिकांश नक्षत्र तो ऐसे हैं जिनकी दूरी यहाँसे लाखों अथवा करोड़ों प्रकाश-वर्ष कही जाती है । अर्थात् यदि वे आज आकाशमें बुझ जायँ, तो फिर उसकी खबर यहाँ लाखों अथवा करोड़ों वर्ष बाद पहुँचेगी । अस्तु, अपनी इसी असीम दूरीके कारण ये नक्षत्र हमारे सूर्यसे कहीं ज्यादा बड़े होते हुए भी हमें केवल नन्ही-नन्ही चिनगारीकी तरह दिखायी देते हैं । हमारी पृथ्वीसे तो ये इतने बड़े हैं कि इनके पेटमें यदि करोड़ों पृथ्वी रख दी जायँ तो भी वहाँ पर्याप्त स्थान खाली पड़ा रहे ।

गोविन्द—आकाशमें ये कुल मिलाकर कितने नक्षत्र होंगे ? क्या कभी इनकी गिनती की गयी है ?

पिता—गिनती करनेके प्रयत्न तो अनेक बार हुए, किंतु कभी निर्विवादरूपसे सफल और विश्वसनीय नहीं उतरे । वास्तवमें जैसे सिरके बालोंकी अथवा समुद्र-तटके रेतोंकी गिनती नहीं हो सकती, उसी प्रकारसे आकाशके इन तारोंकी भी ठीक-ठीक गिनती नहीं की जा सकती । फिर भी अनेक विद्वानोंकी राय है कि इस समय संसारकी सबसे बड़ी दूरबीनके द्वारा आकाशभरमें जितने नक्षत्र देखे जा सके हैं उनकी कुल संख्या तीस खर्ब और चालीस खर्बके बीचमें ही होगी । और बिना किसी दूरबीनके केवल साधारण नेत्रोंके द्वारा जितने नक्षत्र दिखायी पड़ते हैं, उनकी संख्या छः हजारसे अधिक नहीं । परंतु ये सब तारे आकाशभरमें बराबरसे नहीं फैले हैं । कहीं ये खूब घने हैं तो कहीं बिल्कुल बिथरे हुए । कहीं एकान्तसेवी साधुओंकी तरह ये एक-दूसरेसे बिल्कुल अलग दिखायी देते हैं, तो कहीं अनेक नक्षत्रोंकी छोटी-छोटी अथवा बड़ी-बड़ी मण्डलियाँ बनाकर एक साथ ही रहते और पारिवारिक जीवन-सा व्यतीत करते जान पड़ते हैं । उदाहरणार्थ ध्रुवतारा तो बिल्कुल अकेला सदैव उत्तर दिशामें रहा करता है और कभी अपना स्थान नहीं बदलता और जो तारे मण्डली बनाकर रहते और घूमा करते हैं उनकी संख्या ८९ है, जिनमेंसे कुछ सप्तर्षि-मण्डल, मृगशिरा, वृश्चिक आदिके नामसे प्रसिद्ध हैं । इनके अतिरिक्त आकाशमें जो उत्तरकी ओर किसी स्वच्छ अँधेरी रातमें एक सफेद धुँधली सड़क-सी बनी दिखायी देती है और एक सिरेसे दूसरे सिरेतक दौड़ती हुई जान पड़ती है । तथा आकाश-गङ्गाके नामसे प्रसिद्ध है, वह भी और कुछ नहीं, केवल अगणित नक्षत्रोंकी एक भारी भीड़ ही है । इसकी चौड़ाई २० इंच बतलायी जाती है । इसमेंके तमाम नक्षत्र बड़ी भयंकर चालसे हर समय और हर-घड़ी आकाश-मार्गमें अपनी तूफानी दौड़ लगाते रहते हैं ।

गोविन्द—तब तो इनमें आपसमें खूब टक्करें भी होती होंगी ?

पिता—इसकी सम्भावना बहुत कम रहती है, कारण कि यद्यपि ये हमें यहाँसे एक-दूसरेसे सटे हुए दिखायी पड़ते हैं, किंतु फिर भी इनके बीच इतना अधिक शून्य स्थान छुटा रहता है कि उसे अनेकों प्रकाश-वर्षकी दूरी कही जा सकती है । तुमसे अभी बतला ही चुके हैं कि हमारे यहाँसे ये नक्षत्र कितनी दूर हैं । बस, इसी तरहकी दूरी इनकी आपसमें भी समझनी चाहिये । बात यह है कि आकाशके भीतर असीम शून्य स्थान पड़ा हुआ है, जहाँ ये सब नक्षत्र

एक-दूसरेसे पर्याप्त दूरीपर रहकर भी स्वतन्त्रतापूर्वक दौड़-धूप लगा सकते हैं। हाँ, कभी-कभी करोड़ों वर्षोंमें एकाध बार ऐसी परिस्थिति भी पैदा हो जाती है, जब दो नक्षत्र एक-दूसरेके बहुत पास आ जाते हैं। उस समय निःसंदेह बड़ा भयंकर काण्ड उपस्थित हो जाता है। ज्योतिषियोंका तो कहना है कि किसी जमानेमें हमारे सूर्यके साथ एक बार ऐसी ही घटना घट भी चुकी है। उस समय कहींसे कोई बहुत बड़ा और शक्तिशाली नक्षत्र हमारे सूर्यके कुछ अधिक पास आ पड़ा था, जिसके परिणामस्वरूप सूर्यके भीतर एक तुमुल काण्ड पैदा हो गया। जिस प्रकार हमारे यहाँ समुद्रमें सूर्य और चन्द्रमाके आकर्षणसे ज्वारका संघर्षण आया करता है और उसमें ऊँची-ऊँची लहरोंके पहाड़-से उठ-उठकर टकराने लगते हैं, उसी प्रकार, किंतु उससे करोड़ों गुणा भारी ज्वार, उस नक्षत्रके जबर्दस्त आकर्षणके कारण हमारे सूर्यके अग्नि-समुद्रमें भी आ गया। उस समय उसमें जो भीषण अग्नि-तरंगोंके विराट् पर्वत ऊपरकी ओर उठे होंगे, उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उठते-उठते ये अग्नि-तरंगें इतनी ऊँची हो गयीं कि उनके कितने ही खण्ड टूट-टूटकर अलग हो गये और शून्य आकाशकी गोदमें जा पड़े। किंतु इसी बीच वह अज्ञात नक्षत्र दूसरी ओरको घूम गया और फिर महाशून्यके पार चला गया, जिससे उसका आकर्षण कम हो गया और फिर बिल्कुल ही जाता रहा। अतएव सूर्यके ये टूटे हुए अङ्ग उस नक्षत्रकी ओर अधिक दूर न जा सके, बल्कि सूर्यके आकर्षणसे फिर खिंचकर जहाँ थे वहीं टिक गये और अपने जनक सूर्यके चारों ओर घूम-घूमकर चक्कर लगाने लगे। तबसे ये उसी प्रकार आजतक बराबर चक्कर लगा रहे हैं। इन्हें अब आकाशमें हम अलग-अलग चमकदार तारोंके रूपमें देखते हैं, और यही वे ग्रह तारे हैं जिनका जिक्र हम आरम्भमें कर चुके हैं।

गोविन्द—अच्छा तो क्या ग्रह-जातिके सब तारे सूर्यके ही टूटे हुए अङ्ग हैं?

पिता—हाँ, परंतु जिस प्रकार एक भट्ठीमेंसे कुछ अंगारे अलग निकालकर छितरा दिये जायँ, तो वे शीघ्र ही बुझ जायँगे, उसी प्रकार इन ग्रहोंके ऊपरकी आग भी अब बिल्कुल बुझ गयी है, यद्यपि इनमेंसे कितनोंके पेटमें अब भी काफी गरमी भरी है। अब इनमें अपनी कोई चमक नहीं रह गयी है। अब ये केवल सूर्यके ही प्रकाशसे चमका करते हैं और उसीके चारों ओर फेरी दिया करते हैं, इसीसे इन सब ग्रहोंको इनके जनक सूर्यके साथ मिलाकर 'सौर-परिवार' का नाम दिया गया है। इस सौर-परिवारमें कुल नौ ग्रह हैं जिनका इस समय-तक ज्योतिषियोंको पता लग चुका है।

गोविन्द—कौन-कौनसे हैं ये?

पिता—इनके नाम हैं—बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि, यूरेनस, नेप्च्यून तथा प्लूटो। इनमेंसे प्रत्येक ग्रह अपने बादमें कहे हुए ग्रहोंकी अपेक्षा सूर्यके अधिक निकट हैं। उदाहरणार्थ बुध सूर्यके सबसे अधिक निकट हैं और यही ग्रह सबसे छोटा भी है। इसका व्यास केवल ३१०० मीलका है और सूर्यसे इसकी दूरी केवल ३,५९,५०,००० मील है। इसकी चमक इसीसे सब ग्रहोंकी अपेक्षा धीमी है। उसके बाद शुक्र है, जो बुधकी अपेक्षा सूर्यसे दुगुनी दूरी (६,७००००० मील) पर है। आकाश-भरमें यह ग्रह सबसे ज्यादा चमकीला और सुन्दर जान पड़ता है। इसका व्यास ७७०० मील है। इसके बाद फिर हमारी पृथ्वीका नम्बर आता है।

(शेष आगे)

110316

जगद्गुरु शङ्कराचार्य अनन्तश्री स्वामीजी श्रीब्रह्मानन्दजी महाराज

विगत शुद्ध वैशाख शुक्ल ७ को कलकत्तेमें अनन्त श्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराजने नश्वर देहका परित्याग कर दिया । आप परम ज्ञानमूर्ति थे । सनातन वैदिक धर्मके एक महान् स्तम्भ थे । आपके स्वभावमें सरलता, गम्भीरता, मृदुता, शान्ति, दया, उदारता, क्षमा, वत्सलता, निःस्पृहता, स्पष्टवादिता आदि महान् गुणोंका अद्भुत समावेश था । अवश्य ही किसी महापुरुषके शरीर-त्यागके लिये शोक करना अनुचित है; क्योंकि महापुरुष शरीर और नामसे ऊपर उठे हुए होते हैं । परंतु उनके शरीरके वर्तमान रहनेसे जनताको जो एक महान् प्रकाश तथा अवलम्ब प्राप्त होता है, शरीर छोड़ देनेपर उसका अभाव हो जाता है । यह एक महान् हानि होती है और इस हानिके लिये दुःख होना स्वाभाविक ही है । आपने इधर युक्तप्रान्तमें खास करके लखनऊ, कानपुर, प्रयाग, काशी आदिमें और कलकत्तेमें जो ज्ञान-गङ्गाका पवित्र प्रवाह बहाया था, वह इस युगमें एक आश्चर्यजनक कार्य था । बहुत बड़े संस्कृतके पण्डित तथा अंग्रेजीके विद्वान् पुरुष, अधिकारीवर्ग—सभीपर आपके प्रवचनोंका अद्भुत प्रभाव पड़ता था । आपकी प्रतिभासे, प्रवचनसे और आपकी तेजोमयी मूर्तिके दर्शनसे राजा, रंक, विद्वान्, मूर्ख, आस्तिक, नास्तिक सभी विलक्षणरूपसे प्रभावित होकर नतमस्तक होने और उपदेश ग्रहण करनेको बाध्य होते थे । ऐसे प्रभावशाली पुण्य-पुरुषका न रहना देशके लिये खास करके सनातन-धर्मके लिये बड़ा ही हानिकर है, इस हानिकी पूर्ति सहजमें नहीं हो सकती ।

यहाँ हम आपके कुछ उपदेश उद्धृत करके उनके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हैं—

मनको संसारमें लगाओ; परंतु इतना ही लगाओ कि जिससे परमार्थ न बिगड़े । मनको संसारमें लगाया और कहीं अधिक लगा दिया तो फिर रोजगार घाटेका हो जायगा ।

जैसा लिफाफा हो वैसा ही गोंद लगाना चाहिये । किसी छोटे लिफाफेमें ज्यादा गोंद लगा दिया जाय तो लिफाफा भी गंदा हो जायगा और गोंद तो व्यर्थ जायगा ही ।

मन तो गोंदके समान है, जहाँ लगाओ चिपक जाता है । व्यवहारमें मनको विचारपूर्वक ही लगाना चाहिये । किस स्थानमें मनको कितना लगाया जाय यह अवश्य ही विचार कर लेना चाहिये । मूल बात यही है कि व्यवहारमें मनको कम लगाओ और परमात्माके चिन्तनमें अधिक ।

हमारा यह तात्पर्य नहीं कि आपलोग सब विरक्त बनकर व्यवहार छोड़ दो और भगवान्के भजनमें लग जाओ । व्यवहार करो परंतु उसी प्रकार जिससे व्यवहार भद्दा भी न हो और परमार्थ भी न बिगड़े ।

व्यवहारमें यह ध्यान रहे कि जहाँतक हो सके शास्त्रानुकूल ही व्यवहार किया जाय और मनका बहुत थोड़ा अंश उसमें लगाया जाय । मनसे भीतर-ही-भीतर परमात्माका चिन्तन करते चलोगे तो व्यवहार सुन्दर रहेगा और परमार्थ भी उज्ज्वल बनेगा ।

परमात्मामें मन लगाओगे तो शान्ति और संतोषका अनुभव होगा एवं हर प्रकारकी उन्नति होगी ।

विषयोंकी ओर मनको लगाओगे तो अशान्ति और असंतोषका अनुभव होगा और हर प्रकारकी अवनति होगी ।

भगवान् जगत्में सर्वत्र हैं, यह दृढ़ विश्वास हो जाना ही ज्ञान है और उनके स्वरूपको जानकर उनकी सेवा करना भक्ति है ।

* * *

॥ श्रीहरिः ॥

भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीशिव, श्रीविष्णु, भगवती श्रीलक्ष्मी, श्रीदुर्गा आदिके भव्य दर्शन !

गीताप्रेस, गोरखपुरकी चित्रावलियाँ (चित्र अलगसे नहीं मिलते)

साइज १५×२० नं० १, दाम २॥।), पैकिंग और डाकखर्च १)

इसमें १५×२० साइजके बढ़िया आर्टपेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा ८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है। चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—

सुनहरी—१-युगल छवि, २-आनन्दकंद पालनेमें।

बहुरंगे—१-वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण, २-श्रीव्रजराज, ३-भगवान् श्रीकृष्णरूपमें, ४-श्रीराम-दरबार, ५-भुवनमोहन राम, ६-भगवान् शंकर, ७-भगवान् नारायण, ८-श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी।

साइज १५×२० नं० २, दाम २॥।), पैकिंग और डाकखर्च १)

सुनहरी—१-भगवान् श्रीराम, २-आनन्दकंदका आँगनमें खेल।

बहुरंगे—१-विश्वविमोहन श्रीकृष्ण, २-श्रीराधेश्याम, ३-श्याममयी संसार, ४-श्रीरामचतुष्टय, ५-महावीर, ६-भगवान् विश्वनाथ, ७-भगवान् विष्णु, ८-भगवान् शक्तिरूपमें।

साइज १५×२० नं० ३, दाम २॥।), पैकिंग और डाकखर्च १)

सुनहरी—१-रामदरबारकी झाँकी, २-कौसल्याका आनन्द।

बहुरंगे—१-मुरलीमनोहर, २-श्रीनन्दनन्दन, ३-महासंकीर्तन, ४-कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म, ५-दूल्हा राम, ६-ध्रुव-नारायण, ७-ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति, ८-श्रीलक्ष्मी-नारायण।

उपर्युक्त १५×२०साइजकी—एक चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य ३॥।), दो चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य ६॥।=), तीन चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य १०॥) लगता है।

साइज १०×७॥ नं० १, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ॥।)

इसमें १०×७॥ साइजके बढ़िया आर्ट पेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा १८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है। चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—

सुनहरी—१-युगल छवि, २-साकार-निराकार ब्रह्म।

बहुरंगे—१-श्रीगणपति, २-कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म, ३-ध्यानमग्ना सीता, ४-दीपावलि-दर्शन, ५-श्रीरघुनाथजी, ६-प्यारका वन्दी, ७-दधि-माखनके भूखे, ८-भक्त-मन-चोर, ९-वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण, १०-श्रीबाँकेविहारी, ११-श्रीराधाकृष्ण, १२-द्रौपदीको आश्वासन, १३-श्रीगौरी-शंकर, १४-भगवान् श्रीशंकर, १५-भगवान् श्रीविष्णु, १६-श्रीलक्ष्मीजी, १७-महावीरका महान् कीर्तन, १८-भारतमाता।

साइज १०×७॥ नं० २, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ॥।)

सुनहरी—१-श्रीभगवान्, २-भगवान् श्रीराम।

बहुरंगे—१-वनवासी राम, २-तपोवनके दिव्य पथिक, ३-पुष्पक विमानपर, ४-भगवान् श्रीराम-लक्ष्मण, ५-श्रीरामदरबार, ६-मथुरासे गोकुल, ७-श्रीकृष्ण-यशोदा, ८-व्रज-सर्वस्व, ९-मुरलीका असर, १०-श्याममयी संसार, ११-व्रजराज, १२-विहारीलाल, १३-श्रीराधेश्याम, १४-योगीश्वर श्रीशिव, १५-शिव-परिवार, १६-पर्वताकार हनुमान्जी, १७-श्रीलक्ष्मी-नारायण, १८-श्रीदुर्गा।

साइज १०×७॥ नं० २, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ॥।)

सुनहरी—१-श्रीसीतारामकी झाँकी, २-श्रीश्यामा-श्यामकी झाँकी।

बहुरंगे—१-माँका प्यार, २-श्रीरघुनाथजीकी रूप-माधुरी, ३-त्रिभुवन-मोहन राम, ४-दूल्हा राम, ५-सीताकी खोजमें, ६-शबरीके अतिथि, ७-भगवान् श्रीरामचन्द्रकी अभ्यर्थना, ८-श्रीरामचतुष्टय, ९-भगवान् बाल-कृष्ण, १०-तुलसीपूजन, ११-भगवान् श्रीकृष्णरूपमें, १२-योद्धा श्रीकृष्ण, १३-तपस्यामें लगी हुई पार्वतीजीको भगवान् शिवके दर्शन, १४-शिव-पार्वती, १५-भगवान् हरि-हर, १६-शुक्लाम्बधर शशिवर्ण भगवान् विष्णु, १७-देवर्षि नारदजीको गरुड़वाहन श्रीहरिके दर्शन, १८-भगवान् शक्तिरूपमें।

उपर्युक्त १०×७॥ साइजकी—एक चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य २-), दो चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित ३॥) एवं तीन चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित ५) है।

श्रीकृष्ण-रेखा-चित्रावलि (भाग १)

साइज५×७॥, पृष्ठ ६४, मूल्य ।=), पैकिंग-डाकखर्च ॥-)

इसमें श्रीश्यामसुन्दरकी बाल-लीलाके ६० रेखा-चित्र (लाइन चित्र) दोरंगे छापे गये हैं। प्रत्येक पृष्ठमें चित्रका परिचय तथा उसके अनुरूप सुन्दर चुने हुए पद-पदांश भी दिये गये हैं।

नोट—अधिक चित्रावलियाँ एक साथ मँगवानेपर रेलवे स्टेशनका नाम अवश्य लिखें।

विशेष सूचना

१५×२० साइजकी तीनों चित्रावलियाँ, १०×७॥ की तीनों तथा श्रीकृष्ण-रेखा-चित्रावलि (भाग १) कुल सातों प्रतियाँ एक साथ लेनेपर उनके दाम १२॥-) पैकिंग-डाकखर्च २॥=) कुल १५।) भेजने चाहिये।

रंगीन तथा सादे अनेक चित्रोंसे विभूषित बालकोपयोगी दो नयी पुस्तकें

भगवान श्रीकृष्ण [भाग १]

साइज २०×३०=१६ पेजी, पृष्ठ ६८, चित्र बहुरंगा १, इकरंगे १२, आर्टपेपरपर छपा सुन्दर तिरंगा टाइटल, मोटे टाइप, मूल्य ।-)

भगवान श्रीकृष्ण [भाग २]

साइज २०×३०=१६ पेजी, पृष्ठ ६४, चित्र बहुरंगा १, इकरंगे १०, तिरंगा टाइटल, मोटे टाइप, मू० ।-)

इन पुस्तकोंसे श्रीकृष्णकी मधुर तथा अद्भुत लीलाओंकी जानकारी होगी, सदुपदेश प्राप्त होगा तथा बालकोंका मनोरञ्जन भी होगा

स्त्रियोंके लिये उपयोगी दो नयी पुस्तकें

सती द्रौपदी

(ले०—स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

साइज २०×३०=१६ पेजी, पृष्ठ १६४, चित्र बहुरंगे ४, मू० ॥)

सती सुकला

(ले०—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

साइज २०×३०=१६ पेजी, पृष्ठ ६८, चित्र बहुरंगा १, मू० ।)

उपर्युक्त चारों पुस्तकोंका मूल्य १।=) डाकखर्च ॥।=) कुल २।)

यहाँ आर्डर देनेसे पहले अपने स्थानके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये। यदि न मिले तो एक साथ कई सज्जन मिलकर अधिक पुस्तकें रेलसे मँगवाइये। इससे भारी डाकखर्चकी बचत होगी।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर

Compiled
1999-2000